दुनिया की कहानी

आधुनिक युग

लेखक की अन्य रचनाएँ

१. दुनिया की कहानी—प्राचीन एवं मध्यकालीन युग (द्वितीय संस्करण)

२. ग्रेट ब्रिटेन का आधुनिक इतिहास १६०३-१८१५ ई०

(राजनीतिक एवं वैधानिक)

३. ग्रेट ब्रिटेन का आधुनिक इतिहास १८१५-१९५६ ई०

(राजनीतिक एवं वैधानिक)

४. प्राचीन भारत—प्रारम्भ से ७१२ ई० तक

५. भारत को बिहार की देन

दुनियाँ की कहानी

आधुनिक युग

प्रो० राधाकृष्ण शर्मा, एम० ए०
अध्यक्ष, इतिहास विभाग, राजेन्द्र कालेज, छपरा
(बिहार विश्वविद्यालय)

कि ता ब - म ह ल
इलाहाबाद, बम्बई, दिल्ली
१९५७

प्रथम संस्करण के प्राक्कथन से

'दुनिया की कहानी' का दूसरा भाग प्रस्तुत करते हुए लेखक हर्ष का अनुभव कर रहा है। प्रथम भाग के प्रणयन में जिस प्रणाली को अपनाया गया, उसी का अनुकरण इस दूसरे भाग में भी किया गया है, फिर भी इसकी कई विशेषताएँ हैं। पहले, यह भाग प्रथम भाग की अपेक्षा कुछ अधिक विस्तृत है। इसका कारण है कि इसमें आधुनिक युग का वर्णन है जो प्रगति की दृष्टि से महत्वपूर्ण युग है। दूसरे, आधुनिक युग में एशिया का जागरण दुनिया के इतिहास की एक चमत्कारपूर्ण घटना है। इस पर समुचित प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। तीसरे, दुनिया की कहानी में मानव-सभ्यता एवं संस्कृति के इतिहास का सरल तथा रोचक वर्णन है। अतः आधुनिक युग में यद्यपि युद्धों की भरमार रही है और दो विश्वयुद्ध भी हो चुके हैं तथापि लेखक ने इन युद्धों की जटिलताओं से अपने को पृथक् रखने का प्रयास किया है और इनके कारणों तथा परिणामों पर ही विशेष प्रकाश डाला है।

यह तो प्रथम भाग के प्राक्कथन में ही कहा जा चुका है कि विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों की मनोवृत्ति और उनके हित को विशेष रूप से ध्यान में रखा गया है। महत्वपूर्ण विषयों की विशद विवेचना की गई है और उपयुक्त स्थानों पर चित्र तथा मानचित्र भी दे दिए गए हैं। उनके लाभार्थ पुस्तक के अन्त में प्रश्नावली तथा ग्रन्थ सूची भी दी गई है।

विद्यार्थियों के लिये उपयोगी होते हुए भी यह ग्रन्थ भाषा तथा भाव की दृष्टि से सामान्य पाठकों के लिए भी सुबोध तथा लाभदायक है। त्रुटियों का होना स्वाभाविक ही है। अतः जो सज्जन उनकी ओर लेखक का ध्यान आकृष्ट करेंगे उनके प्रति लेखक कृतज्ञ होगा।

राधाकृष्ण शर्मा

द्वितीय संस्करण का प्राक्कथन

लेखक पाठकों के समक्ष दुनिया की कहानी (आधुनिक युग) का दूसरा संस्करण सहर्ष प्रस्तुत कर रहा है। इस संस्करण में एकाध नये अध्याय जोड़ दिये गये हैं और अन्य स्थानों में भी आवश्यकतानुसार संशोधन एवं परिवर्द्धन कर दिये गये हैं। अतः पुस्तक के केवल आकार में ही वृद्धि नहीं हुई है बल्कि इसकी उपयोगिता में भी वृद्धि हुई है।

राजेन्द्र कालेज, छपरा
शुक्रवार, वैशाख शुक्ल ११ सं २०१४
१० मई १९५७ ई०
(प्रथम स्वातन्त्र्य संग्राम का शताब्दी दिवस)

राधाकृष्ण शर्मा

आधुनिक युग

अध्याय १

आधुनिक युग का सूत्रपात

सांस्कृतिक पुनरुत्थान तथा भौगोलिक अन्वेषण

(क) सांस्कृतिक पुनरुत्थान

भूमिका

पुनरुत्थान से तात्पर्य किसी पुरानी चीज का नवीन संस्करण या नूतन विकास से है। उसका मूल अतीत में है, कुछ काल के लिए वह लुप्त हो गई थी, अब उसकी पुनर्प्राप्ति हुई। सृष्टि के प्रारम्भ से अब तक के मानव-समाज के विकास-क्रम का अवलोकन करते हुये हम देख चुके हैं कि गतिशील मानव चलते-चलते कुछ थक-सा गया। निरन्तर आगे बढ़ते रहने के क्रम में थकावट के कारण उसने विश्राम करने की आवश्यकता महसूस की। एकाएक उसकी आँखें मुँद गयीं और वह सो गया। वह गतिहीन हो गया, उसका विकास अवरुद्ध हो गया। अपनी नींद में वह बहुत कुछ भूल भी गया। सोने के पूर्व संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों में उसकी पर्याप्त उन्नति हो चुकी थी। पश्चिमी एशिया के देशों तथा भारत, यूनान और रोम में मानव संस्कृति का यथेष्ट विकास हो चुका था। लेकिन काल के चक्कर में वह सब लुप्त हो गया। सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से यह संधिकाल था। निशाकालीन घनीभूत अंधकार ने पूर्व की विकसित संस्कृति पर काला आवरण फैला दिया और इतिहास दीर्घकाल के लिये अंधकारमय युग में प्रवेश कर गया। छठी सदी में ही मानव-विकास का सूर्य अस्त हुआ और १४वीं सदी तक निविड़ अंधकार छाया रहा। मध्यकालीन यूरोपीय समाज में स्थिरता-सी उत्पन्न हो गई, बौद्धिक विकास पर प्रतिबन्ध लग गया एवं मुँह पर ताला जड़ दिया गया। ईसाई समाज आत्मा की रक्षा और उसकी ही उन्नति पर विशेष ध्यान देता था, मनुष्य के शरीर या अस्तित्व की कोई कीमत नहीं थी। बाइबिल के ही अध्ययन और मनन पर विशेष 'जोर' दिया जाता था। पर धर्मग्रन्थ की भी स्वतन्त्र रूप से विवेचना नहीं की जा सकती थी। धर्माधिकारियों के विरुद्ध सोचना-विचारना या विरोध अभिव्यक्त करना पाप और संकट मोल लेना था। कोई भी अपने उद्गार को कलाओं द्वारा नहीं व्यक्त कर सकता था। आँख मूँद कर उनकी आज्ञा का पालन करना ही श्रेयस्कर समझा जाता था। अतः स्वतन्त्र विचारों के लिए उपयुक्त वातावरण का सर्वथा अभाव था। यही नहीं, वर्तमान में व्यग्रता या संसार पर,

सामन्त-प्रथा इसी की विशेष उपज थी। जीवन की रक्षा ही मनुष्य का सर्वप्रधान उद्देश्य बन गया था। स्वतन्त्र भावना के विकास के लिए आर्थिक प्रणाली भी अनुपयुक्त थी। सर्वत्र जागीरदारों की तूती बोल रही थी और समाज शोषण के अबाध क्रम में पिस रहा था। लेकिन यह स्थिति स्थायी नहीं रह सकी। मनुष्य के दिल, दिमाग को किसी संकुचित दायरे में दीर्घ अवधि तक सीमित नहीं रखा जा सकता। प्रकृति ने उसे सोचने की जो शक्ति दी है, वह बड़ी विलक्षण है। अपनी बुद्धि के बल पर मानव सब कुछ करने की क्षमता रखता है। पर जैसा कि हम देख चुके हैं, छठीं सदी के लगभग उसकी बुद्धि पर अधकार का पर्दा पड़ गया था। वह कुछ देख नहीं सकता था, कुछ सोच नहीं सकता था। उसकी बुद्धि विश्राम करने चली गई थी। उसकी आँखें निद्रा के आवेग में बन्द थीं। पर १५वीं-१६वीं सदी में वह जग उठा, नींद की खुमारी दूर हुई और सदियों से उन्मीलित आँखें खुलीं। उठकर उसने देखा कि वह कितना पीछे ढकेल दिया गया है। वह स्तम्भित रह गया। हजारों वर्ष का उसका परिश्रम मिट्टी हो चुका था, कालचक्र ने उसके सारे किये-कराये पर पानी फेर दिया था। नियति का यह अन्याय उससे देखा न गया। अपनी गतिहीनता पर उसे क्षोभ हुआ और वह पुनः बड़े वेग से प्रगति के पथ पर अग्रसर होने लगा। उसमें जिज्ञासा की एक नई भावना का प्रस्फुटन हुआ और वह प्रत्येक बात को जानने और समझने की चेष्टा करने लगा। वह प्राचीन यूनान और रोम की सभ्यता एवं संस्कृति की बड़ी अभिरुचि के साथ अध्ययन करने लगा। इससे मानव-जीवन के सभी क्षेत्रों में उन्नति शुरू हुई। १५वीं और १६वीं सदी में मनुष्य की संचित शक्ति कई धाराओं में वेग से फूट पड़ी और संस्कृति की प्रत्येक दिशा में उसका विकासारम्भ हुआ। इसी घटना को पुनरुत्थान पुनर्जीवन, पुनर्जागरण या 'रेनेसाँ' कहते हैं। लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं कि मध्य-काल में प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति का बिल्कुल लोप हो गया था। जहाँ तक उपयुक्त और अनिवार्य था, लोगों का उससे सम्पर्क बना हुआ था। उदाहरणार्थ, पूर्वी यूरोप में ग्रीक और पश्चिमी यूरोप में लैटिन भाषा का ही व्यवहार हो रहा था। शिक्षालयों में अरस्तू, वर्जिल आदि लेखकों की रचनाओं का पठन-पाठन होता था।

था बल्कि विभिन्न परिस्थितियों ने संयुक्त रूप से इसका उत्पादन किया था। मध्यकाल से ही प्राचीन साहित्य तथा कला के पुनरुद्धार की ओर विद्वानों का झुकाव होने लगा था और यूनान तथा रोम के साहित्य में उनकी अभिरुचि बढ़ रही थी। कई कारणों से पुनरुत्थान आन्दोलन को प्रोत्साहन मिला था।

१. धर्मयुद्ध—धर्मयुद्धों के कारण पूर्वी देशों से सम्पर्क बढ़ा और लोगों का मानसिक क्षेत्र विकसित हुआ। धर्मयुद्धों में राजा-प्रजा, धनी-गरीब सबों ने भाग लिया और पश्चिमी एशिया में प्रचलित उच्च कोटि की सभ्यता एवं संस्कृति को स्वयं देखा। यूनान के अनेक विद्वानों के प्राचीन ग्रन्थों के अनुवाद को भी देखने का उन्हें अवसर मिला। अधिकांश धर्मयात्री एक नया दृष्टिकोण लेकर यूरोप लौटे। इसके सिवा हिंसा के कारण धर्म में लोगों की अभिरुचि जाती रही और धर्म के बन्धन ढीले पड़ने लगे। धर्मयुद्धों की असफलता के कारण धर्माध्यक्ष पोप की धाक भी धूल में मिल गई और उसका प्रभाव जाता रहा।

२. पूर्व से सम्पर्क—यूरोप पूर्व के सभ्य देशों के सम्पर्क में आने लगा था। इस सम्पर्क के कई साधन थे। एक साधन तो धर्मयुद्ध ही थे जिनकी चर्चा अभी ऊपर की जा चुकी है। अरबवासी दूसरे मुख्य साधन थे। स्पेन में तो अरबों का राज्य ही स्थापित था जो सात सौ वर्षों तक कायम रहा था। सिसली तथा सार्डीनिया भी इनके प्रभाव क्षेत्र में थे। इन अरबों ने भारत तथा यूनान के प्राचीन ज्ञान का यूरोप में प्रचार किया था। मंगोल साम्राज्य सम्पर्क का तीसरा साधन था। इस प्रकार पूर्वी देशों के सम्पर्क में आने से यूरोपवासियों की कूपमण्डूकता दूर हुई और उनका दृष्टिकोण व्यापक हुआ।

३. मंगोल साम्राज्य—१३वीं सदी में मगोल साम्राज्य से भी पुनरुत्थान आन्दोलन को बहुत बल मिला। कुबलई खाँ के दरबार में विभिन्न राष्ट्रों तथा विविध देशों के लोग रहते थे। पेकिंग (केम्बलु) तथा समरकंद अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र बन गये थे। साम्राज्य में यातायात की सुविधा थी। व्यापार उन्नत था। जिनिसों के साथ-साथ विभिन्न संस्कृति के लोगों में विचारों का भी आदान-प्रदान होता था। यूरोप का प्रसिद्ध यात्री वेनिसवासी मार्कोपोलो चीन में गया था और मगोल साम्राज्य का भ्रमण किया था। उसके भ्रमण-वृत्तान्त से अनेक यात्रियों तथा साहसिकों को बहुत प्रेरणा मिली है।

४. मध्य युगीन विद्वत्तावाद (स्कॉलास्टीसिज्म)—मध्य युग का अन्त होते-होते कई विश्वविद्यालय स्थापित हो गये थे जहाँ विविध विषयों का पठन-पाठन होता था। अरबों से प्रभावित होकर यूरोप में भी ज्ञान-विज्ञान के अध्ययन को महत्व दिया जाने लगा। इस तरह एक आन्दोलन चल पड़ा जिसे विद्वत्तावाद या पंडित-पंथ कहते हैं। इससे विद्याध्ययन तथा वाद-विवाद को खूब प्रोत्साहन मिला। इसमें अरस्तू के

प्रदर्शन का काम किया। इसके लिये इसकी स्थिति बहुत ही अनुकूल थी। यह पूर्वी साम्राज्य के घनिष्ठ सम्पर्क में रह चुका था। जब कुस्तुन्तुनियाँ तुर्कों के हाथ में चला गया तो बहुत से यूनानी विद्वान् और विद्यार्थी उसे छोड़कर पहले इटली में ही पहुँचे और वहीं बस गये। इन यूनानियों ने नयी विचारधाराओं का प्रचार किया। इटली में सामन्त-प्रथा की जड़ भी नहीं जमने पाई थी और पवित्र रोमन साम्राज्य भी शक्तिहीन हो रहा था। रोम इटली में ही था जो एक विशाल साम्राज्य का प्रधान केन्द्र रह चुका था। उसकी परम्पराएँ भी गौरवपूर्ण थीं जो बहुतों की स्मृति में बनी हुई थीं। यह ईसाई धर्म का भी प्रमुख केन्द्र था और पोप का वहीं निवास-स्थान था। निकोलस पंचम, लियो दशम् आदि कई पोपों ने भी विद्वानों तथा कलाकारों को विविध प्रकार से सहायता प्रदान कर उन्हें उत्साहित किया। इटली भूमध्यसागर के मध्य भाग में स्थित था। अतः वहाँ व्यापार तथा वैभव का विकास होता रहा और वहाँ बड़े-बड़े समृद्धिशाली नगर बसे हुए थे। ऐसे वातावरण में यूनानी विद्वानों को धन के लिए परेशानी नहीं उठानी पड़ी। इसके अतिरिक्त इन्हीं नगरों में सर्व-प्रथम स्वतन्त्रता की भावना का उदय हुआ और यूनानियों के सम्पर्क से यह भावना और भी अधिक बलवती होती गई। दाँते तथा पेट्रार्क जैसे विद्वान् लेखक इटली में ही उत्पन्न हुये थे जिन्होंने स्थानीय भाषाओं तथा प्राचीनता के अध्ययन में लोगों की अभिरुचि बढ़ायी। ये ही दोनों जागृतिकाल के उद्धारक हैं। वहाँ स्वतन्त्र भाषा एवं साहित्य का विकास भी कुछ पहले ही से होने लगा था।

पुनरुत्थान की प्रगति

(अ) समाज तथा धर्म—सामाजिक तथा धार्मिक क्षेत्रों में महान परिवर्तन हुए। मध्यकाल में राज-शक्ति कमजोर थी और सामन्तों की तूती बोल रही थी। मनुष्य के व्यक्तित्व का कोई मूल्य नहीं था। अब समाज में मनुष्य का मूल्यांकन होने लगा और उसके व्यक्तित्व के विकास पर जोर दिया जाने लगा। सामन्तों का सितारा फीका पड़ गया। गोला-बारूद के आविष्कार ने राजशक्ति को सबल बना दिया और राज-महल चहल-पहल का केन्द्र बन गया। सामन्तों के दासों को स्वतन्त्रता मिलने लगी। भौगोलिक खोजों के कारण नये देश और नये-नये व्यापारिक मार्ग प्रकाश में आए। इसके फलस्वरूप वाणिज्य-व्यापार की उन्नति हुई। अब व्यापारियों के रूप में एक स्वतन्त्र मध्यम वर्ग का विकास हुआ जिसने सामन्तवाद का अन्त करने में सहायता दी। अब राजाओं को सामन्तों पर निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि गोला-बारूद के आविष्कार ने राजा के हाथ में शक्ति संचित की। विशाल व्यापारिक संस्थाओं और बैंकों से उसे आर्थिक सहयोग मिलने लगा। व्यापारियों को राजाओं का संरक्षण प्राप्त हुआ। व्यापारियों के उत्थान से नये-नये नगरों का भी विकास हुआ।

अब लोगों में राष्ट्रीयता की भावना विकसित हुई। अब सामन्तवादी प्रथा पर आधारित एक इसाई यूरोपीय राज्य या पवित्र रोमन साम्राज्य की भावना के स्थान पर पृथक्-पृथक् राष्ट्रीय राज्यों की उद्भावना हुई।

धार्मिक जगत में भी क्रांति हुई। अन्धविश्वास ही चर्च की शक्ति की आधार-शिला था। आलोचनात्मक प्रवृत्तियों के विकास के कारण यह आधारशिला कमजोर पड़ने लगी और चर्च की स्थिति डाँवाँडोल हो गई। अब इसकी एकता अतीत के गर्भ में विलीन हो गई। कुछ लोगों ने चर्च में सुधार करने का प्रयत्न किया पर व्यर्थ। अब विरोध की भावना प्रस्फुटित हुई। धर्माधिकारियों की खिल्ली उड़ाई जाने लगी और पोप पाखण्ड का प्रतीक समझा जाने लगा। स्वतन्त्रता और राष्ट्रीयता की भावना ने पोप की सत्ता को चूर-चूर कर दिया। विभिन्न देशों में राष्ट्रीय चर्च की स्थापना हुई जो धर्म की अपेक्षा राष्ट्रीय विकास पर अधिक जोर देता था। मानव के जीवन में धर्म का स्थान गौण हो गया और इसका अधिकाधिक राजनीतिक प्रयोग होने लगा। इन बातों का विशद वर्णन धर्मसुधार-आन्दोलन के पृथक् शीर्षक के अन्तर्गत किया जायगा।

(आ) राजनीतिक तथा साहित्य—मानववाद के विकास के साथ प्राचीनता में लोगों की श्रद्धा बढ़ी, किन्तु साथ ही वैज्ञानिक दृष्टिकोण भी विकसित हुआ। राजनीति को एक विज्ञान के रूप में उपस्थित किया गया। रोम के विधि-विधानों का महत्व बढ़ा। मध्यकाल में राजतन्त्र प्रणाली सर्वोत्तम समझी जाती थी। मानव किसी अन्य राजनीतिक प्रणाली की कल्पना भी नहीं कर सकता था। लोगों का यह दृढ़ विश्वास था कि राजतन्त्र प्रणाली ईश्वर प्रदत्त संस्था है। राजाओं के दैवी अधिकार के सिद्धान्त का जोर था। लेकिन पुनरुत्थान की लहर ने पाँसे को उलट दिया। अब लोगों की आँखों के सामने से अज्ञान का पर्दा फट गया, सर्वत्र ज्ञान का प्रकाश छिटक गया। दैवी अधिकार का सिद्धान्त निःशक्त हो गया। अब राज्य सम्बन्धी ज्ञान का विस्तार होने लगा। समाज के हित के आधार पर संस्था की अच्छाई की जाँच होने लगी। लोगों में यह भावना भी विकसित हुई कि आवश्यकतानुसार किसी संस्था में परिवर्तन लाया जा सकता है या नवीन संस्था की सृष्टि की जा सकती है।

पुनरुत्थान काल में मेकियावेली (१४६९-१५२७ ई०) जैसे एक महान् राजनीतिक विचारक का भी उदय हुआ। फ्लोरेन्स नगर में उसका जन्म हुआ था। वह साहित्यकार एवं राजनीतिज्ञ दोनों ही था। उसने इटली में ही राजकुमार (प्रिंस) नामक एक पुस्तक की रचना की। राजनीति एवं शासन में इस पुस्तक का एक महत्वपूर्ण स्थान है। वेल्स के मतानुसार इस पुस्तक से मनुष्य के विचारों में परिवर्तन हुए। उसने राजाओं को पूर्ण सत्ताधारी बने रहने की राय दी।

फलस्वरूप यूरोप में राजतन्त्र को बड़ा बल मिला। उसने राजा को आवश्यकतानुसार विविध नीतियों का अनुसरण करने को कहा। अनेक विद्वान् मेकियावेली के साथ ही आधुनिक राजनीति का भी प्रारम्भ मानते हैं। उसी ने सर्वप्रथम राजनीति तथा धर्म को अलग करने का प्रयत्न किया था।

पुनर्जागरण युग में विद्या तथा साहित्य की अद्भुत प्रगति हुई। केवल प्राचीन साहित्य का ही अध्ययन नहीं हुआ बल्कि आधुनिक यूरोपीय भाषाओं का भी विकास हुआ। इन दो बातों के अतिरिक्त इस युग के साहित्य की कुछ अन्य विशेषतायें भी थीं। पुनर्जागरणकालीन साहित्य प्रधानतः धर्म निरपेक्ष था। लेखकों की रचनाओं में *व्यक्तिवाद का भी आभास मिलता है। उनमें आलोचनात्मक प्रवृत्ति भी होती थी।* ये अपनी रचनाओं में समाज की बुराइयों पर भी प्रकाश डालते थे और उनकी कटु आलोचना करते थे। इस प्रकार यह कथन कि 'साहित्य समाज का दर्पण है' सार्थक सिद्ध होने लगा। इससे राजनीतिक चेतना को भी बल मिलने लगा।

कागज तथा मुद्रण के आविष्कार से विद्या तथा साहित्य को बहुत प्रोत्साहन मिला। १४५४ ई० में लैटिन भाषा की बाइबिल प्रथम बार मुद्रित हुई। अब प्राचीन पुस्तकें मुद्रित होकर सर्वसाधारण में फैलने लगीं। ज्ञान का प्रकाश विकीर्ण हुआ और मानव उन्मुक्त होकर आशा तथा उल्लास से आलोकित हो उठा। अब साहित्यिकों की प्रतिभा बड़े वेग से प्रस्फुटित हुई। लैटिन और यूनानी भाषा का पुनरुद्धार हुआ, जन भाषा में भी रचना की जाने लगी। यह युग की माँग थी जिसकी पूर्ति अनिवार्य थी। इससे राष्ट्रीय भाषाओं के विकास को प्रोत्साहन मिला। गद्य तथा पद्य दोनों ही में साहित्य का विकास हुआ।

दाँते, पेट्रार्क तथा बुक्कासियो की कृतियों में इटली की साहित्यिक प्रतिभा फूट निकली।* दाँते को *पुनर्जागरण का अग्रदूत* माना जाता है। फ्लोरेन्स नगर में ही उसका जन्म हुआ था। उसे अपने जीवनकाल में बहुत निराशा हुई थी। वह एक लड़की से प्रेम करता था लेकिन उससे उसका विवाह नहीं हो सका। उसे अपने नगर से निर्वासित भी होना पड़ा था और जीवन के अन्तिम १९ वर्ष निर्वासन में ही व्यतीत हुए थे। उसने *मातृ-भाषा में* 'डिवाइन कामेडी' नामक प्रसिद्ध महाकाव्य की रचना की। इसमें मध्यकालीन जीवन की झाँकी मिलती है। वह वर्जिल को अपना गुरु मानता था और प्राचीन संस्कृति का पक्षपाती था। पेट्रार्क गीत (सोनेट) के लिये प्रसिद्ध था। वह मध्यकालीन विचार पद्धति का आलोचक था। उसे प्राचीन संस्कृति तथा साहित्य में बड़ी अभिरुचि थी। उसने लैटिन भाषा का उद्धार किया। उसने

* अ० २१ में भी इन तीनों लेखकों का उल्लेख किया गया है।

मिलान के शासकों ने भी कला को प्रोत्साहित किया था। इटली में चित्र, तक्षण तथा स्थापत्य—तीनों क्षेत्रों में उन्नति हुई। चित्रकला में अन्य कलाओं की अपेक्षा स्वतन्त्र शैली का अधिक विकास हुआ। इसका कारण यह था कि प्राचीन यूनान तथा रोम में अन्य कलाओं की तुलना में चित्रकारी का बहुत कम विकास हुआ था। अतः पुनर्जागरण काल के चित्रकारों के सामने इस क्षेत्र में प्राचीन आदर्शों का अभाव था। दूसरी कलाओं में प्राचीनता का अधिक समावेश पाया जाता है। इटली की कलात्मक प्रतिभा टिशियन, बोनेचेली, टिन्टोरेटो आदि अनेक कलाकारों में अभिव्यक्त हुई लेकिन यहाँ के तीन कलाकार सुविख्यात थे—ल्योनार्डो डा विन्ची, माईकेल एंजेलो और राफेल।

ल्योनार्डो (१४५२-१५१९ ई०) बहुमुखी प्रतिभा का व्यक्ति था। वह एक कुशल शिल्पी था और चित्र, मूर्ति एवं संगीत का भी उद्भट ज्ञाता था। इतना ही नहीं, वह यन्त्र विद्या एवं वैज्ञानिक प्रवृत्तियों और शरीरशास्त्र का भी विशेषज्ञ था। वह सर्वत्र कुछ न कुछ सीख लेने की लालसा रखता था। वह एक महान् चित्रकार था। लेकिन उसके कई चित्र अपूर्ण रह गये हैं। फिर भी जो चित्र मिलते हैं वे बहुत ही सुन्दर एवं कलात्मक हैं। मोनालिसा, दी लास्ट सपर, दी वर्जिन ऑफ दी रॉक्स आदि उसके प्रसिद्ध चित्र हैं। इनमें भी मोनालिसा का स्थान सर्वोपरि है। इसमें कोमल हास्य का भाव निहित है।

चित्र १—ल्योनार्डो डा० विन्ची

माइकेल (१४७५-१५६४) भी चित्रकार, मूर्तिकार, स्थापत्यकार एवं दार्शनिक था। इस तरह यह भी बड़ा ही प्रतिभाशाली था। साथ ही वह व्यक्तिवादी भी था। वह सौन्दर्य एवं पवित्रता का प्रेमी था। उसके मतानुसार मनुष्य की कला-कृति में उसकी आन्तरिक भावना की ही झलक मिलती है। चित्र में वास्तविकता लाने के लिए उसने शरीरशास्त्र का गहन अध्ययन किया था। वह बड़ा ही गम्भीर होकर चित्र का काम करता था। उसके निर्मित सैकड़ों चित्र तथा मूर्तियाँ पाई गई हैं। वह दीवारों पर बाइबिल के दृश्यों के चित्र को खींचता था। सिसटाइन चैपेल की दीवार पर उसने 'अन्तिम निर्णय' नामक एक चित्र अंकित किया था जो उसकी चित्रकारी का सर्वोत्कृष्ट नमूना है। इसमें आतंक के भाव की प्रधानता है और

इंगलैंड में ऑक्सफोर्ड तथा कैम्ब्रिज नामक दो प्रसिद्ध विश्वविद्यालय थे। इन विश्वविद्यालयों में यूनानी तथा रोमन भाषा एवं साहित्य के पठन-पाठन पर विशेष जोर दिया जाने लगा। कोलेट ऑक्सफोर्ड का ही एक विद्वान था जिसने शिक्षा-जगत में महत्वपूर्ण सुधार किया। कैक्सटन ने १४७७ ई० में इंगलैंड में छापेखाने का प्रचार किया और कई ग्रंथों का अंग्रेजी में अनुवाद भी किया। वहाँ भी अंग्रेजी साहित्य के विकास के लिये मार्ग प्रशस्त हो गया। इंगलैंड में एलिजाबेथ प्रथम का राज्यकाल (१६वीं सदी) तो सांस्कृतिक दृष्टि से स्वर्णयुग ही था। उसके राज्यकाल के अन्त तक अंग्रेजी साहित्य एवं भाषा की अद्भुत प्रगति हुई।

महाकवि चौसर ने पेट्रार्क से प्रेरणा प्राप्त की और 'कैन्टरबरी टेल्स' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना की। सर टामस मूर की 'यूटोपिया' एक अद्भुत कल्पना प्रसूत ग्रन्थ है। १५१६ ई० में इसका प्रकाशन हुआ था। इसमें एक ऐसे आदर्श समाज की कल्पना की गई है जिसका मूल आधार प्लेटो के रिपब्लिक पर आधारित साम्यवादी व्यवस्था है। मूर ने तत्कालीन समस्याओं पर भी प्रकाश डाला है और उनके निराकरण का भी उपाय बतलाता है। उसने सदाचार, स्वतन्त्रता, न्याय और लोकहित पर विशेष जोर दिया है। शेक्सपियर, मार्लो, मिल्टन, स्पेन्सर, बेन जॉनसन और फ्रांसिस बेकन के नाम इस युग के अंग्रेजी साहित्य में विशेष उल्लेखनीय हैं। नाटककारों में शेक्सपियर (१५६४-१६१६) का स्थान सर्वोच्च था। उसने एक दर्जन से अधिक ही नाटकों की रचना की। ओथेलो, मैकबेथ, हैमलेट, किंगलियर, मर्चेंट ऑफ वेनिस आदि उसके कुछ मुख्य नाटक हैं। उसके अधिकांश नाटक दुखान्त ही हैं। संसार के नाटककारों में अभी तक उसका एक विशिष्ट स्थान बना हुआ है। उसके नाटक अंग्रेजी साहित्य-सागर के ही नहीं वरन् विश्व-साहित्य-सागर के अनमोल रत्न हैं। इन नाटकों में मानवीयता की उदात्त भावना अपने उस प्रखरतम रूप में प्रकट हुई है जो समस्त मानव को अनन्तकाल तक लौकिक घटनाओं एवं वास्तविक मानवीय चरित्रों में अनोखी सौन्दर्यानुभूति कराती रहेगी। शेक्सपियर के नाटक कल्पना-प्रसूत नहीं हैं। उनमें मानव-जीवन की वास्तविक व्याख्या है, यद्यपि उनमें काव्य सौन्दर्य भी है, कल्पना का आनन्द भी है। मार्लो भी एक बड़ा नाट्यकार था।

पुनरुत्थान काल के नाटककारों का दृष्टिकोण बदल गया था। मध्यकालीन नाटकों में धर्म की प्रधानता होती थी किन्तु अब नाटक का क्षेत्र व्यापक बन गया। नाटकों में मानव जीवन के सभी पक्षों का चित्रण किया जाने लगा। नाटकों के माध्यम से जनता में वैज्ञानिक आविष्कारों का भी प्रचार किया जाने लगा।

महाकवि मिल्टन व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का पुजारी था। उसके पैराडाइज लॉस्ट, पैराडाइज रिगेंड ऐसे काव्य हैं जिनमें आध्यात्मिकता, बौद्धिकता एवं सौन्दर्यानुभूति का

अद्भुत सामंजस्य है। सुन्दर रानी (फेअरी क्वीन) स्पेन्सर की मुख्य कृति है। इसमें मानव स्वभाव की अच्छाई-बुराई का परिचय मिलता है। जौनसन के लेखों में व्यंग्यात्मक भाव पाये जाते हैं। फ्रांसिस बेकन (१५६१-१६२६) भी एक महान् लेखक एवं चिन्तक था। उसके निबन्ध बड़े ही शिक्षाप्रद होते थे और अभी भी वे बड़ी रुचि के साथ पढ़े जाते हैं। इसके मतानुसार विश्वास के आधार तीन हैं—अनुभव, तर्क और प्रमाण। लेकिन इनमें भी प्रमाण ही प्रधान है।

इंगलैंड की भाँति फ्रांस में भी लोक भाषा में रचनाएँ प्रस्तुत की गईं। वहाँ मौन्टेन, राबेले, रासीन, कोर्नील, मोलियर आदि प्रसिद्ध साहित्यकार हुए। मौन्टेन (१५३३-९२ ई०) एक प्रसिद्ध निबन्ध लेखक था। वह बहुत बड़ा व्यक्तिवादी था। वह प्रामाणिकतावाद का भी विरोधी था। वह कहा करता था कि "मैं अपना चित्र स्वयं बनाता हूँ...... मेरी पुस्तक और मैं दोनों एक साथ चलते हैं और एक ही कदम रखते हैं।" वह कैथोलिक था किन्तु सहिष्णुता का भी समर्थक था। उसे 'सर्वप्रथम आधुनिक व्यक्ति' कहा गया है। राबेले (१४९०-१५५३) दूसरा साहित्यिक था जिसने 'गैरगेन्टुआ' और 'पैन्टेगरुयेल' नामक ग्रन्थों की रचना की। उसे फ्रांसीसी उपन्यास-साहित्य का जन्मदाता समझा जाता है। इस युग के फ्रांसीसी कवियों में पियरे-डे-रोमार्ड प्रसिद्ध था। स्पेन में सरवेंटीज (१५४७-१६१६) नामक साहित्यकार का उदय हुआ। उसने 'डौनक्विक्जोटि' नामक गल्प की रचना की। इसमें कृषकों की दशा का वर्णन किया गया और सामन्त प्रथा की हँसी उड़ाई गयी। लोपडेवेग ने भी स्पेनी भाषा को प्रोत्साहन मिला था। शेक्सपियर, राबेले तथा सरवेंटीज पुनरुत्थान-युग के सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार माने जाते हैं। उनकी कृतियाँ विश्व-साहित्य की अमूल्य निधि हैं।

इस युग में अन्य देशों में भी लेखकों का उदय हुआ। पुर्तगाल में वास्कोडिगामा की यात्रा सम्बन्धी पुस्तकें लिखी गईं। उसी सम्बन्ध में लुसियाड नामक काव्य लिखा गया। हॉलैंड में इरेसमस ने 'मूर्खता की प्रशंसा' (दी प्रेज ऑफ फॉली) नामक पुस्तक लिखी। उसने ऑक्सफोर्ड में यूनानी भाषा का अध्ययन किया था। जर्मनी में भी यूनानी तथा लैटिन भाषा के अध्ययन पर जोर दिया गया। ट्युक्लीन यूनानी भाषा का एक बहुत बड़ा विद्वान् था। एर्फर्ट्स हेडलबर्ग विश्वविद्यालय में प्राचीन संस्कृति एवं साहित्य का एक प्रसिद्ध शिक्षक था। वह इटली से बहुत ही प्रभावित हुआ था। स्वर्नलिन नामक जर्मन विद्वान् ने भी पुनरुत्थान को बड़ा बल प्रदान हुआ था।

ढ़ग में नयी शैली की अनेक इमारतें बनीं जिनमें पेरिस नगर का संग्रहालय विशेष उल्लेखनीय है। स्पेन, जर्मनी, नीदरलैंड तथा इंगलैंड में भी नयी प्रणाली के आधार पर अनेक भवनों का निर्माण हुआ। इंगलैंड में संत पाल का गिरजाघर नयी शैली का उत्तम नमूना है जिसका निर्माण सर क्रिस्टोफर रेन की देख-रेख में हुआ था।

इन सभी देशों में निर्माण कला के अतिरिक्त मूर्ति तथा चित्रकलाओं का भी विकास हुआ। हैंसहोलबीन (१४६७-१५३३) लूकस क्रैनाक तथा ड्यूरर (१४७१-१५२८) जर्मनी के और वेलेस्क्वीज स्पेन के प्रसिद्ध कलाकार थे। इंगलैंड तथा फ्रान्स में भी कुशल कलाकार उत्पन्न हुये थे और दोनों देशों में इटालियन कलाकारों को आमन्त्रित किया गया था। ह्युबर्ट तथा जॉन हॉलैंड के प्रसिद्ध चित्रकार थे। ये दोनों भाई थे और इनका उदय १५वीं सदी के पूर्वार्द्ध में हुआ था।

इस युग में संगीत के क्षेत्र में भी उन्नति हुई। पहले के वाद्ययंत्रों तथा स्वर-लय में सुधार हुआ। मार्टिन लूथर ने संगीत के महत्त्व को समझा और इसे प्रोत्साहित किया। पेलेस्ट्रिना नाम का व्यक्ति संगीत का सबसे बड़ा आचार्य था। उसने पोप के संरक्षण में धार्मिक संगीत का विकास किया था। उसने 'मास ऑफ पोप मारसेलस' नामक संगीत-पुस्तक की रचना की। इसमें वह बड़ा लोकप्रिय हो गया।

पुनरुत्थानकालीन विज्ञान के चमत्कार—मध्य युग में विज्ञान के विकास के लिये अनुकूल वातावरण नहीं था। मानव के मस्तिष्क एवं चिन्तन पर प्रतिबन्ध लगा हुआ था। चर्च इस दिशा में बहुत बड़ा बाधक था। उसे सत्य का शोध सह्य नहीं था। अतः स्वतन्त्र विचारकों को कष्ट एवं कठिनाई का सामना करना पड़ता था। कितने जीते जी आग में झोंक दिये जाते थे। लेकिन सत्य के प्रकाश को दमन के सहारे कम करना या बुझाना मनुष्य के बूते से बाहर की बात है। वैज्ञानिक विकास के लिये मार्ग प्रशस्त होने लगा और पुनर्जागरण काल में विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में अद्भुत प्रगति हुई। इसके कई कारण हुए। सर्वप्रथम धर्म सुधार आन्दोलन से चर्च की शक्ति का ह्रास होने लगा और धर्म का प्रभाव घटने लगा। इससे स्वतन्त्र चिन्तन के लिये अनुकूल वातावरण पैदा होने लगा। दूसरे, धर्माधिकारियों की विरोधी एवं दमनकारी नीति से भी वैज्ञानिक विचार धारा को प्रोत्साहन मिला। सत्य के पुजारी अपने सिद्धान्तों के लिये अपने प्राणों का भी बलिदान करने लगे। इससे सिद्धान्तों के प्रचार में सहायता मिलती थी। तीसरे, राष्ट्रीय राज्यों के निर्माण से भी विज्ञान का पक्ष सबल हुआ। चौथे, भौगोलिक अनुसन्धानों तथा अन्वेषणों से भी विज्ञान को बहुत प्रोत्साहन मिला। पाँचवें, लोगों में संशय, अनुसन्धान और प्रयोग की भावना विकसित हुई। अंग्रेज संत रोजर बेकन (१२१०-९३ ई०) की प्रयोगात्मक विज्ञान

का जन्मदाता माना जाता है। उसने वाद-विवाद के स्थान पर प्रयोग और अनुभव की महत्ता बतलायी। फ्रांसिस बेकन ने प्राचीन वैज्ञानिक तथ्य को अपूर्ण बतलाया। इटली निवासी ल्योनार्डो का भी दृष्टिकोण वैज्ञानिक था और उसने विज्ञान सम्बन्धी एक विस्तृत सूची तैयार की जिसमें कुछ यान्त्रिक प्रक्रियाओं का उल्लेख किया। फ्रांसीसी विद्वान् डेकार्ट ने (१५९६-१६५०) प्रत्येक वस्तु को सन्देह की दृष्टि से देखने के लिये प्रोत्साहित किया। उसने यूनानी आविष्कारों को भी शंका की दृष्टि से देखा।

पुनर्जागरण काल में अनेक वैज्ञानिकों का उदय हुआ और कई महत्वपूर्ण आविष्कार हुये।

(क) ज्योतिष एवं भूगोल—अब तक लोगों का विश्वास था कि पृथ्वी सौर मंडल का केन्द्र है और सूर्य तथा अन्य नक्षत्र उसी की परिक्रमा करते हैं। यह विश्वास टाल्मी (दूसरी सदी) के सिद्धान्त पर आधारित था। पोलैंड-निवासी कोपरनिकस (१४७३-१५४३) ने इस विश्वास को गहरा धक्का देकर तोड़ दिया। उसने सिद्ध किया कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है जिससे रात-दिन होते हैं। वह एक पादरी ही था और किसी तरह दण्ड से बच गया। उसने विज्ञान पर एक पुस्तक भी लिखी—आकाश-मंडल की क्रान्ति*। इटली निवासी ब्रुनो ने भी इस सिद्धान्त का समर्थन किया और उसने यह भी घोषणा की कि अन्य तारे भी सूर्य ही हैं। उसे तो अपने प्राण से हाथ धोना ही पड़ा क्योंकि उसे १६०० ई० में अग्नि में झोंक दिया गया। जर्मनी के खगोल वेत्ता केपलर (१५७१-१६३० ई०) ने उसके सिद्धान्त को गणित के द्वारा सिद्ध कर दिया। इटली के खगोल वेत्ता गैलीलियो (१५६४-१६४२ ई०) ने 'गति विज्ञान' की सृष्टि कर दूरबीन का निर्माण किया और इसकी सहायता से कोपरनिकस के तथ्य को सिद्ध किया। गैलीलियो को भी कारागार में जाना पड़ा और उसने अपनी गलती स्वीकार कर अपने प्राण की रक्षा की। धर्माधिकारी वर्ग नये सिद्धान्त का विरोधी था क्योंकि इससे पृथ्वी की महत्ता कम होती थी और साथ ही पृथ्वी पर रहने वाले पोप की प्रतिष्ठा का भी ह्रास होता था। लेकिन वह वर्ग सिर धुनता ही रह गया, नवीन सिद्धान्त लोकप्रिय हो ही गया।

१७वीं सदी में न्यूटन (१६४२-१७२७) ने गुरुत्वाकर्षण शक्ति के सिद्धान्त का आविष्कार किया। इसका अर्थ यह था कि पृथ्वी में आकर्षण शक्ति है जिससे ऊपर से कोई वस्तु नीचे की ओर गिरती है। यह सभी ग्रहों को भी अपनी ओर खींचती है और उनकी गति भी इसी से नियंत्रित रहती है। हैली ने १६८२ ई० में एक पुच्छल तारे के दिखाई देने के सम्बन्ध में भविष्यवाणी की थी। लेकिन उसने इस बात का

* रिवोल्युशन ऑफ दी हेवनली ऑर्ब्स

विरोध किया कि उसके उदय होने से कोई अशुभ होगा। न्यूटन तथा हैली दोनों अंग्रेज थे और इन्हें ही खगोल को वर्तमान रूप देने का श्रेय प्राप्त है। इन नये सिद्धान्तों के कारण जुलियन जन्त्री में भी सुधार करना पड़ा। यह सुधार पोप ग्रेगरी १३ वें के समय में हुआ। अतः इसे ग्रेगोरियन जन्त्री कहते हैं और यह अभी भी प्रचलित है।

(ख) चिकित्सा एवं रसायनशास्त्र—चिकित्सा के क्षेत्र में अपूर्व उन्नति हुई। हेपोक्रेटिस तथा गैलेन के सिद्धान्तों का वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अध्ययन हुआ। उनमें जो बातें उचित एवं लाभदायी थीं उन्हें तो मान ली गयीं। लेकिन उनमें बहुत-सी गलतियाँ भी थीं जिन्हें दूर कर दी गईं। इस दृष्टि से नीदरलैंडवासी एंड्रियस वेसेलियस (१५१४-६४) का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उसने औषधि तथा शल्य प्रणाली का गहन अध्ययन किया और 'मानव शरीर की बनावट' नामक एक प्रसिद्ध पुस्तक (१५४३ में) लिखी। उसने गैलेन की अनेक त्रुटियों का संशोधन किया और शरीर के विविध अंगों का समुचित विवरण प्रस्तुत किया। इंगलैंडवासी विलियम हार्वे (१५७८-१६५७) ने रक्त-प्रवाह के सिद्धान्त का आविष्कार किया। उसके मतानुसार कलेजे से रक्त का प्रवाह शुरू होता है और तब अन्य अंगों में पहुँचता है। चिकित्सा जगत को यह एक बहुत बड़ी देन है।

पैरासेल्सस, कोर्डस, हेलमौंट और रॉबर्ट बोयल के प्रयास से रसायनशास्त्र के विकास को प्रोत्साहन मिला। पैरासेल्सस (१४९३-१५४१) ने रसायन तथा चिकित्सा शास्त्र में घना सम्बन्ध सिद्ध किया। कोर्डस ने अलकोहल तथा सलफर के मिश्रण से ईथर का आविष्कार किया। हेलमौंट (१५७७-१६४४) ने कार्बन-डाइ-ऑक्साइड के निर्माण पर प्रकाश डाला और वायु तथा गैस को दो पृथक् तत्त्व घोषित किया।

(ग) भौतिक तथा गणितशास्त्र—भौतिकशास्त्र की भी उन्नति हुई। गैलीलियो ने अरस्तू के गति-सिद्धान्त का विरोध किया और नए सिद्धान्तों का प्रचार किया। उसने दोलक (पेंडुलम) सम्बन्धी सिद्धान्त का भी प्रचार किया (१५८३ ई०) जिससे आजकल की घड़ियों का निर्माण सम्भव हो सका। उसी ने वायु-मार यन्त्र* और उत्प्लावन तुला† का भी आविष्कार किया। गिलबर्ट ने मैगनेटिक सम्बन्धी सिद्धान्त का प्रचार किया जिससे बिजली का आविष्कार सम्भव हो सका। स्टेविन (१५४८-१६२०) ने बल समानान्तर चतुर्भुज‡ और तरल पदार्थ सम्बन्धी नियमों का प्रतिपादन किया।

* एअर थर्मोमीटर
† हाइड्रोस्टेटिक बैलेन्स
‡ परलेलोग्राम ऑफ फोर्सेज

व्यापारिक तथा वैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति के हेतु गणित शास्त्र का भी विकास हुआ। तारतग्लिया (१५००-५७) ने घन समीकरण* और फेरारी (१५२२-६५) ने चतुर्घात समीकरण† सम्बन्धी नियमों का प्रतिपादन किया। विएटा (१५४०-१६०३) भी बीजीय समीकरण में पारगत था। केपलर ने शकु परिच्छेदों की अविच्छिन्नता के सिद्धान्त‡का प्रतिपादन किया। स्टेविन ने दशमलव प्रणाली का प्रचार किया और इसके सम्बन्ध में एक रचना भी प्रस्तुत की। नेपियर (१५५०-१६१७) ने त्रिकोणमिति के क्षेत्र में प्रतिकलन§ का आविष्कार और दशमलव बिन्दु का प्रयोग किया।

पुनरुत्थान का महत्त्व—पुनरुत्थान आन्दोलन मानव समाज के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना है। इससे प्राचीन ज्ञान-विज्ञान की रक्षा हुई। मनुष्य स्वतन्त्र चिन्तन के पथ पर अग्रसर हुआ। अब बुद्धि का प्रयोग होने लगा और तर्क की महिमा स्थापित हुई। इससे मानव के ज्ञान-विज्ञान की वृद्धि में सहारा मिला। अब मानव का धर्म एव परलोक में अभिरुचि घटने लगी और वह सासारिक सुख के लिये ही अधिक से अधिक प्रयत्न करने लगा। नये-नये देशों तथा मार्गों की खोज हुई जिसके महत्व-पूर्ण परिणाम हुये। मनुष्य के अन्दर जो महती शक्तियाँ थी वे विभिन्न दिशाओं मे प्रस्फुटित हुई और सभ्यता एव संस्कृति का भण्डार समृद्ध हुआ। पुनर्जागरण ने मध्य युग से आधुनिक युग में पदार्पण के लिये एक पुल का काम किया।

(ख) भौगोलिक अन्वेषण

भूमिका

मध्य युग में यात्रा और व्यापार होते थे अवश्य, किन्तु बहुत ही छोटे पैमाने पर। उनके क्षेत्र सकीर्ण थे। छोटे-छोटे समुद्रों में ही यात्राएँ हो सकती थीं। अटलांटिक जैसे महासागर में यात्रा करना दुस्तर कार्य था। अतः उस काल में प्रादेशिक खोज तथा औपनिवेशीकरण को कोई प्रोत्साहन नहीं मिला। इसके लिये कई बातें उत्तरदायी थीं। अभी दुनिया के बारे में लोगों को पूरी जानकारी नहीं थी। अमेरिका, अफ्रीका तथा आस्ट्रेलिया अभी तक अज्ञात थे। दीर्घकालीन तथा संकटपूर्ण यात्रा करने के लिए बहुत लोग तैयार नहीं थे। अभी सामुद्रिक विद्या का पूर्ण विकास नहीं हुआ था।

* क्युबीक इक्वेशन

† बाइक्वाड्रेटिक इक्वेशन

‡ दी प्रिंसिपल ऑफ दी कन्टीन्युिटी ऑफ कोनिक सेक्शन्स

§ लोगारिथ्म

समुद्र-यात्रा करने में अनेकों कठिनाइयाँ थीं। जहाज छोटे और खतरनाक होते थे। अपनी गति और सुरक्षा के लिए वे हवा पर निर्भर रहते थे। वे अधिक यात्री या माल नहीं ढो सकते थे। समुद्री लुटेरे उत्पात मचाया करते थे। अभी कुतुबनुमा भी प्रयोग में नहीं था जिससे दिशा-ज्ञान करने में बड़ी दिक्कत होती थी। लोगों के पास पूँजी का अभाव था और सरकार की ओर से भी सहायता नहीं मिलती थी। अभी राष्ट्रीयता का व्यापक प्रचार नहीं था, अतः लोगों में त्याग एवं साहसिकता का अभाव था। कुस्तुनुनियाँ के द्वार से यूरोप तथा एशिया के बीच व्यापार होता था। एशिया से चीजें कुस्तुनुनियाँ होकर यूरोप में भेजी जाती थीं। इन्हीं कारणों से सामुद्रिक यात्रा तथा व्यापार में विशेष प्रगति नहीं हो सकी। पुनरुत्थान-काल में मानसिक बन्धनों से मुक्ति हुई और अब मानव का ध्यान दुनियाँ की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुआ। अज्ञात देशों के अन्वेषण और उनके आन्तरिक भागों की खोज होने लगी। १५वीं और १६ शताब्दी में सामुद्रिक यात्राओं तथा भौगोलिक अन्वेषणों को विशेष रूप से प्रोत्साहन मिला।

भौगोलिक अन्वेषणों के कारण

भौगोलिक अन्वेषण के कई कारण थे। पहला, मध्यकाल से ही सुदूर पूर्व से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए स्थल-मार्ग की खोज हो रही थी। मंगोल-विजय ने इस अभाव की पूर्ति की। दूसरा, मंगोल सम्राट् के दरबार में देश-देशान्तर के लोगों का जमघट लगा रहता था। इससे यूरोप तथा एशिया के बीच सम्पर्क बढ़ा और मार्ग सुरक्षित हो गया। १३वीं शताब्दी में यूरोप से कई धर्म-प्रचारक तथा व्यापारी पूर्वी देशों में गये। धर्म प्रचारकों में जॉन ऑफ लौनोकार्पिनी तथा विलियम ऑफ बुक्रिर्न के नाम प्रसिद्ध हैं। ये लोग चगेज खाँ के समय में चीन पहुँचे थे। इन्होंने अपनी यात्राओं के वृत्तान्तों को लिपिबद्ध कर दिया था। इसके बाद कुबलई खाँ के शासन-काल में वेनिस के निवासी निकोलो पोलो, मेफियो पोलो और निकोलो के पुत्र मार्को-पोलो पधारे थे। इनमें मार्कोपोलो का नाम विशेष स्मरणीय है। उसने १७ वर्ष चीन में और लगभग ८ वर्ष रास्ते में व्यतीत किया था। उसके भ्रमण वृत्तान्तों से भौगोलिक ज्ञान का विस्तार हुआ और पूर्वी देशों के वैभव-विलास का चमत्कार देखने के लिए लोगों में उत्सुकता की भावना जग उठी। तीसरा, धर्म-युद्धों से भौगोलिक अध्ययन तथा देश-देशान्तर की यात्रा के लिए प्रोत्साहन मिला। चौथा, पूर्वी देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध आर्थिक दृष्टि से बहुत ही लाभदायक सिद्ध हुआ था। ऐसे ही फ्लोरेन्स तथा जिनोआ के व्यापारी बहुत धनी तथा प्रतिष्ठित हो गए थे। पाँचवाँ, पूर्वी व्यापार पर इटली-निवासियों को एकाधिकार प्राप्त था और भूमध्यसागर के मार्गों पर भी उन्हीं का नियन्त्रण था। इससे अन्य राष्ट्रों में ईर्ष्या पैदा हुई और नये मार्ग

तीर्थयात्रा, कर्मकांड आदि व्यर्थ की बातें थीं। वह ईश्वर की कृपा पर अधिक भरोसा रखता था और समझता था कि यदि बाइबिल के अनुसार अपना चरित्र-निर्माण किया जाय तो ईश्वर अवश्य ही सहायक होगा। पोप तथा पुजारियों जैसे मध्यस्थों की कोई आवश्यकता नहीं थी। यहाँ तक तो उसने पोप के ध्यान को विशेष आकृष्ट नहीं किया। लेकिन जब उसने पोप के पाखण्ड और क्षमापत्र का विरोध करना शुरू किया तो पोप की रोषपूर्ण दृष्टि उसपर भी बिना पड़े नहा रही।

लूथर पोप के क्षमापत्र को धोखे की टट्टीमात्र समझता था। सोलहवीं सदी के प्रथम चरण में रोम में सन्त पीटर का चर्च बन रहा था। उसके लिये प्रचुर धन की आवश्यकता थी। अतः धन-संग्रह के हेतु १५१७ ई० में टेटजल नाम का एक सन्त जर्मनी भेजा गया जहाँ उसने पाप से मुक्त करनेवाले पोप के क्षमापत्र को बेचना शुरू किया। वह भोली-भाली जनता को झूठी-झूठी बातों और प्रलोभनों से बहकाने में बड़ा ही चतुर था। लोग उसके बहकावे में पड़कर क्षमापत्र को अपने पूर्वजों के स्वर्ग में प्रवेश का पासपोर्ट समझने लगे। लूथर से यह अन्याय देखा नहीं गया। उसने इस प्रथा का घोर विरोध किया और पोप के अधिकारों को चुनौती दी। उसने अनेक लेख लिखे और उन्हें विटेनबर्ग के गिरजाघर के द्वार पर कील से ठोंक कर लटका दिया। कहा जाता है कि उनमें उसके ९५ सिद्धान्त थे। वह कहा करता था कि क्षमापत्र से पोप के दण्ड से किसी की रक्षा हो सकती है, किन्तु कर्मफल तो मरने के बाद भोगना ही पड़ेगा और यह ईश्वरीय दण्ड से किसी को नहीं बचा सकता। पोप ने लूथर को रोम आने के लिये आमन्त्रित किया। सम्भव था कि वहाँ जाने पर उसे भी अग्नि में अपना प्राण गँवाना पड़ता। सैक्सनी के राजा से प्रभावित हो वह रोम नहीं गया। लूथर का लोगों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उसके पक्ष में जनमत तैयार हो गया, क्षमापत्रों का क्रय-विक्रय बन्द हो गया। उसने पोप को शास्त्रार्थ करने के लिये निमंत्रित किया लेकिन स्वार्थ तथा अंधविश्वास का भक्त पोप इसके लिये भला कब तैयार हो सकता था? वह भयभीत था और लूथर के आचरण से मन ही मन क्रुद्ध रहा था। लूथर पोप का कोप-भाजन बना और १५२० ई० में धर्म तथा समाज से बहिष्कृत कर दिया गया। लेकिन उसने बहिष्कार-पत्र को खुले आम अग्नि में जला डाला। इस घटना से सारा यूरोप डगमगा उठा। इसके बाद कुछ काल तक लूथर को जंगलों में भटकता रहना पड़ा। लेकिन मदान्ध पोप को क्या पता था कि लूथर, राष्ट्रीय नेता के पद पर गौरवान्वित होने जा रहा है—इतिहास के पृष्ठों में उसके लिये विशिष्ट स्थान सुरक्षित होने जा रहा है!

लूथर और चार्ल्स पंचम

जर्मन सम्राट चार्ल्स पंचम ने पोप का पक्ष लिया। वही पवित्र रोमन साम्राज्य का

अधिष्ठाता था। वह लकीर का फकीर था और धार्मिक एकता को बनाये रखना चाहता था। अतः लूथर को दबाने के लिए उसने राजनीतिक शक्ति का सहारा लिया। उसने लूथर को तुरन्त अवध्य घोषित कर दिया और उसकी लेखनी तथा लेखों पर अनेक प्रतिबन्ध लगा दिया। अब वह चर्च तथा राज्य दोनों का ही विद्रोही बन गया। किन्तु शीघ्र ही अन्य झंझटों में फँस जाने के कारण चार्ल्स लूथर का कुछ बिगाड़ न सका। दूसरी ओर सैक्सनी के राजा एवं राजकुमार लूथर के रक्षक बन गये थे। अब कोई भी लूथर का बाल बाँका नहीं कर सका। उसने जर्मन भाषा में बाइबिल का अनुवाद कर प्रकाशित करा दिया जिसे अब सर्वसाधारण भी बड़ी रुचि के साथ पढ़ने लगे। जर्मनी का प्रत्येक वर्ग उसके सिद्धान्तों से प्रभावित हुआ और लोगों में स्वतन्त्रता की भावना जग उठी। किसानों तथा सैनिकों में विद्रोह का बीज अंकुरित होने लगा। किसानों ने देखा कि सामन्तों के अत्याचार से छुटकारा पाने का यही सुअवसर है। सैनिकों ने सोचा कि यह जर्मनी की राष्ट्रीय एकता के लिये मौका आया और उन्होंने पोप के अनुयायियों से युद्ध करने के लिये ठान लिया। लेकिन लूथर विद्रोही क्रान्तिकारी नहीं था। वह अन्य क्षेत्रों में उच्छृंखलता की वृद्धि नहीं देखना चाहता था। अतः उसने विद्रोहियों का पक्ष नहीं लिया और सामन्तों एवं राजकुमारों को सहयोग दिया। राजकुमार लोग पोप की अधीनता से मुक्त होकर अपनी राजशक्ति में वृद्धि करना चाहते थे। धर्म सुधार का यह राजनीतिक पक्ष था जिसका आरम्भ जर्मनी से होता है। किसान तथा सैनिकों के विद्रोह दबा दिये गये। १५५५ ई० में आग्सबर्ग की सन्धि हुई और प्रत्येक राजा को अपनी प्रजा का धर्म निश्चित करने का अधिकार मिला। राजकुमारों के समर्थन से लूथर का धार्मिक आन्दोलन भी सुदृढ़ हो गया यद्यपि यह पूर्णरूपेण जन-आन्दोलन का रूप नहीं धारण कर सका।

लूथर की स्थिति दृढ़तर होती गई। उसके अनुयायियों की संख्या निरन्तर बढ़ती गई। उसका चलाया हुआ धर्म प्रोटेस्टेंट धर्म के नाम से विख्यात हुआ क्योंकि इस धर्म में रोमन चर्च के सिद्धान्तों का विरोध (प्रोटेस्ट) किया गया था। उत्तरी जर्मनी में इसी नवीन धर्म की प्रधानता स्थापित हो गई थी। दक्षिणी जर्मनी कैथोलिक ही रहा।

चार्ल्स पंचम को जब अवकाश मिला तो उसने प्रोटेस्टेंट धर्म को कुचलना चाहा। इस बीच लूथर की मृत्यु हो चुकी थी। चार्ल्स ने प्रोटेस्टेंटों के साथ अत्याचार करना शुरू किया। किन्तु जो कार्य शमन की नीति से होता है वह दमन की नीति से कदापि नहीं हो सकता। चार्ल्स स्वयं पराभूत और निराशा के गर्त में गिरा। अन्त में उसने स्पेन के एक मठ में शरण ली।

लूथर का स्थान

लूथर एक प्रगतिशील सुधारक था किन्तु खूनी क्रान्तिकारी नहीं था। उसी ने वास्तविक धर्मसुधार-आन्दोलन का सूत्रपात किया और उसे राजनीतिक रूप प्रदान किया। उसने जर्मन जाति की राष्ट्रीय भावना को जागरित किया और इसके राष्ट्रीयकरण के लिये मार्ग प्रस्तुत किया। उसने बाइबिल का स्थानीय भाषा में रूपान्तर कर इसे लोकप्रियता प्रदान की और सर्वसाधारण की सेवा की।

अन्य धर्म सुधारक

इरेसमस हालैंड का निवासी था और उच्चकोटि का विद्वान्, विचारक तथा लेखक था। उसने कई पुस्तकें लिखी जिनमें 'मूर्खता की प्रशंसा' विशेष प्रसिद्ध है। इसमें उसने व्यंग्यात्मक ढंग से धर्माधिकारियों की कटु आलोचना की—उनकी खूब खिल्ली उड़ाई। उसके लेखों से बहुत लोग प्रभावित हुये। किन्तु वह भी चर्च की एकता का समर्थक था। वह यह नहीं चाहता था कि कोई पोप का मान-मर्दन करे और रोम के चर्च से सम्बन्ध विच्छेद करे फिर भी कुछ लोगों का ऐसा मत है कि इरेसमस के उपहासों से लूथर के क्रोध की अपेक्षा पोप को अधिक हानि पहुँची है।

ज्विंगली (१४८४-१५३१) का इंगलैंड में प्रादुर्भाव हुआ। वह लूथर का ही समकालीन था किन्तु दोनों के तरीके भिन्न थे। लूथर अनुदार था तो ज्विंगली क्रान्तिकारी। उसने बाइबिल का गहरा अध्ययन किया और इसे ही प्रामाणिक धर्म ग्रंथ माना। उसने कई प्रचलित धार्मिक प्रथाओं का विरोध किया। १५२३ ई० में वह कैथोलिक चर्च से पृथक हो गया। उसने ज्यूरिक नगर में आन्दोलन का नेतृत्व किया। कैथोलिकों ने उक्त नगर पर हमला कर दिया और १५३१ ई० में ज्विंगली का अन्त हो गया। किसी ने उसका बध कर डाला। परन्तु ज्यूरिकवासियों को धार्मिक स्वतंत्रता प्राप्त होकर रही। इंगलैंड के लोगों पर भी उसके विचारों का प्रभाव पड़ा और धर्म-सुधार के लिये रास्ता सरल हो गया।

जॉन काल्विन (१५०९-६४) का फ्रांस में उदय हुआ। लेकिन जब उसकी जान पर नौबत आयी तो वह १५३६ ई० में जेनेवा भागकर चला गया और वहीं मरने के समय तक रहा। वहाँ वह प्रोटेस्टेंटों का नेतृत्व करने लगा। वह प्रतिभाशाली एवं आदर्शवादी व्यक्ति था। वह उच्चकोटि का तार्किक था। उसे भी बाइबिल की सत्ता मान्य थी। उसके विचार बड़े ही उग्रवादी थे। वह लूथर की अपेक्षा अधिक जननात्रिक था और विशुद्धता पर बहुत जोर देता था। सेवा एवं सादगी का वह सच्चा समर्थक था। वह किसी भी प्रकार के मनोरंजन तथा खेल-तमाशे का विरोधी था। ताश के खेल और दावत पर भी प्रतिबन्ध था। उसने 'ईसाई धर्म की स्थापनाएँ'[1] नामक

[1] इन्स्टीट्यूट्स ऑफ दि क्रिश्चियन रेलीजन।

एक पुस्तक भी फ्रांसीसी भाषा में लिखी। लेकिन धार्मिक क्षेत्र में कालविन बड़ा ही असहिष्णु था। उसने रोम चर्च से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया और भौतिक भोगों को तिलाञ्जलि दे डाली। वह अपने विचारों को दूसरों पर लादना चाहता था। जो लोग उससे सहमत नहीं होते थे उन्हें मरवा डालने में भी उसे कोई संकोच नहीं था। वह भाग्यवाद का भी कट्टर समर्थक था। उसके विचारानुसार सुख-दुख भाग्य से ही होता है। ईश्वर जिसे मुक्त करना चाहता है उसे ही अपने में विश्वास करने के लिये प्रेरित करता है। उसने बालकों की शिक्षा का उचित प्रबन्ध किया और शिक्षा का प्रधान उद्देश्य भव्य-चरित्र-निर्माण करना बतलाया।

आर्थिक क्षेत्र में कालविन के विचार मध्यम तथा व्यापारी वर्ग के अनुकूल थे। उसने सूद, मालगुजारी तथा मुनाफे के सिद्धान्तों का समर्थन किया। अतः व्यापारी तथा मध्यम वर्ग वाले उससे खुश थे और उसका समर्थन किये। यह कालविन की सफलता का रहस्य था। उसका मत कालविनवाद या श्रेष्ठजनवाद (प्रेस्बीटेरियनिज्म) कहा जाता है। स्कॉलैंड तथा फ्रांस में उसके मत का विशेष प्रचार हुआ था।

प्रोटेस्टेंट धर्म का प्रसार

लूथर प्रधानतः जर्मन था और उसकी अनुदारता के कारण प्रोटेस्टेंट धर्म बहुत व्यापक न बन सका। उसके विचार जर्मनी के राजकुमारों के ही अनुकूल थे। अतः उन्होंने इस धर्म को स्वीकार कर लिया। उनके उदाहरण से प्रभावित हो नार्वे, स्वेडन तथा डेनमार्क के राजकुमारों ने भी इस धर्म को ग्रहण कर लिया और अपने अपने देश में इसे राज-धर्म का बाना पहना कर गौरवान्वित किया। प्रोटेस्टेंट धर्म के व्यापक एवं विस्तृत प्रचार का श्रेय तो कालविन को प्राप्त है। उसके संरक्षण में जेनेवा इस धर्म का प्रधान केन्द्र बन गया। वहाँ कैथोलिक धर्म के विरोधियों का ताँता बँध गया। कालविन ने उन्हें अपने मत के स्कूल में शिक्षित किया और वे लौट कर जहाँ भी गये वहाँ अपना पसीना तथा खून तक बहा कर उन्होंने प्रोटेस्टेंट धर्म की रक्षा की।

यूरोप के कई देशों में कालविन के समर्थक छा गए। स्वीट्जरलैंड तो उनका अड्डा ही बना हुआ था; हालैंड, फ्रांस, स्कॉटलैंड, इंगलैंड आदि देशों में भी उनकी धर्म-पताका फहरा रही थी। फ्रांस में वे ह्यूजेनौट के नाम से विख्यात थे जिनमें मध्यम वर्ग के ही अधिकांश लोग थे। वहाँ धर्मसुधार-आन्दोलन अधिक लोकप्रिय न हो सका। कैथोलिकों ने उनके साथ बड़ा अत्याचार किया। १५७८ ई० में *बार्थोलम्यू के हत्याकांड में सहस्रों ह्यूजेनौट मौत के मुँह में चले गये।* कितने लोगों ने इंगलैंड, जर्मनी और अमेरिका में शरण ली। धीरे-धीरे फ्रांस में भी इनकी स्थिति

दृढ़ हो गई। १५९८ ई० में हेनरी चतुर्थ के राज्यकाल में नैन्टिज का राजनियम पास हुआ जिसके द्वारा प्रोटेस्टेंटों के प्रति उदार व्यवहार होने लगा। हॉलैंड में धर्मसुधार-

चित्र ७
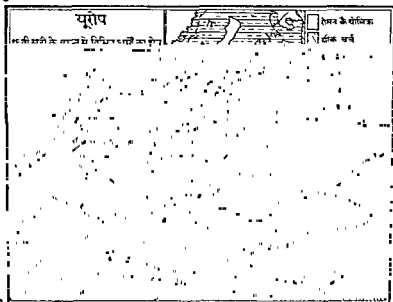
आन्दोलन राजनीतिक आन्दोलन भी था। हॉलैंड स्पेन के राजा फिलिप द्वितीय के अधिकार में था। अतः विदेशी शासन से छुटकारा पाने के लिये विद्रोह हुआ और अन्त में हालैण्ड में जनतन्त्र की स्थापना होकर रही। स्कॉटलैंड में कालविन का शिष्य जॉन नौक्स था और वहाँ यह सम्प्रदाय प्रेसबिटेरियन के नाम से प्रसिद्ध था।

इंगलैंड में प्रोटेस्टेंट धर्म की स्थापना की कहानी बड़ी ही मनोरंजक है। यहाँ धर्मसुधार आन्दोलन प्रारम्भ में न तो धार्मिक था और न राष्ट्रीय। यह विशेष परिस्थिति का उत्पादन था—पोप तथा राजा के आपसी झगड़े का परिणाम था। अष्टम हेनरी अपनी प्रथम पत्नी कैथराइन का त्याग करना चाहता था। पोप ने अनुमति नहीं दी। अतः हेनरी इंगलैंड के चर्च का स्वयं प्रधान बन बैठा और राष्ट्रीयता के आधार पर इसका संगठन किया जाने लगा। वही अब पादरियों को नियुक्त करने लगा। जनता ने भी उसका साथ दिया। उसने अपने विरोधियों को दबाने की भरपूर चेष्टा की। उन्हें देश से बाहर निकाल दिया गया पोप को कर देना बन्द कर दिया गया। चर्च और मठों का असीम धन जब्त कर लिया गया। इससे राज्य की आय

तथा शक्ति में पर्याप्त वृद्धि हुई। एडवर्ड के समय में प्रोटेस्टेंट धर्म फूला-फला लेकिन मेरी ट्यूडर के शासनकाल में प्रोटेस्टेंटों पर हाथ साफ किया गया क्योंकि वह कैथोलिक धर्म का कट्टर पक्षपाती थी। किन्तु अत्याचार और दमन से सुधार-आन्दोलन प्रबल होता गया। अन्त में एलिजाबेथ के राज्यकाल में एक मध्यम मार्ग का अनुसरण किया गया और कुछ परिवर्तनों के साथ प्रोटेस्टेंट धर्म स्वीकार कर लिया गया। देश में राष्ट्रीय चर्च की स्थापना हो गई। समन्वित धर्म को एंग्लिकन धर्म कहा गया।

अभी तक आस्ट्रिया तथा दक्षिणी जर्मनी में नये धर्म की जड़ न जम सकी क्योंकि पोप तथा सम्राट का वहाँ विशेष प्रभाव था। दोनों ही कैथोलिक धर्म के दृढ़ स्तम्भ थे। स्पेन तथा फ्रांस भी स्वार्थवश कैथोलिक ही बने रहे। पोप के साथ रहने से उन्हें कुछ लाभ दीख पड़ते थे। अतः इन देशों ने विद्रोह नहीं किया।

धर्मसुधार आन्दोलन की सफलता के कारण

१६ वीं शताब्दी में धर्मसुधार आन्दोलन के सफल होने के कई कारण थे। इस युग के सुधारकों ने पूर्वकालीन सुधारकों के अनुभव से लाभ उठाया। यह युग नये विचारों के अनुकूल था और नेताओं ने अपने पूर्वजों की भूलों की आवृत्ति नहीं की। इन्होंने धर्मसुधार के ही क्षेत्र में अपने को सीमित रखा और अन्य सुधारों का समर्थन नहीं किया। जर्मनी में जब किसानों ने विद्रोह किया तो लूथर ने उनका पक्ष नहीं लिया और विद्रोह दबाने में राजाओं तथा भूमिपतियों को प्रोत्साहित किया। इस तरह शासक तथा धनी वर्ग का उसे समर्थन प्राप्त हुआ। हम देख चुके हैं कि कालविन को भी मध्यम तथा व्यापारी वर्ग का सहयोग मिला था। दूसरे, सुधारकों ने राष्ट्रीय भावना का भी सहारा लिया। पोप एक विदेशी था और राष्ट्रीयता से प्रभावित राज्य उससे मुक्ति चाहते थे। इससे भी सुधारकों को पर्याप्त सहायता मिली। तीसरे, पोप का आधिपत्य समाप्त हो जाने पर बहुत से लोगों को चर्च की सम्पत्ति मिलने की आशा थी। चर्च में जमीन-जायदाद बहुत थी। कई देशों में चर्च की सम्पत्ति छीन कर लोगों में बाँट दी गयी। जिन लोगों को यह सम्पत्ति मिली वे धर्मसुधार के प्रबल समर्थक बन गये। चौथे, मध्यकाल में चर्च के जीमे कुछ उपयोगी काम भी थे। लेकिन १६ वीं सदी तक आते-आते परिस्थिति बदल गयी थी और चर्च के बहुत से काम उसके हाथ से निकल गये थे। अतः अब उसकी पुरानी उपयोगिता जाती रही। उदाहरणार्थ, चर्च पहले शिक्षा का प्रबन्ध करता था और इसी तरह राज्य के लिये शिक्षित कर्मचारी भी मिलते थे। लेकिन अब तो मध्यम वर्ग की देखरेख में शिक्षा का विकास होने लगा। ऐसे ही राष्ट्रीय सरकारों के पथप्रदर्शन में विविध कार्य सम्पादित किये जाने लगे।

धर्मसुधार आन्दोलन के परिणाम

प्रतिवादात्मक सुधार आन्दोलन

प्रोटेस्टेंट सम्प्रदाय के विस्तृत प्रचार से यूरोप के अधिकांश भाग का दृष्टिकोण परिवर्तित हो गया। तीन प्रकार के प्रोटेस्टेंट सम्प्रदाय विशेष प्रचलित थे—लूथर के अनुयायी, काल्विन के अनुयायी और ऐंग्लिकन चर्च के अनुयायी। इनकी लोकप्रियता से कैथोलिक सम्प्रदाय को यह भय हुआ कि यदि उसके सिद्धान्तों तथा व्यवहारों में समयानुसार परिवर्तन नहीं हुआ तो इस सम्प्रदाय का अस्तित्व ही लुप्त हो जायगा। अतः आत्मरक्षा के हेतु प्रचलित बुराइयों और कुरीतियों को दूर करना अनिवार्य समझा गया। पाल चतुर्थ नामक पोप ने इस सुधार आन्दोलन का नेतृत्व किया। उसने भोग-विलासों का परित्याग कर सादगी का उदाहरण उपस्थित किया। इस तरह अनेक कुशल पोपों के पथप्रदर्शन में बहुत से महत्वपूर्ण सुधार के लिये प्रयत्न किये गये। इसी घटना को इतिहास में प्रतिवादात्मक धर्मसुधार आन्दोलन[1] कहते हैं। इसके दो रूप थे—धार्मिक सिद्धान्तों की व्याख्या तथा धर्म-प्रचार। इनकी पूर्ति के लिये तीन साधन अपनाये गये—ट्रेंट का सम्मेलन, जेसस-संस्था और धार्मिक न्यायालय। पहले ने धर्म की व्याख्या की ओर दूसरे तथा तीसरे ने उसका प्रचार। ट्रेंट नगर में एक विशाल धर्मसम्मेलन का आयोजन किया गया था। १८ वर्ष के अन्दर (१५४५-६३ ई०) इसकी कई बैठकें हुई। कैथोलिक चर्च की कुरीतियाँ उठा दी गईं। प्रायः छोटे-बड़े सभी पदों पर योग्य व्यक्तियों की नियुक्ति की जाने लगी। धर्माधिकारियों की सच्चाई, पवित्रता तथा सादगी पर विशेष जोर दिया गया। भ्रष्टाचारी और अनुशासन-हीन पादरियों को कठोर दण्ड देने का नियम बनाया गया। गिरजों, मठों तथा अन्य शिक्षण-संस्थाओं में बाइबिल के पठन-पाठन की समुचित व्यवस्था की गई। प्रोटेस्टेंट धर्म सम्बन्धी पुस्तकों तथा लेखों के प्रकाशन और प्रचार के अन्य साधनों पर प्रतिबंध लगाया गया।

कैथोलिक सम्प्रदाय में एक नयी संस्था का उदय हुआ जो जेसिवट संस्था के नाम से प्रसिद्ध है। इसे जीसस की संस्था भी कहा जाता है। इसके सदस्य जेसिवट कहलाते थे। इसका संस्थापक एक स्पेन निवासी था जिसका नाम इग्नेशियस लायोला (१४९१-१५५६ ई०) था। यह मुख्यतः एक सैनिक था। अतः वह अनुशासन तथा नियमों के पालन पर विशेष जोर देता था। इस संस्था का एक प्रधान होता था जो आजीवन इस पद पर विराजमान रहता था। इसका प्रथम प्रधान इग्नेशियस स्वयं था। इसके सदस्यों के लिये कठोर नियमों की व्यवस्था की गई थी। ईश्वरभक्ति,

[1] काउन्टर रिफॉर्मेशन

पोपभक्ति, आज्ञाकारिता, सादगी, ब्रह्मचर्य आदि बातों पर विशेष ध्यान दिया जाता था। शिक्षा का प्रचार तथा दीनों, आहतों और पीड़ितों की सेवा इस संस्था का मुख्य उद्देश्य था। अतः इसकी ओर से अनेक शिक्षालय और चिकित्सालय जहाँ-तहाँ खोले गये। शिक्षा-प्रणाली में वाद्‌विवाद की प्रधानता थी। इस संस्था ने विदेशों में भी अपने धर्मप्रचारकों को भेजा जिनके प्रयत्न से एशिया तथा अमेरिका के विभिन्न देशों में कैथोलिक ईसाई मत का प्रचार हुआ।

धार्मिक न्यायालय कोई बिल्कुल नयी संस्था नहीं थी। मध्यकाल में ही इसका उपयोग किया जा रहा था। धर्म-विरोधियों को दण्ड देने के लिये ही इसकी स्थापना हुई थी। यह न्यायालय चर्च के विरोधियों को क्रूर से क्रूर दण्ड देता था। धर्मसुधार-आन्दोलन के युग में इस न्यायालय का विशेष प्रयोग होने लगा था। यह आतंक के द्वारा प्रोटेस्टेंट विचारधारा की गति को रोकना चाहता था, किन्तु इसका सारा प्रयत्न विफल रहा।

ईसाई धर्म की एकता का अन्त

धर्मसुधार-आन्दोलन का दूसरा परिणाम था ईसाई धर्म की एकता का अन्त। मध्ययुग धार्मिक एकता का युग था। सभी लोग कैथोलिक रोमन चर्च की छत्रछाया में रहते थे और *इसका प्रधान पोप था।* राजनीतिक साम्राज्य का सिरमौर सम्राट् था तो धार्मिक साम्राज्य का पोप। सम्राट् में राजसत्ता निहित थी और पोप में धर्मसत्ता। किन्तु प्रोटेस्टेंट धर्म के उदय के साथ धार्मिक एकता का आदर्श जाता रहा। अब चर्च दो प्रकार के हो गये—कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेंट। इसके सिवा प्रोटेस्टेंट सम्प्रदाय में भी कई शाखाएँ स्थापित हो गईं, जैसा कि पहले देखा जा चुका है। कैथोलिक चर्च में भी धीरे-धीरे विभाजन होने लगा था।

धार्मिक युद्ध का श्रीगणेश

ईसाई धर्म की एकता का ही केवल अन्त नहीं हुआ, बल्कि विभिन्न विरोधी सम्प्रदायों के बीच संघर्ष का भी श्रीगणेश हुआ। १६ वीं और १७वीं सदी का पूर्वार्द्ध कठोर विशुद्धवाद, घोर असहिष्णुता तथा धार्मिक युद्ध का युग था। धर्म के नाम पर पशुओं की भाँति मनुष्यों का बलिदान किया जा रहा था और खून की नदियाँ बहाई जा रही थीं। अगणित व्यक्तियों का वध हुआ और कितने अपनी जन्मभूमि को छोड़कर विदेशों में शरण लेने के लिये बाध्य हुये। धर्म के ही आधार पर यूरोप दो गुटों में विभक्त हो गया था—कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेंट और दोनों ही एक दूसरे के अस्तित्व को मिटा देने के लिये कमर कसकर तैयार हो गये। कुछ काल तक सांस्कृतिक तथा राजनीतिक उन्नति में रुकावट पैदा हो गई।

चार्ल्स पंचम ने जर्मनी में नये आन्दोलन को कुचलने के लिये कोई कोर-कसर उठा नहीं रखा था और प्रोटेस्टेंटों से लड़ाई तक ठान ली थी। १६ वीं सदी के उत्तरार्द्ध में फ्रांस में भयंकर गृहयुद्ध हुआ जिसमें हजारों प्रोटेस्टेंट मौत के घाट उतरे और बहुतेरे भाग कर विदेश चले गये। इगलैंड तथा स्पेन के बीच आर्माडा की भीषण लड़ाई हुई जिसमें स्पेन बर्बाद हो गया। सत्रहवीं सदी के पूर्वार्द्ध में इगलैंड में भी धर्म के आधार पर गृहयुद्ध हुआ। इसके फलस्वरूप चार्ल्स प्रथम को फाँसी हुई और प्रजातन्त्र राज्य का असफल प्रयोग हुआ। ११ वर्षों तक निरंकुशता की प्रधानता रही और राष्ट्रीय चर्च की सृष्टि हुई। बहुत से प्यूरिटनों को जो, काल्विन के अनुयायी थे, अमेरिका में शरण लेनी पड़ी। कैथोलिक स्पेन ने प्रोटेस्टेंट नीदरलैंड पर अत्याचार का पहाड़ ही ढा दिया था। नीदरलैंड स्पेन के राज्य के अन्तर्गत था, अतः वहाँ के निवासियों ने धार्मिक तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिये विद्रोह कर डाला। फिलिप द्वितीय स्पेन का सम्राट् था। उसने बड़ी बर्बरता के साथ विद्रोह को दबाने का प्रयत्न किया, किन्तु नीदरलैंड वाले स्वतन्त्र होकर ही रहे।

धार्मिक असहिष्णुता तथा संकीर्णता का भीषण और भयंकर परिणाम था यूरोप का ३० वर्षीय युद्ध (१६१८-४८ ई०)। लगभग सारा यूरोप इसमें शामिल था। हिंसा ने अपना प्रचण्ड रूप धारण कर नग्न नृत्य किया, सहस्रों की संख्या में पशुओं की भाँति नर-संहार हुआ, मनुष्य ने मनुष्य के रक्त से होली खेली। धर्मान्ध यूरोप के धरातल का अधिकांश भाग रक्तरंजित तथा निर्जन वन गया। जर्मनी बर्बाद हो गया, सर्वत्र अव्यवस्था फैल गई। लेकिन यूरोप के होश भी ठिकाने आ गये, आँखें खुल गई। वेस्टफालिया की सन्धि के द्वारा १६४८ ई० में युद्ध का अन्त हुआ। संसार के इतिहास में यह एक युगप्रवर्तक सन्धि है। अब लोगों ने असहिष्णुता के कुफल को समझ कर सहिष्णुता की नीति स्वीकार कर ली। धार्मिक स्वतन्त्रता का सिद्धान्त मान लिया गया, सभी धर्मावलम्बियों को रहने की आज्ञा मिल गई और धार्मिक युद्ध के दिन बीत गए। लेकिन प्रत्येक देश में यह नीति एक-ब-एक कार्यान्वित नहीं कर दी गई, बल्कि धीरे-धीरे कार्यरूप में लाई गई।

राष्ट्रीयता को प्रोत्साहन

धर्मसुधार ने राष्ट्रीय भावना को जागरित किया। जो सभ्यता पहले धर्म-प्रधान थी वह अब राष्ट्र-प्रधान बन गई। देशी भाषाओं में बाइबिल के अनुवाद और पूजा-पाठ होने लगे। इससे राष्ट्रीय साहित्य के विकास में सहायता पहुँची। धर्म में जनता की अभिरुचि घटी। धर्मधान्य में पूर्ण मठों के टूटने से राष्ट्रीय राज्यों की आय तथा शक्ति में वृद्धि हुई। व्यापार आदि के सम्बन्ध में भी जो धार्मिक बन्धन थे, टूट गये। इस प्रकार पाश्चात्य सभ्यता धर्म-निरपेक्ष होती गई और इसमें सामाजिक तथा राष्ट्रीय

उन्नति पर विशेष ज़ोर दिया जाने लगा। कैथोलिक देशों में भी राष्ट्रीयता बलवती होने लगी थी।

राज्यों की स्थिति में परिवर्तन

भौगोलिक अन्वेषण के युग में स्पेन तथा पुर्तगाल की प्रधानता स्थापित हो गई थी। वे ही इस क्षेत्र में अग्रदूत थे। इन देशों ने नये व्यापारिक मार्गों से पूरा लाभ उठाया और अमेरिका तथा भारत के व्यापार पर एकाधिपत्य स्थापित कर धन-दौलत की वृद्धि की। लेकिन धार्मिक युद्धों तथा राष्ट्रीयता के कारण इनकी स्थिति बिगड़ गई। अब ये तृतीय श्रेणी के राज्य बन गये। राष्ट्रीय राज्यों का उत्थान हुआ। हॉलैण्ड, फ्रांस तथा इंगलैंड की महत्ता बढ़ चली और इनमें व्यापारिक तथा औपनिवेशिक स्पर्द्धा का बीज अंकुरित होने लगा जो क्रमशः फूलने-फलने लगा। इस संघर्ष का आधुनिक युग की विशेषताओं में एक प्रमुख स्थान है। इस तरह धर्मसुधार ने वर्तमान यूरोप के निर्माण में सहायता प्रदान की है।

मानसिक क्रान्ति का प्रारम्भ

सर्वसाधारण अन्धविश्वासों के दलदल में बुरी तरह फँसे हुये थे। वे पोप को पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतीक और अचूक मानते थे। उनके विरुद्ध मुँह खोलने का किसी को साहस नहीं होता था और न किसी को अधिकार था। धर्मसुधार-आन्दोलन ने इस धारणा के भूत का अन्त कर डाला। अब समाज में उथल-पुथल मच गई। लोगों के मस्तिष्क में क्रान्ति उत्पन्न हो गई। अब यह स्पष्ट हो गया कि कोई भी पोप का विरोध कर सकता है और प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र रूप से सोचने तथा बोलने का अधिकारी है। इसी पृष्ठभूमि में राजनीतिक स्वतन्त्रता का बीज भी छिपा हुआ है।

वैधानिक प्रगति

धर्मसुधार आन्दोलन ने राष्ट्रीय राज्य को सबल बनाया और राष्ट्रीय राज्य में राजा की शक्ति में बहुत वृद्धि हुई। राज्य के प्रति आज्ञाकारिता पर विशेष जोर दिया जाने लगा। राजसत्ता सुदृढ़ हो गयी। लेकिन शक्ति किसको मदान्ध नहीं बनाती। राजा लोग स्वेच्छाचारिता की ओर अग्रसर होने लगे। परन्तु अब जनसाधारण भी मूक नहीं थे जो अत्याचार सहन करते। जब राजा ने मनमाना करने का प्रयत्न किया तो जनता ने उसका भी घोर विरोध किया। इसका इंगलैंड प्रथम ज्वलन्त उदाहरण है। वहाँ इसी प्रश्न पर गृहयुद्ध तक छिड़ गया। १७वीं सदी में यह घटना घटी। एक राजा को फाँसी हो गयी और दूसरे को गद्दी छोड़कर भागना पड़ा। युद्ध में प्यूरिटनों ने प्रमुख भाग लिया। अन्त में लोक प्रतिनिधि संस्था की विजय हुई—

वैधानिक राजतन्त्र कायम हुआ। धीरे-धीरे अन्य राष्ट्र भी अंग्रेजी उदाहरण से प्रभावित होने लगे।

नवीन आर्थिक व्यवस्था

धर्मसुधार आन्दोलन का आर्थिक क्षेत्र पर भी प्रभाव पड़ा। हम देख चुके हैं कि चर्च की नीति से वाणिज्य-व्यापार तथा उद्योग-धन्धों को बिल्कुल प्रोत्साहन नहीं मिलता था। चर्च सूद तथा मुनाफे का विरोधी था। लेकिन प्रोटेस्टेंट नेता सूद तथा मुनाफे का समर्थन करते थे। एक उचित सीमा के अन्दर सूद लेना तथा मुनाफा करना ठीक बतलाया गया। इससे महाजनी पेशा तथा वाणिज्य-व्यापार के विकास को बड़ा प्रोत्साहन मिला। व्यापारिक प्रगति होने से राष्ट्रीय सम्पत्ति की वृद्धि में सहायता मिली। सम्पत्ति की वृद्धि होने से विविध कार्य के सफल संगठन में सुविधा प्राप्त होने लगी। इसी तरह कालान्तर में पूँजीवाद के विकास के लिये भी मार्ग खुल गया।

(ख) आधुनिक युग के अन्य लक्षण

हम कह चुके हैं कि तीन घटनाओं ने यूरोप तथा विश्व के इतिहास में आधुनिक युग के आगमन की सूचना दी। ये तीन घटनाएं हैं—सांस्कृतिक पुनरुत्थान, भौगोलिक अन्वेषण और धर्म सुधार आन्दोलन। आधुनिक युग की जितनी प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं वे प्रायः सभी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में उपर्युक्त तीनों घटनाओं से सम्बन्धित हैं। इन तीनों घटनाओं का विस्तृत उल्लेख तो हो ही चुका है। अब कुछ अन्य प्रवृत्तियों एवं घटनाओं का भी विशद विवेचन कर देना असंगत नहीं होगा।

यूरोप में आर्थिक क्षेत्र में आधुनिक संगठन का आरंभ हुआ। मध्य युग में सामन्तवाद की प्रधानता थी और उसमें भूमि को अधिक महत्त्व दिया जाता था। लेकिन १५वीं १६वीं शताब्दी तक कई कारणों से सामान्तवाद का नाश हो गया। अब अर्थ-नीति मुद्रा पर आधारित हुई। पूँजी की महत्ता बढ़ी और धन संग्रह में लोग अभिरुचि प्रदर्शित करने लगे। विविध उपायों से धन जमा करने के लिये प्रयत्न किया जाने लगा। जमीन का महत्त्व अभी भी रहा लेकिन अब ये आय का एक प्रमुख साधन समझा जाने लगा। एक समय बड़े-बड़े कृषि-क्षेत्रों को चरागाह में परिवर्तित किया जाने लगा था। कृषि कराने में अधिक मजदूर लगाने पड़ते थे और अधिक खर्च भी हो जाता था लेकिन चरागाह में तो अधिक मजदूरों की आवश्यकता नहीं होती थी। लेकिन इससे बेकारी का रोग बढ़ने लगा। बहुत से मजदूर तो बेकार हो गये।

जमीन के अतिरिक्त वाणिज्य-व्यापार से भी धन की वृद्धि करने की कोशिश होने लगी। १६वीं सदी से १७वीं सदी तक कई कारणों से व्यापार में अद्भुत प्रगति

हुई। इसे व्यापारिक क्रान्ति का ही युग कहा जाता है। अब व्यापार का क्षेत्र बड़ा ही व्यापक बन गया था। सभी महादेश व्यापारिक सूत्र में आबद्ध होने लगे थे अब बड़े-बड़े महासागर की छाती पर जहाज चलने लगे थे। अब विस्तृत पैमाने पर व्यापार के द्वारा मुनाफा करने के लिये बहुत अधिक पूँजी की आवश्यकता पड़ने लगी। धन से धन पैदा होता है—वाली कहावत चरितार्थ होने लगी। जो जितनी अधिक पूँजी व्यापार में लगा सकता था वह उसी अनुपात में मुनाफा करने की आशा कर सकता था। अब सवाल यह उठा कि अधिक पूँजी आवे कहाँ से? इसके लिये सम्मिलित स्टाक कम्पनी स्थापित करने की प्रथा चली। लोग हिस्सा खरीदने लगे और उसी अनुपात में मुनाफा को बाँटने लगे। १५५३ ई० में इंगलैंड में सर्वप्रथम सम्मिलित स्टॉक कम्पनी स्थापित हुई। लेकिन इस ढग से भी आवश्यकता पूरी नहीं हुई तो बैंक स्थापित होने लगे। बैंक से पर्याप्त मात्रा में पूँजी मिल सकती थी। बैंक ने साख की प्रथा चला कर व्यापारियों को और भी अधिक सुविधा दे दी। अब हजारों रुपये के माल की खरीद-बिक्री साख पर की जाने लगी। वाणिज्य-व्यापार के जैसा उद्योग-धन्धों की व्यवस्था में भी परिवर्तन हुआ।

उत्पादन की वृद्धि और व्यापार की प्रगति के कारण बहुत से लोग समृद्धशाली बनने लगे। उनके हाथ में पर्याप्त पूँजी आने लगी। अब जिन लोगों को धन की आवश्यकता पड़ती थी वे धनी व्यक्तियों से सूद पर कर्ज लेने लगे। कई राजाओं को भी कर्ज लेना पड़ता था। वे भी धनी व्यापारियों से कर्ज के लिये प्रयत्न करने लगे। इस तरह लेन-देन के कारबार में भी वृद्धि होने लगी और कुछ लोग मालोमाल बनने लगे। इस प्रकार पूँजीवादी व्यवस्था की भी नींव पड़ गयी।

पूँजीवाद का प्रारम्भ होने से समाज में धन के आधार पर वर्ग विभाजन भी शुरू हो गया। व्यापारी अपनी पूँजी की उत्तरोत्तर वृद्धि कर रहे थे और कुछ ऐसे लोग थे जो इन्हीं पूँजीपतियों पर निर्भर रहने लगे थे। लेकिन अभी पूँजीवाद तथा वर्ग विभाजन की यह प्रारम्भिक अवस्था ही थी।

राजनीतिक क्षेत्र में पूँजीपति व्यापारियों का प्रभाव भी बढ़ने लगा। १६वीं-१७वीं शताब्दी में कई कारणों से वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि होने लगी थी लेकिन उस अनुपात में राजाओं की आय में वृद्धि नहीं हुई। इसके अतिरिक्त शासन तथा युद्ध सम्बन्धी खर्च में भी वृद्धि हो रही थी। अतः राजाओं को भी धनी वर्ग से कर्ज लेकर अपनी आवश्यकता की पूर्ति करनी पड़ती थी। इसके बदले पूँजीपतियों को राजाओं की ओर से कृतज्ञता स्वरूप अनेक सुविधाएँ भी दी जाने लगी थीं। अतः राजनीति में धनी वर्ग के प्रभाव का प्रारम्भ हुआ।

राष्ट्रीय राज्यों का निर्माण आधुनिक युग का महान लक्षण था। राष्ट्रीय राज्य का प्रधान राजा होता था। राष्ट्रीय राजतन्त्र के विकास के कई कारण थे। धर्म-युद्ध से इसे बहुत प्रोत्साहन मिला। पूर्व के मुसलमान शासकों से पश्चिम वालों का सम्पर्क हुआ और निरंकुश शासन के विषय में जानकारी प्राप्त हुई। फिर धर्म-युद्ध से व्यापारिक उन्नति हुई और व्यापारिक उन्नति से मध्यम वर्ग का उदय हुआ। मध्यम वर्ग वालों को शान्ति एवं सुरक्षा की नितान्त आवश्यकता थी और इसकी पूर्ति शक्तिशाली राजतन्त्र से ही हो सकती थी। अतः मध्यम वर्ग ने शक्तिशाली राजतन्त्र की स्थापना में भरपूर सहयोग दिया। इसके अतिरिक्त मध्यम वर्ग वाले धनी तथा पढ़े-लिखे भी होते थे। आवश्यकता पड़ने पर वे राजा को आर्थिक सहायता देते थे। इसी वर्ग से राज्य के बहुत से कर्मचारी भी नियुक्त होते थे। इस तरह आधुनिक राष्ट्रीय राज्य के निर्माण में मध्यम वर्ग की महत्त्वपूर्ण देन रही है। राजा की शक्ति की वृद्धि में धर्म-सुधार आन्दोलन भी सहायक सिद्ध हुआ। चर्च पर राजा का अधिकार हो गया और उसके हाथ में अपार सम्पत्ति आ गयी। १५वीं सदी से रोमन कानून का भी विशेष अध्ययन होने लगा और इसमे भी राजा की निरंकुशता को प्रोत्साहन मिला। रोमन कानून के अन्दर राजा की शक्ति असीम थी। इस प्रकार राष्ट्रीय राजतन्त्र में राजा राष्ट्रीय एकता एवं सम्मान का केन्द्र बिन्दु था। अब लोगों में अपने राजा एवं राज्य के लिये बलिदान का भाव उत्पन्न होने लगा।

मध्यम वर्ग वालों ने सबल राजतन्त्र को ही विकसित नहीं किया बल्कि सीमित राजतन्त्र एवं प्रजातन्त्र को भी प्रोत्साहित किया। जब शक्तिशाली राजाओं ने मनमाना करना शुरू किया तो राजशक्ति के विरुद्ध उनमें प्रतिक्रिया हुई। राजा मध्यम वर्ग पर मनमाने ढंग से टैक्स लगाने लगा और धार्मिक क्षेत्र में भी हस्तक्षेप करने लगा। जन-हित की उपेक्षा की जाने लगी। ऐसी दशा में मध्यम वर्ग ने राजशक्ति का विरोध किया। इसका प्रथम उदाहरण हालैंड में मिलता है। हालैंड स्पेन के राजा के अधीन था। १५६६ ई० में डचों ने मध्यम वर्ग के नेतृत्व में विद्रोह कर दिया और १६०६ ई० में वे स्वतन्त्र हो गये। दूसरा बड़ा उदाहरण इंगलैंड में मिलता है। १७वीं सदी में स्टुअर्ट राजाओं के विरुद्ध विद्रोह हुआ और राजतन्त्र को सीमित कर दिया गया। अमेरिका के स्वातन्त्र्य संग्राम तथा फ्रांस की राज्य क्रान्ति में भी मध्यम वर्ग ने प्रमुख भाग लिया।

मध्य युग में गिल्ड तथा चर्च के नियमों के कारण मनुष्य का व्यक्तिगत जीवन भी बहुत ही नियन्त्रित हो गया था। मध्यम वर्ग ने इस नियन्त्रण का भी विरोध किया। इससे व्यक्तिवाद को प्रोत्साहन मिला। विचार-स्वातन्त्र्य का महत्त्व बढ़ा और व्यक्ति

की महत्ता स्थापित हुई। इससे विज्ञान एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विकास के लिये मार्ग प्रशस्त हो गया।

धार्मिक क्षेत्र में उदारता एवं सहिष्णुता भी आधुनिकता के ही लक्षण हैं। पुनर्जागरण-युग में आधुनिक धर्म निरपेक्षता का प्रचार नहीं हुआ था। अभी भी धर्म का प्रभाव था। लेकिन अब इसकी प्राचीन महत्ता जाती रही। अब धर्म में लोगों की अभिरुचि घटने लगी और राजा अन्य धर्मों के प्रति उदारता दिखलाने लगा। १५९८ ई० में नैन्टीज के नियम के अनुसार फ्रांस के प्रोटेस्टेंटों को सुविधाएँ दी गईं। इसके २५ वर्ष पहले ही पोलैंड में धार्मिक स्वतन्त्रता की घोषणा की जा चुकी थी। १६४८ ई० में सहिष्णुता का सिद्धान्त मान लिया गया। १६८९ ई० में सहिष्णुता नियम के द्वारा इसे इंगलैंड में लागू किया गया। धीरे-धीरे अन्य राजाओं ने भी इस नीति को अपनाया। आजकल तो प्रत्येक व्यक्ति को पूरी धार्मिक स्वतन्त्रता मिल गयी है। वह जिस धर्म को चाहे उसे अपने ढंग से मान सकता है।

मध्यकाल में युद्ध-प्रणाली सामन्ती व्यवस्था पर आधारित थी। अस्त्र-शस्त्र भी पुराने ढंग के थे। लेकिन १५वीं-१६वीं शताब्दी में सामरिक क्षेत्र में भी महान् परिवर्तन हो गये। अब वेतन पर निर्भर स्थायी सेना का निर्माण होने लगा। बारूद के आविष्कार होने और नये-नये अस्त्र-शस्त्र बनने लगे जो बड़े ही भयकर एवं प्रभावकारी होते थे। पहले बर्छी, तलवार आदि की प्रधानता थी किन्तु अब बन्दूक, गोला आदि का महत्त्व बढ़ा। यह परिवर्तन भी राष्ट्रीय राजाओं की शक्ति में वृद्धि का एक प्रमुख कारण था। इन अस्त्रों-शस्त्रों के सहारे बड़े-बड़े विद्रोह को दबाना भी सरल हो गया।

मध्य युग में लैटिन की प्रधानता थी किन्तु अब लोक भाषाओं के विकास पर ही विशेष जोर दिया जाने लगा। इसका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है।

इस प्रकार यूरोप में १६वीं शताब्दी तक आधुनिक युग के प्रायः सभी लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे। जीवन के सभी क्षेत्रों में अपूर्व परिवर्तन हुए। अतः यदि यह कहा जाय कि १६वीं शताब्दी में आधुनिक युग का सूत्रपात हुआ तो इसमें कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

अध्याय ३

राजतन्त्र का प्राबल्य—यूरोप तथा एशिया

(क) यूरोप

भूमिका

मध्य काल में ही यूरोप के अधिकाश भागो में राष्ट्रीय राज्यों के निर्माण का शिलान्यास हो चुका था, इसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। इन राज्यों के शासन-प्रबन्ध में सर्व-साधारण को कोई उत्तरदायित्व नहीं था और राजा निरकुश होते थे। किन्तु देश के सभी लोग अपने राज्य की सीमा वृद्धि और स्वतन्त्रता के लिए उत्सुक रहते थे। इस तरह मध्य युग में सशक्त राजतन्त्र का जो शिलान्यास हुआ उस पर आधुनिक युग में उसका विशाल भवन निर्मित हुआ। १७वीं तथा १८वीं शताब्दी सशक्त राजतन्त्र के उत्कर्ष का युग था। इसके कई कारण थे।

राष्ट्रीयता का उत्थान सर्वप्रधान कारण था। इसका बीज तो पहले ही अकुरित हो चुका था। नवीनकाल के पदार्पण के साथ यह पूर्णरूप से फूलने-फलने लगा। राज्यों के निर्माण में धर्म की महत्ता घटने लगी थी और भाषा, परम्परा और जातीय एकता ने उसका स्थान ग्रहण कर लिया। इसमें राष्ट्रीयता की भावना विशेष रूप से जाग्रत हुई और राज्य सीमा निश्चित करने में अधिक सुविधा हो गई। प्रत्येक राज्य में स्वतन्त्र रूप से भाषा की वृद्धि होने लगी थी और साहित्य में वहाँ की घटनाओं को विशेष महत्व दिया जाने लगा। धर्मसुधार आन्दोलन ने पोपशाही का अन्त कर प्रत्येक देश में धार्मिक एकता को प्रोत्साहित किया। पवित्र रोमन साम्राज्य के पतन के कारण यूरोप की राजनीतिक एकता की-परम्परा का अन्त हो रहा था। राष्ट्रीयता के मार्ग में सबसे बड़ा रोड़ा सामन्त वर्ग था। किन्तु मध्यम वर्ग के अभ्युदय और बारूद के आविष्कार ने इस वर्ग की जड़ खोद डाली। राज्य की शान्ति और स्थिरता में मध्यम वर्ग का स्वार्थ निहित था। अतः इसने राजा को बराबर अपना सहयोग दिया। मध्य-*कालीन अराजकता के फलस्वरूप सर्वसाधारण के हृदय में भी शान्ति-कामना प्रज्वलित* हो उठी थी। नवीन भौगोलिक खोजों ने भी प्रत्येक देश के गौरव तथा वैभव को बढ़ा कर राष्ट्रीय भावना को सबल बनाया।

इस प्रकार राष्ट्रीयता सशक्त राजतन्त्रों का प्रधान आधारस्तम्भ थी। किन्तु पुनरुत्थान तथा धर्मसुधार काल के कुछ विद्वान लेखकों ने भी राजाओं के हाथ को सुदृढ़

करने में सहयोग दिया। इटालियन लेखक मेकियाविली, फ्रांसीसी लेखक बोडिन और अंग्रेज लेखक हॉब्स ने क्रमशः 'दी प्रिंस,' 'दी स्टेट' और 'लेवियाथन' नामक पुस्तकें लिखीं। इन सब ने शक्तिशाली निरंकुश राजतन्त्र का दिल खोलकर समर्थन किया।

इंगलैंड

ट्यूडर राजाओं के शासन काल (१४८५-१६०३ ई०) में राष्ट्रीय निरंकुश राजतंत्र का विकास हो चुका था। इस समय तक पार्लियामेंट भी शक्तिशाली हो गयी थी। किन्तु संकटपूर्ण विशेष परिस्थिति के कारण पार्लियामेंट राजाओं का विरोध करने में समर्थ नहीं थी। दूसरे, ट्यूडर शासक भी पार्लियामेंट से बुद्धिमत्तापूर्वक व्यवहार करते थे। वे लोकमत की सर्वथा उपेक्षा नहीं करते थे। जनता के सहयोग से ही उन्होंने रोम से सम्बन्ध विच्छेद कर राष्ट्रीय धर्म स्थापित किया था। तीसरे, देश की मानप्रतिष्ठा, धन-वैभव, विद्या, कला, साहित्य आदि अनेक क्षेत्रों में पर्याप्त प्रगति हुई थी। इस दृष्टि से एलिजाबेथ का शासन तो स्वर्ण युग था।

एलिजाबेथ के शासन-काल में निरंकुश राजतंत्र का पूर्ण विकास हो चुका था। सामन्त बिल्कुल शक्तिहीन हो गए थे। लेकिन इस समय तक जनशक्ति का भी विकास होने लगा था और जब सर्वसाधारण की स्वतन्त्रता का अपहरण होने लगा तो वे राजशक्ति का विरोध भी करने लगे।

स्टुअर्ट काल में (१६०३-८८ ई०) सारी परिस्थितियाँ बदल गईं। विरोधात्मक भावनाएँ और भी अधिक प्रोत्साहित और प्रबल हो उठीं। भीतरी और बाहरी, किसी प्रकार का संकट नहीं रहा। अतः अब निरंकुश राजतंत्र की आवश्यकता नहीं रह गई। किन्तु पूर्वकालीन स्टुअर्ट राजा जेम्स प्रथम तथा चार्ल्स प्रथम (१६०३-४६ ई०) ने समय की परीक्षा नहीं की। वे अपने को ईश्वर का प्रतिनिधि मानकर राजाओं के दैवी अधिकार पर जोर देने लगे। वे अपने को कानून तथा सर्वसामान्य से ऊपर समझते थे। वे लोकमत को ठुकरा कर मनमाना कर लगाने लगे। लोगों को बन्दीगृह में भेजकर उन्होंने व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अपहरण किया और धार्मिक क्षेत्र में असहिष्णुता दिखलाई। चार्ल्स ने तो पूरे ग्यारह वर्षों तक कोई पार्लियामेंट ही नहीं बुलाई। इन सबका परिणाम बड़ा ही भयंकर हुआ। जनशक्ति राजशक्ति की अपेक्षा अधिक बलवती होती है, वह अजेय है। आठ वर्षों तक इंगलैंड बुरी तरह गृहयुद्ध में फँसा रहा। अन्त में चार्ल्स प्रथम को फाँसी के तख्ते पर झूलकर अपने प्राण से हाथ धोने पड़े। १६४९ ई० के प्रारम्भ में यह दुर्घटना हुई। अब इंगलैंड में गणतंत्र राज्य का श्रीगणेश हुआ। सेना की प्रधानता थी जिसका नेता क्रौमवेल था। उसने संरक्षक के रूप में पाँच वर्षों (१६५३-५८ ई०) तक राज्य किया। किन्तु गणतंत्र प्रधानतः सैनिक राज्य था जिसे

जनता का सहयोग नहीं प्राप्त था। इसमें धर्म तथा राजनीति में भी सम्मिश्रण हुआ था। अतः क्रौमवेल की मृत्यु के पश्चात् शीघ्र ही इसका पतन हुआ और १६६० ई० में चार्ल्स द्वितीय को पुनः राजगद्दी पर बैठाया गया। इतिहास में यह घटना राज्य-पुनरुत्थान (रेस्टोरेशन) के नाम से प्रसिद्ध है।

चार्ल्स द्वितीय बड़ा ही योग्य और चालाक राजा हुआ। वह दूरदर्शी और व्यावहारिक था। उसने लोकमत का आदर किया और पार्लियामेंट को जिसमें जनता के प्रतिनिधि थे, खुश रखा। अतः उसने २५ वर्षों तक (१६६०-८५) शासन किया। किन्तु उसका भाई स्वेच्छाचारी और असहिष्णु था। उसने मनमाने ढंग से जनता की उपेक्षा कर निरंकुश धर्म-राज्य स्थापित करना चाहा। उसका उद्देश्य तो पूरा होना दूर रहा, वह ३ ही वर्ष के अन्दर गद्दी से भी च्युत हुआ। पार्लियामेंट ने अपने पक्ष के व्यक्ति—विलियम और मेरी को गद्दी प्रदान की। १६८८ ई० में यह घटना हुई। यह रक्तहीन क्रान्ति थी और इसके परिणाम बड़े ही उपयोगी सिद्ध हुए। अतः इसे गौरवपूर्ण क्रान्ति के नाम से सम्बोधित किया जाता है।

विलियम ने अधिकार-पत्र (१६८९ ई०) में अंग्रेजी जनता के अधिकारों को स्वीकार किया। इसके पूर्व जॉन ने १२१५ ई० में मैग्नाकार्टा और चार्ल्स प्रथम ने १६२८ ई० में अधिकार प्रार्थना-पत्र के रूप में भी जनता के अधिकारों को मंजूर किया था। किन्तु इन सब का यह अर्थ नहीं है कि १६८८ ई० के पश्चात् इंगलैंड में प्रजातंत्र स्थापित हो गया। १६८८ ई० से १८३२ ई० तक इंगलैंड का शासन कुलीनतंत्र था जिसमें भूमिपतियों और पूँजीपतियों का हाथ था। वे ही पार्लियामेण्ट के भाग्यविधायक थे। अभी जनता को मताधिकार नहीं प्राप्त था। परन्तु अब निरंकुशता के दिन भी लद चुके थे। राजाओं की आँखें खुल गई थीं। वे पार्लियामेंट और लोकमत की उपेक्षा नहीं कर सकते थे। राज्यमन्त्री पार्लियामेंट की इच्छानुसार ही चलने के लिए उत्सुक रहते थे। १७१४ ई० में हैनोवर वंश के राज्यारोहण ने महान् क्रान्ति के कार्यों को पूरा कर दिया। विलियम के ही राज्य में कैबिनेट प्रणाली का उदय हो चुका था। १७१४ ई० के बाद इसका विकास हुआ। वालपोल के प्रधान मन्त्रित्व ने इस प्रणाली की जड़ मजबूत कर दी। कैबिनेट-प्रणाली के विकास के साथ पार्लियामेंट का शासन पर पूर्ण नियंत्रण स्थापित हो गया। जार्ज तृतीय ने अपने प्रथम २२ वर्षों के शासन-काल (१७६०-८२ ई०) में इस स्थिति को बदलना चाहा किन्तु वह असफल रहा। १७८२ ई० में छोटा पिट इंगलैंड का प्रधान मन्त्री हुआ और इसके साथ ही वैधानिक राजतंत्र-प्रणाली की नींव सुदृढ़ हो गई।

हालैंड

इंगलैंड की भाँति हालैंड में भी निरंकुश शासन की जड़ नहीं जम सकी। १५६६ ई० में हालैंड तथा बेल्जियम ने स्पेन की सत्ता के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। दक्षिणी नीदरलैंड (बेल्जियम) तो असफल रहा और कैथोलिक स्पेन के अधीन कायम रहा। किन्तु १६०६ ई० में उत्तरी नीदरलैंड (हालैंड) स्वतंत्र हो गया और विलियम दी साइलेन्ट के नेतृत्व में गणराज्य की स्थापना हुई।

फ्रांस

१५वीं सदी के अन्त तक फ्रांस में भी राष्ट्रीय राजतंत्र की नींव पड़ चुकी थी। किन्तु सामन्तवाद का प्रभाव बना रहा। १६वीं सदी के अन्त में हेनरी चतुर्थ ने बोर्बन वंश की नींव डाली। उसके पुत्र लूई १३वें के समय में यह नींव सुदृढ़ हो गई जिसका श्रेय राजा के प्रधान मंत्री रिशलू को था। उसने फ्रांस को यूरोप का एक प्रधान राज्य बना दिया। १६४३ ई० में राजा और प्रधान मंत्री दोनों की ही मृत्यु हो गई। अब लुई चतुर्दश गद्दी पर आरूढ़ हुआ।

लूई चतुर्दश ने दीर्घकाल (१६४३-१७१५ ई०) तक राज्य किया। १६६१ ई० तक अल्पवयस्क होने के कारण वह शासन के क्षेत्र में क्रियाशील नहीं था। उसका मंत्री मजारिन राज्य का देखभाल करता था। राजाओं की निरंकुशता के कारण षड्यंत्र का बाजार गर्म हो चला था। षड्यन्त्रकारियों ने राज्य के विरुद्ध विद्रोह कर दिया जो फ्रॉन्ड-युद्ध के नाम से प्रसिद्ध हुआ। मजारिन ने बड़ी ही दक्षता के साथ विद्रोहियों को दबा दिया। १६६१ ई० में उसकी मृत्यु हो गई और लुई ने स्वयं शासन की बागडोर अपने हाथ में ग्रहण की।

लूई चतुर्दश के शासन-काल में बोर्बन राजवंश उत्कर्ष की चरम सीमा पर पहुँच गया। फ्रांस का निरंकुश शासन अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच चुका। लुई बहुत ही महत्वाकांक्षी शासक था। वह अपने देश को भीतरी और बाहरी खतरों से सुरक्षित रख कर इसका गौरव बढ़ाना चाहता था। वह अपने देश के लिए प्राकृतिक सीमा की खोज में था। वह एक ओर अपने राज्य की सीमा राइन नदी और दूसरी ओर पिरेनीज पर्वत तक बढ़ाना चाहता था। अपने उद्देश्य की पूर्ति में उसे बहुत कुछ सफलता भी मिली। पूर्वी हिस्से में वह अधिक सफल रहा। उसने एक विशाल सेना सुसंगठित की और युद्ध तथा विजय के द्वारा अपने राज्य की सीमा का विस्तार किया। कोलबर्ट जैसे योग्य मन्त्री के सहयोग से देश के धन-वैभव में वृद्धि हुई। देश धन-धान्यपूर्ण हो गया। सर्वत्र लूई की तूती बोल रही थी। लगभग अर्द्ध शताब्दी तक यूरोप उससे भयभीत रहा और वह इसका अधिनायक बन गया था। उसने देश के

कानून को ताक पर रख कर मनमाना किया और गर्वपूर्ण शब्दों में घोषणा की थी कि 'मैं ही स्टेट हूँ।' उसके शासन-काल में फ्रांस उत्कर्ष के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच गया और यूरोप में सर्वशक्तिशाली राज्य बन गया।

राजनीतिक उत्कर्ष के साथ फ्रांस की सांस्कृतिक विजय हुई। इसकी राजधानी वर्साई की ओर सारे यूरोप की दृष्टि लगी रहती थी। राजनीतिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में इसका वही स्थान था जो रोम का धार्मिक क्षेत्र में रह चुका था। उसका दरबार आदर्श-तुल्य था। लूई सर्वत्र प्रशंसा और अनुकरण का विषय बन गया था। उसकी एक बड़ी विशेषता यह थी कि उसने कला तथा विद्या को प्रश्रय देकर प्रोत्साहित किया। उसके दरबार में बड़े-बड़े धुरंधर विद्वान्, कवि, दार्शनिक, नाटककार, वैज्ञानिक, इंजीनियर आदि रहते थे। कार्नाल मोलियर तथा रेसीन सुविख्यात नाटककार और लाँफैटेन दार्शनिक थे। फ्रांसीसी भाषा का समुचित विकास हुआ और इसे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त हुई। फ्रांसीसी राज्य की तुलना में यूरोप के अन्य राज्य तुच्छ दीख पड़ते थे। उसके प्रभाव का इसीसे अनुमान किया जा सकता है कि यूरोप के इतिहास में १७वीं सदी का उत्तरार्द्ध 'लूई चतुर्दश का युग' कहलाने लगा और वह महान् सम्राट की उपाधि से सम्मानित हुआ।

लेकिन यह सब होते हुए भी फ्रांसीसी राज्य की नींव कमजोर रह गई, राजसत्ता की दीवार में सुराख रह गए। राज्य के उत्कर्ष और गौरव, तड़क-भड़क, मान-मर्यादा में असलियत का अभाव था। इनमें पतन का बीज भी छिपा था जो लुई के मरणोपरान्त प्रतिफलित होने लगा। इनमें क्रान्ति की वह चिनगारी छिपी थी जो ७५ वर्षों में भीषण रूप में जग उठी। २० अगस्त, १७१५ ई० को लुई चतुर्दश का प्राणान्त हुआ और देश पतनोन्मुख हो गया। हम अब इसके कारणों का विशद विवेचन करेंगे।

लूई की नीति संकीर्ण, स्वार्थपूर्ण और व्यक्तिगत थी। इसके निर्धारण में फ्रांस की जनता का कोई हाथ नहीं था। वह विशुद्ध निरंकुशता के सिद्धान्त का पोषक तथा पालक था। अतः शासन ऊपर के बोझ से दबा हुआ था और इसमें नीचे से कोई सन्तुलन नहीं था। लूई ने कितनी ही महान् भूलें कीं जिनमें एक भी आधुनिक काल में किसी मन्त्रिमंडल के पतन के लिए पर्याप्त होतीं। सत्ता और वैभव ने उसे मदान्ध बना दिया था और वह सर्वसाधारण के प्रति अपने कर्तव्य को भूल गया। जनता के खून और पसीने पर वर्साई के दरबार का अस्तित्व खड़ा था। इसके प्रदर्शन में उसकी निर्धनता छिपी हुई थी। राजधानी की धूमधाम, चहल-पहल, शान-शौकत के पीछे निरीह एवं मौनी जनता की दुःख दर्द भरी कहानी थी। लूई के भोग-विलास में लाखों सामान्य जनों की आह मिश्रित थी। उसकी युद्धनीति देश के लिए

घातक सिद्ध हुई। देश निर्धन हो गया। राजकोष रिक्त ही नहीं हुआ बल्कि ऋण के भार से लद गया। उसके पारिवारिक लाभ के हेतु देश को स्पेन के उत्तराधिकार की दीर्घकालीन लड़ाई में सम्मिलित होना पड़ा। प्रजा टैक्स के बोझ से तबाह थी। किन्तु देश और राष्ट्र के आन्तरिक विकास पर जोर नहीं दिया गया। अतः उद्योग-धन्धे नष्ट हो गए, आर्थिक स्थिति बिगड़ती गई। इस तरह राज्य की शक्ति का श्रोत सूखने लगा। लूई की धार्मिक नीति ने देश की स्थिति को और भी भयंकर बना डाला जिसका परिणाम बहुत ही बुरा हुआ। धार्मिक क्षेत्र में वह कट्टर तथा असहिष्णु था। उसने फ्रांसीसी प्रोटेस्टेंटों (ह्यू जेनॉट्स) की स्वतन्त्रता छीन ली और उन पर अत्याचार का पहाड़ ढा दिया। वे कैथोलिक धर्म स्वीकार करने के लिए बाध्य हुए, किन्तु बहुत से अपनी जन्मभूमि छोड़ कर अन्य देशों में चले गए और उन देशों की उन्नति में सहायक सिद्ध हुए। वे कला और कारीगरी के कार्यों में बड़े कुशल थे। उनके देश-निर्वासन से फ्रांस के व्यवसाय को गहरा धक्का लगा और दूसरे देशों ने उससे लाभ उठाया।

इस तरह यदि फ्रांस के उत्कर्ष का श्रेय लूई को प्राप्त है तो इसके पतन का कलंक भी उसी के मत्थे मढ़ा जाता है। उसने फ्रांसीसी राजतन्त्र को विनाश के पथ पर मोड़ दिया, इसकी जड़ खोद कर इसे खोखला बना डाला। एक फ्रांसीसी लेखक[१] के मतानुसार उसने इसे विनष्ट ही कर डाला। यदि उसकी निरंकुशता प्रबुद्धता पर आधारित होती तो वह विशेष रूप से सफल और महान् शासक होता और इतिहास में उसे महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होता।

लूई के मरने पर उसका पौत्र लूई १५वाँ फ्रांस की गद्दी पर बैठा। वह १७१५ ई० से १७७४ ई० *तक गद्दी पर आसीन रहा।* उसके *समय में निरंकुशता की अयोग्यता* तथा असमर्थता स्पष्ट हो गई। सर्वसाधारण दुखी तथा चिन्ताग्रस्त थे। जीवन में कोई दिलचस्पी नहीं थी। राजतन्त्र आलोचना और आक्षेप का विषय हो रहा था और इस तरह भावी क्रान्ति की पृष्ठभूमि तैयार हो रही थी। १७७४ ई० लूई १६वाँ गद्दी पर आरूढ़ हुआ। उसके समय में देश की आर्थिक स्थिति बिल्कुल बिगड़ गई और १७८९ ई० में विश्वविख्यात फ्रांस की राज्य क्रान्ति का विस्फोट हो गया जिसका विस्तृत विवरण अन्यत्र किया गया है।

आस्ट्रिया और प्रशा

आस्ट्रिया में हैप्सबर्ग घराने का राज्य था। १६वीं सदी में इस वंश में चार्ल्स पंचम (१५१९-५६ ई०) प्रसिद्ध राजा हुआ था। वह पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट

[१] लावी (Lavisse)

भी था। उसकी मृत्यु के बाद यह वंश दो शाखाओं में बँट गया। एक शाखा का राज्य १७०० ई० तक स्पेन में कायम रहा था और लुई चतुर्दश के पौत्र के राज्यारोहण के साथ इसके राज्य का अन्त हो गया। दूसरी शाखा का राज्य आस्ट्रिया में कायम रहा। इसी शाखा के वंशज आस्ट्रिया के राजपद और रोमन साम्राज्य के सम्राट-पद को सुशोभित करते रहे। १८०६ ई० में नेपोलियन ने सम्राट के पद का अन्त कर डाला, किन्तु प्रथम महायुद्ध के अन्त तक आस्ट्रिया का राज्य कायम रहा और १९१८ ई० तक इस राज्य के राजा और सम्राट बने रहे।

आस्ट्रिया का साम्राज्य अति विशाल था और यह विशालता इसकी एक कमजोरी थी। इसका प्रबन्ध करना आसान कार्य नहीं था। इसकी दूसरी कमजोरी थी कि यह बहुभाषी साम्राज्य था। इसमें अनेकानेक भाषा तथा जाति के लोग बसते थे। इन कमजोरियों के होते हुए भी आस्ट्रिया में कुछ प्रसिद्ध शासक हुए जिन्होंने यहाँ की राजसत्ता को सुदृढ़ बनाया। ऐसे शासकों में मेरिया थेरेसा और उसके पुत्र तथा उत्तराधिकारी जोसफ के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। मेरिया थेरेसा (१७४०-’८० ई०) यूरोप के इतिहास में एक सफल शासिका थी। उसके राज्याभिषेक के समय आस्ट्रिया, मोरेविया, हंगरी, बोहेमिया, साइलेशिया, बेल्जियम और टाइरोल साम्राज्य में सम्मिलित थे। उसने बड़ी ही निपुणता के साथ शासन किया। उसी के स्थापित आधार पर जोसफ ने राज्य को दृढ़तर किया। आस्ट्रिया तथा यूरोप के इतिहास में जोसेफ (१७८०-९० ई०) का स्थान महत्वपूर्ण है। उसके विचार बहुत ही उत्तम थे। यह आदर्शवादी और जनता का सच्चा शुभचिन्तक था। वह एक सुदृढ़ केन्द्रीय शासन स्थापित करना चाहता था किन्तु इसमें उसे पूरी सफलता नहीं मिली। उसकी असफलता का कारण यह था कि उसके विचार समयानुकूल न थे। किन्तु निस्सन्देह वह प्रजाप्रिय शासक था और दिल से अपनी प्रजा का हित चाहता था।

यों तो यूरोप में सर्वत्र निरंकुश राजतन्त्र प्रधान था किन्तु १८वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इसकी विशेषता थी प्रबुद्धता। अतः यह प्रबुद्ध निरंकुशतंत्र-युग कहलाता है। इस युग के शासक स्वेच्छाचारी एवं महत्वाकांक्षी थे। उनकी दृष्टि में प्रजा का कोई अधिकार नहीं था और वे स्वयं भोग-विलासमय जीवन व्यतीत करते थे। वे साम्राज्य-विस्तार के लिए युद्ध करते थे जिनमें धन-जन की पर्याप्त क्षति होती थी। युद्ध-व्यय के बोझ जनता को उठाना पड़ता था। परन्तु ये अपनी प्रजा की सर्वथा उपेक्षा नहीं करते थे। ये बड़े परिश्रमी होते थे और जनहित के कार्य में अभिरुचि रखते थे। वे समझते थे कि लोक-कल्याण करना उनका प्रधान कर्त्तव्य है। उन्होंने अपने देश में अनेक सुधार किया और कला तथा विद्या को प्रश्रय दिया। अतः उनकी निरंकुशता कुछ हद तक लोक-प्रिय थी।

आस्ट्रिया के शासक मेरिया थेरेसा और जोसेफ द्वितीय प्रबुद्ध निरंकुश तंत्र के प्रतीक थे। अतः उनके समय में देश की विशेष उन्नति हुई।

प्रशा का शासन भी प्रबुद्ध निरंकुश तंत्र था। वहाँ होहैन्जोलर्न घराने का राज्य था। ब्रेडेनबर्ग की डची के आधार पर इसका विकास हुआ था और यह एक साम्राज्य के रूप में परिवर्तित हो गया। यह विकास दुनिया के इतिहास में एक अद्भुत घटना है। सर्वप्रथम फ्रेडरिक विलियम प्रथम (१६४०-'८८ ई०) ने निरंकुश राजतंत्र की नींव खड़ी की। यह महान् इलेक्टर के नाम से प्रसिद्ध है। फ्रेडरिक विलियम द्वितीय (१७१३-'४० ई०) ने एक विशाल सेना का संगठन किया और राज्य के वैभव में वृद्धि की। अब एक योग्य प्रतिभाशाली व्यक्ति के उत्थान के लिए मार्ग प्रशस्त हो गया। इतिहास उस व्यक्ति को फ्रेडरिक महान् के नाम से याद करता है। उसने अड़तालीस वर्षों तक (१७४०-'८८ ई०) राज्य किया। उसके समय में प्रशा का विकास चरम सीमा पर पहुँच गया। उसकी राजधानी पोट्सडम में थी। वह लूई चतुर्दश के समान निरंकुश था और कई बातों में उसका अनुकरण करता था। उसने सेना को सुशिक्षित तथा सुसंगठित किया और राज्य का विस्तार किया। धन-वैभव के प्रदर्शन में उसकी भी अभिरुचि रहती थी। उसने भी लूई की भाँति एक भव्य राजभवन का निर्माण कराया। किन्तु उसकी निरंकुशता प्रबुद्धता से सन्तुलित थी। वह अपने को प्रजा का स्वामी नहीं बल्कि सेवक मानता था। 'सर्व-साधारण के लिए सब कुछ, पर उनके द्वारा कुछ नहीं'—यही उसका आदर्श था। उसने कला तथा विद्या को प्रोत्साहित किया और धार्मिक क्षेत्र में सहिष्णुता की नीति बरती। स्वयं प्रोटेस्टेंट होते हुए कैथोलिकों पर उसने कोई अत्याचार नहीं किया। उन्हें पूरी धार्मिक स्वतन्त्रता थी और वे राज्य के पदों को भी सुशोभित कर सकते थे। उसने लूई के द्वारा बहिष्कृत प्रोटेस्टेंट मतावलम्बियों को अपने देश में शरण दी और इस तरह अपने बड़प्पन का पर्याप्त परिचय दिया।

चित्र ८—फ्रेडरिक महान्

इस प्रकार प्रबुद्ध निरंकुश तन्त्र सिद्धान्त के मानने वाले शासक बहुत ही योग्य होते थे और वे जनता के शुभचिन्तक थे। परन्तु उनमें कुछ बड़े दोष भी पाये जाते थे। वे निरंकुश तो थे ही, उनकी महत्वाकांक्षा भी असीम थी। अपने राज्य और राजवंश का उत्कर्ष इनका प्रधान उद्देश्य था और अपने साध्य की पूर्ति में वे साधन की प्रकृति पर विचार नहीं करते थे। इसके लिए वे निम्नतम कार्य भी कर सकते थे। फ्रेडरिक ने साइलेशिया को बलात् अधिकृत कर लिया। इसके फलस्वरूप दो युद्ध हुए—आस्ट्रिया के उत्तराधिकार का युद्ध (१७४०-४८ ई०) और सप्तवर्षीय युद्ध (१७५६-६३ ई०)। प्रथम युद्ध में ग्रेटब्रिटेन ने आस्ट्रिया का और फ्रांस ने प्रशा का साथ दिया। किन्तु दूसरे युद्ध में स्थिति बदल गई और ग्रेट ब्रिटेन ने प्रशा का तथा फ्रांस ने आस्ट्रिया का पक्ष लिया। प्रथम युद्ध से इंगलैंड को विशेष लाभ नहीं हुआ किन्तु द्वितीय युद्ध में ब्रिटिश नीति लाभदायक सिद्ध हुई और कनाडा तथा भारत में अंग्रेजों के पैर जम गए। लेकिन साइलेशिया प्रशा के ही अधीन रह गया। इससे आस्ट्रिया प्रशा से अवश्य ही क्रुद्ध रहा होगा। फिर भी नौ वर्ष के ही पश्चात् आस्ट्रिया रूस और प्रशा के साथ मिलकर पोलैंड को आपस में बाँट लिया। इनके बीच *तीन बार पोलैंड का बँटवारा हुआ* (१७७२ ई०, १७९३ ई० और १७९५ ई० में) और १८वीं सदी के अन्त तक यह यूरोप के मानचित्र से मिट गया।

पोलैंड की इस दुर्दशा का कारण था उसकी आन्तरिक कमजोरी और लोलुप तथा शक्तिशाली राष्ट्रों के मध्य उसकी संकटपूर्ण स्थिति। किन्तु यद्यपि पोलैंड की राजनीतिक सीमा का अन्त हो गया, वहाँ के निवासियों की राष्ट्रीय भावना नहीं कुचली जा सकी। पोलैंड का राष्ट्र जीवित रहा और १९१८ ई० में उसने अपना स्वतंत्र अस्तित्व पुनः स्थापित कर लिया।

रूस और स्वीडन

यूरोप के पूर्वी भाग में रूस स्थित है। वहाँ निरंकुश राजतंत्र का उदय तो मध्यकाल में ही हो चुका था किन्तु वह यूरोप का सब से पिछड़ा भाग था। यह एशिया का ही *एक अंग समझा जाता था। १७वीं सदी तक उसकी यह स्थिति बनी रही। पीटर* के राज्यकाल (१६८९-१७२५ ई०) के साथ रूसी इतिहास में एक नए युग का प्रादुर्भाव हुआ। उसने रूस को यूरोप के अन्य राष्ट्रों के साँचे में ढालने का भरपूर प्रयत्न किया। उसने पश्चिमी यूरोप के कई देशों में भ्रमण किया और वहाँ के आचार-विचार का अध्ययन किया। उसने अपने देशों में बड़े-बड़े परिवर्तन करने का निश्चय कर लिया और लौटते समय कई विद्वानों तथा कलाकारों को वह अपने साथ लाया। उसने सेना का संगठन कर जहाजी बेड़ा का निर्माण किया। इस सेना के सहारे उसने

राज्य का विस्तार और शासन में परिवर्तन किया। उसने एजोव के बन्दरगाह को अपने अधिकार में कर लिया और लीवोनिया तथा एस्टोनिया के प्रदेश छोड़ देने के लिए स्वीडन को बाध्य किया। पुरानी राजधानी मास्को का परित्याग कर दिया गया। पीटर्सबर्ग में उसकी नयी राजधानी थी जिसे पेरिस और पोट्सडम के आधार पर स्थापित करने की चेष्टा की गई। इसे हर एक तरह से सुसज्जित और अलकृत किया गया। अनेक फौव्वारों, पार्कों और भवनों का निर्माण हुआ। उसने पुरानी परम्परा को समूल उखाड़ फेंकने की कोशिश की।

किन्तु उसके सुधार ऊपरी तह तक ही रह गए। उसने शासन और समाज में आमूल परिवर्तन नहीं किया। निरंकुशता की दृष्टि से पुरानी परम्परा ज्यों की त्यों कायम रही। वह विरोधियों को कदापि नहीं देख सकता था। उनका वध करने में उसे जरा-सा भी संकोच नहीं होता था। उसने स्वयं अपने पुत्र को; जो उसके सुधारों के साथ सहानुभूति नहीं रखता था, मरवा डाला। फिर भी आधुनिक रूसी राज्य के निर्माण के लिए उसने रास्ता खोल दिया। उसके प्रदर्शित मार्ग पर चल कर कैथेराइन (१७६२-९६ ई०) ने रूसी राज्य का और अधिक विकास किया। इन्हीं दोनों शासकों के प्रयत्न के फलस्वरूप रूस में आधुनिक राजसत्ता दृढ़ हुई। कैथेराइन अपने पति को मरवा कर गद्दी पर बैठी। उसने यूरोपीय ढंग पर शासन किया। उसने पोलैंड के विभाजन में भाग लिया और प्रशा तथा आस्ट्रिया के साथ मैत्री कायम रखी। तुर्की के साथ भी एक सन्धि हुई जिसके द्वारा दोनों राज्यों की सीमाएँ निर्धारित की गईं। १७९६ ई० में कैथेराइन का देहान्त हो गया और उसके बाद १९१७ ई० तक जार—योग्य तथा अयोग्य, सुधारवादी तथा प्रतिक्रियावादी—रूस की गद्दी पर बैठे और उसकी शक्ति में वृद्धि करते रहे।

गुस्टवस एडलफस (१६११-३२ ई०) ने स्वीडन के राजतंत्र की सुदृढ़ नींव दी। वह बड़ा वीर और साहसी था। अपनी वीरता और साहस के ही कारण उसे 'उत्तर के सिंह' की उपाधि से विभूषित किया गया था। वह जैसा महान् विजेता था वैसा ही प्रवीण शासक भी था। उसने बाल्टिक सागर पर स्वीडन का आधिपत्य स्थापित किया। वह प्रोटेस्टेंट धर्म का पक्का समर्थक था और ३० वर्षीय युद्ध में प्रोटेस्टेंटों की ओर से शामिल हुआ था। दुर्भाग्यवश इसी युद्ध में जर्मनी में उसका प्राणान्त भी हो गया।

(ख) एशिया

भूमिका

एशिया तो प्राचीन काल से ही निरंकुश राजतंत्र का वास-स्थान रह चुका था।

अतः जिस समय यूरोप में नवीन राजतंत्र का उदय तथा विकास हो रहा था उस समय एशिया में भी राजतंत्र का ही प्राबल्य था। यूरोप की भाँति वहाँ इसी समय इसका जन्म नहीं हुआ था। वह शैशवावस्था एवं कुमारावस्था को पार कर चुका था। अतः एशिया में जिस राजतंत्र का दौर रहा, वह पूर्ण वयस्क हो चुका था। यूरोप की भाँति उसे अभी विकास नहीं करना था, बल्कि विकास के पथ का अधिकांश भाग वह तय कर चुका था; लगभग उत्कर्ष के उच्चतम शिखर को वह छू रहा था।

हिन्दुस्तान

यह देखा जा चुका है कि १५२६ ई० में बाबर ने हिन्दुस्तान में मुगल वंश की स्थापना की। वह तैमूर तथा चंगेज का वंशज था। मुगल वंश भारत में १८५७ ई० तक कायम रहा, किन्तु १७०७ ई० के बाद से ही इसका पतन प्रारम्भ हो चुका था। १५२६ ई० और १७०७ ई० के बीच इस वंश में ६ प्रसिद्ध सम्राट् हुए—बाबर, हुमायूँ, अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ और औरंगजेब। बाबर ने मुगल राज्य की नींव दी किन्तु उसने इसका संगठन नहीं किया। हुमायूँ तो अभागा था जो मारा-मारा फिरा। मुगल राज्य को सुदृढ़ और सुसंगठित करने का सारा श्रेय अकबर को है।

दुनिया के महान् और सफल शासकों में अकबर का भी एक स्थान सुरक्षित है। वह विशेष पढ़ा-लिखा तो नहीं था किन्तु संसार के सर्वश्रेष्ठ शासकों में से एक था। वह बहुत ही योग्य व्यक्ति था और उसका दृष्टिकोण व्यापक तथा विचार उदार थे। वह मुसलमानों के धार्मिक मरुस्थल में शाद्वल तुल्य था। वह प्रथम मुस्लिम शासक था जिसने सहिष्णुता तथा उदारता की नीति अपनायी। यूरोप के तत्कालीन इतिहास में भी ऐसी उदारता का सर्वथा अभाव था। अकबर के व्यक्तित्व में बौद्धिकता की प्रधानता थी और क्षुद्रता एवं कट्टरता से वह परे था। उसने सभी धर्मों के तथ्यों को जानने की चेष्टा की और उनके आधार पर दीनइलाही नामक एक धर्म चलाया। यह सर्वमान्य धर्म था जिसमें सर्वधर्म समन्वय था। परन्तु इसके प्रचार के लिए उसने राज्य-शक्ति का उपयोग नहीं किया। सभी को धार्मिक

चित्र ६—अकबर

स्वतंत्रता थी। हिन्दुओं को ऊँचे-ऊँचे पदों पर नियुक्त किया गया और उन्हें जजिया से मुक्त कर दिया गया। हिन्दुओं के साथ उसने वैवाहिक सम्बन्ध भी कायम किया।

इस नीति के फलस्वरूप उसे भारत की सैनिक जाति राजपूतों का सहयोग प्राप्त हो गया जो मुगल साम्राज्य के सुदृढ़ आधार-स्तम्भ सिद्ध हुए। उनकी सहायता से उसने मुगल राज्य की सीमा का विस्तार किया। लगभग सारे भारत पर उसका प्रभुत्व स्थापित हो गया। उसके राज्य की सीमा काबुल-कन्दहार से लेकर बंगाल तक और काश्मीर से अहमदनगर तक फैली थी। इस प्रकार वह राष्ट्रीय एकता कायम करने में बहुत कुछ सफल हुआ था। उसने केवल राज्य-विस्तार ही नहीं किया बल्कि इसका सुन्दर संगठन भी किया।

यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि अकबर में दूसरों से सीखने की भी विलक्षण शक्ति थी। शासन-संगठन के क्षेत्र में उसने अफ़ग़ान शेरशाह से बहुत कुछ सीखा। शेरशाह ही उसका आदर्श था। वह अपनी कुशल और उदार नीति के कारण पाँच वर्ष में ही लोकप्रिय शासक बन गया। बहुत-सी बातों में अकबर ने उसी का अनुसरण किया था। उसने लगभग आधी शताब्दी तक (१५५६ १६०५ ई०) राज्य किया।

जहाँगीर ने अपने पिता के पद-चिह्नों का अनुसरण किया किन्तु शाहजहाँ ने नीति में परिवर्तन लाया। उसने संकीर्णता और असहिष्णुता की नीति अपनायी। उसने साम्राज्य-विस्तार करना चाहा किन्तु सफलता नहीं मिली। पश्चिमोत्तर प्रदेश और दक्षिण में उसने धन-जन का बहुत ही दुरुपयोग किया। हिन्दुओं के साथ भेद-भाव की तुच्छ नीति अपनाकर उन्हें असन्तुष्ट कर दिया। औरंगजेब ने उसी की नीति को ग्रहण किया और वह उससे भी आगे बढ़ गया।

औरंगजेब ने दीर्घकाल तक (१६५८-१७०७ ई०) राज्य किया। उसमें कुछ गुण थे। वह सच्चा मुसलमान था और उसका जीवन सादा था। वह एक योग्य सेनापति तथा राजनीतिज्ञ था। परन्तु उसकी असहिष्णुता धवल वस्त्र पर काले दाग के सदृश थी जिसने उसके जीवन को कलंकित कर डाला। वह स्वयं सुन्नी मुसलमान था। अतः वह केवल हिन्दुओं को ही नहीं, वरन् शिया मुसलमानों को भी अपना दुश्मन और काफिर समझता था। इसका परिणाम भीषण हुआ। यत्र-तत्र विद्रोहाग्नि भभक उठी जिसे दबाने में वह असफल रहा। राजपूतों का सहयोग जाता रहा। दक्षिण की शिया रियासतों—बीजापुर तथा गोलकुण्डा—के साथ छेड़-छाड़ किया जिसमें उसके धन-जन का दुरुपयोग ही हुआ। साम्राज्य के जिस विशाल भवन का निर्माण अकबर ने किया था, औरंगजेब ने उसकी नींव को ही कमजोर बना दिया। अब किसी बड़े धक्के के लगने पर उसका धराशायी हो जाना स्वाभाविक था।

१७०७ में औरंगजेब की मृत्यु हुई और मुगल साम्राज्य का पतन प्रारम्भ हो गया। औरंगजेब की असहिष्णुता के कारण तो यह सम्भव हुआ ही, इसके अन्य कारण भी थे। उसके उत्तराधिकारी निःशक्त और अयोग्य थे। सैन्यशक्ति क्षीण हो गई और

शासन में अनेक बुराइयों का समावेश हो गया। युद्ध की प्रधानता होने से आर्थिक स्थिति खराब हो गई। अब विदेशियों को आक्रमण करने के लिए प्रोत्साहन मिला। नादिर शाह और अहमद शाह अब्दाली के आक्रमण हुए। साम्राज्य की कमजोरी से हिन्दू जातियों ने लाभ उठाया। सिक्ख, जाट, राजपूत, मराठे—सभी का उत्थान होने लगा। मराठों के उत्थान का श्रेय उनके नेता शिवाजी को प्राप्त था। मुगलों के विरुद्ध प्रतिक्रिया का यह सर्वोत्तम उदाहरण था। उसके नेतृत्व में मराठों ने मुगलों के छक्के छुड़ा दिए। फिर भी हिन्दू राज्य-स्थापना के लिए उनका स्वप्न अधूरा ही रह गया। सुअवसर आकर भी उनके सामने से निकल गया। क्यों? मराठों ने सारी भारतीय शक्ति को सगठित नहीं किया। वे उत्तरी भारत के हिन्दुओं, खासकर राजपूतों के साथ मिल-जुल कर काम नहीं करते थे। अतः उन्हें इनका सहयोग नहीं प्राप्त हुआ। उनमें स्वयं एकता का अभाव था। १७६१ ई० में पानीपत के मैदान में अहमदशाह अब्दाली ने उन्हें पराजित कर निःशक्त बना डाला।

भारत में एक अन्य विदेशी शक्ति थी जिसने मुगल साम्राज्य के पतन से विशेष लाभ उठाया। वह शक्ति थी अंग्रेजों की। सत्रहवीं सदी के प्रारम्भ से व्यापार के लिए वे भारत में आने लगे थे। किन्तु उपयुक्त अवसर पाकर वे भारतीय राजनीति में भी हस्तक्षेप करने लगे। अनेक योग्य शासकों और सेनापतियों के प्रयत्न से भारत में अंग्रेजी राज्य कायम हो गया। परन्तु भारतीयों में स्वतन्त्रता की भावना जीवित थी। उन्होंने १८५७ ई० में अंग्रेजों के विरुद्ध प्रथम स्वातन्त्र्य समाम छेड़ दिया, किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। इसी समय अन्तिम मुगल सम्राट बहादुर शाह द्वितीय को बन्दी के रूप में रंगून भेज दिया गया और भारत अंग्रेजी साम्राज्य का प्रधान अंग बन गया।

मुगलकालीन सभ्यता एवं संस्कृति (१५२६—१७६१)

मुगलकाल में सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्र में विशेष महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुए। आर्थिक क्षेत्र में पहले की सभी बातें उपस्थित थीं। साम्राज्य में शान्ति थी। धन-वैभव की कमी नहीं थी। मुगल दरबार में शिष्टाचार पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था। सम्राट् तथा अमीर-उमरा भोगविलासमय जीवन व्यतीत करते थे। सुरा तथा सुन्दरियों पर सार्वजनिक धन का अपव्यय होता था। वैभव के प्रदर्शन में उन्हें बड़ी अभिरुचि थी। कालान्तर में रति की भक्ति के कारण शक्ति की क्षति होने लगी। मध्य श्रेणी के हिन्दुओं का जीवन आदर्शमय था। हिन्दुओं की वर्णव्यवस्था में जटिलता की वृद्धि ही हुई थी। मुसलमानों में भी जाति भेद पैदा हो गया। हिन्दू समाज में सती, बाल-विवाह, वैधव्य आदि प्रथाओं का अधिक प्रचार हो रहा था। स्त्रियों की स्थिति पहले से अधिक खराब हो गई थी। लेकिन राजपूत रमणियाँ अभी

ज्ञान कोष है। तुलसी जी राम के भक्त थे और इस ग्रन्थ का सर्व प्रधान नायक राम ही हैं। यह रामायण के नाम से भी प्रसिद्ध है। उत्तरी भारत में सर्वाधिक लोकप्रिय ग्रन्थ है। प्राय: प्रत्येक हिन्दू के घर में इसकी प्रति पायी जा सकती है और वह इसे धार्मिक दृष्टि से देखता है। सर जार्ज ग्रियर्सन के मतानुसार भारत की अधिकांश जनता का, जिनमें शिक्षित तथा अशिक्षित सभी हैं, एक मात्र आचार-ग्रन्थ तुलसीजी का रामायण ही है। इस प्रकार सूरदास तथा तुलसीदास की कृतियाँ विश्व-साहित्य के भंडार में बहुमूल्य निधि हैं। कुछ विद्वानों के मतानुसार हिन्दी-साहित्य-गगन में एक सूर्य है तो दूसरे चन्द्रमा हैं—'सूर सूर, तुलसी ससी'।

सूर तथा तुलसी के अतिरिक्त अन्य कवि भी हुये। नन्ददास, कुम्भनदास, विट्ठल-नाथ भी ब्रजभाषा के अच्छे कवि थे। नन्ददास ने रासपंचाध्यायी की रचना की थी। नाभादासजी ने भक्तमाल लिखा जिसमें कुछ प्रमुख भक्तों का उल्लेख किया गया। देव तथा बिहारी की कविताएँ शृंगार रस के लिये प्रसिद्ध हैं। बिहारी सतसई शृंगार रस का सर्वोत्तम ग्रंथ है। इसमें ७०० दोहे हैं। कुछ लोगों का ख्याल है कि मिर्जा राजा जयसिंह ने बिहारी को प्रत्येक दोहे के लिये एक स्वर्ण-मुद्रा पुरस्कार के रूप में दी थी। केशव ने भी कुछ पुस्तकों का प्रणयन किया। रामचन्द्रिका उनका उत्कृष्ट काव्य-ग्रंथ है। काव्यप्रिया, रसिकप्रिया और अलकार-मंजरी में उन्होंने काव्य के विविध सिद्धान्तों का उल्लेख किया।

भूषण तथा लाल की कविताएँ वीररस के लिये प्रसिद्ध हैं। शिवाबावनी, छत्रसाल दशक और शिवराज विजय भूषण की प्रसिद्ध काव्य-रचनाएँ हैं। कुछ मुसलमान कवियों ने भी हिन्दी की सेवा की। उनमें मलिक मुहम्मद जायसी, अब्दुर्रहीम खानखाना, रस-खान और ताज के नाम उल्लेखनीय हैं। जायसी ने शेरशाह के समय में पद्मावत की रचना की। इस काव्य में चित्तौड़ की महारानी पद्मिनी का उल्लेख है और कहीं-कहीं रहस्यवादी विचारों का भी आभास मिलता है। रसखान कृष्ण के भक्त थे और उनके सवैये तथा कवित सरसता के लिये प्रसिद्ध हैं।

हिन्दी के साथ-साथ अन्य प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य का भी विकास हुआ। बंगाल में अनेक कवि एवं लेखक हुए। भरत चन्द्र ने आनन्द-मंगल नाम की रचना प्रस्तुत की। मिर्जा हुसेन अली ने काली के सम्बन्ध में भक्ति-काव्य लिखा और मुकुन्द राम ने कविकंकनचंडी की रचना की। १६ वीं सदी में कृत्तिवास ने रामायण का और १७ वीं सदी में काशी रामदास ने महाभारत का बँगला में अनुवाद किया। श्रीधर, सन्त तुकाराम तथा स्वामी रामदास के लेखों से मराठी काव्य को बहुत प्रोत्साहन मिला। श्रीधर ने रामायण तथा महाभारत का मराठी भाषा में अनुवाद किया।

कला।

कला के विभिन्न क्षेत्रों में भी खूब उन्नति हुई। इस दृष्टि से मुगलशासन काल स्वर्ण युग था। मुगल सम्राटों को वास्तुकला में बड़ी अभिरुचि थी। हैवेल के मतानुसार मुगल वास्तुकला का मूलस्रोत भारतीय वास्तुकला में है। अतः मुगल वास्तुकला में भारतीय तथा फारसी वास्तुकला की विशेषताओं का समन्वय पाया जाता है। बाबर ने कई मस्जिद, स्नानागार, तालाब, तलगृहादि का निर्माण कराया। इसकी इमारतों में फारसी शैली की प्रमुखता है। शेरशाह ने दिल्ली के पास एक दुर्ग का निर्माण कराया और उसके मरने पर बिहार (ससराम) में सुन्दर मकबरा बना। अकबर के समय में कई प्रसिद्ध इमारतें बनीं। आगरे के पास फतेहपुर सीकरी वास्तुकला का प्रमुख केन्द्र था। बुलन्द दरवाजा, जामा मस्जिद, दीवानखास, जोधाबाई महल, पंचमहल, शेख सलीम चिश्ती का मकबरा आदि प्रसिद्ध इमारतें हैं। अकबर के द्वारा बनायी गयी इमारतें ही हिन्दी-फारसी शैलियों के समन्वय के उत्कृष्ट नमूने हैं। उसी के समय में आगरा तथा इलाहाबाद के किले (फोर्ट) भी बने। इन किलों के भीतर अनेक सुन्दर इमारतें हैं। जहाँगीर के समय में आगरे में एत्मादुद्दौला के और सिकन्दरा में अकबर के सुन्दर मकबरे बनाये गये। अकबर ने अपने मकबरे की रूपरेखा पहले ही निश्चित कर दी थी और जहाँगीर उसे कार्यरूप में लाया था। उसकी कला पर बौद्ध-विहार की निर्माण-शैली का प्रभाव है। शाहजहाँ के समय में तो वास्तुकला विकास की चरम सीमा पर पहुँच गयी। दिल्ली में दीवाने आम, दीवाने खास, रंग महल, जामा मस्जिद और आगरे में मोती मस्जिद तथा ताजमहल उसके समय की विशिष्ट कृतियाँ हैं।
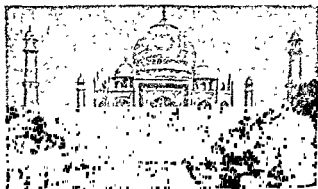
चित्र १०—आगरे का ताजमहल

जामा मस्जिद भारत में सबसे बड़ी मस्जिद है। पर्सी ब्राउन के मतानुसार यह मस्जिद आगरे की जामा मस्जिद से भी अधिक आकर्षक एवं सुन्दर है। दिल्ली का प्रसिद्ध लाल किला शाहजहाँ का ही बनाया हुआ है और इसी के भीतर उसकी अनेक सुन्दर इमारतें हैं। उसकी सभी इमारतों में ताजमहल सर्वोपरि है। ससार की सर्वोत्कृष्ट इमारतों में इसका एक प्रमुख स्थान है। यह आगरे में यमुना नदी के तट पर सगमरमर पत्थर का बना हुआ है। यह बड़ी सुन्दर एवं आकर्षक इमारत है और दाम्पत्य प्रेम का सुदृढ़ स्मारक है। इसे शाहजहाँ ने अपनी बेगम मुमताजमहल की स्मृति में बनवाया था। इसकी कला को देखकर कितने विदेशी भी आश्चर्यचकित हो जाते हैं। फ्रांसीसी यात्री टैवर्नियर के शब्दों में, जो मुगलकाल में ही भारत आया था, ताजमहल विश्व का महानतम स्मारक है। हिन्दुओं ने भी कुछ सुन्दर इमारतों का निर्माण किया। एलौरा के मन्दिर और अमृतसर के स्वर्ण मन्दिर इसी काल में बने।

ललित कलाओं की उन्नति हुई। इनमें भी हिन्दी-फारसी शैलियों का मिश्रण पाया जाता है। *हुमायूँ के समय में ही चित्र-कला का प्रारम्भ हो चुका था* और *अकबर तथा* जहाँगीर के समय में इसके विकास को अधिक प्रोत्साहन मिला। जहाँगीर के समय तक चित्रकला में भारतीय तत्त्व की प्रधानता स्थापित हो गई। उनके दरबार में अनेक कुशल चित्रकार रहते थे जिन्होंने कई ग्रन्थों तथा दीवारों में सुन्दर चित्रों का अकन किया। प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण में भी चित्रकारों की अभिरुचि थी। अकबर की कई इमारतों में भित्ति-चित्र पाये जाते हैं। दशवन्त तथा बसावन और ईरानी ख्वाजा अब्दुल समद इस काल के प्रसिद्ध चित्रकार थे। शाहजहाँ के समय से चित्रकला की अवनति होने लगी। उसे वास्तु, अलकरण तथा माणि-माणिक में ही विशेष अभिरुचि थी। राजपूत कला की उन्नति होती रही। राजपूत चित्रकला में सर्वसाधारण के जीवन की झाँकी पायी जाती है। अतः उसमें जीवन की यथार्थता और कला सौन्दर्य में समन्वय पाया जाता है।

औरंगजेब के अतिरिक्त सभी बड़े मुगल सम्राटों को सगीत में अभिरुचि थी। बाबर कई वाद्य यन्त्रों के सचालन में बड़ा ही कुशल था। अकबर के दरबार में कई सगीतज्ञ भी थे जिनमें तानसेन का नाम विशेष उल्लेखनीय है। सगीत पर पुस्तकों की भी रचना होती थी और फैजी के पुस्तकालय में सगीत सम्बन्धी कई ग्रन्थों का सग्रह था। शाहजहाँ के दरबार में भी मुस्लिम तथा हिन्दू सगीतज्ञ रहते थे। वह स्वय भी गीतों को बनाता और गाता भी था। सूरदास, तुकाराम और रामदास के पदों तथा भजनों से भी जनसाधारण में गाने-बजाने का प्रचार हो रहा था।

चीन

यह देखा जा चुका है कि १६४४ ई० में मंचु वंश के लोगों ने मिंग वंश का अन्त कर डाला। मंचु वंश को चिंग वंश भी कहा जाता है। मंचु वंश के लोग मंगोल जाति के थे। उन्होंने बड़ी सुगमता से चीन पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। उनका राज्य २६८ वर्षों (१६४४-१९१२ ई०) तक कायम रहा। लगभग दो सौ वर्षों तक उनका शासन गौरवपूर्ण रहा। भारत में जो स्थान मुगलों का था वह उन्हें चीन में प्राप्त था। उनका साम्राज्य अर्द्ध-विदेशी था। वे विदेशी तो थे किन्तु देश के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करते थे और जनहित के कामों में अभिरुचि रखते थे। उन्होंने राज्य का विस्तार किया और विभिन्न क्षेत्रों में उन्नति की। उनके समय में राज्य की सीमा पश्चिम में तुर्किस्तान, उत्तर में मंगोलिया और दक्षिण में तिब्बत तथा कोचीन-चीन तक फैल गयी। दुनिया के विशाल साम्राज्यों में इसकी भी गणना होने लगी।

इस वंश ने कुछ असाधारण योग्यता के शासकों और राजनीतिज्ञों को उत्पन्न किया। कांगही इस वंश का दूसरा सम्राट था। उसने बाल्यावस्था में ही गद्दी प्राप्त की और ६१ वर्षों (१६६२-१७२३ ई०) तक शासन की बागडोर उसके हाथ में रही। वह कोई महान् विजेता या वीर सैनिक तो नहीं था, परन्तु एक कुशल राजनीतिज्ञ, सफल शासक और संस्कृति का पोषक था। उसके समय में साम्राज्य का अधिक विस्तार हुआ और धन-दौलत की वृद्धि हुई। वह फ्रांस के सम्राट् लूई चतुर्दश का समकालीन था और कई बातों में दोनों की तुलना भी की जाती है। किन्तु दोनों में महान् अन्तर भी था। कांगही लूई के कुछ दुर्गुणों से मुक्त था। वह युद्ध-प्रिय और असहिष्णु नहीं था। वह उदार शासक था। अतः उसके राज्यकाल में सुख और शान्ति का वातावरण कायम रहा। वह कनफ्यूशियन धर्म का समर्थक था और चीनी दर्शन तथा साहित्य का विद्वान् था। उसके प्रोत्साहन से चीनी साहित्य में तीन महान् ग्रन्थों की रचना हुई—ज्ञानकोष, शब्दकोष और साहित्य कोष। शब्दकोष में ४०,००० शब्द हैं। प्रायः प्रत्येक शब्द के साथ युग-युग के साहित्यिकों का उद्धरण दिया हुआ है। ज्ञानकोष १६२८ जिल्दों में सम्पादित हुआ है और प्रत्येक जिल्द में २०० पृष्ठ हैं। पच्चीकारी तथा चित्रकला का भी विकास हुआ। ज्ञानकोष में अनेक चित्रों का समावेश है।

कांगही के पश्चात् उसका पोता चीनलुंग प्रसिद्ध सम्राट हुआ। यह चौथा सम्राट था और इसने भी ६० वर्षों (१७३६-९६ ई०) तक राज्य किया। इसने अपने दादा के ही पद-चिह्नों का अनुसरण किया। इसने राज्यविस्तार करते हुए कला तथा साहित्य को प्रोत्साहित किया। उसने तुर्किस्तान को जीता और नेपाल के गुरखों से

बदला चुकाया। गुरखों ने तिब्बत पर आक्रमण किया था किन्तु वे मार भगाए गए और नेपाल पर भी चढ़ाई कर दी गई। गुरखों ने चीन की अधीनता स्वीकार कर ली। उसके साम्राज्य में मंचूरिया, मंगोलिया, तुर्किस्तान और तिब्बत सम्मिलित थे और अनाम, स्याम, कोरिया, बर्मा आदि अधीनस्थ राज्य थे। उसके समय में साहित्य, कला व्यापार का भी विकास हुआ। कितने नए ग्रन्थ लिखे गए और पुराने ग्रन्थों की खोज कर उन्हें सुरक्षित रखा गया। इसी समय चाय का व्यापार शुरू हुआ। उसके दरबार में इंगलैंड के राजा जार्ज तृतीय ने लार्ड मेकार्टनी को १७६२ ई० में भेजा था। वह प्रथम ब्रिटिश-दूत था जो व्यापारिक सुविधा के लिए चीन आया था। सम्राट ने उसका स्वागत तो किया किन्तु सुविधाएँ नहीं दीं। उसने ब्रिटिश सम्राट के पास एक पत्र लिखा जिसके कुछ अंश इस प्रकार हैं :—

"आपके राजदूत ने मुझे आपका पत्र तथा भेंट की वस्तुएँ दी हैं। यह जानकर मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है कि इतनी दूर रहते हुए आपकी भक्ति मेरे प्रति कितनी अधिक है। राजदूत को सम्मानपूर्वक रखने के लिए मैंने अपने मंत्रियों को आज्ञा दे दी है। किन्तु व्यापारियों को व्यापार के लिए देश में बसने की आपकी प्रार्थना मैं स्वीकार नहीं कर सकता क्योंकि यह मेरे देश के नियमों के विरुद्ध है। हमारा मुख्य कर्त्तव्य प्रजा का हितचिन्तन है। मेरी दृष्टि में धन दौलत की कोई कीमत नहीं है। मुझे विदेशी असभ्य जातियों के सामान को अपने देश में मँगाने की कोई आवश्यकता नहीं है। हमारा साम्राज्य उन सब सामानों से भरपूर है जो मनुष्य के लिए आवश्यक है।"

चीनलुंग की मृत्यु के साथ मंचु साम्राज्य का वास्तविक गौरव भी जाता रहा। उसकी प्रभा निकलने लगी, यद्यपि ढाँचा दीर्घकाल तक कायम रहा। उत्तरकालीन राजा अयोग्य थे। विशाल साम्राज्य होने के कारण उसका प्रबन्ध करना कठिन हो गया था। सामन्तों की शक्ति क्रमशः बढ़ने लगी थी। शासन में भ्रष्टाचार आ गया। जनता की आर्थिक स्थिति बिगड़ने लगी। वह करों के बोझ से दबी जाती थी। घूसखोरी का बाजार गर्म था। प्रायः सभी राजकर्मचारी रिश्वत लेने लगे थे। होकून नामक प्रधान-मंत्री भी इस बुराई का शिकार था। उसे प्राणदण्ड दिया गया और उसकी सारी सपत्ति जब्त कर ली गई थी। इतना होने पर भी घूसखोरी की प्रथा बिलकुल बन्द नहीं हुई। चीन में यूरोपवासियों की प्रतियोगिता और शोषण-नीति भी भयंकर रूप में काम करने लगी थी। इसका विस्तृत वर्णन अगले अध्याय में किया जायगा।

इन सभी बुराइयों के कारण चीन में बहुत से क्रान्तिकारी दल स्थापित होने लगे। श्वेत लिली और दैवी न्याय समितियाँ प्रमुख क्रान्तिकारी संस्थाएँ थीं। जहाँ-तहाँ विद्रोहाग्नि भड़कने लगी। ताइपिंग विद्रोह विशेष उल्लेखनीय है। हुँग सुचुआन नामक

एक ईसाई ने इसका नेतृत्व किया था। कई प्रान्तों में इसकी ज्वाला फैल गई थी और विद्रोहियों ने नानकिंग में अपनी राजधानी भी स्थापित कर ली थी। किन्तु अभी सारा देश क्रान्तिकारी परिवर्तन के लिए तैयार नहीं था। अतः उक्त विद्रोह को सर्व-साधारण का सहयोग नहीं प्राप्त हो सका और यह असफल रहा। मचु वंश का पतन कुछ काल के लिए रुक गया।

फ़ारस

सन् ६५१ ई० में फारस के प्रसिद्ध सास्सानिद वंश के शासन का अन्त हो गया और अरबों ने इस देश पर अपना आधिपत्य जमा लिया। अरबों के पहले वहाँ आर्य सभ्यता का प्रसार था। अब दोनों सभ्यताओं में सम्पर्क हुआ और वे एक दूसरे से प्रभावित हुए। लेकिन इस्लाम की विशेष उन्नति हुई और फारस शिया सम्प्रदाय का एक प्रमुख केन्द्र बन गया। नवीं सदी में यह देश स्वतन्त्र हो गया किन्तु उसकी स्वतन्त्रता स्थायी नहीं रह सकी और यह तुर्कों के अधीन चला गया। १३ वीं शती के प्रारम्भ में चंगेज खाँ के नेतृत्व में मंगोलों ने फारस पर अधिकार कर लिया और उसके मरने पर साम्राज्य के कई टुकड़े हो गए। फारस हलाकू नामक मंगोल के हाथ में सौंप दिया गया। अरबों की तुलना में तुर्क तथा मंगोल सभ्यता तथा संस्कृति के क्षेत्र में पिछड़े हुए थे। इनमें भी मंगोलों की अपेक्षा तुर्क अधिक सभ्य थे। अतः तुर्कों के अधीन फारस में सभ्यता तथा संस्कृति उन्नत दशा में थी। उन्हीं के शासन-काल में फिरदौसी तथा उमर खैयाम जैसे प्रसिद्ध कवियों का उत्थान हुआ था। कितने अन्य विद्वानों को भी राज-दरबार का संरक्षण प्राप्त था। १४वीं सदी में तैमूर नाम के एक तुर्क ने हलाकू वंश को समाप्त कर फिर तुर्की वंश का शासन स्थापित किया। लगभग एक शताब्दी तक इन तुर्कों ने राज्य किया और इनके समय में भी कला तथा साहित्य को प्रोत्साहन मिला। इस बीच वहाँ के निवासियों में राष्ट्रीयता की भावना उदित होने लगी थी। १५वीं सदी के अन्त में तुर्की शासन का अन्त हो गया और एक स्वदेशी वंश का शासन स्थापित हुआ। यह सफावी वंश के नाम से विख्यात है।

सफावी वंश का शासन

सफावी वंश के राज्यारोहण के साथ ईरान में आधुनिक युग का सूत्रपात हुआ। इसने लगभग २३६ वर्षों (१४९९-१७३६ ई०) तक राज्य किया। शाह इस्माइल इस वंश का संस्थापक था। उसने फारस के शाह की उपाधि ग्रहण की। वर्तमान ईरान की महत्ता का यहीं से प्रारम्भ होता है। तबरेज में उसने अपनी राजधानी कायम की। वह बहुत लोकप्रिय शासक था। वह अली के पुत्र हुसेन का वंशज था और सस्सानिद वंश से भी सम्बन्धित था। उसने शिया मत को देश का राजधर्म बना दिया।

किन्तु इससे टर्की और फारस में दीर्घकालीन संघर्ष का सूत्रपात हुआ। उसके समय में फारस राज्य की सीमा फारस की खाड़ी, अफगानिस्तान और फरात नदी तक विस्तृत थी। उसके मरने पर १५२४ ई० में उसका पुत्र शाह तहमास्प गद्दी पर बैठा। उसे पूर्व में उजबेग तथा पश्चिम में उस्मानी तुर्कों का सामना करना पड़ा था। भारत से भागकर मुगल बादशाह हुमायूँ उसी के दरबार में ठहरा था। उसी के समय में इंगलैंड के साथ व्यापारिक सम्बन्ध भी स्थापित हुआ था।

सफावी वंश में शाह अब्बास प्रथम (१५८७-१६२९ ई०) सुविख्यात शासक हुआ। इंगलैंड की साम्राज्ञी एलिजाबेथ, स्पेन के राजा फिलिप और भारत के मुगल सम्राट अकबर तथा जहाँगीर उसके समकालीन थे। अब्बास बड़ा ही योग्य शासक था और उसे महान् की पदवी से विभूषित किया गया था। इस्फाहान में उसकी राजधानी थी जहाँ अनेक सुन्दर भवनों का निर्माण हुआ था। उसने तुर्कों को पराजित किया और राज्य में शान्ति स्थापित रखी जिससे कलाकौशल और उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन मिला। कालीन और गलीचे बनाने की कला का पूरा विकास हुआ। अनेक पुल, सड़क और सराय बनाये गए। कला और साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में प्रगति हुई। फारसी भाषा का खूब प्रचार हुआ। वस्तुतः फारसी सभ्यता तथा संस्कृति का यह स्वर्ण काल था। सफावी वंश के शासन-काल में ही फारस तथा भारत के बीच राजनीतिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित हुआ था। मुगल कई बातों में फारसवासियों के ऋणी थे।

किन्तु सफावी वंश का गौरव स्थायी नहीं रह सका। भोग-विलास और षड्यन्त्र के कारण इसकी शक्ति का दुरुपयोग होने लगा। शिया और सुन्नी सम्प्रदायों के झगड़े के कारण भी कमजोरी उत्पन्न होने लगी। अफगानों का आक्रमण भी शुरू हो गया। १७३२ ई० में अब्बास तृतीय शाह हुआ। इसके समय में देश की दशा बहुत चिन्ताजनक हो गई। प्रजा असन्तुष्ट थी, जमींदार स्वतन्त्र होने के लिए प्रयत्न करते थे। सर्वत्र अव्यवस्था फैल रही थी। अफगानों ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर ली। उन्होंने इस्फहान पर भी आधिपत्य जमा लिया और अब्बास को गद्दी से उतार दिया। इसी समय नादिरशाह नामक तुर्की सरदार ने फारस पर आक्रमण कर गद्दी पर अधिकार कर लिया।

नादिरशाह

नादिरशाह ने ११ वर्षों तक शासन किया (१७३६-४७ ई०)। वह सुन्नी धर्म का मानने वाला था, साथ ही वह बहुत बड़ा लुटेरा तथा लड़ाकू भी था। उसमें क्रूरता कूट-कूट कर भरी थी। उसने आसपास के देशों को विजित किया और असंख्य

व्यक्तियों को मौत के घाट उतार दिया। उसने भारत पर चढ़ाई की (१७३८-३९ ई०) मुगलों को पराजित किया, रक्त की होलियाँ खेलीं और खूब लूटपाट मचाया। भारत से अतुल धन और शाहजहाँ का तख्ते-ताऊस लेकर अपने देश में लौटा। उसने बोखारा और खीव पर अधिकार किया। लेकिन वह अप्रिय बना जा रहा था। उसकी नीति संकीर्ण एवं कट्टरतापूर्ण थी। उसने शिया धर्म को कुचलने का प्रयत्न किया। सर्वत्र लोग उससे असन्तुष्ट हो गए। १७४७ ई० में उसी के वर्ग के लोगों ने उसका काम तमाम कर डाला।

नादिर शाह के मरने के बाद लगभग आधी शताब्दी तक फारस में अव्यवस्था का साम्राज्य रहा। तत्पश्चात् १७९४ ई० में आगा मुहम्मद नामक एक सरदार ने काजर वंश की स्थापना की। इस वंश ने १३० वर्षों (१७९४-१९२५ ई०) तक राज्य किया और इसमें कुल ७ प्रमुख सम्राट हुए। इस वंश का अन्तिम सम्राट अहमद था जिसे १९२५ ई० में हरा कर रजाशाह पहलवी शाह बन बैठा।

अध्याय ४

यन्त्र युग का प्रादुर्भाव—औद्योगिक क्रान्ति

भूमिका

साधारणतः क्रान्ति का जो अर्थ समझा जाता है, औद्योगिक क्रान्ति वैसी नहीं थी। इतिहास में हम लोग अमेरिकी, फ्रांसीसी, रूसी और अन्य कितनी ही क्रान्तियों का वर्णन पाते हैं। इनका सम्बन्ध पार्टियों, हथियारों, युद्धों, सन्धियों, खून-खतरे आदि से रहता है। इस तरह की क्रान्तियाँ प्रायः राजनीति के क्षेत्र में हुआ करती हैं। औद्योगिक क्रान्ति इनसे बिल्कुल भिन्न थी। इनमें न तो कोई दलबन्दी थी और न कोई युद्ध हुआ; न तो किसी का एक बूँद खून ही बहाया गया और न किसी के साथ कोई सन्धि ही हुई। इसकी कोई खास तिथि या दिन भी नहीं है। फिर भी सर्वसम्मति से इसे क्रान्ति कहा जाता है और यह यथार्थ भी है। वास्तव में क्रान्ति का अर्थ है किसी समाज के स्वरूप में या मनुष्य की विचारधारा में पूर्ण या मौलिक परिवर्तन। औद्योगिक क्रान्ति के द्वारा मनुष्य के जीवन तथा स्वरूप में ऐसे ही आमूल परिवर्तन हुए।

पुरातन काल से १६वीं शती के मध्य तक मानव-समाज ने जो प्रगति की उसका आधार मनुष्य का बल ही रहा था। सारे कार्य के लिए उसे अपने ही हाथ पैर का भरोसा रहता था। यदि वह अपना हाथ-पैर नहीं चलाता तो उसे नग्न और भूखे रहने के अतिरिक्त अन्य कोई चारा नहीं था। वह बैल, घोड़े, ऊँट आदि जैसे कुछ उपयोगी जानवरों से भी सहायता लेता था। किन्तु १८ वीं शताब्दी के मध्य से सारी स्थिति बदलने लगी। अब सारा काम यन्त्रों के द्वारा होने लगा। यन्त्र तथा गति युग का शिलान्यास हुआ। अब मनुष्य के समय तथा शक्ति में पर्याप्त बचत होने लगी। जो काम सैकड़ों और सहस्रों व्यक्तियों के द्वारा मोटे ढंग पर वर्षों में सम्पादित होता था, वह अब कुछ ही मनुष्यों के द्वारा महीनों, सप्ताहों या चन्द दिनों के अन्दर बड़ी बारीकी से पूरा होने लगा। एक देश से दूसरे देश में जिस सन्देश को पहुँचने में वर्षों और महीने गुजर जाते थे वही अब कुछ मिनटों और सेकन्डों में पहुँचने लगा। संक्षेप में इस क्रान्ति के वैसे ही महत्त्वपूर्ण परिणाम हुए जैसे किसी महान् या सफल राजनीतिक क्रान्ति के होते हैं।

लेकिन इस क्रान्ति की कुछ खास विशेषताएँ हैं। इसमें रक्तपात तथा कोलाहल का सर्वथा अभाव था और यह शान्तिपूर्ण साधनों के द्वारा सम्पन्न हुई। इंगलैंड में सर्वप्रथम इसका जन्म हुआ और धीरे-धीरे विश्व के प्रायः सभी देशों में इसकी लपटें फैल गई। सभी देशों में इसका प्रभाव भी एक-सा रहा। किन्तु सर्वसाधारण के जीवन पर किसी भी क्रान्ति की अपेक्षा इसका प्रभाव अधिक स्थायी तथा व्यापक रहा है। इसके आरम्भ या अंत होने का कोई निश्चित दिन नहीं बताया जा सकता। २०वीं शताब्दी में भी इसका क्रम जारी है। हाँ, १७५० और १८५० ई० के बीच इसका विकास विशेष रूप से हुआ था।

औद्योगिक क्रान्ति के कारण

अभी कहा गया है कि यह क्रान्ति शान्तिपूर्ण साधनों के द्वारा हुई। इसके मूल में वैज्ञानिक उन्नति थी। यह क्रान्ति कूटनीतिज्ञों या राजनीतिक संस्थाओं के प्रयत्नों के कारण नहीं वरन् विज्ञान के आविष्कारों और उसके प्रयोगकर्ताओं की सम्मिलित चेष्टाओं के परिणाम-स्वरूप हुई थी। मध्य युग में मनुष्य की बुद्धि धार्मिक चहारदीवारी के भीतर सीमित थी। अतः वह कुछ सोचने या प्रयोग करने में लाचार थी। किन्तु सांस्कृतिक पुनरुत्थान तथा धर्मसुधार-आन्दोलन ने मानव-बुद्धि को मुक्त कर दिया। अब स्वतन्त्र वातावरण में स्वाभाविक रूप से मनुष्य का बौद्धिक विकास होने लगा। इससे वैज्ञानिक आविष्कार को बहुत प्रोत्साहन मिला। विज्ञान तथा उद्योग में घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित हो गया। उद्योग-धन्धों के लिए नये-नये आविष्कार हुए, यातायात के साधनों में उन्नति हुई और कृषि के क्षेत्र में नयी-नयी विधियों का प्रचलन हुआ।

आधुनिक काल के प्रादुर्भाव के साथ धर्म का महत्व घटा और भौतिकता की महत्ता बढ़ी। अब सांसारिक समस्याओं को हल करने की ओर लोगों की विशेष प्रवृत्ति हुई। वे अपने जीवन को अधिक से अधिक भोग-विलासमय बनाने के लिए प्रयत्न करने लगे। इसके लिए यह आवश्यक था कि वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि हो और वे सस्ती पर साथ ही बारीक हों। यह कल-कारखाने के उपयोग और स्वतन्त्र व्यापार की नीति के द्वारा ही सम्भव था। इन सभी बातों की पूर्ति के लिए मनुष्य सतत् शोध और साधना करने लगे। आदम स्मिथ ने राष्ट्र-धन (वेल्थ आफ नेशन्स) नामक पुस्तक १७७६ ई० में प्रकाशित की जिसमें उसने—श्रम-विभाजन और स्वतन्त्र व्यापार पर विशेष जोर दिया।

मध्यम वर्ग का बहुत पहले से उत्तरोत्तर उत्थान हो रहा था। इस वर्ग के लोगों के पास पूँजी भी काफी थी। पूँजी की अधिक वृद्धि करना पूँजीपतियों की मनोवृत्ति होती है। अतः वे इसके लिये अनेक उपायों को सोच रहे थे। भौगोलिक खोजों ने

उन्हें स्वर्ण अवसर प्रदान किया। इनके द्वारा नवीन मार्गों तथा कई देशों का पता लगा जिससे व्यापार तथा बाजार का क्षेत्र बढ़ा।

इंगलैण्ड में सर्वप्रथम क्यों ?

उपरोक्त सभी कारणों से औद्योगिक क्रान्ति का सूत्रपात हुआ, किन्तु इसका श्री-गणेश इंगलैंड में हुआ। इसके कई कारण थे।

जिस प्रकार १८वीं शताब्दी में फ्रांस में राजनीतिक क्रान्ति के लिये सभी सामग्रियाँ उपस्थित थीं वैसे ही उस काल में इंगलैंड में औद्योगिक क्रान्ति के लिये सभी साधन वर्तमान थे। सबसे पहिले वहाँ औद्योगिक क्रान्ति के लिये नींव पड़ चुकी थी। वहाँ का वातावरण वैज्ञानिक उन्नति के लिये बहुत ही अनुकूल था। १५वीं-१६वीं शताब्दी में ही वैज्ञानिक आविष्कार के लिए मार्ग प्रशस्त हो गया था। १७वीं सदी में ही रॉयल सुसाइटी की स्थापना हुई थी और इससे वैज्ञानिक विकास को बड़ा प्रोत्साहन मिल रहा था। दूसरे, इंगलैंड का व्यापारी एवं व्यवसायी वर्ग यूरोप के दूसरे देशों की तुलना में बहुत ही कुशल, साहसिक और महत्वाकांक्षी था। ब्रिटिश सरकार की नीति भी ऐसी थी जिससे उक्त वर्ग को विशेष सहायता ही मिलती थी। फ्रांस के जैसा इंगलैंड में व्यावसायिक संघ (गिल्ड) नहीं थे। अंग्रेज व्यापारी संघ या सरकार के नियमों से जकड़े हुए नहीं थे। उनके प्रसार के लिए पूरी स्वतन्त्रता थी। तीसरे, इंगलैंड एक साम्राज्यवादी देश था। जब अन्य राज्य घरेलू समस्याओं के हल करने में व्यस्त थे तब इंगलैंड अपना औपनिवेशिक साम्राज्य स्थापित करने में लगा था। १५८८ ई० में ही औपनिवेशिक साम्राज्य की स्थापना के लिये इंगलैंड ने दौड़ शुरू की थी और १७६३ ई० तक उसने बाजी भी मार ली थी। अन्य राज्य इस दौड़ में पिछड़ गये थे। विशाल साम्राज्य होने से कच्चे मालों की प्राप्ति होती थी और बने मालों की बिक्री के लिये बाजार भी मिलते थे। १७५७ और १७६५ ई० के मध्य अंग्रेजों ने भारत के समृद्धशाली भू-भाग बंगाल पर भी आधिपत्य जमा लिया। इससे ब्रिटिश साम्राज्य में चार चाँद लग गया और अंग्रेजों को बहुत लाभ हुए। चौथे, इंगलैंड तथा फ्रांस में २२ वर्षों तक (१७९३-१८१५ ई०) संघर्ष चलता रहा और इस दीर्घकालीन संघर्ष से यूरोप के प्रायः सभी देशों की आर्थिक दशा अव्यवस्थित हो गयी थी। किन्तु इंगलैंड की आर्थिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न नहीं हो सकी और उसके व्यापार तथा व्यवसाय में पर्याप्त वृद्धि ही हुई थी। इस संघर्ष के पहले भी यूरोप में अनेक युद्ध हुए थे जिनसे इंगलैंड में उत्पादन को बहुत प्रोत्साहन मिला था। पाँचवें, देश में कुशल तथा अकुशल दोनों प्रकार के मजदूरों की भरमार थी। फिर फ्रांस के बहुत से प्रोटेस्टेंट शरणार्थी आ कर इंगलैंड में बस गये थे। उनके आगमन

क्रान्ति की प्रगति

क्रान्ति की प्रगति के चिन्ह कृषि, उद्योग-धन्धे और आवागमन तीनों क्षेत्रों में दृष्टिगोचर हुए।

(क) कृषि सम्बन्धी परिवर्तन—१८वीं सदी के पूर्वार्द्ध तक इंगलैंड ग्राम तथा कृषि-प्रधान देश था और वहाँ के लोगों का मुख्य पेशा खेती करना ही था। लेकिन उस समय तक प्राचीन तथा मध्यकालीन विधियों तथा औजारों से ही खेती की जाती थी। प्रचलित प्रथा के अनुसार जिस खेत मे दो साल फसल बोई जाती थी उसे तीसरे साल खाली छोड़ दिया जाता था। इसका उद्देश्य था कि उसे खेत की खोई हुई उर्वरा शक्ति फिर से प्राप्त हो जाय। प्रत्येक ग्राम मे उपजाऊ जमीन के सिवा चरागाह या परती जमीन भी रहती थी।

इस प्रचलित प्रणाली से लाभ तो कम थे, पर हानियाँ अधिक थीं। फिर भी यह प्रणाली तब तक चलती रही जब तक इससे काम चल रहा था। किन्तु १८वीं सदी में कुछ ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गई जिससे कृषि-सुधार करना आवश्यक हो गया। इंगलैंड की जनसंख्या मे उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही थी। इसलिए प्रचुर मात्रा में अनाज की आवश्यकता पड़ने लगी। उस युग में युद्ध की प्रधानता थी जिसके कारण विदेशों से अनाज मँगाने मे कई कठिनाइयाँ थीं। अत. अपने ही देश मे अधिक अन्न पैदा करना आवश्यक था।

बर्कशायर मे जेथ्रोटल नाम के व्यक्ति ने सर्वप्रथम कृषि की ओर ध्यान दिया। वह खेत को अच्छी तरह जुतवा कर बड़ी सावधानी से बीजों को एक-एक कर सीधी पंक्ति मे गिराने लगा। अब एक एकड़ जमीन में पहले की अपेक्षा बीज एक-चौथाई के अनुपात मे लगने लगे और उनके निकल आने पर उनकी जड़ों में मिट्टी देना भी आसान हो गया। लेकिन अब मजदूरों का काम बढ़ गया। कुछ समय बाद उसने 'ड्रिल' नामक एक मशीन का आविष्कार कर लिया। अब इसके द्वारा फसलों की आसानी से निकौनी हो जाती और उनकी जड़ों मे मिट्टी पड़ जाती। इसके अतिरिक्त उसने 'होइंग' नाम की भी एक मशीन ढूँढ निकाली जिससे खेतो का जोतना आसान हो गया। कृषि के क्षेत्र में टाउनशेन्ड का नाम भी उल्लेखनीय है। उसने अपनी नॉर्फोक की जमींदारी मे चतुर्वर्षी चक्र की एक योजना का प्रयोग किया। वह एक ही खेत में क्रमानुसार गेहूँ, चुकन्दर या शकरकन्द, जौ या जई और दूब या अन्य घास की फसल उगाने लगा। इससे भूमि में पूरी खाद मिलने लगी, उसकी उर्वराशक्ति बढ़ने लगी और मवेशियों को पर्याप्त चारा भी मिलने लगा।

पशुओं के विषय में भी परिवर्तन हुए। अठारहवीं सदी के पूर्वार्द्ध की अपेक्षा उत्तरार्द्ध में भेड़ों का वजन लगभग तीन गुना और पशुओं का दुगुना बढ़ गया। इस

क्षेत्र में रॉबर्ट बेकवेल का नाम विशेष प्रसिद्ध है। उसने मवेशियों तथा भेड़ों की नस्ल को उन्नत किया। उसके साँड़ और भेड़ लम्बे तथा मोटे होते थे जिन्हें देखने के लिए दूर-दूर से लोग आते थे।

इस तरह कृषि तथा पशुओं में विशेष प्रगति होने लगी; खेतों के लिए नयी-नयी खादें और पशुओं के लिए खाद्य मिलने लगे। अतः पशुओं के मांस में भी वृद्धि होने लगी। इनकी देख-रेख के लिए स्मीथफील्ड क्लब, सरकारी कृषि-विभाग आदि कई संस्थाएँ खुल गईं। आर्थर यंग ने कृषि सम्बन्धी कई लेखों को लिखा और घूम-घूम कर उनका प्रचार किया। यही नहीं; कुछ और भी परिवर्तन हुए। परती जमीन को जुताऊ बनाने की चेष्टा होने लगी। छोटी-छोटी भूमि को टुकड़ियों की बड़े-बड़े खेतों और फार्मों में परिवर्तित कर दिया जाने लगा। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि खुले खेतों के चारों ओर मेड़ें डालकर बाड़ें बाँध दिये जाने लगे। इस तरह ७० लाख एकड़ जमीन घेर डाली गयी। जब कृषक इसका विरोध करने लगे तब पार्लियामेंट इसके लिये कानून बनाने लगी। पार्लियामेंट ने कई बार कानून बनाया लेकिन १८०१ ई० में एक जेनरल एनक्लोजर ऐक्ट भी पास कर दिया गया।

इन सुधारों के कारण इंगलैण्ड की कृषि-व्यवसाय में एक नये युग का पदार्पण हो गया। खेतीबारी एक लाभप्रद पेशा हो गयी और लोग इसकी उन्नति के लिये पूरा खर्च करने लगे। अब देश की फसल में पहले से पाँच गुनी वृद्धि हो चली।

किन्तु कुछ हानि भी हुई। छोटी-छोटी भूमि की टुकड़ियों में नये ढंग से खेती करना सम्भव नहीं था। जमीन भी अधिक महँगी हो गयी। अतः छोटे-छोटे किसान अपनी जमीन बेच देने के लिये बाध्य हुए और वे कल-कारखानों तथा खेतों में मजदूरी करने के लिये विवश हुए। अब गरीबों और मजदूरों की संख्या में वृद्धि हो चली और छोटे-छोटे किसानों का अन्त हो गया। परती जमीन को जुताऊ बना देने और सभी खेतों को घेर देने से मवेशियों को चारा की कठिनाई होने लगी। अब उनके चरने के लिए भूमि का अभाव हो गया।

(ख) उद्योग-धन्धों में परिवर्तन—कृषि के बाद अन्य उद्योग-धन्धों की भी उन्नति होने लगी। पहले कपड़े के ही व्यवसाय में परिवर्तन हुआ। अब तक सूत की कताई और कपड़े की बुनाई दोनों ही काम चरखे तथा करघे के द्वारा किए जाते थे। किन्तु अब दोनों कामों के लिए नए-नए आविष्कार हुए। १७३३ ई० में लंकाशायर के जॉन के ने "फ्लाइंग शटल' का आविष्कार किया। उसके द्वारा सभी जुलाहे बड़ी तेजी से काम करने लगे और सूत की माँग बढ़ चली। १७६४ ई० में ब्लैकबर्न का निवासी जेम्स हारग्रीव्स ने 'स्पिनिंग जेनी' का आविष्कार किया जिसमें १६ तकुए एक पहिए के घूमने से चलते थे। १७६६ ई० में प्रेस्टन निवासी रिचार्ड

'वाटरफ्रेम' निकाला जिसमें पानी की शक्ति से चरखा चलता था। हारग्रीव्स तथा आर्कराइट की मशीनों के आधार पर १७७९ ई० में बोल्स के निवासी क्रौम्पटन ने 'म्यूल' नाम की मशीन बनाई जिससे बारीक सूत अधिक परिमाण में निकलने लगा। बुनाई में उन्नति करने के लिए एडमन्ड कार्टराइट ने १७८५ ई० में पानी के सहारे चलने वाला एक करघा तैयार किया जो 'पावरलूम' कहलाने लगा।

वाष्पशक्ति का ज्ञान लोगों को बहुत पहले से था। किन्तु १७६६ ई० में जेम्स वाट ने इससे इंजिन चलाने का काम लिया। १७८५ ई० में कताई और बुनाई की मशीनों को चलाने में भी इसका प्रयोग होने लगा। कुछ वर्षों के बाद इससे स्टीमर (१८१२ ई०) और रेल (१८१४ ई०) के इंजिन भी चलाये जाने लगे। रेल का इंजिन वाष्पशक्ति से चलाने का श्रेय जार्ज स्टीफेन्सन को प्राप्त हुआ।

कल-कारखानों की वृद्धि के साथ ही उन्हें चलाने के लिए लोहे तथा कोयले की आवश्यकता बढ़ी। अतः इन व्यवसायों में खूब उन्नति हुई। अब जंगलों के कट जाने से लकड़ी के कोयले की कमी हो गई। अतः एक नए प्रकार की भट्ठी का निर्माण किया गया जिसमें पत्थर के कोयले तथा जले हुए कोक से काम लिया जाने लगा। लोहे के उत्पादन में भी वृद्धि हुई और अब एक नवीन लौह-युग का पदार्पण हो गया। धीरे-धीरे हेनरी कोर्ट की चेष्टाओं से लोहे की ढलाई करने तथा उसके छड़ और चद्दरें आदि बनाने की विभिन्न प्रक्रियाएँ निकल पड़ीं। १७७९ ई० में सर्वप्रथम लोहे का पुल और १७९० ई० में लोहे का जहाज बना। लोहे के साथ कोयले की माँग भी बढ़ी, अतः खानों से अधिक कोयला निकलने लगा। पहले तो विस्फोट एवं अन्धकार के कारण खानों में काम करना बड़ा ही सकटाकीर्ण था किन्तु १८१५ ई० में हम्फ्रीडेवी ने एक रक्षक बत्ती (सेफ्टी लैम्प) का आविष्कार किया। खानों से पानी के निकास का प्रबन्ध भी हो चुका था। अब खानों के भीतर काम करना आसान हो गया।

(ग) आवागमन सम्बन्धी परिवर्त्तन—देश में कल-कारखानों की वृद्धि के कारण बहुत अधिक माल तैयार होने लगे जिन्हें विभिन्न जगहों में भेजने की आवश्यकता आ पड़ी। अतः आवागमन के साधनों की उन्नति करना भी आवश्यक हो गया।

१८वीं सदी के प्रारम्भ तक आवागमन के साधन बड़ी ही बुरी दशा में थे। सड़कें खराब थीं। वे प्रायः कच्ची होती थीं जिन पर बरसात में कीचड़ का ढेर लग जाता था और गाड़ियों का चलना कठिन हो जाता था। अब इन बुराइयों को दूर करने की चेष्टा होने लगी। ऐसे इन्जीनियरों में मेटकाफ, टेलफोर्ड और मैकडम के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। मेटकाफ तथा टेलफोर्ड के पथ-प्रदर्शन में अच्छी सड़कें बनाई जाने लगीं। टेलफर्ड के उद्योग से पक्की सड़कें बनने लगीं।

किन्तु सड़कों पर भारी माल ढोने में अधिक समय और धन का खर्च पड़ता था, अतः ट्रामगाड़ियों का निर्माण हुआ। पहले तो लकड़ी की लाइन पर ये गाड़ियाँ चलाई गयीं, लेकिन १७७६ ई० के बाद लोहे की पटरी बनने लगी। १७८४ ई० में पामर ने नई डाक की व्यवस्था की। इस तरह पहले की अपेक्षा समय और धन के खर्च में कुछ बचत तो हुई, किन्तु स्थल-मार्ग में अभी भी खर्च कम नहीं था। अतः जलमार्ग का भी विकास हुआ। इगलैंड में सर्वप्रथम १७५६ ई० में नहर बनाई गई। ड्यूक आफ ब्रिजवाटर कोयले की एक खान का मालिक था। उसने ब्रिन्डले नामक एक इंजीनियर के पथ-प्रदर्शन में वोर्सलो से मैन्चेस्टर तक आधुनिक ढंग की नहर बनवाई। अब इन जगहों में कोयले ढोने का खर्च बहुत कम हो गया। १८वीं सदी के अन्त तक कई नहरों का निर्माण हो गया और लन्दन, ब्रिस्टल, लिवरपूल आदि जैसे बड़े-बड़े शहर नहरों के द्वारा एक दूसरे से सम्बन्धित हो गये। फोर्थ और क्लाइड नदियों से भी नहरें निकाली गयीं।

१९वीं सदी के प्रारम्भिक काल में भाप से सचालित जलयानों तथा रेलगाड़ियों का प्रचार हुआ। १८१९ ई० में सर्वप्रथम वाष्पनौका ने २५ दिनों में अटलांटिक महासागर को पार किया। फुल्टन नामक एक अमेरिकन ने इसका आविष्कार किया था। १८०४ ई० में प्रथम इंजिन का निर्माण हुआ। १८२५ ई० में सर्वप्रथम रेलगाड़ी चली। जार्ज स्टीफेन्सन नामक अंग्रेज ने राकेट नाम के एक नई रेल के इंजिन का आविष्कार किया जिसकी चाल ३५ मील प्रति घन्टे थी। अब धीरे-धीरे इंगलैंड तथा यूरोप में रेलगाड़ियों का जाल-सा बिछ गया। १८४० ई० में पेनी पोस्टेज की प्रथा कायम हुई और १८७१ ई० में अन्तर्राष्ट्रीय डाक-संघ स्थापित हुआ। इटली के दो वैज्ञानिकों ने गैलवेनी तथा वोल्टा बिजली-उत्पादन के लिये मार्ग प्रशस्त कर दिया। फैरेडे आदि वैज्ञानिकों ने डायनेमो का आविष्कार कर गति के क्षेत्र में क्रान्ति उत्पन्न कर दी। १८३९ ई० में सर्वप्रथम बिजली के सहारे तार द्वारा समाचार भेजा गया और इसके १५ वर्ष बाद इगलैंड तथा फ्रांस के बीच पानी के अन्दर से 'केबुल' द्वारा समाचार भेजा गया। अब टेलिग्राफी का तीव्र गति से प्रचार हुआ। १८७६ ई० में टेलिफोन का आविष्कार हुआ। १८८० ई० में पेट्रोल की खोज हुई। इसके बाद पेट्रोल की शक्ति से मोटरें चलीं। वायुयान के आविष्कार ने तो यातायात की गति में अपूर्व प्रगति ला दी। १८९७ ई० में सर्वप्रथम वायुयान उड़ा जिसका निर्माण प्रोफेसर लैंगले ने किया था। अमेरिका के राइट बन्धुओं ने १९०३ में वायुयान में बैठकर उड़ान की। १९०६ ई० से वायुयानों के क्षेत्र में अधिक प्रगति हुई।

सन् १८७६ ई० में एडिसन नामक अमेरिकन वैज्ञानिक ने ग्रामोफोन का आविष्कार किया। १८९३ में इसी ने सिनेमा को जन्म दिया। १८९५ ई० में लूमेरे नामक

किन्तु सड़कों पर भारी माल ढोने में अधिक समय और धन का खर्च पड़ता था, अतः ट्रामगाड़ियों का निर्माण हुआ। पहले तो लकड़ी की लाइन पर ये गाड़ियाँ चलाई गयीं, लेकिन १७७६ ई० के बाद लोहे की पटरी बनने लगी। १७८४ ई० में रामर ने नई टाक की व्यवस्था की। इस तरह पहले की अपेक्षा समय और धन के खर्च में कुछ बचत तो हुई, किन्तु स्थल-मार्ग में अभी भी खर्च कम नहीं था। अतः जलमार्ग का भी विकास हुआ। इंगलैंड में सर्वप्रथम १७५६ ई० में नहर बनाई गई। ड्यूक आफ ब्रिजवाटर कोयले की एक खान का मालिक था। उसने ब्रिन्डले नामक एक इंजीनियर के पथ-प्रदर्शन में वोर्सले से मैन्चेस्टर तक आधुनिक ढंग की नहर बनवाई। अब इन जगहों में कोयले ढोने का खर्च बहुत कम हो गया। १८वीं सदी के अन्त तक कई नहरों का निर्माण हो गया और लन्दन, ब्रिस्टल, लिवरपूल आदि जैसे बड़े-बड़े शहर नहरों के द्वारा एक दूसरे से सम्बन्धित हो गये। फोर्थ और क्लाइड नदियों से भी नहरें निकाली गयीं।

१६वीं सदी के प्रारम्भिक काल में भाप से सचालित जलयानों तथा रेलगाड़ियों का प्रचार हुआ। १८१६ ई० में सर्वप्रथम वाष्पनौका ने २५ दिनों में अटलांटिक महासागर को पार किया। फुल्टन नामक एक अमेरिकन ने इसका आविष्कार किया था। १८०४ ई० में प्रथम इंजिन का निर्माण हुआ। १८२५ ई० में सर्वप्रथम रेलगाड़ी चली। जार्ज स्टीफेन्सन नामक अंग्रेज ने राकेट नाम के एक नई रेल के इंजिन का आविष्कार किया जिसकी चाल ३५ मील प्रति घन्टे थी। अब धीरे-धीरे इंगलैंड तथा यूरोप में रेलगाड़ियों का जाल-सा बिछ गया। १८४० ई० में पेनी पोस्टेज की प्रथा कायम हुई और १८७४ ई० में अन्तर्राष्ट्रीय डाक-संघ स्थापित हुआ। इटली के दो वैज्ञानिकों ने गैलभेनी तथा वोल्टा बिजली-उत्पादन के लिये मार्ग प्रशस्त कर दिया। फैरेडे आदि वैज्ञानिकों ने डायनेमो का आविष्कार कर गति के क्षेत्र में क्रान्ति उत्पन्न कर दी। १८३५ ई० में सर्वप्रथम बिजली के सहारे तार द्वारा समाचार भेजा गया और इसके १५ वर्ष बाद इंगलैंड तथा फ्रांस के बीच पानी के अन्दर से 'केबुल' द्वारा समाचार भेजा गया। अब टेलिग्राफी का तीव्र गति से प्रचार हुआ। १८७६ ई० में टेलिफोन का आविष्कार हुआ। १८८० ई० में पेट्रोल की खोज हुई। इसके बाद पेट्रोल की शक्ति से मोटरें चलीं। वायुयान के आविष्कार ने तो यातायात की गति में अपूर्व प्रगति ला दी। १८६७ ई० में सर्वप्रथम वायुयान उड़ा जिसका निर्माण प्रोफेसर लैंगले ने किया था। अमेरिका के राइट बन्धुओं ने १६०३ में वायुयान में बैठकर उड़ान की। १६०६ ई० से वायुयानों के क्षेत्र में अधिक प्रगति हुई।

सन् १८७६ ई० में एडिसन नामक अमेरिकन वैज्ञानिक ने ग्रामोफोन का आविष्कार किया। १८६३ में इसी ने सिनेमा को जन्म दिया। १८६५ ई० में लूमेरे नामक

फ्रांसीसी वैज्ञानिक ने फिल्म प्रोजेक्टर का आविष्कार किया। इसी साल इटली के वैज्ञानिक मार्कोनी ने रेडियो और वायरलेस का आविष्कार किया। १९२६ ई० में अँग्रेजी वैज्ञानिक बियर्ड ने टेलीविजन का आविष्कार किया।

इस बीच कुछ और महत्वपूर्ण आविष्कार हुए। १८२७ ई० में दियासलाई का आविष्कार हो चुका था। १८४० ई० में स्काटलैंड निवासी मैकमिलन ने बाइसिकिल का आविष्कार किया था। १८६० ई० में फोटोग्राफी, १८७३ ई० में टाइपराइटर और १८८४ ई० में फाउन्टेनपेन का आविष्कार हुआ था। चिकित्सा शास्त्र में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं और अब चीर-फाड का काम बहुत सरल बन गया है। आगे चलकर कृषि के क्षेत्र में बैल या घोड़ों से चलनेवाले हलों के स्थान पर ट्रैक्टरों का आविष्कार हुआ। कई प्रकार के रासायनिक खादों के द्वारा उत्पादन कई गुना अधिक बढ़ा लिया गया।

क्रान्ति का प्रसार

हम देख चुके हैं कि सर्वप्रथम इंगलैंड में क्रान्ति का प्रारम्भ हुआ। धीरे-धीरे क्रान्ति की लहर यूरोप के अन्य देशों तथा अमेरिका में फैलने लगी। १८१५ ई० में नेपोलियन के पतन के पश्चात् यूरोप में इसके प्रसार के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार हो गया। जर्मनी, बेल्जियम, फ्रांस तथा स्विट्जरलैण्ड में विशेष रूप से क्रान्ति का प्रसार हुआ। परन्तु इसमें भी इंगलैंड का प्रमुख सहयोग रहा। फ्रांस में टॉगलास तथा बेल्जियम में कोकरिल नामक अंग्रेज ने यंत्रों के प्रचार में अधिक हाथ बटाया। किन्तु कालान्तर में वस्तुओं के निर्माण में कई देश इंगलैंड से भी आगे बढ़ गये। जर्मनी में धातु सम्बन्धी और फ्रांस में कपड़ा सम्बन्धी कार्य बहुत उत्तमता से होने लगा था।

फ्रांस—१९वीं शताब्दी के प्रथम चरण तक फ्रांस कृषि-प्रधान देश था। उद्योग-धन्धे साधारण पैमाने पर होते थे। मध्यकालीन गिल्ड-प्रथा का प्रचार था। प्रत्येक व्यवसाय के लोग पृथक्-पृथक् गिल्ड में संगठित थे। प्रत्येक गिल्ड एक दूसरे से स्वतन्त्र था और इसका अपना सभापति तथा कार्य-समिति थी। प्रत्येक गिल्ड के अपने-अपने नियम थे जिन्हें मानने के लिए इसके सदस्य बाध्य थे। मालों के उत्पादन, वितरण और मूल्य आदि पर गिल्ड का नियंत्रण था। प्रारम्भ में गिल्ड उपयोगी संस्था सिद्ध हुई किन्तु आधुनिक काल में यह असामयिक हो गई और इसके दोष प्रत्यक्ष हो गये। इस प्रथा के अन्तर्गत प्रतियोगिता के लिए स्थान नहीं था। अतः व्यक्ति की प्रतिभा के विकास के लिए उपयुक्त क्षेत्र का अभाव था। लोग व्यक्तिवाद की ओर विशेष झुकने लगे थे। अतः धीरे-धीरे गिल्ड-प्रथा का नाश हुआ और प्रत्येक व्यक्ति व्यावसायिक क्षेत्र में स्वतन्त्र हो गया।

गिल्ड-प्रथा के अतिरिक्त कुछ अन्य कारण भी थे जिनसे फ्रांस में औद्योगिक क्रान्ति विलम्ब से हुई। इंगलैंड के समान वहाँ प्रचुर मात्रा में खनिज पदार्थ नहीं पाये जाते थे। दूसरे, १७८६ ई० से १८१५ ई० तक फ्रांस में क्रान्ति तथा युद्ध के कारण अशान्ति और अव्यवस्था का साम्राज्य था। तीसरे, इंगलैंड उसका सबसे बड़ा दुश्मन था, अतः उससे किसी प्रकार का सहयोग मिलना असम्भव था। लेकिन १८१५ ई० के बाद नेपोलियन के पतन के साथ स्थिति में परिवर्त्तन हो गया। देश में धीरे-धीरे शान्ति स्थापित हुई। इस समय तक गिल्ड-प्रथा की भी अवनति हो चुकी थी। अपने लाभ के हेतु इंगलैंड फ्रांस के औद्योगिक विकास में सहयोग देने लगा और फ्रांस इंगलैंड से यन्त्र खरीदने लगा। धीरे-धीरे देशीय खनिज पदार्थों का भी उपयोग होने लगा। रेलें बनने लगीं। फ्रांस में कई नदियाँ भी हैं। अतः जल तथा वाष्पशक्ति का प्रयोग होने लगा। नहरें निर्मित होने लगीं। कलों की भरमार हो गई। बड़े-बड़े नगर कायम हो गये। फ्रांस में व्यावसायिक विकास की एक विशेषता यह रही है कि वहाँ भोग-विलास सम्बन्धी सुन्दर तथा आकर्षक वस्तुएँ अधिक बनती हैं। अतः वहाँ हस्तकुशल कारीगरों की भी आवश्यकता बनी रहती है। लेकिन अन्य व्यावसायिक देशों में इनकी कोई आवश्यकता नहीं या नाममात्र की रह गई है।

जर्मनी—फ्रांस से भी पीछे जर्मनी में उद्योग-धन्धों का विकास शुरू हुआ। इसके कई कारण थे। वहाँ भी गिल्ड-प्रथा का बोलबाला था। लोगों की कृषि में विशेष अभिरुचि थी। नेपोलियन ने जर्मनी की भूमि पर दीर्घकाल तक युद्ध किया था जिससे वहाँ के निवासियों की आर्थिक स्थिति बिगड़ गई थी। गरीबी के कारण बहुमूल्य चीजों के व्यवहार के लिए कोई प्रोत्साहन नहीं था। उसके पास जहाज तथा बाजार का अभाव था और देश में यातायात की दशा बड़ी बुरी थी। कई छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्य थे और केन्द्रीय सरकार का कोई संगठन नहीं था।

बिस्मार्क की प्रतिभा और प्रयास से स्थिति में परिवर्तन हुआ। १८७१ ई० में जर्मनी एक साम्राज्य के रूप में परिवर्तित हो गया, उसका एकीकरण हुआ और एक सुदृढ़ केन्द्रीय शासन स्थापित हुआ। देश में व्यवस्था स्थापित हुई और अब व्यावसायिक विकास की ओर ध्यान दिया गया। प्रारम्भ में इंगलैंड से पर्याप्त सहयोग मिला और देश में कल-कारखानों की भरमार हो गई। पहले जलशक्ति से काम होता था, धीरे-धीरे वाष्पशक्ति का व्यवहार होने लगा। सूती, रेशमी और ऊनी कपड़े तथा धातु सम्बन्धी मालों का विस्तृत पैमाने पर उत्पादन होने लगा। यातायात के साधनों में विकास हुआ। देश में रेल, सड़क तथा नहरों की भरमार हो गई। धीरे-धीरे मशीन भी बनने लगी। जर्मनी में लोहे की अधिकता रही है। वेस्टफालिया, ऊपरी साइलेशिया और सार प्रदेश तो इसके प्रधान केन्द्र हैं। धातु के कामों में यह इंगलैंड

तथा अमेरिका का मुकाबला करने लगा। विज्ञान की उन्नति के साथ जर्मनी ने रासायनिक व्यवसाय का भी विकास किया। उसके मालों की भी सर्वत्र माँग होने लगी। फ्रांस के दो प्रधान व्यावसायिक क्षेत्र—अल्सेस तथा लोरेन पर भी जर्मनी का अधिकार हो गया था अतः इससे उसके व्यापार को बहुत प्रोत्साहन मिला। इन सभी कारणों से १९वीं सदी के प्रारम्भ तक जर्मनी एक प्रमुख व्यावसायिक देश बन गया।

रूस—सत्रहवीं शताब्दी तक रूस मध्यकालीन पिछड़ा हुआ राज्य था। वह एशिया का ही एक अंग समझा जाता था। लोग खेतीबारी से सादा जीवन व्यतीत करते थे। शासन निरंकुश था और व्यवसाय के विकास में उसे कोई दिलचस्पी नहीं थी। १८वीं शताब्दी में पीटर और कैथेराइन के प्रयास से रूस में पाश्चात्य सभ्यता का प्रचार हुआ। लेकिन १८६० ई० तक रूस में उद्योग-धन्धों का विकास नहीं हुआ। जनता निर्धन थी, पूँजी का अभाव था। रूस की जनसंख्या का अधिकांश भाग दासत्व की बेड़ी में जकड़ा हुआ था। उन्हें देश की उन्नति में कोई रुचि नहीं थी। वे तो अपनी मुक्ति के लिए ही चिन्तित थे।

१९वीं सदी के अन्तिम चरण से स्थिति में परिवर्तन हुआ। अन्य औद्योगिक देशों का प्रभाव पड़ा और व्यावसायिक विकास आवश्यक समझा गया। इस समय तक दासों को मुक्त कर दिया गया था। शासन भी उद्योग-धन्धों के विकास में दिलचस्पी लेने लगा। विदेशी पूँजीपतियों को रूस में पूँजी लगाने के लिए प्रोत्साहित किया गया। देश का औद्योगिक विकास शुरू हो गया लेकिन प्रथम महायुद्ध के अन्त तक औद्योगिक विकास में कोई विशेष सफलता नहीं मिली। बोलशेविक सरकार की स्थापना के साथ इस दिशा में द्रुतगति शुरू हुई। अब तक कई पंचवर्षीय योजनाएँ कार्यान्वित हो चुकी हैं और सारे देश में कल-कारखानों की भरमार हो गई है और आवागमन के साधनों का जाल-सा बिछा हुआ है। अब रूस विश्व का एक प्रमुख व्यावसायिक केन्द्र बन गया है और अमेरिका की बराबरी करने लगा है।

संयुक्त राष्ट्र अमेरिका—१७८३ ई० तक तो संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का कोई अस्तित्व ही नहीं था। वह इंगलैण्ड की दासता में जकड़ा हुआ था जो उसका भरपूर शोषण कर रहा था। उसका कच्चा माल इंगलैण्ड में जाता था और वह अंग्रेजी माल खरीदने के लिये बाध्य था। १७८३ ई० में स्वतन्त्रता प्राप्त हुई और संयुक्त राष्ट्र का जन्म हुआ। तत्पश्चात् इसकी उन्नति दिन-दूनी रात-चौगुनी होने लगी। पहले कृषि के क्षेत्र में बड़ी उन्नति हुई और उत्पादन में वृद्धि हुई। किन्तु संयुक्त राष्ट्र का औद्योगिक विकास होना तो स्वाभाविक और अनिवार्य था। पूँजी तथा श्रम की वहाँ बहुलता है। जनसंख्या की उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही है। सब तरह के कच्चे मालों की अधिकता है। खनिज पदार्थों का भी अभाव नहीं है। अनेक नदियाँ और झीलें हैं।

क्षेत्रफल भी बहुत अधिक है। सभी तरह के साधनों से अमेरिका परिपूर्ण है। पहले यूरोपियन लोग अमेरिका में भी हस्तक्षेप करते थे और कहीं-कहीं अपना आधिपत्य भी जमाने के फेर में थे। किन्तु १८२३ ई० में प्रेसिडेंट मुनरो ने 'अमेरिका-अमेरिका वासियों के लिए' का सिद्धान्त प्रकाशित किया और अमेरिका का द्वार विदेशियों के लिए बन्द हो गया। पनामा नहर के निर्माण से पूर्वी और पश्चिमी तट तथा उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका एक दूसरे से सम्बन्धित हो गए हैं। इन सभी विभिन्न कारणों से १९-वीं सदी में अमेरिका का औद्योगिक विकास बड़ी द्रुतगति से हुआ। २०वीं शताब्दी में भी उसकी प्रगति जारी रही है। आज अमेरिका समस्त विश्व में सर्वसम्पन्न देश है और वहाँ की बनी हुई चीजें सर्वत्र देखने को मिलती हैं। वह विश्व में प्रथम कोटि का शक्तिशाली राष्ट्र बन गया।

जापान—प्रथम महायुद्ध के अन्त तक एशिया के देशों में औद्योगिक क्रान्ति का विकास नहीं हुआ था। इसका कारण था कि सारे एशिया पर पाश्चात्य साम्राज्यवाद का जाल-सा बिछा हुआ था। विदेशियों के द्वारा इन देशों का शोषण हो रहा था। १९२० ई० के बाद एशियाई देशों में जागरण हुआ और अपनी स्वतन्त्रता के लिए ये सचेष्ट हो उठे। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद प्रत्येक देश अपना-अपना आर्थिक विकास करने की कोशिश कर रहा है।

किन्तु एशिया में जापान अपवादस्वरूप है। १८५३ ई० के बाद यहाँ पाश्चात्य सभ्यता का प्रचार हुआ और जापान ने अपनी परम्परा के साथ उसका मेल कर लिया। उसने पश्चिमी सभ्यता के आवश्यक तत्वों को शीघ्रता से ग्रहण कर लिया। १८६७ ई० में जापान में क्रान्ति हुई और सुदृढ़ केन्द्रीय शासन स्थापित हुआ। इसके बाद जापान की उन्नति तीव्र गति से शुरू हुई। शिक्षा का प्रचार हुआ, शिक्षाप्रणाली में व्यवसाय के विकास पर विशेष ध्यान दिया गया। होनहार जापानी विद्यार्थियों को उच्च शिक्षा पाने के लिए विदेशों में भेजा जाने लगा। सरकार ने देश के औद्योगीकरण में बड़ी तत्परता दिखलाई। इसने व्यवसायियों और विद्यार्थियों को आर्थिक सहायता प्रदान की। जापान में औद्योगिक विकास के लिए कुछ अन्य बातों की भी सुविधा है। यहाँ लोहे तथा कोयले की खानें पाई जाती हैं। पर्वतों की अधिकता है जहाँ से नदियाँ निकल कर तीव्र गति से प्रवाहित होती हैं। इन नदियों से बिजली आसानी से उत्पन्न होती है। अतः वहाँ बिजली सस्ती है और कल-कारखानों में इसका उपयोग पर्याप्त मात्रा में होता है। जापान में बड़े-बड़े जङ्गलों की भी अधिकता है जिनमें उपयोगी लकड़ियाँ मिलती हैं। शहतूत के वृक्षों पर रेशम के कीड़े पाले जाते हैं। इन सभी कारणों से जापान का औद्योगीकरण शीघ्रतापूर्वक हो गया। देश में कल-कारखानों की भरमार हो गई और यातायात के साधनों में उन्नति हुई। बड़े-बड़े

ही मध्य तथा वर्तमान युगों को स्पष्ट रूप से बाँटा जा सकता है। मध्यकालीन युग में जो अमीर और धनी समझे जाते थे उन्हें भी भोग-विलास के सामानों का सर्वथा अभाव था। बहुत कम घर में दो से अधिक बिछौने पाये जाते थे। "दो सदी पूर्व हजार में एक भी व्यक्ति मोजा नहीं पहनता था। एक सदी पूर्व ५०० में एक व्यक्ति उसका उपयोग नहीं करता था। किन्तु अब हजार में से एक भी व्यक्ति बिना मोजा का नहीं मिलेगा।"[१] अब निश्चित रूप से समाज भौतिकवादी बन गया। अधिकाधिक सुख की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट होने लगा। रईस एवं भद्र मनुष्यों की संख्या बढ़ने लगी।

९. मजदूरों को लाभ—पहले की अपेक्षा उन्नत अवस्था हो जाने से मजदूरों की संख्या में वृद्धि हो गई और उनकी शक्ति का विशेष उपयोग होने लगा। उन्हें नयन समय पर कार्य मिलने लगा तथा उनकी मजदूरी भी बढ़ चली। उनका मानसिक विकास भी होने लगा। काम करने की नई-नई विधियों की खोज होने लगी। वे आपस में मिलने-जुलने लगे। सर्वव्यापक समस्याओं को सुलझाने के लिये पारस्परिक विचार-विनिमय होने लगा। अतः उनमें संगठन की शक्ति विकसित होने लगी। वे आगे चलकर व्यवसाय संघ जैसी अपनी संस्था कायम करने लगे और अपनी असुविधाओं को दूर करने के लिये संगठित रूप से माँग करने लगे। कालान्तर में श्रमदल का संगठन होने लगा और श्रम-सरकार की भी स्थापना होने लगी। इंगलैण्ड में १९२४ और १९२९ ई० में अन्य दल के सहयोग से श्रम-सरकार बनी थी किन्तु १९४५ ई० में श्रमिकों ने अपने बहुमत के बल पर अपनी सरकार संगठित की थी।

१०. समाज-सुधार—अनेक बुराइयों को दूर करने के लिये समाज-सुधार की ओर भी लोगों की भावना जागृत हुई। इसके लिये शिक्षा का प्रचार करना आवश्यक समझा गया। अतः मानव-मनोवृत्ति में परिवर्तन होने लगा। विषमताओं को दूर करने का प्रयत्न होने लगा। स्त्रियों, बच्चों, मजदूरों आदि के साथ शनैः-शनैः उचित व्यवहार होने लगा। १९वीं और २०वीं सदी में सुधारों का ताँता लग गया।

हानियाँ—नयी प्रणाली ने लाभों के अतिरिक्त कितने ही दोषों को जन्म दिया।

१. गृह-व्यवसाय-प्रणाली का अन्त—अब तक गृह-व्यवसाय-प्रणाली का प्रचार था। लोग अपने घर के अन्दर ही अपने बाल-बच्चों तथा स्त्रियों के साथ साधारण पैमाने पर माल का उत्पादन कर लिया करते थे। किन्तु कल-कारखानों के हो जाने से विशाल पूँजी तथा बड़े-बड़े घरों की आवश्यकता आ पड़ी। यह नयी स्थिति साधारण व्यक्ति के लिए अनुकूल न रही। इसके सिवा कारखाने के जरिये कम समय में अधिक

---

१ इकोनोमिक डेवलपमेंट ऑफ इंगलैण्ड—आर० एन० दूबे

माल का उत्पादन होने लगा। वे चीजें अधिक सस्ती होती थीं। अतः प्राचीन परिपाटी के लोगों के लिए इसकी प्रतियोगिता करना भी सम्भव न रहा। अतः अब फैक्टरी-प्रणाली के उदय के साथ गृह-व्यवसाय का अन्त हो गया।

२. **बेकारी की समस्या**—गृह-व्यवसाय के मारे जाने से कितने लोग बेकार हो गये। कल-कारखानों में भी सभी मजदूरों के लिये स्थान मिलना कठिन था। जो काम अधिक समय में हजारों मनुष्य अपने हाथ से करते थे, अब वह कल के जरिये थोड़े व्यक्ति थोड़े समय में करने लगे। इसके सिवा कल-कारखानों में तो कुशल मजदूर ही अधिकतर लिये जाते थे और सभी मजदूर एक समान कुशल नहीं थे। अतः अब हजारों व्यक्ति बेकार होकर मारे-मारे फिरने लगे।

३. **चीजों की अच्छाई में कमी**—पूँजीपतियों को अपने मुनाफे की ही विशेष चिन्ता रहती थी। अतः मालों के अधिक उत्पादन में ही उनका स्वार्थ था। इससे मालों की मात्रा पर जितना ध्यान दिया जाता था उतना उनकी अच्छाई पर नहीं।

४. **मजदूरों की दासता**—मजदूरों की दशा में जितना सुधार नहीं हुआ उससे कहीं अधिक उनकी हालत खराब हो उठी। मजदूरों की स्वतंत्रता जाती रही। कल-कारखानों के मालिक तो बड़े-बड़े पूँजीपति ही होते थे और वे सैकड़ों, हजारों तथा लाखों की संख्या में मजदूरों को काम करने के लिए भर्ती करते थे। अतः दो प्रकार से उनकी स्वतंत्रता छीनी गई। वे मिल-मालिकों और कलों दोनों के दास बन गए।

५. **मिलों में स्त्रियों तथा बच्चों की नियुक्ति**—मजदूरों के दुःख की कोई सीमा नहीं थी। मिल मालिकों को उनकी भलाई की कुछ चिन्ता नहीं थी। वे तो अपने स्वार्थ के वशीभूत ही अन्धे हो गये थे। मिलों में हजारों की संख्या में स्त्रियों और बच्चों की नियुक्ति की जाती थी। इन्हें पुरुषों की अपेक्षा मजदूरी कम देनी पड़ती थी और इन पर नियंत्रण रखना आसान था। बच्चे कोमल शरीर के होते थे। अतः उनमें विशेष स्फूर्ति रहती थी और वे बड़ी तेजी के साथ चिमनियों को साफ किया करते थे। भूख और गरीबी से पीड़ित स्त्रियों और बच्चों के लिए दूसरा कोई चारा भी नहीं था। वे कारखानों में काम करने के लिए विवश थे।

नींद का आक्रमण होता तो उन पर कोड़े पड़ते और उन्हें गालियाँ दी जातीं। लम्बे घण्टों तक काम कराने की परिपाटी तो थी ही, किन्तु खपत की अपेक्षा उत्पादन अधिक हो जाने पर मजदूरों को अचानक हटा भी दिया जाता था। फिर भी वे संघ नहीं बना सकते थे; क्योंकि कानून उसके विरुद्ध था।

७. पारिवारिक जीवन की उपेक्षा—अब पारिवारिक जीवन की महत्ता जाती रही। घर प्रायः वीरान रहने लगा। वह केवल भोजन और शयन-गृह रह गया। स्त्री, पुरुष और बच्चों को आपस में मिलने-जुलने का अवकाश न रहा। पारस्परिक प्रेम का अभाव हो गया। माता-पिता के प्रति बच्चों का कर्त्तव्य एवं प्रेम-भावना क्षीण पड़ने लगी।

८. अस्वस्थ और संकटपूर्ण स्थिति—मजदूरों के दुखों का अभी यहीं अन्त नहीं होता। उनकी दशा तो बड़ी दयनीय थी। उनका रहन-सहन, खान-पान भी बुरा था। कारखाने का स्थान बड़ा गन्दा रहता था, जहाँ शुद्ध वायु और प्रकाश का अभाव रहता था। भयानक मशीनों से रक्षा के लिये कोई प्रबन्ध नहीं था। खानों के घोर अँधेरे में भी लगातार कई घंटों तक काम करना पड़ता था।

मजदूरों का निवास-स्थान बहुत ही गन्दा रहता था। उनके कमरे संकीर्ण होते थे जिसमें मर्द, औरत और बच्चे एक ही साथ रहते थे। पारस्परिक दुर्गुणों का विनिमय होने लगा। शराबखोरी तो एक साधारण बात हो गयी थी और चरित्रहीनता में वृद्धि होने लगी थी। इन सब का परिणाम हुआ अंग्रेजों का शारीरिक तथा नैतिक पतन तथा भावी सन्तान की शक्ति का ह्रास।

ऊपर औद्योगिक क्रान्ति के जिन लाभों तथा हानियों की चर्चा की गई है वे केवल इंगलैण्ड में ही नहीं वरन् सभी जगह न्यूनाधिक मात्रा में दृष्टिगोचर हुए।

९. सभ्यता पर संकट—औद्योगिक क्रान्ति ने मानव के आन्तरिक, शत्रुओं को भी बढ़ावा दिया। सर्वत्र छीना-झपटी, लूट-मार, शंका-भय का वातावरण है। इस क्रान्ति के कारण मानव अणु-युग में पहुँच गया है। इस युग में क्या-क्या होगा—कहना कठिन है। मानव के सामने सुख के अनेक उपकरण हैं तो दुःख के साधनों में भी कोई कमी नहीं है। अब जीने और मरने दोनों के लिये पर्याप्त सुविधाएँ हैं। ऐसी शंका उत्पन्न होने लगी है कि कहीं किसी दिन हमारी सारी सभ्यता ही नष्ट न हो जाय।

राजनीतिक प्रणाली पर क्रान्ति का प्रभाव

१. शासन की सुविधा—मार्गों की सुविधा होने के कारण शासक वर्ग को शासन में भी बहुत सुविधाएँ मिल गई थीं। रोमन साम्राज्य के शासकों ने शासन-

६. वर्ग-संघर्ष—पूँजीवाद के विकास के साथ-साथ वर्ग-संघर्ष का भी उदय हुआ। पूँजीपतियों में सहानुभूति की मात्रा कम या नहीं के बराबर होती है और वे मुनाफे के लिए विशेष चिन्तित रहते हैं। उत्पादन के सारे साधनों—जमीन, फैक्टरी, कच्चा तथा पक्का माल आदि—पर उन्हीं का एकमात्र अधिकार रहता है। मजदूर केवल अपनी निश्चित मजदूरी के भागी होते हैं। अतः व्यवसाय का लाभ पूँजीपतियों की जेब में जाता है और इससे राष्ट्र का कुछ भी हित नहीं होता। इसके फलस्वरूप पूँजीपतियों के धन में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है और दूसरी ओर श्रमजीवियों को भर-पेट भोजन मिलने का भी ठिकाना नहीं। इस तरह देश के अन्दर पूँजीपतियों तथा श्रमजीवियों के बीच की खाई गहरी होती जाती है और दोनों में वर्ग-संघर्ष बढ़ता जाता है।

७. समाजवाद का विकास—मजदूरों के कष्टमय जीवन में सुधार लाने के लिए अनेक प्रयत्न होने लगे। व्यवसाय संघ (ट्रेड यूनियन) ऐसी ही एक संस्था थी। किन्तु इंगलैंड में १८७१ ई० तक इसकी कोई वैध स्थिति न थी। उसी साल सरकार ने इसे स्वीकृति दी और इसके बाद यह तत्परता से काम करने लगा। अन्य देशों में भी इसका अनुकरण हुआ। किन्तु व्यवसाय-संघ मजदूरों के हितों की रक्षा का साधन मात्र था। क्रान्ति ने एक नए सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जो समाजवाद (सोशलिज्म) कहलाता है। कुछ उदारवादी विचार के उद्योगपति इस सिद्धान्त के समर्थक थे जिनमें रॉबर्ट ओवेन का नाम विशेष प्रसिद्ध है। वह स्कॉटलैंड के एक कारखाने का स्वामी था और उसमें उसने मजदूरों के लिए अनेक सुधार किया। सिद्धांत के प्रतिपादकों में सेन्ट साइमन और लुई ब्लैंक का नाम सर्वप्रथम आता है। पर पूँजीपतियों ने इसका विरोध किया और जबर्दस्त रूप से। किन्तु इस विरोध का फल हुआ कि समाजवाद के सिद्धान्त ने और भी उग्र रूप धारण किया। जर्मनी का निवासी कार्ल मार्क्स इस उग्र समाजवाद का प्रवर्तक था। आगे चलकर यही सिद्धान्त (कम्यूनिज्म) भी कहलाया। आज की राजनीति में समाजवाद या साम्यवाद का प्रमुख स्थान है यहाँ तक कि कई यूरोपीय एवं एशियाई देशों में शासन ही इसी पर आधारित है। अतः हम समाजवाद की रूपरेखा एवं इसके विस्तार पर कुछ प्रकाश डालेंगे।

समाजवाद और इसका प्रसार

१८४८ ई० और १८७१ ई० में फ्रांस में भी समाजवादियों ने अपना आधिपत्य स्थापित करना चाहा, किन्तु वे सफल नहीं हुए। १८७१ ई० में वहाँ प्रजातन्त्र स्थापित हुआ और वैधानिक तरीकों से मजदूरों की दशा में सुधार होता रहा। जर्मनी में भी १९ वीं सदी के उत्तरार्द्ध में समाजवादियों ने उपद्रव मचाना शुरू किया। बिस्मार्क ने उन्हें दबाने की कोशिश की किन्तु उसने समाजवादी नीति के आधार पर कुछ सुधार भी किया। अतः यहाँ भी समाजवादी क्रान्ति नहीं हो सकी। इंगलैंड में भी ऐसी क्रान्ति सफल नहीं हुई और वैधानिक साधनों के द्वारा ही मजदूरों की दशा में सुधार होता रहा। उन्हें मताधिकार दिया गया है और अन्य कितनी सुविधाएँ दी गई हैं। २० वीं शताब्दी में मजदूर-पार्टी उन्नति करने लगी और प्रथम महायुद्ध के बाद १९२३-१९५१ ई० के बीच इसने ४ बार अपनी सरकार भी बनायी है।

२० वीं शताब्दी में प्रथम महायुद्ध के बाद एशिया में भी समाजवाद का प्रचार होने लगा है। प्रायः सभी प्रमुख देशों में समाजवादी तथा कम्युनिस्ट पार्टियाँ कायम हुई हैं और वे इस क्षेत्र में सतत प्रयत्नशील हैं। १९४९ ई० में चीन में उन्हें अद्भुत सफलता मिली और वहाँ कम्युनिस्टों ने अपनी सरकार स्थापित कर ली है। विश्व में रूस के बाद यह दूसरा विशाल समाजवादी देश है।

आधुनिक काल में अमेरिका पूँजीवाद का विशाल स्तम्भ है, किन्तु वहाँ समाजवाद को सफलता नहीं मिल सकी। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। शोषण, अपहरण और अन्याय के ही भीषण तथा भयंकर वातावरण में समाजवाद फूलता-फलता है। अमेरिका के मजदूर सुखमय जीवन व्यतीत करते हैं। उनका जीवन-स्तर अन्य देशों के मजदूरों की अपेक्षा अधिक ऊँचा है।

२. उपनिवेशों का क्रमिक विकास तथा उनके द्वारा स्वतन्त्रता का स्वाद—यह स्पष्ट है कि एक नवयुवक की अपेक्षा एक लड़के को नियन्त्रण में रखना अधिक आसान है। ऐसे ही ब्रिटेन ने उपनिवेशों को प्रारम्भिक अवस्था में अपने नियन्त्रण
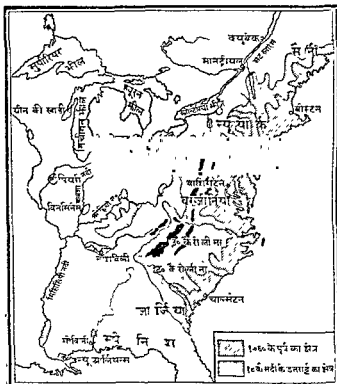
चित्र ११—अमेरिकी उपनिवेश

में रखा, परन्तु अब वे पूर्ण विकसित हो गए और अब उन्हें नियन्त्रण में रखना आसान नहीं रहा। अतः अब ब्रिटेन की नीति में परिवर्तन की आवश्यकता थी। पहले की उपयुक्त नीति अब अनुपयुक्त हो गई।

इसके अतिरिक्त विश्व के सभी उपनिवेशों की अपेक्षा अमेरिकन उपनिवेश अधिक स्वतन्त्र थे। राजनीतिक क्षेत्र में बहुत से उपनिवेशों में स्वायत्त शासन स्थापित था। गवर्नर की नियुक्ति तो सम्राट् करता था, परन्तु धारा-सभा के सदस्यों का निर्वाचन जनता करती थी और व्यवस्थापन तथा अर्थ के ऊपर इसी धारा-सभा का अधिकार

५. असन्तोषजनक शासन-प्रणाली—उपनिवेशों में शासन-प्रणाली बड़ी ही असन्तोषजनक थी। कार्यकारिणी और व्यवस्थापिका सभा में निरन्तर संघर्ष होता रहता था। गवर्नर और उसकी कौंसिल के सदस्य सम्राट् के द्वारा मनोनीत होते थे और वे सम्राट् के प्रति ही उत्तरदायी थे। परन्तु व्यवस्थापिका सभा के सदस्य जनता के द्वारा निर्वाचित होते थे और वे जनता के प्रति ही उत्तरदायी थे। गवर्नर को विशेषाधिकार (वीटो) प्राप्त था। वह लोक सभा के कानून को रद्द कर सकता था। जब वह अनुत्तरदायित्वपूर्ण व्यवहार करता तो लोक-सभा भी वैसा ही व्यवहार करती थी। वह गवर्नर के वेतन तथा नियमों को अस्वीकार कर देती थी। उपनिवेश अपनी धारा-सभा को सर्वशक्तिशाली मानता था, किन्तु ब्रिटिश सरकार उसे स्थानीय तथा अधीनस्थ संस्था मानती थी। इस प्रकार की शासन-प्रणाली से अमेरिकन कब सन्तुष्ट रह सकते थे? इसके अतिरिक्त नौकरियाँ देने में भी बड़ा अन्याय एवं पक्षपात होता था। योग्यता के आधार पर नौकरी नहीं मिलती थी। शासन और सेना सभी क्षेत्र में उपनिवेश-वासियों की उपेक्षा की जाती थी और बड़े बड़े लाभदायक पदों पर इंगलैंड वाले ही बहाल होते थे।

६. राजनीतिक दार्शनिकों के सिद्धान्त—लॉक, टामस पेन, माँटेस्क्यू और रूसो जैसे राजनीतिक दार्शनिकों के सिद्धान्तों ने अमेरिकनों की राजनीतिक भावना को जाग्रत किया और उनके असन्तोष में वृद्धि की। पेन की पुस्तक 'सामान्य तर्कबुद्धि' (कॉमन सेन्स) उपयुक्त अवसर पर प्रकाशित हुई और इसने उपनिवेशवासियों के मानस-पटल को बहुत ही प्रभावित किया। इससे उनमें नवीन स्फूर्ति तथा चेतना का संचार हुआ।

७. असन्तोषजनक वाणिज्य-प्रणाली—वाणिज्य-प्रणाली उपनिवेशों के असंतोष का एक प्रधान कारण थी। इसी क्षेत्र में उनकी सबसे बड़ी शिकायत थी। प्रचलित वाणिज्य-सिद्धान्त के अनुसार ग्रेट ब्रिटेन उपनिवेशों के व्यापार पर नियन्त्रण रखता था और उनके बाजारों पर अपना एकाधिकार समझता था। उसकी दृष्टि में उपनिवेश धन के उत्पादन के लिए साधन मात्र थे। कई मालों के बनाने पर उपनिवेशों पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था। वे ऊन बहुत पैदा करते थे किन्तु उससे कोई चीज बना कर वे बाहर नहीं भेज सकते थे। उनके पास लोहे की खानें थीं किन्तु वे लोहे के समान नहीं तैयार कर सकते थे। दूसरे देशों में सीधा व्यापार करने के लिए भी रोक थी। अमेरिका के लिए यूरोप से जो भी माल आते थे वे पहले ग्रेट ब्रिटेन में जाते थे और वहाँ पर चुंगी देने के बाद वे अंग्रेजी या औपनिवेशिक जहाजों पर ही फिर अमेरिका भेजे जाते थे। उपनिवेशों में भी नेविगेशन ऐक्ट लागू था। वे अंग्रेजी या औपनिवेशिक जहाज पर ही माल मँगा या भेज सकते थे। लेकिन जहाज तो इंगलैंड

के ही पास थे, उपनिवेशों के पास बहुत कम या नहीं के बराबर थे। उपनिवेशों के रुई तथा तम्बाकू जैसे कुछ कच्चे माल केवल ग्रेट ब्रिटेन में ही भेजे जा सकते थे। मूल्य भी मनमाने ढंग से ही दिया जाता था। उपनिवेश ऐसी प्रणाली को तोड़ देना चाहते थे। अब इसके दिन लद चुके थे। उपनिवेशों को इससे बहुत नुकसान होता था और इससे उनकी स्वतन्त्र भावना पर आघात पहुँचता था।

इन दूषित नियमों का निर्माण उपनिवेशों की राय से नहीं बल्कि ब्रिटिश पार्लियामेंट की इच्छा से हुआ था। यह पारस्परिक स्वार्थ पर आधारित आधुनिक 'इम्पीरियल प्रेफरेन्स' प्रणाली की जैसी नहीं थी बल्कि यह मनाही तथा आज्ञा पर ही निर्भर थी। इस प्रणाली के लाभ को तो देखकर उपनिवेश खुश होते थे, किन्तु इसके नुकसान से उन्हें बड़ा क्षोभ होता था। वे तब तक इसके विरुद्ध आवाज नहीं उठाते थे जब तक इसके कार्यान्वित करने में ढिलाई होती थी। इसके अलावा इन प्रतिबन्धों के बावजूद भी ये चोरबाजारी कर लिया करते थे जिसकी ब्रिटिश सरकार उपेक्षा कर देती थी। १८वीं शताब्दी में इंगलैंड समय-समय पर युद्ध में फँसता रहा और युद्धकालीन स्थिति में आर्थिक प्रतिबन्धों को कड़ाई से लागू नहीं किया जा सकता था। इंगलैंड की विषम परिस्थिति से उपनिवेशवासी विशेष लाभ उठा लेते थे। इस तरह उपनिवेशों में भी मध्यम वर्ग का प्रादुर्भाव हुआ जिसमें स्वतन्त्रता का पक्ष सबल हुआ।

८. सप्तवर्षीय युद्ध—सप्तवर्षीय युद्ध में फ्रांस की हार हो गई और कनाडा से उसका निष्कासन हो गया। अब उपनिवेशवासियों को ब्रिटेन के विरुद्ध विद्रोह करने का सुअवसर प्राप्त हो गया क्योंकि उत्तर में फ्रांसीसी आक्रमण का भय दूर हो गया। जब तक यह भय बना रहा तब तक उपनिवेशवासी इंगलैंड की सहायता पर निर्भर करते थे। अब भय का अन्त होने के साथ ब्रिटेन पर निर्भरता की आवश्यकता जाती रही। इसके अतिरिक्त सप्तवर्षीय युद्ध के और भी दो प्रभाव पड़े। (क) इस युद्ध में उपनिवेशवासी इंगलैंड के लोगों के साथ मिलकर फ्रांस के विरुद्ध लड़े थे। कुछ अन्य युद्धों में भी उपनिवेशों ने शासक देश की सहायता की थी। इस तरह उपनिवेशवासियों को अपनी शक्ति की जानकारी प्राप्त करने का अवसर मिला। उनमें आत्म-विश्वास संचारित हुआ और शासक-देश से शक्ति की परीक्षा करने के लिये प्रोत्साहन मिला। (ख) युद्धकाल में उपनिवेशवासियों को बहुत लाभ हुए। कुछ उद्योग-धन्धों के विकास के लिये अवसर मिला। मध्यम वर्ग के धन में वृद्धि हुई, किसान अधिक मूल्य पर पैदावार बेचते थे और मजदूरों को पर्याप्त मजदूरी मिलती थी। किन्तु युद्ध का अन्त होते ही ये सभी लोग युद्धकालीन लाभों से वंचित हो गये और अपने संकट को दूर करने का उपाय सोचने लगे।

६. ग्रेनविल के चार आपत्तिजनक कार्य—१७६३ ई० में जार्ज ग्रेनविल ब्रिटेन के प्रधानमंत्री हुए। उनके समय में चार आपत्तिजनक घटनाएँ घटीं :—

(क) कागज-पत्रों के पढ़ने से ग्रेनविल को मालूम हुआ कि अमेरिका से केवल दो हजार पौंड की वार्षिक आमदनी होती है। वह समझता था कि चोरबाजारी के कारण ही ऐसा हुआ है। अतः उसने इसे रोकने का भरपूर प्रयत्न किया। उसने प्रचलित कानूनों को एकत्रित तथा परिवर्तित करने की कोशिश की। नेविगेशन ऐक्ट बड़ी ही कड़ाई से लागू किया गया और चोरबाजारी के मामलों को देखने के लिए 'ऐडमिरल्टी कोर्ट' कायम किया गया। ग्रेनविल के इन कार्यों से उपनिवेशों में बड़ी हलचल पैदा होने लगी। अतः यह कहा जाता है कि 'ग्रेनविल के द्वारा कागज-पत्रों के पढ़े जाने के कारण इंगलैंड ने अमेरिका को खो दिया।"

(ख) फ्रांसीसी पश्चिमी द्वीप समूह में ब्रिटिश पश्चिमी द्वीप समूह से शीरा अधिक सस्ता था। अतः अमेरिका के उपनिवेश फ्रांसीसी पश्चिमी द्वीपसमूह से ही शीरा मँगाते थे। इसे रोकने के लिए १८३३ ई० में एक शीरा कानून (मोलासेज ऐक्ट) पास कर दिया गया। इसके द्वारा विदेशी शीरा के आयात पर बहुत अधिक चुंगी लगा दी गई। ग्रेनविल ने इस चुंगी को बहुत कम कर दिया। लेकिन वह चुंगी के लगाने और इसकी वसूली में बहुत सावधान रहा। ब्रिटेन के आर्थिक संकट का ख्याल करते हुए ग्रेनविल का यह कार्य अनुचित नहीं था, फिर भी उपनिवेशवासी इसे पसन्द नहीं करते थे।

(ग) मिसीसिपी नदी के पूरब में कुछ प्रदेश थे जिन्हें फ्रांस से लिया गया था। इन प्रदेशों पर ब्रिटिश सरकार तथा उपनिवेश अपना-अपना अधिकार समझते थे। ग्रेनविल ने एक घोषणा प्रकाशित की जिसके अनुसार इन प्रदेशों के बड़े-बड़े भाग आदि मूल निवासियों (रेड इन्डियन्स) के लिए सुरक्षित कर दिये गये। इसके अलावा सम्राट् के द्वारा मनोनीत अध्यक्ष के बिना अनुमति के आदिम निवासियों द्वारा भूमिदान की मनाही कर दी गई। गोरों के शोषण से आदिम निवासियों की रक्षा करने के लिए यह पहली चेष्टा थी। परन्तु उपनिवेशवासियों ने इसे अपने विकास की स्वतन्त्रता में बाधक और अपने अधिकारों पर अतिक्रमण समझा। अतः वे ब्रिटिश सरकार के प्रति सशंकित और सतर्क हो गए।

(घ) अमेरिकन उपनिवेशों पर फ्रांसीसियों तथा आदिम निवासियों के आक्रमण की सम्भावना थी। अतः ग्रेनविल के विचारानुसार उनकी रक्षा के लिये एक छोटी स्थायी सेना की जरूरत थी। अतः उसने १० हजार की एक सेना स्थापित करनी चाही जिस पर तीन लाख वार्षिक खर्च होता। ग्रेट-ब्रिटेन इसका सारा खर्च नहीं दे सकता था क्योंकि अँग्रेजों पर राजकर का बोझ बहुत अधिक था। सप्तवर्षीय युद्ध के कारण

ब्रिटेन का राष्ट्रीय कर्ज दूना बढ़ गया था और स्पेन तथा फ्रांस से लड़ाई हो जाने की शंका बनी हुई थी। अतः ग्रेनविल चाहता था कि खर्चे का एक-तिहाई हिस्सा उपनिवेश ही दें।

तात्कालिक कारण

अमेरिकन क्रान्ति का तात्कालिक कारण यहीं से शुरू होता है। प्रस्तावित रकम को प्राप्त करने के लिए ग्रेनविल ने अपनी एक सूझ भी उपस्थित की। वह चाहता था कि एक स्टाम्प ऐक्ट पास कर सभी कानूनी कागजों पर टिकट का व्यवहार अनिवार्य कर दिया जाय। इस प्रकार विचार करने के लिए या अन्य कोई साधन ही खोज निकालने के लिए ग्रेनविल ने उपनिवेशों को एक साल का समय दिया। उसका यह *प्रस्ताव उचित ही था—क्योंकि (क) कर साधारण था, (ख) इनका खर्च इंगलैंड* में न होकर अमेरिका की रक्षा पर ही होता, और (ग) कितने ही लोगों की सम्मति में उपनिवेशों के ऊपर टैक्स लगाने का ब्रिटिश पार्लियामेंट का अधिकार वैध था।

१. स्टाम्प ऐक्ट (१७६५ ई०)—उपनिवेशों ने प्रस्तावित धन को प्राप्त करने का कोई नया साधन नहीं बतलाया, अतः ग्रेनविल ने १७६५ ई० में स्टाम्प ऐक्ट पास कर दिया।

पार्लियामेंट भवन में स्टाम्प ऐक्ट पास करना तो सहज था किन्तु अमेरिका में टैक्स वसूलना कठिन था। उपनिवेशों में बड़ी उत्तेजना फैली। उपनिवेशवासियों की दृष्टि से ब्रिटिश पार्लियामेंट को उन पर आन्तरिक टैक्स लगाने का कोई अधिकार नहीं था। अतः उन्होंने इसका एक स्वर से विरोध किया। इसके कई कारण थे—(क) ब्रिटिश पार्लियामेंट तीन हजार मील की दूरी पर स्थित थी। (ख) इसमें *उनका कोई प्रतिनिधित्व नहीं था। यह अंग्रेजों का परम्परागत सिद्धान्त है कि बिना* प्रतिनिधित्व के कोई टैक्स नहीं लगाया जा सकता। प्रतिनिधित्व के बिना टैक्स लगाने का प्रश्न अत्याचार घोषित किया गया। (ग) उन्हें यह सन्देह हुआ कि शिपमनी की भाँति इसे स्थायी कर बनाने की कोशिश की जा रही है। (घ) उन्हें यह भी भय होने लगा कि यदि वे इस बार इस टैक्स को स्वीकार कर लेंगे तो आगे भी नये टैक्स *लगाने के लिए पार्लियामेंट उत्साहित हो जायगी। और (ङ) इस समय उन पर* कोई बाहरी खतरा भी नहीं था।

जाने लगा। अमेरिका में ब्रिटेन के विरुद्ध मोर्चा तैयार हो गया। १३ में से ६ उपनिवेशों के प्रतिनिधि टैक्स का विरोध करने के लिए न्यूयार्क में जमा हुए। अँग्रेज़ी माल का बहिष्कार करने की बात सोची जाने लगी।

अमेरिकन नीति के सम्बन्ध में ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के बीच मतभेद था। कुछ अमेरिकनों के पक्ष में और कुछ विपक्ष में थे। १७६६ ई० में रॉकिंघम ने स्टाम्प ऐक्ट रद्द कर दिया किन्तु एक दूसरा ऐक्ट यह दिखाने के लिए पास किया गया कि ग्रेट ब्रिटेन को उपनिवेशों पर टैक्स लगाने का वैध अधिकार था।

२. इम्पोर्ट ड्यूटीज़ ऐक्ट (१७६७ ई०)—अब स्थिति में सुधार की आशा हुई, किन्तु शीघ्र ही फिर गड़बड़ी पैदा हो गई। १७६७ ई० में पिट मन्त्रिमण्डल के चांसलर टाउनसेन्ड ने 'अमेरिकन इम्पोर्ट ड्यूटीज़ ऐक्ट' पास कर अमेरिका में शीशा, रंग, कागज़ और चाय के आयात पर चुंगी लगा दी। उसके विचार में बन्दरगाहों पर वसूल होने के कारण ये बाह्य कर थे, अतः इनके विरोध की सम्भावना नहीं थी। इस रकम से वह उपनिवेशों के गवर्नरों तथा दूसरे अफसरों का वेतन देना चाहता था जो अब तक वहाँ की धारा-सभा किया करती थी। इससे औपनिवेशिक गवर्नर धारा-सभाओं के चंगुल से मुक्त हो जाते। उपनिवेशवासियों की दृष्टि में यह औपनिवेशिक स्वराज्य के मौलिक सिद्धान्त पर बहुत बड़ा आघात था। अतः इसका भी घोर विरोध किया गया।

३. चाय पर चुंगी जारी रखने की चेष्टा (१७७० ई०)—१७७० में लार्ड नॉर्थ प्रधान मंत्री हुआ और उसका मन्त्रित्व १२ वर्षों तक कायम रहा। उसने कागज, रंग तथा शीशा पर से चुंगी हटा दी परन्तु ब्रिटेन के टैक्स लगाने के अधिकार को कायम रखने के लिए चाय की चुंगी पूर्ववत जारी रखी। पर यह उसकी बड़ी भूल साबित हुई। उसने यह नहीं समझा कि उपनिवेशवासियों ने टैक्स लगाने के सिद्धान्त का ही विरोध किया था, रकम का नहीं। अतः उनका रोष पूर्ववत् जारी रहा।

४. उत्तरकालीन तीन दुर्घटनाएँ १७७०-७३ ई०—अगले तीन वर्षों में कुछ ऐसी उत्तेजनात्मक घटनाएँ हुई जिनसे दोनों पक्षों के बीच कटुता और भी बढ़ गई :—

(क) बोस्टन शहर के नागरिक ब्रिटिश सैनिकों का अपमान करने लगे। वहाँ १००० ब्रिटिश सैनिक तैनात किये गये थे। एक दल ने कुछ सैनिकों को हो घेर लिया और वह उनके साथ बुरा व्यवहार करने लगा। उनको अपशब्द कहा जाने लगा तथा पत्थर के टुकड़े फेंके जाने लगे। उन पर गोली चलाई गई जिससे कुछ व्यक्ति मर गए। उपनिवेशवासियों ने इसका एक बड़ा खूनी हत्याकाण्ड के नाम से प्रचार कर डाला और उपनिवेशों में तहलका मच गया।

(ख) अमेरिका में चोरबाजारी को रोकने के लिये एक शाही जहाज भेजा गया था। १७७२ ई० में अमेरिकनों ने इसे जला डाला और इसके लिये उपनिवेश मे खुशियाँ मनाई जाने लगीं। परन्तु इंगलैंड मे हलचल मच गई।

(ग) दूसरे साल एक नया चाय-कानून पास किया गया। इसके द्वारा ईस्ट इण्डिया कम्पनी को भारतवर्ष से सीधे अमेरिका चाय भेजने के लिये अनुमति दे दी गई। कम्पनी को आर्थिक लाभ होता और अमेरिका में चाय भी सस्ती हो जाती। परन्तु उपनिवेशियों ने अमेरिकनों को खुश करने के लिये इसे ब्रिटिश सरकार की एक चाल मात्र समझा। अतः विरोधी प्रदर्शन किये जाने लगे और जब बोस्टन के बन्दरगाह में कम्पनी के जहाज पहुँचे तो कुछ लोग वहाँ के मूल-निवासियों के वेश मे जहाजों में घुस गये और चाय के ३४० बक्स समुद्र में फेंक दिये गये। लाखों रुपये की चाय नष्ट हो गयी। यह घटना 'बोस्टन टी पार्टी' के नाम से विख्यात है।

इस दुर्घटना का समाचार पाकर अंग्रेज बड़े ही उत्तेजित हुए। अब उन्हें विश्वास हो गया कि अमेरिकनों ने उनके विरुद्ध विद्रोह कर दिया है। पार्लियामेंट बड़ी ही कड़ाई से काम करने लगी। इसने १७७४ ई० मे 'मेसाचुसेट्स गवर्नमेंट ऐक्ट' पास किया जिसके अनुसार एक तरह से दिया गया चार्टर वापस ले लिया गया। बहुत-से अफसर पदच्युत कर दिये गये और बहुतों की नियुक्ति सरकारी हाथों मे कर दी गई। 'गेज' नाम का एक सैनिक मेसाचुसेट्स का गवर्नर नियुक्त किया गया और उसकी सहायता के लिए पर्याप्त सेना भेजी गई। कोई लोक-सभा करने के लिये गवर्नर की अनुमति आवश्यक कर दी गई। सभी वाणिज्य के लिये बोस्टन का बन्दरगाह बन्द कर दिया गया जिसमें हजारों व्यक्ति बेकार हो गये। उपनिवेश-वासियों के राजनीतिक मुकदमों की जाँच अब ब्रिटेन मे ही होने लगी। इस तरह कुछ व्यक्तियों के दुष्कर्म का फल समूचे प्रान्त को भोगना पड़ा। उसी साल एक 'क्वेबेक ऐक्ट' पास किया गया जिसके द्वारा कनाडा की सीमा ओहियो नदी तक कर दी गई और वहाँ के कैथोलिकों को बहुत कुछ सुविधाएँ दे दी गई। इससे प्यूरिटन लोग और भी रुष्ट हो गए क्योंकि इससे उनके विस्तार में रुकावट पैदा हो गई और कैथोलिक चर्च की प्रधानता स्थापित हो गई।

दमन-नीति का प्रतिकूल फल

ब्रिटिश सरकार की दमन-नीति का फल उसके प्रतिकूल ही हुआ। अपने पारस्परिक अधिकारों की रक्षा करने के लिये जार्जिया के अतिरिक्त सभी उपनिवेशों के प्रतिनिधियों ने सितम्बर १७७४ ई० में फिलाडेल्फिया मे सर्वप्रथम एक सभा की। इस सभा ने अधिकारों का एक घोषणा-पत्र तैयार किया। पार्लियामेंट

के द्वारा पास किये गये १३ कानूनों का अन्त करने के लिए माँग पेश की गई। अंग्रेजी माल का बहिष्कार भी आरम्भ कर दिया गया। फरवरी १७७५ ई० में नॉर्थ ने समझौता करने की चेष्टा की। उसने एक घोषणा की जो उपनिवेश साम्राज्य के खर्च में स्वेच्छा से हाथ बटायेंगे वे सभी राष्ट्रीय टैक्सों से मुक्त कर दिये जायेंगे। परन्तु यह रियायत बहुत मामूली थी और बहुत बाद में दी गई। होनहार होकर ही रहा। ब्रिटिश सरकार ने मैसाचुसेट्स की धारा-सभा भंग कर देने की आज्ञा दी, किन्तु आज्ञा की उपेक्षा कर दी गई और लड़ने की तैयारी होने लगी। अप्रैल १७७५ ई० में ग्रेट-ब्रिटेन और अमेरिका के बीच युद्ध का श्रीगणेश हो गया।

युद्ध और स्वतन्त्रता-प्राप्ति

४ जुलाई १७७६ ई० को अमेरिकी कांग्रेस की बैठक हुई जिसमें सभी उपनिवेशों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे। जार्ज वाशिंगटन उनका प्रधान नेता था। इसने अमेरिकी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी, जिसमें ये बातें प्रमुख थीं : (क) सभी मनुष्यों को स्वतन्त्रता-प्राप्ति का जन्मसिद्ध अधिकार है; (ख) सरकार की शक्ति का स्रोत लोकमत है; और (ग) किसी भी देश की जनता को यह अधिकार है कि लोकमत विरोधी सरकार को वह बदल दे। युद्ध चलता रहा। दूसरे साल अंग्रेजी सेना ने साराटोगा में आत्म-समर्पण कर दिया। अब फ्रांस उपनिवेशों की ओर से युद्ध में कूद पड़ा। स्पेन तथा हालैंड ने भी फ्रांस का अनुसरण किया। १७८१ ई० में अंग्रेजी सेना ने लार्ड कार्नवालिस के नेतृत्व में यार्कटाउन में द्वितीय बार आत्म-समर्पण किया। अब युद्ध समाप्ति के निकट आ गया। १७८३ ई० में वर्सेल्स की सन्धि के द्वारा युद्ध का अन्त हो गया।

चित्र १२—जार्ज वाशिंगटन

इंगलैंड ने अमेरिकी उपनिवेशों की स्वतन्त्रता स्वीकार कर ली। इस तरह संयुक्त राज्य अमेरिका की नींव खड़ी हुई, किन्तु १७८३ ई० में उपनिवेशों की स्थिति दुर्बल थी और उनके सामने अनेक समस्याएँ उपस्थित हो गई थीं। इन समस्याओं का

समाधान करने के लिये सभी उपनिवेशों के प्रतिनिधि १७८७ ई० में फिलाडेल्फिया में एकत्र हुए। वाशिंगटन के सभापतित्व में कार्यारम्भ हुआ। दो वर्षों में एक संघ-विधान का निर्माण हुआ। इसमें केन्द्रीय और स्थानीय सरकारों के मध्य शक्ति का विभाजन किया गया। केन्द्रीय विधान में तीन प्रधान अंग थे—प्रेसिडेण्ट जो शासन का सर्वोच्च अधिकारी था; कांग्रेस जो दो भवनों में स्थित कानून निर्मात्री सभा थी और सर्वोच्च न्यायालय। सर्वप्रथम जार्ज वाशिंगटन ने प्रेसिडेण्ट के पद को गौरवान्वित किया। स्थानीय सरकार भी केन्द्रीय सरकार के समान ही संगठित थी और अपने अधिकारों की रक्षा के लिए इसे अधिकार प्राप्त था।

अमेरिकी संग्राम में अंग्रेजों की विफलता के कारण

अमेरिकन संग्राम में अंग्रेजों को कई असुविधाएँ थीं। प्रारम्भ में उन्हें कई सुविधाएँ दीख पड़ती थीं और कोई भी ब्रिटेन की हार के विषय में नहीं सोच सकता था। उपनिवेश ब्रिटेन के सामने तुच्छ मालूम पड़ते थे। उनके पास जल-सेना का अभाव था। उनकी आय के साधन मामूली और सीमित थे। बहुत से उपनिवेश-वासी या तो ब्रिटेन के प्रति राजभक्ति रखते थे या घटनाओं के प्रति अन्यमनस्क थे। औपनिवेशिक सैनिक अपने घर से दूर नहीं जाना चाहते थे। वे अस्थायी समय के लिये ही भर्ती होते थे और संकट के समय भी युद्धक्षेत्र से चले जा सकते थे। वे किसी के अधीन और खासकर दूसरे उपनिवेश के सेनापति के अधीन रहना नहीं चाहते थे। सेना को सामान देने वाले ठीकेदार झूठे तथा बेईमान होते थे और सेनापतियों की व्यवस्था करने वाली कांग्रेस स्वयं अयोग्य तथा बकवादी थी। इन सभी असुविधाओं के बावजूद भी उपनिवेशों की ही सफलता हुई और अंग्रेजों की पराजय हो गई। इसके कई कारण थे—

१. **दूरी तथा जंगल**—ब्रिटेन को अपने घर से ३००० मील की दूरी पर अमेरिका में लड़ना पड़ता था। अमेरिका के अन्दर ही १००० मील जंगल फैला हुआ था। अतः एक जगह से दूसरी जगह आवश्यकता के समय युद्ध की सामग्रियाँ तथा सूचनाएँ भेजने में बड़ी कठिनाई होती थी और वे नहीं पहुँच सकती थीं।

२. **जातीय समानता**—अमेरिका में ऐंग्लो सैक्सन जाति की ही दो प्रधान शाखाओं के बीच युद्ध हो रहा था। दूसरे शब्दों में यह युद्ध माँ और उसकी युवती पुत्रियों के बीच था। माँ ने अपनी लड़कियों को आर्थिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में पहले ही बहुत कुछ स्वतन्त्रता दे रखी थी। इस प्रकार अमेरिकन अंग्रेज थे और अंग्रेज होने के कारण ही उन्होंने अंग्रेजी इतिहास के आधार पर ही अपनी स्वतन्त्रता कायम की। किसी दूसरी जाति के उपनिवेश-वासी के लिए ऐसा कर सकना शायद सम्भव न होता।

३. उपनिवेश-वासियों की एकता—उपनिवेश-वासी अपने घर में और घर के निकट लड़ रहे थे, अपने घर-बार तथा जीवन की सुरक्षा के लिए लड़ रहे थे। वे ब्रिटेन के अन्याय तथा अत्याचार का विरोध कर रहे थे। अतः उनमें नैतिक शक्ति का विशेष रूप से सचार हुआ था। घर के निकट होने के कारण कहीं और कभी भी सहायता पहुँचाना उनके लिए आसान था। वे सभी मार्गों तथा स्थानीय स्थितियों से पूर्ण परिचित थे।

४. उपनिवेशों की शक्ति की उपेक्षा तथा समझौता के लिए प्रयत्न—ब्रिटेन ने उपनिवेशों की शक्ति की उपेक्षा की। वह उन्हें तुच्छ दृष्टि से देखता था और अपनी शक्ति में बहुत अधिक विश्वास करता था। एक युद्ध-कुशल कर्मचारी ने तो यहाँ तक कहा था कि अमेरिका-विजय के लिए चार रेजिमेंट ही पर्याप्त हैं। अतः उसने अपनी पूरी तैयारी नहीं की और उपनिवेशों की शक्ति का ठीक अनुमान नहीं कर सका। साथ ही वह बराबर समझौता कर लेने की आशा भी करता रहा। साराटोग के प्रथम आत्म-समर्पण तक यही हालत रही। ब्रिटेन भूल गया था कि 'शान्ति के सिद्धान्तों पर युद्ध करना असम्भव होता है।' यदि सेनाध्यक्ष योग्य थे तो सैनिकों तथा सामानों के अभाव से उन्हें बहुत-सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। उनकी सेना में भाड़े के बहुत से सैनिक शामिल थे जिनमें देशभक्त सैनिकों का उत्साह नहीं पाया जाता था।

५. जार्ज तृतीय और लार्ड नॉर्थ की अयोग्यता—जार्ज तृतीय और उसके मंत्री लार्ड नॉर्थ ब्रिटेन की हार के लिए विशेष रूप से उत्तरदायी थे। दोनों ही अयोग्य व्यक्ति थे। किसी देश के शासन का प्रधान उद्देश्य वहाँ की जनता का हित होना चाहिए और उस शासन की स्थिरता इसी पर निर्भर करती है कि जनता का उसमें किस हद तक विश्वास है। जार्ज की सरकार इस उद्देश्य से बहुत दूर थी। वह ब्रिटेन के व्यापार तथा उद्योग-धन्धों की उन्नति के लिए उपनिवेशों का शोषण करना चाहती थी। यह नीति मूर्खतापूर्ण और असामयिक थी। ऐसी नीति से शासित वर्ग की सहानुभूति नहीं प्राप्त हो सकती थी। इसके सिवा दोनों में ही स्थिति की गम्भीरता और दूसरों की योग्यता परखने की शक्ति नहीं थी।

ब्रिटिश सरकार उचित समय में योग्य सेनाध्यक्षों की नियुक्ति नहीं कर सकती थी। इस बार बड़े पिट जैसा अंग्रेजी सेना का कोई नायक नहीं था। लार्ड जार्ज सैकविल युद्ध-सचिव था जो सर्वथा अयोग्य था। बड़े पिट की तुलना में उसकी कोई गणना ही नहीं थी। उसने एक बार तो मिण्डेन पर चढ़ाई करने से मुँह ही मोड़ लिया था। सर विलियम तो एक सेनापति था जो साधारण शक्ति और सुस्त प्रकृति का था। कई बार सुअवसर उसके हाथ से निकल गया। यॉर्क और फिलाडेल्फिया में उसने

"अमेरिका के विरोध से मैं खुश हूँ। अन्याय तथा अत्याचार के कारण अमेरिकन पागल हो गए हैं। क्या आप लोग इस पागलपन के लिए उन्हें सज़ा देंगे, जिसका बीजारोपण आप ही लोगों ने किया है?"

इस प्रकार अधिकतर देशवासी भी युद्ध को अनुचित तथा अन्यायपूर्ण समझने लगे थे। सेना में भरती होने के लिए लोगों में उत्साह का अभाव दिखाई पड़ता था।

७ ब्रिटिश-शक्ति का विभाजन—इस तरह ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के बीच मतभेद तो था ही, ब्रिटिश सरकार की शक्ति तथा ध्यान भी विभाजित थे। घरेलू झंझटों के कारण बाहर भी कई समस्याएँ उत्पन्न हो गईं। हिन्दुस्तान में फ्रांसीसी तथा मराठों की सहायता पाकर मैसूर का हैदर अली अँग्रेज़ों के विरुद्ध विद्रोह करने की तैयारी कर रहा था। आयरिश भी अँग्रेज़ों को अपने देश से भगाने के लिए बराबर ही मुअवसर की ताक में रहते थे।

यूरोप का बर्ताव ब्रिटेन के साथ अच्छा नहीं था। फ्रांस के सिवा स्पेन तथा हालैंड भी उसके दुश्मन थे। फ्रांस तथा स्पेन के सम्मिलित आक्रमण का ब्रिटेन को भय था। अतः वह अपनी सीमाओं की रक्षा करने के लिए भी चिन्तित था। यूरोप के दूसरे राज्यों की सहानुभूति भी उसे प्राप्त न थी।

८. मित्रों का अभाव—सप्तवर्षीय युद्ध में विजय के फलस्वरूप ब्रिटेन की औपनिवेशिक, सामुद्रिक तथा व्यापारिक शक्ति सुदृढ़ हो गई तथा वह विश्व में सबसे बड़ा और शक्तिशाली राज्य बन गया। इस कारण दूसरे राज्य उससे ईर्ष्या और द्वेष करने लगे। अतः अमेरिकन संग्राम के समय किसी दूसरे राज्य ने उसका साथ नहीं दिया।

९. फ्रांस के द्वारा उपनिवेशों की सहायता—उपनिवेशों की सफलता के लिए फ्रांसीसियों को भी श्रेय है। ब्रिटेन प्रधानतः सामुद्रिक शक्ति था और जल-सेना पर ही उसकी सफलता निर्भर करती थी। उपनिवेशों के पास जहाज़ों और जल-सेना का अभाव था। लेकिन फ्रांस ने इस अभाव की पूर्ति कर दी। कुछ समय के लिए फ्रांसीसियों ने अँग्रेज़ों के सामुद्रिक आधिपत्य का अन्त कर दिया था। सप्तवर्षीय युद्ध के बाद से अँग्रेज़ों के जंगी बेड़ों में कमी हो गई थी। जो थे वे भी चारों ओर तितर-बितर और दूरवर्ती भू-भागों पर अधिकार जमाये हुए थे। अतः वे शत्रुओं के बन्दरगाहों को घेरा में रखने के लिए असमर्थ थे। लेकिन फ्रांसीसी जंगी बेड़ों में वृद्धि हो गई थी। अब दोनों के बेड़ों की संख्या लगभग बराबर हो गई थी। शिक्षण की दृष्टि से भी दोनों की जल-सेना में विशेष अन्तर नहीं रह गया था। फ्रांसीसियों की पुरानी युद्ध-नीति बदल गई थी। उनकी नयी युद्ध-प्रणाली यद्यपि भयानक थी फिर भी बड़ी

सफलता भी मिली थी। अमेरिका के निकल जाने पर पुनः स्थिति बदल गई। ह्विग राजकीय प्रभाव को कम करने के लिए प्रयत्नशील हो गए। वैधानिक सुधार के लिए जोरों से माँग होने लगी। राजा की शक्ति कम करने के लिए लोक सभा में १७८० ई० में एक प्रस्ताव पास हुआ। आर्थिक तथा पार्लियामेंटरी दोनों प्रकार के सुधारों के लिए आन्दोलन होने लगा। अब पुनः कैबिनेट की प्रगति प्रारम्भ हुई और छोटे पिट के लिए रास्ता सुगम हो गया जिसने प्रधान मन्त्री की प्रमुखता स्थापित कर कैबिनेट प्रणाली को सुदृढ़ बना दिया।

(ट) व्यापारिक अवनति—अमेरिकन उपनिवेशों के स्वतन्त्र हो जाने से ब्रिटेन के व्यापार तथा वाणिज्य में कमी हो गई। लेकिन भारत पर ब्रिटिश आधिपत्य बढ़ाया जाने लगा और इसी से अंग्रेजों को बहुत कुछ सान्त्वना मिली।

(च) युद्ध से ब्रिटेन को शिक्षा—अमेरिकन युद्ध ने ब्रिटेन के लिए एक शिक्षालय का भी काम किया। ब्रिटेन ने इस युद्ध से बहुत-कुछ शिक्षा ग्रहण की और इससे भविष्य में लाभ उठाया।

अभी हम देख चुके हैं कि उपनिवेशों के प्रति उसकी नीति में किस तरह परिवर्तन हो गया। ब्रिटिश सरकार को यह अच्छी तरह मालूम हो गया कि युवकों के साथ बच्चों की तरह व्यवहार नहीं होना चाहिए। जिस तरह माता अपने गृह की स्वामिनी होती है उसी तरह प्रौढ़ हो जाने पर लड़की को भी गृह कार्य सौंप देना चाहिए और उसके साथ पूर्णतः समानता का व्यवहार होना चाहिए। इस तरह १९वीं और २०वीं सदी में ब्रिटेन में उपनिवेशों के प्रति उदार नीति अपनाई गई और स्वराज्य तथा पारस्परिक सहयोग के आधार पर द्वितीय तथा तृतीय साम्राज्य का निर्माण हुआ।

उसने दूसरी बात यह सीखी कि शान्ति तथा समझौता के सिद्धान्त पर युद्ध नहीं किया जा सकता। इस नीति से केन्द्रित शक्ति के साथ युद्ध-संचालन का कार्य नहीं हो पाता।

उसने तीसरी बात यह सीखी कि शत्रु कैसा भी हो, उसे उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। पूरी तैयारी के साथ ही उसका सामना करने के लिए आगे बढ़ना चाहिए। किन्तु ब्रिटेन इस शिक्षा को पूर्ण रूप से ग्रहण कर व्यवहार में न ला सका। अमेरिका के स्वातन्त्र्य युद्ध को समाप्त हुए अभी दस वर्ष भी नहीं बीते थे कि ब्रिटेन को एक दूसरे महायुद्ध में भाग लेने के लिये विवश होना पड़ा। यह महायुद्ध फ्रांस के साथ शुरू हुआ जो २२ वर्षों तक चलता रहा। इसके प्रारम्भ में ब्रिटेन ने कई ऐसी भूलें कीं जो अमेरिकन युद्ध के समय भी की गई थीं। उसके अफसर तथा सैनिक, सवार और पैदल, सभी अशिक्षित थे; छोकड़े तथा कुली-कबाड़ी, मुक्कड़ तथा घुमक्कड़ सभी सेना में भर्ती कर युद्ध के मोर्चे पर भेज दिए जाते थे। ऐसे कितने सैनिक थे

५. फ्रांस पर प्रभाव—(क) *आर्थिक संकट*—अमेरिकन क्रान्ति ने फ्रांसीसी क्रान्ति को अनिवार्य बना दिया। यह एक तरह से *फ्रांसीसी क्रान्ति की भूमिका थी।* यों तो मालूम होता था कि अमेरिकन क्रान्ति में भाग लेने से फ्रांस की प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई है, लेकिन वास्तव में फ्रांस को लाभ के बदले विशेष क्षति ही हुई। फ्रांस का आर्थिक संकट बढ़ गया और यहीं से क्रान्ति का श्रीगणेश हुआ। (ख) *प्रजातन्त्रात्मक विचारों का प्रचार*—दूसरे प्रकार से भी अमेरिकन क्रान्ति का फ्रांस पर प्रभाव पड़ा। बहुत से फ्रांसीसी सैनिकों ने अमेरिकन युद्ध में भाग लिया और उन्होंने अपनी आँखों से यह देखा कि फ्रांस के दार्शनिकों ने जिन सिद्धान्तों का प्रचार किया है उन्हें अमेरिकनों ने कार्य रूप में परिणत किया है। ये सैनिक बड़ी आशा और उत्साह से अपने देश में लौटे। उन्होंने फ्रांस में भी उन सिद्धान्तों को कार्य रूप में लाने की कोशिश की। वे तर्क करने लगे कि यदि अमेरिका में प्रतिनिधित्व के बिना कर लगाना अनुचित था तो फ्रांस में भी ऐसा करना अनुचित है। अतः यदि अमेरिका में ऐसे प्रबन्ध का विरोध हुआ तो फ्रांस में भी उसका विरोध होना चाहिए। इस तरह क्रान्ति का विस्फोट होने में अब देर न लगी। क्रान्ति के होने से फ्रांस की अपार क्षति हुई—उसके साथ-साथ यूरोप की भी क्षति हुई। लेकिन अन्त में फ्रांस के जनसाधारण तथा अन्य लोग भी फ्रांसीसी क्रान्ति से लाभान्वित हुए। प्रारम्भ में फ्रांस को उपनिवेश भी हाथ लगे थे—पश्चिमी द्वीपसमूह में टोबैगो और पश्चिमी अफ्रीका में सेनिगल।

६. *हॉलैंड तथा स्पेन*—हॉलैंड तथा स्पेन ने भी अमेरिकी युद्ध में फ्रांस का अनुसरण कर इंगलैंड से बदला चुकाया और अन्त में इन्हें भी कुछ लाभ हुए। माइनौर्का तथा फ्लोरिडा पर स्पेन का फिर से अधिकार हो गया।

अमेरिकी संग्राम की महत्ता

जनसाधारण को मताधिकार से वंचित रखा गया। स्त्रियों, नीग्रो तथा बहुत से श्वेतों को भी मताधिकार नहीं मिला। इस तरह प्रारम्भ में ३० लाख की जनसंख्या में लगभग १½ लाख लोगों को ही मताधिकार मिल सका।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद का अमेरिका (१७८३—१८६५)

अमेरिका स्वतन्त्र तो हुआ किन्तु उसके सामने अभी अनेक समस्याएँ थीं। उनके समाधान तथा आन्तरिक संगठन के लिये उसे शान्ति तथा अवकाश की नितान्त आवश्यकता थी। अत. जार्ज वाशिङ्गटन तथा उसके निपुण उत्तराधिकारियों के शासन-काल में नवोदित अमेरिकी राज्य का क्रमशः संगठन होता रहा और वैदेशिक मामलों में इसने तटस्थता की नीति अपनाई। यद्यपि १७९१ ई० से १८१५ ई० तक का समय यूरोप के इतिहास में युद्ध-काल था फिर भी अमेरिका ने उसमें कोई दिलचस्पी नहीं ली। किन्तु दुर्भाग्यवश उसे इंगलैण्ड के ही साथ युद्ध करने के लिये बाध्य होना पड़ा। इस आँग्ल-अमेरिकी युद्ध का अन्त भी १८१४ ई० में ही हो गया। *अमेरिका वाले यूरोप के किसी राष्ट्र के द्वारा अपने देश में हस्तक्षेप करने देना नहीं चाहते थे।* अतः जब दक्षिणी अमेरिका के उपनिवेशों ने स्पेन के खिलाफ़ विद्रोह का झगड़ा खड़ा किया तो स्पेन ने यूरोपीय संघ के सहयोग से उन्हें दबाना चाहा था। किन्तु अमेरिका के तत्कालीन राष्ट्रपति मुनरो ने तटस्थता की नीति को स्पष्ट किया *और 'अमेरिका अमेरिकनों के लिए' वाले सिद्धान्त पर जोर दिया।* उसने घोषणा कर दी कि अमेरिका निवासी अपने देश में यूरोप के हस्तक्षेप को सहन नहीं करेंगे और आवश्यकता पड़ने पर युद्ध तक करेंगे। यह घोषणा 'मुनरो सिद्धान्त' के नाम से प्रसिद्ध है। यह आत्मरक्षात्मक थी जिसका उद्देश्य था अपने स्वार्थों की रक्षा करना। *इससे उद्देश्य की पूर्ति में सफलता भी मिली। अमेरिका का आन्तरिक संगठन हो सका* और वह पश्चिम में प्रशान्त महासागर तक फैल गया तथा इस भाग में कई नवीन राज्य स्थापित हुए। दक्षिण में भी फ्लोरिडा तक अमेरिका का प्रसार हो गया।

इस सीमा-प्रसार से देश की राजनीति बहुत प्रभावित हुई। नवीन राज्यों के भी *प्रतिनिधि काँग्रेस में आने लगे। पश्चिमी भाग में कृषकों की प्रधानता थी।* अतः अब उच्च श्रेणी के लोगों के स्थान पर मध्यम श्रेणी के लोगों की धाक जमने लगी। उच्च वर्ग में ही राष्ट्रपति के निर्वाचन की परम्परा टूट गई और अन्य वर्ग से भी अब उसका चुनाव होने लगा। १८२९ ई० में पश्चिमी भाग के टेनेसी राज्य का निवासी ऐंड्रु जैक्सन राष्ट्रपति निर्वाचित हुआ।

गुलाम प्रथा और गृहयुद्ध

इस बीच उत्तरी तथा दक्षिणी राज्यों के बीच मतभेद बढ़ने लगा था। उनके

स्वार्थों में बहुत बड़ा अन्तर था जिससे उनमें संघर्ष अनिवार्य हो गया। उत्तरी राज्यों की उन्नति व्यापार और उद्योग-धन्धों पर आधारित थी। वे विदेश के माला पर अधिक चुंगी लगाना चाहते थे और नित्य नए नए बाजारों की खोज में रहते थे। उनमें उदारवादिता की भावना विशेष थी अतः उन्होंने गुलाम प्रथा का अन्त कर दिया और अन्य राज्यों में भी वे इसे समाप्त कर देना चाहते थे। इस नीति के फलस्वरूप १९वीं सदी के मध्य में एक दल का उदय हुआ जो प्रजातन्त्री दल (रिपब्लिक पार्टी) के नाम से विख्यात है। दूसरी ओर दक्षिणी राज्यों में गुलाम-प्रथा अत्यावश्यक समझी जाती थी। वहाँ उच्च वर्ग वालों की प्रधानता थी। वे गुलामों के द्वारा खेती का कार्य करते थे और उन्नति का यही मूल था। गुलाम-प्रथा को कायम रखने और इसके प्रचार में ही उनका हित था। दूसरे, ये चुंगी की दर भी बढ़ाने के विरोधी थे क्योंकि इससे वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि हो जाती थी। इस तरह उत्तर तथा दक्षिण में ईर्ष्या-द्वेष की भावना बढ़ती जा रही थी। इसी स्थिति में १८६० ई० अब्राहमलिंकन राष्ट्रपति निर्वाचित हुआ जो प्रजातंत्री दल का सदस्य था। अब परिस्थिति गंभीर हो उठी। दूसरे ही साल दक्षिण के कुछ राज्यों ने संघ से अलग हो जाने की घोषणा कर दी और एक नये राष्ट्रपति का चुनाव कर लिया। लिंकन ने इसका घोर विरोध किया और यह घोषणा कर दी कि अमेरिकी संघ अविभाज्य है और दक्षिणी राज्यों की नीति विधान के विरुद्ध है। बस, अब क्या था उत्तर और दक्षिण में युद्ध छिड़ गया जो पाँच वर्षों (१८६१-६५ ई०) तक चलता रहा। इसमें इंगलैंड के मजदूर वर्ग ने उत्तरी राज्यों के साथ और उच्च वर्ग ने दक्षिणी राज्यों के साथ अपनी सहानुभूति प्रदर्शित की थी। ५ वर्षों के अन्दर कई युद्ध हुए और धन-जन की अपार क्षति हुई। किन्तु अंत में उत्तरी राज्यों को ही विजयश्री मिली। गुलाम-प्रथा समाप्त हो गई और संघ की एकता भी कायम रह गई। इस महत्वपूर्ण परिणाम का श्रेय राष्ट्रपति लिंकन को ही प्राप्त है।

डाला था कि 'मैं ही राज्य (स्टेट) हूँ ।' उसके समय में कोई भी नु तक करने का साहस नहीं कर सकता था । उसके इशारे पर क्षण भर में किसी का उत्थान या पतन हो सकता था । राजा ही अपने मंत्रियों की नियुक्ति करता था और मंत्री उसके एजेंट मात्र होते थे । राजा की आज्ञा का उल्लंघन करना क्या था, मानो अपनी रोजी और अपने प्राणों से भी हाथ धोना था । किसी पर लेशमात्र भी सन्देह होने पर उसे जेल के शिकंजों में बन्द किया जा सकता था । राजा मुद्रित पत्र जारी करता था जिसमें नाम और सजा के स्थान खाली रहते थे । उसके कृपापात्र इन मुद्रित पत्रों का उपयोग करते थे और किसी को पकड़ कर रिक्त स्थानों को भर दिया करते थे । इस तरह सर्वसाधारण का जीवन सदा ही संकटापन्न रहता था ।

राजा महत्त्वाकांक्षी होते थे । अतः नाम और प्रतिष्ठा के लिये वे अनेक युद्धों में भाग लिया करते थे और युद्ध का अर्थ होता है असीम खर्च तथा करों में वृद्धि । लोक प्रतिनिधि संस्था—स्टेट्स जेनरल—की उपेक्षा होती थी और १७५ वर्षों से इसकी बैठक नहीं बुलाई गई थी । कितने लोग तो यह भी भूल गये थे कि यह संस्था किस लिये थी और किस प्रकार कार्य करती थी । राज्य की सम्पूर्ण आय पर राजा का एकमात्र अधिकार था । उसके निजी और सार्वजनिक खर्च में कोई अन्तर नहीं था । अतः वह अपनी अभिलाषाओं को पूरा करने में राजकीय साधनों का दुरुपयोग करता था । वह अपने दरबारियों के साथ ऐश-आराम तथा भोग-विलास का जीवन व्यतीत करता था । राजमहल के निर्माण में २० करोड़ रुपये खर्च हुए थे और रानी के ५०० से अधिक नौकर थे । दरबार में लगभग १५ हजार व्यक्ति रहते थे । यह था सार्वजनिक धन का अपव्यय ! अतः आर्थिक संकट पैदा होना स्वाभाविक और अनिवार्य था ।

राजा का दरबार भी पेरिस में नहीं था बल्कि वर्साय में था । वर्साय पेरिस से १२ मील की दूरी पर स्थित था । वास्तविक राजधानी वर्साय में ही थी; पेरिस में राजधानी तो नाम मात्र के लिये थी । १६१० ई० से ही इस स्थिति का प्रारम्भ हुआ था । दरबार में भोगियों और चाटुकारों की ही भरमार थी । वे अयोग्य थे किन्तु चापलूसी के बल पर अच्छे-अच्छे पद पर भी वे पहुँच जाते थे । दरबार में शिष्टाचार चरमावस्था पर पहुँचा हुआ था ।

राज्य में पूर्ण केन्द्रीकरण था । प्रत्येक काम केन्द्र से सचालित होता था । यदि एक गिरजे की मरम्मत करानी होती थी तो इसके लिये भी केन्द्र में ही आवेदन पत्र देना पड़ता था और आदेश की प्रतीक्षा में वर्षों बीत जाते थे । स्वायत्त शासन का तो कहीं नाम भी नहीं था । स्थानीय संस्थाओं का अभाव था—निर्वाचन जैसी कोई चीज ही नहीं थी । प्रान्त का स्वामी अपने क्षेत्र में छोटा राजा ही था । वह केन्द्र के ही प्रति उत्तरदायी था और प्रान्त में निरंकुशतापूर्वक व्यवहार करता था ।

धन लगान के रूप में वसूल करते थे, किन्तु राजकीय कोष में नहीं या नाममात्र को ही जमा करते थे। किसानों के खेत में सामन्तों के पशु हानि पहुँचा सकते थे किन्तु किसान उन पशुओं को भगा नहीं सकते थे। सामन्तों के शिकार में भी कृषि को हानि पहुँचती थी। नमक दैनिक व्यवहार की वस्तु थी किन्तु इसके व्यापार पर सरकार का ही पूर्ण अधिकार था। राजकीय नौकरों के ही द्वारा नमक की खरीद-बिक्री होती थी। प्रत्येक परिवार को कुछ निश्चित अनुपात में नमक खरीदना ही पड़ता था। इस तरह किसानों को अपनी आय का लगभग ८० प्रतिशत उचित या अनुचित विविध करों के चुकाने में ही खर्च करना पड़ता था। इस लूट-खसोट के फलस्वरूप किसानों का जीवन संकट-मय बन गया था। उन्हें स्वप्न में भी सुख-शान्ति का स्वाद नहीं मिलता था। कार्लाइल के मतानुसार अधिकतर किसान भूसी तथा चूनी खाकर ही अपना जीवनयापन करते थे। नगर के कारीगरों को भी कम वेतन मिलता था और उन्हें व्यापार संघ के नियमों का पालन करना पड़ता था। अतः उनका भी जीवन दुखमय ही था।

इस तरह निरंकुश शासन तथा सामाजिक विषमता फ्रांसीसी राज्य-क्रांति के प्रधान कारण थे। परन्तु ये बातें तो यूरोप के अन्य देशों में भी वर्तमान थीं। इतना ही नहीं, तुलनात्मक दृष्टि से यूरोप के कितने देशों की जनता की अपेक्षा फ्रांस की जनता की दशा अच्छी थी। फिर भी १७८९ ई० में फ्रांस में ही राज्य-क्रान्ति की ज्वाला प्रज्व-लित हुई, अन्य देशों में नहीं। यह प्रश्न विचारणीय है।

फ्रांस में ही सर्वप्रथम क्यों?

इंगलैंड में तो क्रांति होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। अँग्रेज क्रान्तिकारी नहीं बल्कि विकासवादी होते हैं। वे हिंसात्मक तरीके से अचानक महान् परिवर्तन करना नहीं चाहते हैं। इसके अतिरिक्त उनके देश में १७वीं सदी में ही राजनीतिक समस्या हल की जा चुकी थी। १६८८-८९ ई० में ही रक्तहीन क्रान्ति हुई थी, जिसके परिणाम से लोकप्रतिनिधि सभा की विजय हुई और नियमानुमोदित शासन स्थापित हुआ। वहाँ सर्वसाधारण की दशा भी अन्य देशों की तुलना में अधिक सन्तोषजनक थी। आस्ट्रिया तथा प्रशा में भी निरंकुश शासन था किन्तु वह कुछ प्रबुद्ध था। शासक जनहित का भी ध्यान रखते थे। फ्रांस में कुछ ऐसी बातें थीं जिनका यूरोप के अन्य देशों में अभाव था।

बराबर था। विभिन्न प्रांतों में कर-व्यवस्था विभिन्न थी। वसूली मनमाने ढंग से की जाती थी। दो प्रकार के न्यायालय थे—सामन्ती तथा सरकारी। लगभग चार सौ प्रकार के कानून थे और एक ही प्रकार के अपराध के लिये विभिन्न प्रकार का दण्ड दिया जाता था। धनी वर्ग का कोई व्यक्ति कभी जेल नहीं जाता था। यदि दुर्भाग्यवश उसे कभी जेल जाना भी पड़ा तो वहाँ भी उसे सारी सुविधाएँ प्राप्त होती थीं। एक तरफ वे निर्धन थे जो ऐंड़ी-चोटी का पसीना एक कर भी न भर पेट अन्न पाते थे और न तन ढँकने को वस्त्र; दूसरी तरफ संगीत, सुरा और सौन्दर्य का नग्न नृत्य हो रहा था। ऐसे शासन और समाज से सर्वसाधारण को क्या सन्तोष हो सकता था?

२. मध्यम श्रेणी की उपस्थिति—फ्रांस के समाज में मध्यम श्रेणी के लोग थे जो शिक्षित, बुद्धिमान और धनी थे। वे लगभग २३ लाख थे। उनमें योग्यता थी, उनके कर्तव्य थे; लेकिन उन्हें कोई अधिकार नहीं था। उन्होंने ही सर्वप्रथम क्रांति का बिगुल बजाया और जनता का नेतृत्व किया; क्योंकि उनमें जागृति थी और वे दर्शन से अधिक प्रभावित हुये थे। इतना ही नहीं, इनके पास पर्याप्त साधन भी थे। वे अपनी पूँजी को भी वाणिज्य-व्यवसाय में लगाए हुए थे। अतः आर्थिक संकट से उनकी ही विशेष हानि हो रही थी और अभी आगे होने की सम्भावना थी। इसके अतिरिक्त विविध सरकारी तथा सामन्ती प्रतिबन्धों के कारण वाणिज्य-व्यापार में बहुत बाधा पहुँचती थी। व्यापारियों को पद-पद पर चुँगी देनी पड़ती थी। इससे माल मँहगे हो जाते थे और बहुत समय की भी हानि होती थी। आर्थिक अव्यवस्था से मध्यमवर्गीय महाजनों को कर्ज की वसूली में भी कठिनाई हो रही थी। सामाजिक असमानता का भी उन्हें कटु अनुभव था। योग्यता के अनुसार नहीं बल्कि जन्म के आधार पर बड़े-बड़े पद मिलते थे। मध्यमवर्ग वाले इस असमानता को मिटा देने के लिये कटिबद्ध थे। अतः नेपोलियन ने एक बार कहा था कि अहंकार की भावना ने ही क्रान्ति को उत्पन्न किया, स्वतन्त्रता तो बहाना मात्र थी। क्रान्ति के अधिकांश नायक इसी मध्यम वर्ग में ही पैदा हुए थे।

३. दार्शनिकों एवं विचारकों का प्रादुर्भाव—फ्रांस में कुछ बड़े-बड़े दार्शनिक तथा विचारक उत्पन्न हुए। क्रान्ति के सामान तो पहले से मौजूद थे; लोग परिवर्तन चाहते थे किन्तु इसके लिए उपयुक्त वातावरण का अभाव था, पथ-प्रदर्शक की कमी थी। दार्शनिकों तथा विचारकों ने सर्वसाधारण की आँखें खोल दीं; उनकी सुप्त भावनाओं को जाग्रत कर दिया। उन्होंने प्राचीन राज-व्यवस्था की कमजोरियों और बुराइयों की ओर लोगों का ध्यान केन्द्रित किया। उन्होंने विचारों के क्षेत्र में उथल-पुथल मचा कर क्रान्ति के लिए समुचित पृष्ठभूमि तैयार की—उपयुक्त वातावरण उत्पन्न किया। अन्धविश्वास की जगह विज्ञान और तर्क की प्रधानता स्थापित हुई। इस

सम्बन्ध में वाल्टेयर, माटेस्क्यू और रूसो के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। वाल्टेयर (१६६४-१७७८) ने राजतन्त्र की खिल्ली उड़ाई और राज्य तथा चर्च की बुराइयों की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। लेकिन वह प्रजातन्त्र में विश्वास नहीं करता था बल्कि वह उदारवादी निरंकुश शासन का समर्थक था। माटेस्क्यू (१६८६-१७५५) ने इंगलैण्ड की शासन-प्रणाली की प्रशंसा की और वैधानिक राजतन्त्र का समर्थन किया। उसने शक्ति-पार्थक्य के सिद्धान्त का प्रचार किया। उसका कथन था कि कार्यकारी, विधायक और न्याय सम्बन्धी तीनों अधिकारों के एक ही संस्था या व्यक्ति में केन्द्रित होने से निरंकुश शासन को प्रोत्साहन मिलता है और नागरिक स्वतन्त्रता का अपहरण होता है। अतः तीनों अधिकार तीन शक्तियों के हाथ में पृथक्-पृथक् रहना चाहिये। इन सब में रूसो (१७१२-७८) के लेख अधिक प्रभावोत्पादक सिद्ध हुए। उसने

चित्र १३—रूसो

फ्रांस की क्रान्ति को वैसे ही प्रभावित किया जैसे आगे चलकर मार्क्स ने रूसी क्रान्ति को प्रभावित किया। सामाजिक इकरारनामा (सोशल कन्ट्रैक्ट) उसकी प्रसिद्ध रचना थी। उसने हर प्रकार की विषमता का विरोध किया। उसने लिखा था कि 'मनुष्य स्वतन्त्र उत्पन्न होता है किन्तु वह अपने सर्वत्र को बन्धनों से जकड़ा हुआ पाता है।' उसने स्पष्ट कर दिया कि राज्यशक्ति का स्रोत जनता है, राजा नहीं और लोकमत (जेनरल विल) के ही आधार पर राज्य-सरकारों का संगठन होना चाहिए। उसने क्रान्तिकारी विचार-धारा को बहुत ही अधिक प्रभावित किया और यदि रूसो न होता तो क्रान्ति अभी विलम्ब से होती। नेपोलियन के मतानुसार तो रूसो के अभाव में क्रान्ति ही नहीं होती।

दार्शनिकों के अतिरिक्त कुछ अन्य विचारक एवं लेखक भी हुए जिन्होंने क्रान्ति को प्रोत्साहित किया। दिदरो के नेतृत्व में १७ भागों में वृहत् ज्ञानकोष की रचना हुई। इसमें अनेक प्रश्नों पर वैज्ञानिक ढंग से विचार हुआ और तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था तथा शासन-प्रणाली की कटु आलोचना की गई। इसमें उत्पादक श्रम का उचित मूल्यांकन किया गया और धर्म को कोई महत्ता नहीं दी गई। कुछ अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक विषयों पर चिन्तन किया। इनमें क्वेसने प्रसिद्ध हैं। इन लोगों ने व्यापार-वाद की निन्दा की और आर्थिक क्षेत्र में अहस्तक्षेप की नीति का समर्थन किया। इसी युग में इंगलैंड में प्रसिद्ध अर्थशास्त्री आदम स्मिथ का भी उदय हुआ था जो स्वतन्त्र व्यापार की ही नीति का प्रचार कर रहा था।

४. असामयिक सामन्त-प्रथा—फ्रांस में काश्तकारों की संख्या नगण्य थी, सामन्तों का रोब-दाब था; किन्तु सामन्त प्रथा फ्रांस में असामयिक बन गई थी क्योंकि इसकी कोई उपयोगिता नहीं रह गई थी। सामन्त-प्रथा मध्यकाल की देन थी। उस समय की विषम परिस्थिति में सामन्त अपनी जागीरों में शान्ति स्थापित रखते थे और युद्धकाल में राजा की धन-जन से मदद करते थे। वे अपने कर्त्तव्यों का पालन और अधिकारों का उपभोग करते थे। यह उचित कहा जा सकता है। किन्तु १८वीं सदी में कर्त्तव्यच्युत हो गए थे फिर भी अपने विशेषाधिकारों का पूर्ववत उपभोग करते रहे। वर्षों और कभी-कभी जीवन पर्यन्त भी बेचारे असामियों को यह सौभाग्य प्राप्त नहीं होता था कि वे अपने स्वामियों की सूरत तक देख सकें। जागीरों में गुमाश्ता ही मालिकों का प्रतिनिधित्व करते थे। यह तो सरासर अन्याय था। मध्यकाल में पादरी भी अनेक प्रकार से जनता की सेवा करते थे और चर्च शिक्षा तथा सेवा के केन्द्र थे। किन्तु अब पादरी भी कर्तव्य-च्युत हो गए थे, चर्च कुरीति तथा भ्रष्टाचार के केन्द्र बन गए थे, लेकिन ये भी अपने विशेषाधिकारों को छोड़ना नहीं चाहते थे।

५. फ्रांसीसी जनता की चेतना—एक इतिहासकार का कहना है कि 'फ्रांसीसी जनता की दशा इतनी अच्छी थी कि वह समझ सके कि उसकी दशा बुरी है।' वस्तुतः फ्रांस के जनसाधारण को यूरोप के अन्य देशों की अपेक्षा अधिक सुविधाएँ प्राप्त थीं। फ्रांस के सामन्त उतने निर्मम अत्याचारी नहीं थे जितने कुछ अन्य-अन्य देशों के। फ्रांस में स्वतन्त्र किसानों की दशा में उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही थी। मजदूरों की दशा में कुछ सुधार भी हो रहे थे। अतः जिन्हें थोड़ी सुविधाएँ मिली थीं वे अधिक या पूरी सुविधाओं के लिये स्वाभाविक ही बेचैन थे। अन्य देशों के जन-साधारण को थोड़ी सुख-सुविधा भी नहीं दी गई थी। इसके अतिरिक्त मध्य यूरोप तथा रूस में सर्वसाधारण को इतना दबा दिया गया था कि वे अपनी गिरी हुई दशा को समझने में असमर्थ थे। यदि कुछ समझते भी थे तो उसके विरुद्ध आवाज उठाने की शक्ति उनमें नहीं थी। किन्तु फ्रांस की जनता में सूझ-बूझ की शक्ति पर्याप्त थी। वहाँ के किसान समझते थे कि उच्च वर्ग के द्वारा उनका शोषण हो रहा है—उन्हीं के खून तथा पसीने के बल पर श्रेष्ठ पादरी तथा कुलीन लोग भोग-विलास की गोद में सुख की नींद सोते हैं। वे जानते थे कि यह अत्याचार तथा अन्याय का नग्न नृत्य है—पशु-बल का प्रदर्शन है। अतः वे इस स्थिति में परिवर्तन की आवश्यकता का अनुभव करते थे। जब इसके लिये सुअवसर आया तो उन्होंने अपने नेताओं का बड़ी तत्परता से अनुसरण किया।

६. राजतन्त्र की त्रुटियाँ—फ्रांस में राजतन्त्र सबसे अधिक सफल था। लेकिन *वंशानुगत राजतन्त्र की सबसे बड़ी त्रुटि यह होती है कि सर्वदा योग्य राजा नहीं पाये* जाते। निरंकुश शासन भी जब निपुण रहता है और उसके अधीन देश की उन्नति

होती रहती है तो प्रजा उसे सहन करती है। फ्रांस में १८वीं शताब्दी में यह बात नहीं रही। लुई १५वाँ और १६वाँ अयोग्य शासक थे। १५वाँ लुई (१७१५—७४ ई०) राज्याभिषेक के समय ५ वर्ष का बच्चा था। दीर्घकाल तक मन्त्रियों के हाथ में शासन की बागडोर रही किन्तु वे तो स्वार्थी और अनुत्तरदायी थे। अतः उन्होंने राजा की नाबालिगी से अनुचित लाभ उठाया। जब वह बालिग हुआ तब भी मन्त्रियों की धाक बनी रही क्योंकि वह राज्य के कामों से मुख मोड़ता था और भोग-विलासमय जीवन पसन्द करता था। वह स्त्रियों के हाथ का खिलौना था और वे उसे जिधर चाहतीं, घुमा देती थीं। बेचारी प्रजा क्षुधा-पीड़ित थी, किन्तु वह युवतियों के साथ वासना-तृप्ति में सहस्रों रुपये पानी की तरह बहा रहा था। क्रान्ति के समय १६वाँ लुई (१७७४-९३ ई०) शासक था। उसमें न योग्यता थी और न कार्य करने की क्षमता। वह अपनी पत्नी के हाथ का खिलौना था। अपनी रानी के इशारे पर वह नाचा करता था। अपनी पत्नी के ही बहकावे में पड़कर उसने बल-प्रयोग कर जनशक्ति को कुचलने की विफल चेष्टा की। सचमुच वह अपने पति के गले में एक शिलाखण्ड के समान थी। उसका नाम मेरी आन्टोयनेट था और वह आस्ट्रिया की महारानी मेरिया थेरेसा की पुत्री थी। वह संकीर्ण, अदूरदर्शी तथा अहंकारी थी और अपने पति पर पूर्ण अधिकार रखती थी। राजा राजकीय कामों की उपेक्षा कर रास-रंग में लीन थे। उन्हें जनता की अपेक्षा नारी अधिक प्रिय थी। वे उस कहावत को ठीक ही चरितार्थ करते थे कि 'रोम जल रहा था और नीरो भोग विलास में मस्त था।'

५. **अँग्रेजी तथा अमेरिकी क्रान्तियाँ**—फ्रांस की क्रान्ति पर अँग्रेजी तथा अमेरिकी क्रान्तियों का भी व्यापक प्रभाव पड़ा। फ्रांस इंगलैण्ड के बहुत निकट है या यों कहा जाय कि दोनों पड़ोसी देश हैं। अतः इंगलैण्ड की घटनाओं से उसका प्रभावित होना स्वाभाविक है। १६८८-८९ ई० में ही इंगलैण्ड में निरंकुशता को तिलांजलि दे दी गई थी और कुछ फ्रांसीसियों पर भी इसका प्रभाव अवश्य ही पड़ा था। फ्रांसीसी सैनिकों ने अमेरिकी क्रान्ति में तो सक्रिय भाग लिया था और अपनी आँखों जन-विद्रोह तथा प्रजातन्त्र की सफलता को देखा था। उनका ही सहयोग तो उपनिवेशों की सफलता में बहुत निर्णायक सिद्ध हुआ था। स्वदेश लौटने पर वे सैनिक यहाँ भी परिवर्तन के लिए उतावले होने लगे थे। लाफायत नाम का एक उच्चवर्गीय व्यक्ति तो अमेरिकी स्वतन्त्रता के घोषणा-पत्र की प्रतिलिपि भी अपने साथ लेता आया था। उसकी उपस्थिति से फ्रांसीसी जनता के हृदय में दिन दूनी रात चौगुनी उत्साह की वृद्धि होने लगी थी।

लुई चतुर्दश की युद्ध-नीति और अपव्यय के कारण राजकोश खाली हो चला था। उसके उत्तराधिकारियों ने भी मितव्ययिता की नीति नहीं अपनाई और न वे कोई सुधार ही कर सके। कर्ज बढ़ता गया, स्थिति गम्भीर होती गई। कर-व्यवस्था विषम तथा अन्यायपूर्ण थी। उच्च वर्ग के लोग कर-मुक्त थे। अमेरिकी क्रान्ति में भाग लेने से आर्थिक स्थिति और भी बिगड़ गई। अर्थ-मन्त्रियों ने उच्च वर्गों पर कर लगा कर सुधार करने का प्रयत्न किया, किन्तु धनियों के घोर विरोध के कारण उनकी एक भी न चली और उन्हें अपने पदों से भी हाथ धोना पड़ा। यह प्रतिक्रियावाद की महान् विजय थी। अन्त में आर्थिक समस्या को हल करने के लिए स्टेट्स जेनरल की बैठक बुलाई गई। मई १७८६ ई० में यह घटना हुई। स्टेट्स जेनरल प्राचीन लोक प्रतिनिधि संस्था थी और इसके अधिवेशन के साथ ही राज्य-क्रान्ति का श्रीगणेश हो गया। इस घटना ने पुरानी राज-व्यवस्था की कमजोरियों का नग्न चित्र उपस्थित कर दिया।

क्रान्ति की प्रगति

स्टेट्स जेनरल का अधिवेशन

स्टेट्स जेनरल में समाज के तीनों वर्गों के लोग भाग लेते थे—पादरी, सरदार और सर्वसाधारण। सदस्यों की कुल संख्या लगभग १२०० थी जिनमें आधी संख्या उच्च पादरी एवं सरदार वर्ग की थी और आधी तृतीय श्रेणी (सर्वसाधारण) की। तीसरे वर्ग में अनेक वकील तथा पत्र-प्रतिनिधि शामिल थे। उनके बीच मिराबो नाम का एक बड़ा ही योग्य व्यक्ति था। लेकिन मत प्रदान करने की प्रथा वर्तमान प्रणाली से बिल्कुल भिन्न थी। प्रत्येक वर्ग के प्रतिनिधि अलग-अलग भवन में अधिवेशन करते थे और जिस बात को दो वर्ग स्वीकार कर लेते वह सब के लिए मान्य समझी जाती। इस तरह किसी भी प्रश्न पर तीसरे वर्ग ने एक ही भवन में सब के बैठने और व्यक्तिगत मत के आधार पर बहुमत के द्वारा किसी प्रश्न के निर्णय पर जोर दिया। प्रथम दो वर्ग वाले तथा राजा ने ऐसे प्रस्ताव को सीधे ठुकरा दिया। उन्हें क्या पता था कि जनमत की उपेक्षा का कितना भीषण परिणाम होता है। जनता के प्रतिनिधियों ने अपने को राष्ट्रीय सभा के रूप में परिणत कर लिया। जब राजा ने राजभवन में उनकी बैठक करने की अनुमति नहीं दी तो वे पास के एक टेनिस कोर्ट में चले गए। वहाँ उन्होंने शपथ ली कि हम लोग फ्रांस के लिए एक विधान बिना बनाये पृथक् नहीं होंगे। यही टेनिस कोर्ट की शपथ के नाम से विख्यात है। यह राजतन्त्र के लिए एक महान् चुनौती थी। २० जून, १७८६ ई० को यह घटना हुई।

बैस्टील का पतन

लोगों को भयभीत करने के उद्देश्य से राजा ने पेरिस में सेना मँगवा ली। इस बीच यहाँ खाद्यान्नों की कमी होने से महँगी बढ़ती जाती थी। कड़ी सर्दी पड़ रही थी। लोग भूख से पीड़ित थे और उनके सामने जीवन-मरण का सवाल उपस्थित था। पेरिस में एक बहुत बड़ा दुर्ग था जिसका जेल के रूप में उपयोग किया जाता था। इसमें राजनीतिक कैदी रखे जाते थे। *सर्वसाधारण की दृष्टि में यह राजतन्त्र की स्वेच्छाचारिता* तथा उनकी पराधीनता का प्रतीक था। अतः एक विशाल जनसमूह ने इस पर चढ़ाई कर दी और इसका विध्वंस कर डाला। इसके गवर्नर का सिर काट दिया गया। अब सभी कैदी मुक्त हो गए। यह घटना १४ जुलाई १७८६ ई० को हुई। यह जन-शक्ति तथा स्वाधीनता के सिद्धान्त की अद्भुत विजय थी। तदुपरान्त हर्ष तथा उत्साह से देश का *सारा वायुमण्डल गूँजने लगा था। जिस तरह अमेरिका के इतिहास में* ४ जुलाई १७७६ ई० महत्त्वपूर्ण है उसी तरह फ्रांस के इतिहास में १४ जुलाई १७८६ ई० गौरवपूर्ण है। किन्तु बैस्टील का पतन क्रान्ति की हिंसात्मक गतिविधि का द्योतक तथा प्रथम अध्याय था।

जनता को अपनी शक्ति का परिचय मिल गया और अब उसकी बागडोर कौन रोक सकता था? उसने अपनी सरकार बनाई। नगर-शासन (कम्यून) स्थापित हुआ और शान्ति कायम रखने के लिए राष्ट्रिय रक्षक भर्ती किये जाने लगे। लाफायत राष्ट्रिय सेना का नायक था। लुई ने इन परिवर्तनों को मान्यता प्रदान की और राजकीय सेना को पेरिस से हटा लिया। परन्तु अभी शान्ति कहाँ होने को थी? तीन महीने बाद *पेरिस से वर्साई के लिए एक विशाल जुलूस चला। इसमें स्त्रियाँ ही अधिक थीं।* राजमहल पर हमला हुआ और सारी रात यह घेरे की स्थिति में रहा। सवेरा होने पर राजा, उसकी स्त्री और उसके बच्चे कैद कर लिये गए और पेरिस लाए गये। रास्ते में 'रोटी वाला, रोटी वाले की स्त्री और बच्चे हमारे बीच में हैं और अब हमको खाना *मिलेगा' ऐसा नारा लगाया जा रहा था। इस तरह राज-परिवार पेरिस पहुँचा और* उसे पुनः वर्साई देखने का सौभाग्य न हुआ। अब क्रान्ति के क्षेत्र में पेरिस की जनता का प्रभाव बढ़ने लगा।

राष्ट्रिय सभा की कीर्तियाँ

इंगलैंड के अधिकार पत्र (१६८९ ई०) तथा अमेरिका के स्वातन्त्र्य-घोषणा-पत्र (१७७६ ई०) के आधार पर राष्ट्रिय सभा ने मनुष्य के आधारभूत अधिकारों की घोषणा की। यह घोषणा-पत्र रूसो के सिद्धान्तों से बहुत अधिक प्रभावित था। इसके अनुसार (क) सभी मनुष्य स्वतन्त्र हैं और उनके अधिकार भी समान हैं, (ख) लोकमत ही कानून है और कानून की दृष्टि मे सभी समान हैं, (ग) कानून की दृष्टि में अभियुक्त नहीं होने पर उसे जेल नहीं दिया जा सकता और (घ) मुद्रण, भाषण तथा धर्म के क्षेत्रों में सब को स्वतन्त्रता है।

इसका दूसरा मुख्य कार्य था विशेषाधिकारों का नाश करना। इसने सामन्त-प्रथा का अन्त कर दिया। सामन्तों की जागीरों को किसानों के बीच बाँट दिया गया और जमीन पर उनका अधिकार हो गया। करों की व्यवस्था मे समानता स्थापित हुई और सरकारी पदों पर, *योग्यता के आधार पर नियुक्ति का सिद्धान्त मान लिया गया।*

तीसरे, वाल्टेयर के सिद्धान्त के आधार पर चर्च में सुधार लाया गया। चर्च की धन-जायदाद छीन ली गई, उसे राज्य का ही एक विभाग बना दिया गया और उसके अधिकारियों की संख्या घटा दी गई। वे भी जनता के द्वारा निर्वाचित होने लगे और राज्य की ही ओर से उन्हें जीविका मिलने लगी। उन्हें राजभक्ति की शपथ लेनी पड़ी। चर्च की ही सम्पत्ति के आधार पर कागज के नोट छपने लगे। इन सुधारों मे कितने लोगों की धार्मिक भावना को बड़ी ठेस लगी और वे क्रान्ति के विरोधी बन गए।

चौथे, राष्ट्रिय सभा विधान परिषद् भी थी। इसने देश के लिए एक विधान का निर्माण किया। हम पहले ही देख चुके हैं कि इसने मानव के मौलिक अधिकारों की घोषणा की थी और लोकमत को सर्वोपरि ठहराया था। नवीन विधान के अनुसार १६८८ ई० के अंग्रेजी शासन के समान वैधानिक राजतन्त्र स्थापित हुआ। राजा ही शासन तथा सेना का प्रधान रहा और अपने मन्त्रियों की वही नियुक्ति कर सकता, किन्तु वह मनमाना नहीं कर सकता था। विधान में बड़ी सभा के लिए कोई स्थान नहीं था। कानून बनाने का सम्पूर्ण अधिकार एक ही धारासभा--लेजिस्लेटिव एसेम्बली को दिया गया। स्थानीय शासन-प्रबन्ध का सङ्गठन किया गया। जनसंख्या के आधार पर फ्रांस को कई डिपार्टमेंट में विभाजित कर दिया गया। अनेक नवीन न्यायालय स्थापित किए गए और न्यायाधीशों की नियुक्ति भी निर्वाचन के द्वारा होने लगी। इस तरह कई अंशों में विधान उत्तम था किन्तु इसमें समानता के सिद्धान्त की उपेक्षा की गई थी। धन के ही आधार पर मताधिकार प्रदान किया गया था।

दुर्भाग्यपूर्ण घटनाएँ

राष्ट्रिय सभा के अन्त होने के पश्चात् धारा सभा तथा नेशनल कन्वेंशन का समय आया। इन दोनों का जीवनकाल लगभग ४ वर्ष था। (अक्टूबर १७९१ ई० से

१७९५ ई०—धारा सभा का एक वर्ष और कन्वेंशन के तीन वर्ष) इस काल में भीषण रक्तपात हुआ, खून की होलियाँ खेली गईं, पशुओं के समान मनुष्य की बलि चढ़ाई गई। ये रक्तरंजित दृश्य क्रान्ति के जीवनकाल के काले धब्बे हैं जिनसे इतिहास के पृष्ठ कलुषित हुए बिना नहीं रहते।

अनेकों सुधार तो हुए सही, किन्तु सभी राजभक्तों ने उनका समर्थन नहीं किया। वे फ्रांस छोड़ कर विदेश भागने लगे थे और विदेशी सहायता से क्रान्ति को कुचलने के लिए प्रयत्नशील थे। क्रान्ति की हिंसात्मक गतिविधि को देखकर यूरोप के सम्राट भी थर्रा उठे थे। सबसे अधिक भयभीत तो आस्ट्रिया का सम्राट ल्योपोल्ड द्वितीय था क्योंकि लूई की पत्नी उसकी बहन थी। प्रशा आस्ट्रिया मित्र ही थे। १७९१ ई० के मध्य में फ्रांस के राजा और रानी ने एक बड़ी भूल की। उन्होंने विदेश भागने का प्रयत्न किया किन्तु सफल नहीं हुए और स्थिति भी बिगड़ गई। क्रान्तिकारियों में खलबली मच गई और वे राजपरिवार को शंका की दृष्टि से देखने लगे तथा उन्होंने उसे कैद कर लिया। राजपरिवार की यह दयनीय दशा देख कर आस्ट्रिया तथा प्रशा ने फ्रांस के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया और ब्रन्सविक के ड्यूक ने पेरिस को विनष्ट करने की धमकी दी। लेकिन इस धमकी ने अग्नि में घी का काम किया, फ्रांसीसी जनता उत्तेजित हो उठी और बहुत-से माँ के लालों ने मातृभूमि की रक्षा के हेतु कमर कस ली और प्राणों से बाजी लगाई।

धारासभा—इसमें दो दल मुख्य थे, जिरौंडिस्ट और जैकोबिन। पहला नरम दल था जिसके डुमुरीज तथा कोंडर सेट दो बड़े नेता थे। दूसरा गरम दल था और मारट, डान्टन तथा रोबस्पीयर इसके प्रधान नेता थे। प्रारम्भ में जिरौंडिस्ट दल का प्रभाव था। किन्तु अगस्त १७९२ ई० में पेरिस में उत्पात मचा और सर्वत्र अराजकता-सी फैल गई। देश पर आक्रमण शुरू हो ही चुका था। अतः स्थिति में सुधार लाने के लिए डान्टन को सर्वेसर्वा बना दिया गया। उसकी नीति का आशय था—राजभक्तों को निःशक्त तथा आतंकित बनाना। अतः उसने राजपक्ष वालों के अस्तित्व को मिटा देने की आज्ञा दी और सैकड़ों तथा सहस्रों राजभक्त तलवार के घाट उतार दिए गए। यह दुर्घटना सितम्बर (१७९२ ई०) के कत्लेआम के नाम से प्रसिद्ध है। २२ सितम्बर को धारासभा का भी अन्त हुआ और नेशनल कन्वेंशन की बैठक शुरू हुई। उसी दिन फ्रांस को जनतंत्र घोषित किया गया। वाल्मी के मैदान में फ्रांसीसी विजयी भी हुए। इस विजय से वे बहुत ही उत्साहित हुए और एक महान् भूल भी कर बैठे। उन्होंने यह घोषणा कर दी कि अपने राजा के विरुद्ध विद्रोह करने वाले राष्ट्र को फ्रांस की ओर से सैनिक सहायता मिलेगी। यह यूरोप के राजाओं के लिए चुनौती थी। इतना ही नहीं, लूई पर देश-द्रोह का अभियोग लगाया गया और जनवरी १७९३

ई० में गिलोटीन के द्वारा उसे प्राणदण्ड दे दिया गया। इससे कोई लाभ नहीं हुआ बल्कि इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। इस घटना ने राजाओं के हृदय में क्रान्ति के प्रति घृणा उत्पन्न कर दी और पहले के साधारण विरोधी भी कट्टर बन गए।

रक्तपात का नग्न नृत्य

फ्रांसीसी जनतन्त्र भी सतर्क था। इसने डंके की चोट पर यह घोषणा कर दी कि क्रान्ति के सिद्धान्तों को नहीं मानने वाला शत्रु समझा जायगा। इससे यूरोप के राज्य घबड़ा उठे। इगलैण्ड भी अछूता न बचा। फ्रांस ने उसके विरुद्ध भी युद्ध छेड़ दिया था और बेल्जियम को अधिकृत कर लिया था। बेल्जियम के स्वार्थ में इगलैण्ड का भी स्वार्थ छिपा रहता है। अतः इगलैण्ड, आस्ट्रिया, प्रशा, स्पेन तथा हालैण्ड ने फ्रांस के विरुद्ध प्रथम संघ का निर्माण किया। ऐसी ही स्थिति में डुमूरीज अपने भाइयों को धोखा दे, शत्रु पक्ष में जा मिला। फ्रांस के सामने भयंकर संकट उपस्थित था। इसका सामना करने के लिए कन्वेंशन ने भी तत्परता दिखलाई। जिरौंडिस्ट दल के सदस्य कैद कर लिये गए और उग्रवादियों के हाथ में शासन की बागडोर दी गई। उन्होंने एक जन-सुरक्षा-समिति कायम की जिसका प्रधान रोब्सपीयर को बनाया गया। समिति ने रक्त तथा लौह की नीति धारण की। एक क्रान्तिकारी न्यायालय स्थापित हुआ और सभी विरोधियों को फांसी पर लटकाया जाने लगा। इस तरह सहस्रों व्यक्तियों के प्राण लिए गए। रानी को भी अपने पति का अनुसरण करना पड़ा, जिरौंडिस्ट दल के सभी प्रमुख सदस्य मौत के घाट उतारे गए। १७९४ ई० में डान्टन का भी बलिदान हुआ। इस तरह रक्त की नदियाँ बह चलीं और एक वर्ष के समय (१७९३-९४ ई०) को आतंक का राज्य ठीक ही कहा जाता है। रोब्सपीयर इस राज्य का विधायक था। वह स्वार्थी, क्रूर तथा हिंसावादी था। वह भय तथा रक्तपात के द्वारा राज्य करना चाहता था। अतः उसके विरोधियों की संख्या बढ़ने लगी और उसे भी गिलोटीन का शिकार होना पड़ा। जिसके इशारे पर हजारों व्यक्ति मौत के घाट उतारे गए थे, वही एक दिन गिलोटीन पर झुला दिया गया, धड़ से उसका सिर अलग हो गया।

चित्र १४—रोबसपीयर

इस काल में फ्रांस की बाह्य नीति अधिक सफल रही। कार्नोट जैसा योग्य व्यक्ति सैन्य संचालन कर रहा था। विरोधियों के तो होश ठिकाने आ गए थे, अतः एक ही वर्ष के अन्दर फ्रांस से विदेशी सेना हट गई और फ्रांसीसी हर्ष-विभोर हो उठे।

कन्वेंशन की वैदेशिक नीति तो सफल हुई ही, उसने कुछ अन्य सुधार-कार्य भी किया। देश छोड़ कर जो लोग भाग गए थे उनकी धन-जायदाद छीन ली गई। नाप तौल में मीटर प्रणाली का प्रयोग किया गया। ऋणी को जेल देने का नियम हटा दिया गया। गुलामी मिटा दी गई और औरतों तथा मर्दों को समान अधिकार प्रदान किया गया।

रोब्सपीयर की फाँसी के बाद आतंक की कालिमा का विनाश हुआ और अब प्रायः सभी लोग शान्ति चाहने लगे। रक्तपात के भीषणतम रूप को देखकर लोग ऊब उठे थे और रक्तपात से घृणा करने लगे। अब भीतरी या बाहरी किसी प्रकार के संकट की सम्भावना नहीं थी। अतः अब आतंक की आवश्यकता ही नहीं थी। लोग किसी भी कीमत पर शान्ति चाहते थे। कन्वेंशन ने एक गणतन्त्रीय विधान का निर्माण कर अपने आपको विसर्जित कर लिया। विधान के अनुसार दो धारासभाएँ स्थापित हुई—छोटी और बड़ी। छोटी सभा में ५०० और बड़ी सभा में २५० सदस्य थे। इनका निर्वाचन फ्रांस के नागरिकों के द्वारा होता। कार्यकारिणी के लिए पाँच डाईरेक्टरों का एक बोर्ड कायम हुआ। यह विधान १७९५ ई० से १७९९ ई० तक कार्य-रूप में रहा, किन्तु देश की परिस्थिति ठीक नहीं रहने से शासन-प्रबन्ध सुचारु रूप से नहीं चल सका। शासन के प्रति लोगों का रोष बढ़ गया। अब फ्रांसीसी राज्य क्रान्ति की ज्वाला बुझ गई और देश की विषम स्थिति ने नेपोलियन बोनापार्ट के उत्थान के लिए मार्ग प्रस्तुत कर दिया।

राज्यक्रान्ति के महत्त्व तथा परिणाम

फ्रांस की राज्यक्रान्ति की गतिविधि हिंसात्मक रही थी। निर्दयता का नग्न-नृत्य हुआ, रोमांचकारी रक्तपात हुआ, स्वाधीनता की वेदी पर सैकड़ों और सहस्रों की संख्या में नर-नारियों का संहार हुआ। क्रान्ति के इतिहास में ये सभी घटनाएँ काले कारनामें थे। अंग्रेजी तथा अमेरिकी क्रान्तियों में इन दुर्घटनाओं का अभाव था। अमेरिका में हिंसात्मक कार्य हुआ था, किन्तु बहुत कम। इंगलैंड में तो खून का एक बूँद भी नहीं बहाया गया था। इसका कारण है परिस्थितियों की भिन्नता। फ्रांस के क्रान्तिकारियों में एकता का अभाव था और जिनके हाथ में शासन-सूत्र आता था वे अपने विरोधियों को नष्ट कर देने की ही चेष्टा करते थे। दूसरी बात यह थी कि यूरोप के अन्य राज्यों के वंशानुगत स्वेच्छाचारी सम्राट भयभीत हो क्रान्ति को कुचलने के लिए एड़ी-चोटी का पसीना एक कर रहे थे और फ्रांस के आन्तरिक मामलों में भी हस्तक्षेप करते थे। ये दोनों बातें इंगलैंड तथा अमेरिका में नहीं थीं। अतः कलंकपूर्ण कामों के लिए अवसर ही नहीं प्राप्त हुआ। यदि यूरोप वाले इंगलैंड तथा अमेरिका में फ्रांस जैसा

हस्तक्षेप करते तो अंग्रेजी तथा अमेरिकी भी अपनी मान-मर्यादा की रक्षा के हेतु कोई कदम उठाने से आज नहीं आते।

लेकिन कुछ बुरे और आपत्तिजनक कार्यों के होने से फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति को सारहीन तथा प्रभावशून्य नहीं कहा जा सकता। मानव-समाज की महत्वपूर्ण एवं युगान्तरकारी घटनाओं में इसका भी एक स्थान है। वह स्थान साधारण नहीं बल्कि महत्वपूर्ण है। फ्रांस के ही नहीं, दुनिया के इतिहास में महत्वपूर्ण है। फ्रांस की राज्यक्रान्ति उपेक्षित जनता-जनार्दन के युगसंचित दिल-दर्द का भीषण तथा भयंकर विस्फोट था। यह संतप्त सर्वसाधारण के हृदय से निकली गहरी साँसों तथा उसाँसों की ज्वाला थी। यह अन्याय तथा अत्याचार, अनाचार तथा भ्रष्टाचार के विरुद्ध विद्रोह था। राजनीतिक निरंकुशता, सामाजिक विषमता और आर्थिक शोषण—सब पर कुठाराघात हुआ और एक नई सृष्टि का सृजन हुआ। प्रत्येक क्षेत्र में महान् परिवर्तन हुए और सर्वसाधारण के सौभाग्य-सूर्य का उदय हुआ। भविष्य की पीढ़ियों के लिये प्रगति क्रान्ति की एक बहुत बड़ी देन रही है। फ्रांसीसियों के ऊपर क्रान्ति का नैतिक प्रभाव बड़ा ही महत्वपूर्ण और स्थायी था। वे सदियों से उपेक्षित थे किन्तु अब उन्हें अपनी शक्ति का ज्ञान प्राप्त हो गया। वे अपनी महत्ता समझने लगे और उनमें आत्मविश्वास का बड़े वेग से संचार हुआ। अब भविष्य में उन पर सहज ही कोई अत्याचार नहीं कर सकता था; क्योंकि उसका सामना करने के लिए उनमें स्फूर्ति उत्पन्न हो गई थी।

राजनीतिक क्षेत्र में महान् राजतन्त्र का गर्व चूर-चूर हो गया, जनशक्ति का प्रयोग हुआ और प्रजातान्त्रिक भावना का उदय हुआ। यह मान लिया गया कि शक्ति तथा सत्ता का स्रोत सर्वसाधारण है और उन्हीं की सहमति तथा सहयोग के आधार पर शासन का सुदृढ़ महल खड़ा किया जा सकता है। यह केवल मौखिक रूप से ही नहीं मान लिया गया बल्कि इसे कागज पर लिख डाला गया। दूसरे शब्दों में, फ्रांस में अब लिखित विधान की प्रणाली स्थापित हुई। राज्य की विभिन्न शक्तियों के अधिकारों का स्पष्ट वर्णन कर दिया जाने लगा। अब एक शक्ति दूसरी शक्ति के अधिकारों का उल्लंघन नहीं कर पाती थी। कानून में जो विषमता थी उसका अंत हो गया और एकरूपता की स्थापना हुई। क्रान्ति ने फ्रांसीसी राष्ट्रीयता को प्रज्वलित किया। बेस्टील-पतन का दिन १४ जुलाई आज भी राष्ट्रीय पर्व के रूप में याद किया जाता है और क्रान्ति के कितने गाने आज भी गाए जाते हैं। क्रान्तिकारियों का मार्सेलीज नामक गाना देशभक्ति से ओतप्रोत था और यह अभी भी फ्रांस का राष्ट्रीय गीत है।

इस प्रकार फ्रांस में राष्ट्रीय एवं जन-आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। किन्तु यह

स्मरणीय है कि वहाँ शीघ्र ही वास्तविक अर्थ में जनतन्त्र-राज्य कायम नहीं हुआ। अभी जन-साधारण का अधिकार सीमित था। बालिग-मताधिकार का प्रचार नहीं हुआ। क्रान्ति में जनसाधारण ने भी कम बलिदान नहीं किया परन्तु शासन-सूत्र मध्यम वर्ग के हाथ में मिला। फिर भी जनतंत्र का प्रारंभ तो हुआ—राजनीतिक स्वतन्त्रता की नींव तो पड़ गयी उस युग में यही कम महत्व की बात नहीं थी। इसके बाद धीरे-धीरे फ्रांस में इस नींव का विस्तार हुआ और अन्य देशों में भी इसका प्रचार होने लगा।

क्रान्ति ने समाजवादी भावना का भी बीजारोपण किया। जैकोबिनों की विचारधारा में समाजवाद का आभास पाया जाता है। बेवाफ ने दीन-दुखियों का पक्ष लेकर अमीरों के विरुद्ध विद्रोह का झंडा खड़ा किया था।

धर्म तथा शिक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण सुधार हुए। धार्मिक जगत में बुद्धिवाद का उदय और सहिष्णुता का प्रयोग हुआ। अब सब को धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो गयी। राज्य और चर्च पृथक हो गये। सरकार प्रजा पर अब किसी धर्म को बलात् नहीं लाद सकती थी। क्रान्ति के पूर्व शिक्षा का भार चर्च पर था। इस क्षेत्र में सरकार कोई भी अभिरुचि नहीं दिखलाती थी। किन्तु क्रान्ति के फलस्वरूप शिक्षा का प्रचार करना राज्य का कर्त्तव्य हो गया। अब सार्वजनिक शिक्षा की व्यवस्था करने में सरकार विशेष अभिरुचि दिखलाने लगी।

सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्र में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। क्रान्ति ने सामन्त प्रथा का उन्मूलन कर गुलामी की बेड़ी को तोड़ दिया। सामन्ती कर तथा दशांश बन्द हो गये। स्वतन्त्र कृषि को प्रोत्साहन मिला। वाणिज्य-व्यापार में एकाधिकार समाप्त हो गया। सभी विशेषाधिकारों का अन्त हो गया। इसके अतिरिक्त दस के आधार पर नाप-तौल की एक पद्धति चलाई गई जो मेट्रिक प्रथा कहलाती है। कुछ थोड़े से देशों को छोड़ कर इसका व्यापक प्रचार हुआ है। अब राज्य को छोड़कर अन्य कोई संस्था प्रजा पर कर नहीं लगा सकती थी। पहले ऋण नहीं चुकाने के कारण कारावास की सजा मिलती थी किन्तु अब इस नियम का भी अन्त कर दिया गया। पिता की सम्पत्ति में सभी सन्तान को बराबर अधिकार दिया गया।

सभी क्षेत्रों में समानता का सिद्धान्त लागू हुआ। जो अब तक चोटी पर थे, वे नीचे चले आये और जो नीचे थे वे ऊपर उठ गये। कानून की दृष्टि में सभी समान हो गये और जन्म के बदले योग्यता के आधार पर राज्य में नियुक्ति होने लगी। शासन तथा अन्य क्षेत्रों में एकरूपता स्थापित हो गई। अब प्रतिभाशाली व्यक्तियों के उत्थान के लिये मार्ग प्रशस्त हो गया। अब कोई भी योग्य व्यक्ति समाज में अपना प्रभाव कायम कर सकता था। मजदूरों की दशा में सुधार हुआ और यद्यपि वे अभी अरक्षित

थे फिर भी अब अतीत सा उपेक्षित तथा घृणित नहीं थे। फ्रांस एक इकाई के रूप में परिवर्तित हो गया और आधुनिकता की ओर अग्रसर हुआ।

१६ वीं शताब्दी के आगमन के साथ नेपोलियन जैसे सैनिक शासक का उत्थान हुआ, किन्तु क्रान्ति के सभी परिणामों का उसके साथ अन्त नहीं हुआ। एक तरह से वह स्वयं क्रान्ति की सन्तान था। उसने अपने सुधारों में क्रान्तिकारी विचारधारा को समुचित स्थान दिया। उसकी विधान-संहिता तो मानव-समाज को एक अनुपम भेंट रही है। समानता की नींव पर ही इसका निर्माण हुआ था। शिक्षा-प्रणाली तथा आर्थिक सुधारों में भी क्रान्ति के सिद्धान्तों का समावेश किया गया था। जैसे सिकन्दर ने यूनानी सभ्यता का प्रचार किया था वैसे ही नेपोलियन ने क्रान्ति के सन्देशों को फ्रांस के बाहर अन्य देशों में फैलाया था। एक विद्वान् के शब्दों में जिस देश पर भी फ्रांस का प्रभाव पड़ा था वहाँ पुनः पुरानी व्यवस्था स्थापित नहीं हो सकी। दक्षिणी जर्मनी, कुछ राइन प्रदेशों, हालैंड और नेपुल्स में सामन्तवाद का अन्त हो गया। जर्मनी, स्विट्ज़रलैंड आदि देशों में नेपोलियन के विधान को कार्यान्वित किया गया और धार्मिक सहिष्णुता का प्रयोग हुआ। प्रशिया, पोलैंड, जर्मनी तथा इटली में नेपोलियन ने राष्ट्रीयता की भावना को जागरित किया। यद्यपि १८१५ ई० में राजनीतिक स्वतन्त्रता का यूरोप में अभाव था, फिर भी क्रान्ति के सिद्धान्तों ने यूरोपवासियों के दिल तथा दिमाग में एक स्थान प्राप्त कर लिया था। प्रत्येक देश में कुछ ऐसे बुद्धिजीवी थे जो क्रान्ति के सन्देशों के लिए मर मिट जाने को तैयार थे। अब परिवर्तन के लिए मार्ग साफ़ हो गया था और मननशील व्यक्तियों की दृष्टि में भविष्य उज्ज्वल दीख पड़ता था।

ग्रेट ब्रिटेन पर फ्रांसीसी क्रांति का अत्यधिक प्रभाव पड़ा। नेपोलियन को पराजित करने में ब्रिटेन ने प्रमुख भाग लिया था। एक विद्वान् के मतानुसार नेपोलियन के विनाश में इंगलैंड ही सर्वप्रधान साधन था। अतः युद्ध के अन्त में उसे विशेष लाभ हुआ। उसकी प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई। उसे लंका, माल्टा आदि कई प्रदेश मिले और इसी समय द्वितीय ब्रिटिश साम्राज्य की नींव पड़ी। इसके अतिरिक्त इंगलैंड २२ वर्षों तक युद्ध में संलग्न रहा। दीर्घकालीन युद्ध के कारण उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि हुई और इससे औद्योगिक क्रान्ति को बहुत प्रोत्साहन मिला। क्रान्ति के कारण ग्रेट ब्रिटेन में पार्लियामेंट सम्बन्धी सुधार आन्दोलन को भी बल मिला। १८३२ ई० में प्रथम सुधार बिल पास हुआ। इसके अनुसार वास्तविक शक्ति भूमिपतियों के हाथ से निकल कर मध्यवर्ग के हाथ में आ गयी। इसके बाद धीरे-धीरे मताधिकार का क्षेत्र व्यापक होता गया और ग्रेट ब्रिटेन एक शक्तिशाली प्रजातन्त्र राज्य बन गया।

यह भी स्मरणीय है कि अमेरिकन तथा अतीत की अन्य क्रान्तियों की अपेक्षा

फ्रांसीसी क्रान्ति का क्षेत्र विशेष व्यापक रहा है। इसने स्वाधीनता, समानता और भ्रातृत्व के सिद्धान्तों के रूप में मानव समाज को मूल मन्त्र दिया है। फ्रांस के मध्य वर्ग वालों ने तो इनका अपने दृष्टिकोण से सीमित अर्थ लगाया था किन्तु अन्य लोग इनका व्यापक तथा वास्तविक अर्थ लगाने लगे। क्रान्ति ने ही जनतन्त्र तथा राष्ट्रीयता की भावना को जाग्रत किया है। मानव समुदाय की ये अमूल्य निधियाँ हैं जिन्हें दुनिया का प्रत्येक राष्ट्र प्राप्त करने के लिये लालायित और प्रयत्नशील रहा है। क्रांति के आदर्श नित्य नूतन रहे हैं। ये आदर्श मानव हृदय-पट पर अंकित हैं और पीड़ित, त्रस्त तथा दलित लाखों और करोड़ों व्यक्तियों को मुक्ति का नव संदेश देते हैं।

फ्रांसीसी क्रान्ति ने मानव के मौलिक अधिकारों की घोषणा कर मनुष्य के व्यक्तित्व की महत्ता स्थापित की। इससे पुरुष को पौरुष प्राप्त हुआ और उसका मस्तक ऊँचा उठ गया है। इसके सिद्धान्तों से विभिन्न देशों में अनेक क्रान्तियों को प्रेरणा मिलती रही है और वैधानिक शासन तथा वैधानिकता का विकास हुआ है।

क्रान्ति का स्वरूप

हम देख चुके हैं कि फ्रांस की क्रान्ति कराने का अधिक श्रेय मध्यम वर्ग को ही प्राप्त है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि अन्य लोगों ने क्रान्ति में भाग नहीं लिया। सर्व साधारण ने भी क्रान्ति में भाग लिया, कठोर कष्ट सहा और अपार क्षति भी सही। एक पुस्तिका में कहा गया था कि तृतीय वर्ग (एस्टेट) सब कुछ है किन्तु राजकीय व्यवस्था में इसका कुछ भी स्थान नहीं है। अतः यह कुछ होना चाहता है। अतः कुछ होने के लिये क्रान्ति में सबों ने भाग लिया किन्तु तृतीय वर्ग के अन्तर्गत मध्यम वर्ग (बुर्जुआ) ही सबसे अधिक लाभान्वित हुआ। इसका कारण था कि शुरू से अन्त तक क्रान्ति की बागडोर मध्यम वर्ग वालों के ही हाथ में रही।

यों तो क्रान्ति के अनेक कारण थे किन्तु मध्यम वर्ग वालों का असन्तोष प्रमुख कारण था। वाणिज्य व्यापार के मार्ग में अनेक रुकावटें थीं जिन्हें मध्यम वर्ग वाले दूर करने के लिये उत्सुक थे। उन्हें सामाजिक विषमता से भी बड़ा दुःख हो रहा था। इससे उनकी प्रतिष्ठा पर आघात पहुँच रहा था। अतः नेपोलियन ने कहा ही था कि अहंकार की भावना ही क्रान्ति का वास्तविक कारण था, स्वतन्त्रता तो बहाना मात्र था। इसके अतिरिक्त अनेक दार्शनिक तथा लेखक मध्यम वर्ग में ही उत्पन्न हुए थे। इन दार्शनिकों तथा लेखकों ने ही प्रचलित बुराइयों की ओर सर्वसाधारण का ध्यान आकृष्ट किया और उन्हें क्रान्ति के लिये तैयार किया। सभी दार्शनिकों ने व्यक्तिगत सम्पत्ति का समर्थन किया था। रूसो ने भी, जो मध्यम वर्ग का नहीं था, सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार का विरोध नहीं किया था।

क्रान्ति के प्राय: सभी महान नेता मध्यम वर्ग के ही थे। केवल मीराबो इस वर्ग

का सदस्य नहीं था। इस तरह सर्वत्र मध्यम वर्ग की प्रधानता थी—इसी की तूती बोल रही थी। अतः इसने क्रान्ति के नारों—स्वतन्त्रता, समानता एवं भ्रातृत्व का अर्थ भी अपने ही दृष्टिकोण से लगा रखा था। स्वतन्त्रता का मतलब था स्वेच्छाचारी शासन तथा सामन्ती प्रतिबन्धों से मध्यम वर्ग की स्वतन्त्रता। समानता से तात्पर्य था सामन्तों तथा मध्यम वर्ग वालों के बीच समानता। भ्रातृत्व का अर्थ था कि शासित वर्ग वाले परस्पर मिलकर शासक वर्ग के विरुद्ध संघर्ष करें। क्रान्ति-युग के संविधान पर भी मध्यम वर्ग का स्पष्ट प्रभाव पड़ा। शासन-सूत्र इसी वर्ग के हाथ में रहा। मताधिकार का क्षेत्र संकुचित रहा। केवल धनी मानी लोगों को ही मताधिकार मिला। क्रान्ति-काल (१७८९—१८१५ ई०) में जितनी सरकारों का संगठन हुआ उन सब का पथ-प्रदर्शन मध्यम वर्ग ने ही किया। केवल दो वर्ष (१७९२–९४ ई०) जैकोबिनों की प्रधानता थी और वे लोग जनसाधारण के अधिकारों के ही पक्षपाती थे। वे क्रान्ति के सिद्धान्तों का व्यापक अर्थ लगाते थे और गरीबों को अधिक सुविधा देना चाहते थे। उनके विचारों में समाजवाद की झलक मिलती है। लेकिन मध्यम वर्ग वालों को जैकोबिन-प्रधानता फूटी आँखों भी नहीं सुहाती थी। उन्होंने १७९४ ई० के मध्य जैकोबिनों की प्रधानता का बलपूर्वक अन्त कर दिया और अपना आधिपत्य जमा लिया। १७९६ ई० में बेवॉफ ने दीन-दुखियों की सुख-सुविधा के लिये विद्रोह किया। परन्तु उसके विद्रोह को तो निर्दयतापूर्वक दबाया ही गया; उसे भी प्राण दण्ड दिया गया। यह घटना डायरेक्टरी के शासन-काल में हुई।

डायरेक्टरी के बाद नेपोलियन के युग का प्रादुर्भाव हुआ। वह स्वयं मध्यवर्गीय परिवार का ही एक सदस्य था। उसका भी दृष्टिकोण मध्यम वर्गीय ही था। इसका सबसे बड़ा प्रमाण उसकी विधान-संहिता ही है। विधान-संहिता उसकी अमर कृति है जिस पर उसे भी बड़ा गर्व था। लेकिन इसका प्रधान उद्देश्य मध्यम वर्ग के हितों की रक्षा करना ही प्रतीत होता है। इसमें मजदूरों के अधिकारों का उल्लेख नहीं है। उन्हें संघ बनाने या हड़ताल करने का अधिकार नहीं था। संहिता में सैकड़ों धाराएँ ऐसी थीं जिनका उद्देश्य सम्पत्ति की रक्षा करना था। लेकिन इसमें किसान-मजदूरों के हितों की रक्षा पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया।

इस तरह यह स्पष्ट है कि फ्रांस की क्रान्ति का स्वरूप मध्यमवर्गीय था। यदि यह कहा जाय कि स्वेच्छाचारी शासक के हटने से जो स्थान रिक्त हुआ उसे मध्यम वर्ग ने ही भरा तो इसमें अत्युक्ति नहीं होगी।

अध्याय ७

फ्रांसीसी क्रान्ति की अनुपम देन—नेपोलियन बोनापार्ट

प्रारम्भिक जीवन

नेपोलियन का जन्म १७६९ ई० में कॉर्सिका द्वीप में हुआ था। केवल एक ही साल पूर्व इस द्वीप पर फ्रांस का आधिपत्य स्थापित हुआ था। अतः वह जन्म से ही फ्रांसीसी राज्य का नागरिक था। उसका वंश बोनापार्ट कहलाता था और उसके पिता साधारण श्रेणी के एक वकील थे। फिर भी पिता ने अपने पुत्र को समुचित शिक्षा देने का प्रबन्ध किया। उन्होंने उसे एक सैनिक विद्यालय में भेजा। स्कूल में नेपोलियन ने अध्ययन में बड़ी दिलचस्पी दिखलाई और वहाँ पाँच वर्ष तक शिक्षा प्राप्त की। तत्पश्चात् उसे एक सैनिक पद पर नियुक्त किया गया और उसने अपनी कर्त्तव्य-परायणता का पूरा परिचय दिया और लोगों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। इसके बाद दो ऐसे अवसर उपस्थित हुए जब कि लोगों को उसकी अद्भुत प्रतिभा की विशेष जानकारी प्राप्त हुई। १७९३ ई० में अंग्रेजों ने फ्रांस के बन्दरगाह टूलन पर आक्रमण कर उसे घेर लिया। पहले फ्रांसीसी अधिकारियों ने गलत तरीके से तोपों को लगाया था। नेपोलियन ने इसे समझ लिया और उन्हें ठीक स्थान पर लगवाया। उसके प्रयास से अंग्रेजी बेड़े के अधिकारियों के छक्के छूट गए। इसके दो ही वर्ष बाद नेशनल कन्वेशन पर संकट उपस्थित हुआ। पेरिस की जनता ने इस पर आक्रमण कर दिया। नेपोलियन ने गोली चलाई, भीड़ को छिन्न-भिन्न किया और कन्वेंशन की रक्षा की। अब वह फ्रांस का लोकप्रिय नेता बन गया।

चरित्र

नेपोलियन अनेक गुणों से विभूषित था। उसका शरीर सुन्दर, स्वस्थ तथा सुडौल था। उसके व्यक्तित्व में जादूगर की आकर्षण-शक्ति भरी हुई थी। उसमें योग्यता थी, प्रतिभा थी और दूरदर्शिता थी। वह उच्चकोटि का अध्यवसायी एवं परिश्रमी था। सैनिक कार्य में तो वह बेजोड़ था ही, शासन-कार्य में भी वह कम निपुण नहीं था। अपनी योग्यता के ही बल पर वह एक साधारण अफसर से फ्रांस का सम्राट तथा भाग्य-निर्माता बन गया। उसके उत्थान का कारण उसकी योग्यता तो थी ही, उसने तत्कालीन परिस्थितियों से भी समुचित लाभ उठाया। क्रांति के वातावरण में ही उसका पालन-पोषण हुआ था और उसने इसके अनुरूप सिद्धान्तों का व्यापक प्रचार किया।

नेपोलियन की विजय

१७६५ ई० से १७६६ ई० तक फ्रांस में डाइरेक्टरी का शासन था। प्रथम यूरोपीय गुट के सदस्यों में से इंगलैंड, आस्ट्रिया तथा सार्डीनिया अभी हारे नहीं थे। १८६६ ई० में नेपोलियन को सेनाध्यक्ष बनाकर आस्ट्रिया तथा सार्डीनिया के विरुद्ध इटली में भेजा गया। उसने दोनों देशों को पराजित किया। आस्ट्रिया ने सन्धि कर ली। फ्रांस को बेल्जियम हाथ लगा और उत्तरी इटली में उसके अधीन दो गण-राज्यों की स्थापना हुई। अभी इंगलैंड बचा रहा, किन्तु उस पर प्रत्यक्ष आक्रमण करना सहज नहीं था। नेपोलियन समझता था कि भारत तथा पूर्वी साम्राज्य ही इंगलैंड की उन्नति के मूल कारण थे। अतः उसने मिश्र को पहले अधिकृत कर पूर्व की ओर बढ़ने के लिए सोचा। फ्रांस के अधिकारी उसकी इस योजना से खुश ही थे क्योंकि वे नेपोलियन के दूर रहने में अपना हित देखते थे। अतः नेपोलियन के नेतृत्व में मिश्र पर चढ़ाई करने के लिये एक सेना ने प्रस्थान किया। इसने दक्षिणी मिश्र पर अपना आधिपत्य स्थापित किया; किन्तु शीघ्र ही फ्रांसीसियों के बुरे दिन लौट आये। १७६८ ई० में नील नदी का प्रसिद्ध युद्ध हुआ जिसमें फ्रांसीसी बुरी तरह खेत आये। नेपोलियन का स्वप्न अधूरा रह गया।

चित्र १५—नेपोलियन

परन्तु नेपोलियन पराजय से निराश होने वाला नहीं था। नियति ने उसके लिये दूसरा क्षेत्र तैयार कर रख छोड़ा था। उसे शीघ्र ही मालूम हुआ कि फ्रांस की आन्तरिक दशा दयनीय हो गयी है और डाइरेक्टरी की कमजोरी तथा कुप्रबन्ध के कारण उसके विरुद्ध द्वितीय यूरोपीय संघ का भी निर्माण हो चुका है। इंगलैंड, रूस, आस्ट्रिया तथा टर्की इस संघ के सदस्य थे। अतः नेपोलियन शीघ्र ही १७६६ ई० में फ्रांस लौट कर चला आया। आते ही उसने एक नवीन विधान बनाया और डाइरेक्टरी के शासन का अन्त कर दिया। इस विधान ने फ्रांस में कान्सूलेट की स्थापना की और नेपोलियन प्रथम कांसल नियुक्त हुआ। उसके अतिरिक्त दो कांसल और थे लेकिन वे उसके ही

अधीन थे। यह विधान लोकप्रिय भी सिद्ध हुआ क्योंकि राष्ट्र के विशाल जनसमूह ने इसे अपनी स्वीकृति प्रदान की थी।

नेपोलियन का ध्यान शीघ्र ही शत्रुओं की ओर आकृष्ट हुआ। उन्होंने उत्तरी इटली पर पुनः अधिकार प्राप्त कर लिया था। नेपोलियन ने एक सेना भेजकर उन्हें जर्मनी, इटली और स्विट्जरलैंड में पराजित किया। आस्ट्रिया ने अपमानजनक सन्धि कर ली और उत्तरी इटली से फिर हट गया। अब रूस तथा टर्की भी युद्ध से अलग हो गए। इंगलैंड ने भी १८०२ ई० में फ्रांस के साथ आमीन की सन्धि कर ली। विजित प्रदेशों को एक दूसरे को लौटा दिया गया। फिर भी सन्धि की शर्तें फ्रांस के ही अनुकूल थीं। बेल्जियम पर फ्रांस का अधिकार रहा और उसकी सीमा राइन नदी तक पहुँच गई।

नेपोलियन के सुधार-कार्य

नेपोलियन केवल वीर तथा विजयी सैनिक ही नहीं था, वह कुशल तथा सफल शासक भी था। १८०२ ई० तक क्रान्ति तथा युद्ध के कारण सुधार के लिये अवकाश ही नहीं मिला। किन्तु युद्ध समाप्त होते ही नेपोलियन ने देश के आन्तरिक संगठन की ओर ध्यान दिया। रचनात्मक कार्य-क्षेत्र में उसने भरपूर प्रयत्न किया और इसमें पर्याप्त सफलता भी मिली। अतः उसके सुधार-कार्य युद्ध में प्राप्त विजयों की अपेक्षा कम गौरवपूर्ण नहीं थे, बल्कि उन्हें अधिक गौरवपूर्ण कहें तो इसमें कोई अयुक्ति नहीं। उसके जो सुधार-कार्य हुये, वे क्रान्ति के सिद्धान्तों पर ही आधारित थे। लेकिन यह स्मरण रखना चाहिये कि वह समानता के सिद्धान्त का कट्टर समर्थक था और स्वतन्त्रता का घोर विरोधी।

शासन के क्षेत्र में वह केन्द्रीकरण का पक्षपाती था। अतः उसने स्वायत्त शासन की उपेक्षा की। निर्वाचित संस्थाओं को उसने निःशक्त बना दिया और प्रत्येक जिला तथा नगर में प्रिफेक्ट तथा मेयर नियुक्त किया। ये अफसर सीधे उसके ही प्रति उत्तर-दायी थे। उसने चर्च में महत्वपूर्ण सुधार किया। पोप के साथ सन्धि हो गई और कैथोलिक धर्म राजधर्म स्वीकार किया गया। दूसरे सम्प्रदायों के साथ सहिष्णुता की नीति अपनाई गई। पादरियों की नियुक्ति में पोप तथा सरकार दोनों का हाथ रहा। सरकार वहाँ पादरियों की नामावली पोप के पास भेज देती जिसमें से वह उनकी नियुक्ति कर सकता था। चर्च राज्य के अधीन रहा और इसके अधिकारियों को सरकार की ओर से वेतन मिलने लगा। उसने आर्थिक सुधार भी किया। करों को समुचित ढंग से वसूलने का प्रबन्ध किया। घूसखोरी की प्रथा को बन्द किया। उसने फ्रांस के बैंक को स्थापित किया जो अपनी साख के लिये सारी दुनियां में प्रसिद्ध है। शिक्षा के प्रसार

के लिये उसने अनेक विद्यालय खोले। बहुत-सी सड़कों, नहरों तथा पुलों का निर्माण हुआ। पेरिस शहर को सुन्दर ढंग से बसाया तथा सजाया गया और कला-कौशल को समुचित ढंग से प्रोत्साहित किया गया। इन सभी सुधारों के अतिरिक्त उसने विधि-विधान के क्षेत्र में जो सुधार किया वह सबसे अधिक उल्लेखनीय है। उसने दीवानी तथा फौजदारी के सभी बिखरे हुये कानूनों का संग्रह किया और उनका कलापूर्ण ढंग से सम्पादन किया। यह 'कोड नेपोलियन' या 'कोड सिविल' के नाम से विख्यात है। यह समानता के सिद्धान्त पर आधारित था। कानून की दृष्टि से कोई छोटा-बड़ा न रहा और योग्यता के आधार पर सरकारी नौकरियाँ सबको मिलने लगीं। इसे कई देशों ने अपनाया है और फ्रांस में अभी तक यह प्रचलित है। यह उसकी स्थायी तथा अमर कीर्ति है। उसने फ्रांस के उपनिवेशों की पुनः स्थापना के लिये भी चेष्टा की किन्तु इस दिशा में उसे पूरी सफलता न मिली। उसने स्पेन से लुसीयाना प्रदेश छीन लिया और संयुक्त राज्य अमेरिका से कुछ धन लेकर उसे दे दिया।

वैदेशिक नीति

१८०२ ई० में नेपोलियन प्रथम कांसल के पद पर आजीवन बैठा दिया गया और दो वर्ष बाद वह फ्रांस का सम्राट् हो गया। अब प्रजातन्त्र साम्राज्य में परिवर्तित हो गया। नेपोलियन के विरुद्ध यूरोप के तीसरे संघ का भी निर्माण हुआ जिसमें इंगलैंड, आस्ट्रिया तथा रूस थे। १८०५ ई० में नेपोलियन ने इंगलैंड पर आक्रमण करने का प्रयत्न किया किन्तु सफलता नहीं मिली। ट्रैफलगर के जलयुद्ध में उसकी गहरी हार भी हुई। इससे फ्रांसीसी बेड़े नष्ट हो गये और समुद्र पर इंगलैंड का प्रभुत्व स्थापित रह गया। १८०६ ई० में नेपोलियन ने आस्ट्रिया तथा रूस की सम्मिलित सेना को पराजित किया। यह युद्ध आस्टरलीज के मैदान में हुआ था। इस युद्ध से तीसरा संघ भी टूट गया। दूसरे ही साल उसने प्रशिया को जेना में और रूस को फ्रीडलैंड में परास्त किया। रूस से टिलसिट की सन्धि हुई। रूस और प्रशिया दोनों ने नेपोलियन का आधिपत्य मान लिया।

इस बीच उसने जर्मनी में कुछ संगठन-कार्य भी किये। उसने कई छोटे-छोटे राज्यों को मिलाकर राइन का संघ कायम किया। संघ ने जर्मन सम्राट् की सत्ता को अस्वीकार कर नेपोलियन को अपना संरक्षक घोषित किया। इसने पवित्र रोमन साम्राज्य का अन्त कर दिया और अब जर्मन सम्राट् केवल आस्ट्रियन सम्राट् रह गए।

नेपोलियन की शक्ति की पराकाष्ठा

तत्वों की रक्षा की। जिस तरह सिकन्दर ने यूनानी सभ्यता का प्रचार किया उसी तरह नेपोलियन ने क्रान्ति के सिद्धान्तों का फ्रांस की सीमा से बाहर प्रचार किया। यूरोप के गगन-मंडल में क्रान्ति का वातावरण छा गया और शोषित तथा पीड़ित जनता में गुलामी की बेड़ी तोड़ फेंकने की भावना जागरित हो उठी। यह भावना कुछ काल तक जरूर दबाई गई, किन्तु इसे कुचलना सम्भव नहीं था। जितना ही अधिक इस भावना को दबाने का प्रयत्न किया गया उतना ही अधिक यह शक्तिशाली होती गई और अन्त में दबाने वाले भी इसके प्रवाह में बह गए। उसने इटली तथा जर्मनी के निवासियों को संगठन का मंत्र पढ़ाया और उसने जो नींव खड़ी की उसी पर आगे चल कर उन राज्यों का विशाल राष्ट्रीय महल बना। उसने स्थितिपालक, जर्जर, तथाकथित पवित्र रोम साम्राज्य का नाश कर अन्य शक्तिशाली राष्ट्रों को बढ़ने का सुअवसर प्रदान किया। उसने समस्त यूरोप की पुरानी जर्जर व्यवस्था को गहरा धक्का दिया। उसके पतन के बाद भी कुछ समय तक प्रतिगामी तथा प्रगतिशील शक्तियों में संघर्ष होता रहा। प्रतिगामी शक्तियों ने समय की धारा को उलट देना चाहा। किन्तु उनका प्रयत्न विफल रहा। अन्त में प्रगतिशील शक्तियाँ ही विजयी हुईं और एक नवीन यूरोप का जन्म हुआ। इसका विशेष श्रेय नेपोलियन को ही प्राप्त है।

अध्याय ८

राष्ट्रीयता और लोकतंत्र का विकास—यूरोप

भूमिका

राष्ट्रीयता की परिभाषा, इसके तत्व और इसकी विजय के विषय में पहले भी कुछ कहा जा चुका है। मध्ययुग में तो सिद्धान्त का सर्वथा अभाव था। उस समय के दो बड़े संगठन—पवित्र रोमन साम्राज्य और चर्च राष्ट्रीयता के आधार पर संगठित नहीं थे। किन्तु उत्तरकालीन मध्ययुग में ही राष्ट्रीयता की भावना का उदय होने लगा था और इंगलैंड, फ्रांस, स्पेन तथा स्वीट्ज़रलैण्ड राष्ट्रीय राज्य के रूप में संगठित हो गए थे। किन्तु यूरोप के अन्य राज्य अभी इस सिद्धान्त से अप्रभावित रहे। आधुनिक युग में राष्ट्रीयता का सिद्धान्त सर्वव्यापक बन गया है। जैसे मध्ययुग में सामन्तवाद की प्रधानता थी वैसे ही राष्ट्रीयता आधुनिक युग की एक प्रमुख विशेषता है और इसी के आधार पर प्रायः सभी राज्यों का संगठन होने लगा है। प्रत्येक राज्य या देश के निवासी एक ही प्रकार की सभ्यता तथा संस्कृति के पोषक होते हैं। वे एक जाति के होते है, एक भाषा बोलते है और उनकी परम्परा तथा रहन-सहन में समता होती है। प्राकृतिक तथा मनोवैज्ञानिक ढंग से वे अपने को एक दूसरे से निकट अनुभव करते हैं। राजनीतिक दृष्टि से भी उनकी एक इकाई होती है। वस्तुतः लोकतन्त्रवाद राष्ट्रीयता का ही एक अंग है और अविच्छिन्न अंग है। लोकतन्त्रवाद से मतलब उस सरकार से है जो जनता की हो, जनता के द्वारा चलाई जाती हो और जो जनता के हित के लिए हो। इस तरह राष्ट्रीयता और लोकतन्त्रवाद में घनिष्ठ सम्पर्क है। लोकतन्त्रवाद को ही जनतन्त्र या प्रजातन्त्र कहते हैं।

राष्ट्रीयता का उत्थान

राष्ट्रीयता के उत्थान के कई कारण है। यहूदी इस सिद्धान्त के सर्वप्रथम जन्मदाता माने जाते हैं। दीर्घकाल तक अन्य लोग इससे प्रभावित नहीं हुए, लेकिन मध्ययुग के उत्तरकालीन भाग में इस सिद्धान्त को प्रमुखता प्राप्त हुई। सामन्तों और राजाओं में दीर्घकालीन संघर्ष हुआ जिसमें राजाओं को सफलता प्राप्त हुई। इस संघर्ष में जनता के प्रतिनिधियों ने भी राजा की ओर से भाग लिया था और सामन्तों को दबाया था। इस घटना ने राष्ट्रीयता को बड़ा ही प्रोत्साहित किया। निपुण तथा शक्तिशाली राजा के नेतृत्व में राष्ट्रीयता का अधिक विकास हुआ और जहाँ का राजा कमजोर था वहाँ यह

भावना दीर्घकाल तक विकसित नहीं हुई। अतः यूरोप के सभी राज्यों का राष्ट्रीय संगठन एक ही प्रकार से या एक ही धार में न हो सका। किसी-किसी देश पर विदेशियों के आक्रमण में भी इस सिद्धान्त को समुचित प्रोत्साहन मिला। इंगलैण्ड का फ्रांस तथा स्पेन के साथ युद्ध हुआ और इससे तीनों देशों में, खासकर इंगलैंड में राष्ट्रीय प्रवृत्ति जाग्रत हो उठी। मूरों के आक्रमण और आधिपत्य से स्पेन-वासियों का राष्ट्रीय संगठन हुआ। वे स्पेन से बहिष्कृत कर दिये गये।

पुनरुत्थान तथा धर्मसुधार आन्दोलन ने भी राष्ट्रीयता के सिद्धान्त को विकसित किया। पुनरुत्थान आन्दोलन ने लोगों के मानसिक दृष्टिकोण को विस्तृत किया जिसमें बौद्धिक विकास हुआ। बौद्धिक विकास होने से राष्ट्रीय विकास में सहायता मिली। धर्मसुधार आन्दोलन से धार्मिक संघर्ष पैदा हुआ और इससे राष्ट्रीय संगठन में सहायता पहुँची। राष्ट्रीय चर्च की स्थापना राष्ट्रीय गौरव का ही प्रतीक था। हेनरी अष्टम के समय पोप से सम्बन्ध-विच्छेद हुआ और एलिजाबेथ के समय में स्पेनी आर्मडा की पराजय हुई। आर्मडा की पराजय से अंग्रेजों के राष्ट्रीय गौरव में वृद्धि हुई। कैथोलिक स्पेन तथा फ्रांस से कुछ स्टुअर्ट राजाओं की मित्रता को राष्ट्रीय अपमान समझा गया और इससे अंग्रेजी जनता अपने शासक से रुष्ट हो गई। प्रोटेस्टेंट नीदरलैंड्सवासियों ने कैथोलिक स्पेन की स्वेच्छाचारिता, असहिष्णुता तथा शोषण की नीति से ऊब कर इसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया और वे स्वतन्त्र हो गए। इसी राष्ट्रीयता की भावना से प्रभावित होकर उन्होंने विलियम तृतीय के नेतृत्व में कैथोलिक फ्रांस के शक्तिशाली राजा लुई चतुर्दश को चुनौती दी। पूर्वीय सामुद्रिक मार्ग की खोज तथा समुद्र पार व्यापार के विस्तार ने भी राष्ट्रीय भावना को जाग्रत किया।

इन सभी बातों के अतिरिक्त कई देशों में ऐसे राष्ट्रीय लेखक उत्पन्न हुए जिन्होंने अपने लेखों द्वारा राष्ट्रीयता का प्रचार किया। मेकियावेली ऐसा ही प्रमुख लेखक था जो इटली का निवासी था।

इस दिशा में फ्रांसीसी क्रान्ति की देन को भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। अब तक राष्ट्रीयता के क्षेत्र तथा प्रभाव सीमित तथा संकुचित थे, किन्तु क्रान्ति ने इसके क्षेत्र तथा प्रभाव को व्यापक और विस्तृत बना दिया। क्रान्ति के पश्चात् सारा यूरोप राष्ट्रीयता के वेग से उद्विग्न हो उठा। सभी पराधीन देशों में नेपोलियन की साम्राज्यवादिता का संगठित विरोध हुआ। १८०८ ई० में स्पेन, पुर्तगाल, इटली और जर्मनी में राष्ट्रीय विप्लव हुए। आस्ट्रिया तथा रूस ने भी नेपोलियन की नीति का विरोध किया। अन्त में राष्ट्रीयता की भावना ने ही नेपोलियन को कुचल डाला। १८१३ ई० में लिपजिग

का युद्ध हुआ जिसमें कई राष्ट्रों ने भाग लिया था। अतः यह राष्ट्रों का युद्ध ही कहा जाता है और इसमें नेपोलियन पराजित भी हुआ।

राष्ट्रीयता, लोकसत्ता, स्वतन्त्रता और समानता—ये फ्रांसीसी राज्य-क्रान्ति के पवित्र मन्त्र तथा सन्देश थे। इनके नाम पर सहस्रों और करोड़ों नर-नारियों का बलिदान हुआ है—रक्त की धाराएँ प्रवाहित हुई हैं। शक्ति, सत्ता तथा स्वार्थ में मदान्ध पुरुष इन सिद्धान्तों के समर्थकों को प्राणदण्ड देते हैं—फाँसी के तख्तों पर झुला देते हैं। वे इस बात को भूल जाते हैं कि सैनिकों के आक्रमण का सामना किया जा सकता है, सिद्धान्तों के प्रचार का नहीं और व्यक्तियों के नाश होने से सिद्धान्तों का नाश नहीं होता। मरना तो मानव जन्म में ही निहित है। यदि किसी विचार के दबाने के हेतु किसी व्यक्ति का प्राण हरण किया जाता है तो उसके मरने के बाद भी उसका विचार उसके पीछे रह जाता है और उसके रक्त से वह और भी पुष्ट हो जाता है। ऐतिहासिक सत्य तो यह है कि सिद्धान्तों के दमन करने का जितना ही अधिक प्रयत्न किया जाता है, उतना ही अधिक उनका प्रचार होता है और अन्त में मानव-रक्त से अपना हाथ रंजित करने वाला सत्ताधारी भी स्वयं उनके वेग में बह जाता है। नेपोलियन पराजित हुआ, कैद हुआ और उसका मरण भी हुआ, पर क्या फ्रांसीसी राज्य-क्रान्ति के सिद्धान्त भी पराजित और कैद हुए? क्या इनका भी सेंट हेलेना के द्वीप में विनाश हुआ? क्रान्ति के सिद्धान्त तो सर्वसाधारण के हृदय-पट पर अंकित थे—उनके कर्ण-पट में गूँज रहे थे। पृथ्वी पर ऐसी कोई शक्ति नहीं थी जो हृदय-पट के इस अंकन को मिटाती—कर्णपट के इस गुंजन को बन्द करती। १९वीं और २०वीं शताब्दी में मानव-समाज ने इन सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने का भरपूर प्रयत्न किया और इसे अपने प्रयत्नों में आशातीत सफलता भी मिली।

वियना की व्यवस्था

१८१५ ई० के पेरिस की व्यवस्था तथा इसकी त्रुटियों का विवेचन किया जा चुका है। यह व्यवस्था पुरानी परम्परा पर आधारित थी और इसमें क्रान्ति के सिद्धान्तों की उपेक्षा की गई। यूरोप के निरंकुश राजाओं ने क्रान्ति और अराजकता को पर्यायवाची शब्द समझ रखा था। उन्होंने राज्यक्रान्ति को राजतन्त्र के विरुद्ध आवारों का विद्रोह मान लिया था। अतः क्रान्ति के सिद्धान्तों के प्रति उनका दृष्टिकोण घृणात्मक तथा संकीर्ण था। आस्ट्रिया का चांसलर मेटरनिक इस प्रतिक्रिया का महान् पोषक था। वह निरंकुशता के दुर्ग में एक छिद्र भी नहीं देखना चाहता था और इसकी सुरक्षा के लिए उसने भरपूर प्रयत्न किया। वियना की व्यवस्था की रक्षा के हेतु दो संघ कायम हुए। (क) पवित्र संघ—इसमें रूस, प्रशा तथा आस्ट्रिया सम्मिलित थे। इसका काम

इसके नाम के ठीक विपरीत था। (ख) चतुष्टय संघ—इसमें पवित्र संघ के सदस्यों के अतिरिक्त इंगलैण्ड शामिल था और कुछ काल के बाद फ्रांस भी इसका सदस्य बना। इसका उद्देश्य था कि राजनीतिक समस्याओं का समाधान सलाह तथा समझौते के द्वारा किया जायगा। लेकिन इंगलैण्ड को छोड़कर सभी सदस्य स्वार्थी और स्वेच्छाचारिता के समर्थक थे। वे अन्य राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने लगे। अतः इंगलैण्ड संघ से अलग हो गया और इसकी रीढ़ टूट गई। संघ के अन्य सदस्यों में भी पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष की भावना थी। अतः एक दशाब्दी के भीतर ही संघ का अन्त हो गया और फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति के सिद्धान्तों की क्रमशः विजय होने लगी। राष्ट्रीयता और प्रजातन्त्र की भावनाओं ने वियना के प्रतिक्रियावादी निर्णय को पलट दिया। इनकी विजय १९ वीं शताब्दी के इतिहास की एक प्रमुख विशेषता है।

स्पेन

सर्वप्रथम स्पेन में राष्ट्रीय आन्दोलन का बिगुल बजा। १८०८ ई० में नेपोलियन ने अपने भाई जोसेफ को स्पेन का राजा नियुक्त किया। स्पेनवासियों ने उसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया और उसे गद्दी का परित्याग करना पड़ा। १८१५ ई० के बाद दक्षिणी अमेरिका में स्पेनी उपनिवेशों ने भी स्पेन का विरोध किया और अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर ली। स्पेन राष्ट्रीय शक्ति का सामना करने में असमर्थ रहा। अतः उसने यूरोप के दूसरे देशों से मदद माँगी। प्रतिक्रिया का अवतार मेटरनिक ने सहायता देनी चाही किन्तु इंगलैण्ड ने सहयोग नहीं दिया। इस बीच राष्ट्रीयता के आधार पर राष्ट्रपति मुनरो ने भी यूरोपियों को अमेरिका में हस्तक्षेप नहीं करने का आदेश दिया। लगभग उसी समय मैक्सिको, कोलम्बिया, पेरू और चिली के राज्य स्वतन्त्र हुए। ब्राजील को भी पुर्त्तगाल के चंगुल से स्वतन्त्रता मिल गई। इस तरह १८३० ई० तक लगभग सम्पूर्ण दक्षिणी अमेरिका को यूरोप के शासन से मुक्ति मिल गई और वह स्वाधीनता की साँस लेने लगा।

यूनान तथा सर्विया

यूरोप के अन्य देशों में भी राष्ट्रवाद तथा लोकतन्त्रवाद की ज्वाला प्रज्वलित हो उठी और मेटरनिक के एड़ी-चोटी का पसीना एक करने पर भी उसकी लौ मन्द न पड़ी। यूनान में राष्ट्रीयता को गौरवपूर्ण विजय हुई। लगभग चार शताब्दियों से यूनान तुर्की साम्राज्य का अंग था और पराधीनता की बेड़ी में जकड़ा हुआ था। यूनानी इससे असन्तुष्ट थे और स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए मौके की ताक में थे। १८२१ ई० में उन्होंने स्वातन्त्र्य संग्राम छेड़ दिया। लेकिन उनमें वह शक्ति नहीं थी जिसका प्रदर्शन उन्होंने ५ वीं सदी ई० पू० में किया था। इस बार उन्हें विदेशी सहायता भी

हाँ नियुक्त किये जाते थे। बेल्जियम वालों की कुछ नहीं चलती थी। अन्याय का बाजार गर्म था। लेकिन मनुष्य के धैर्य की भी सीमा होती है। बेल्जियम वालों ने डचों के विरुद्ध एक दिन विद्रोह कर डाला और अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली। यूरोप के राज्यों ने भी उसकी स्वतन्त्रता स्वीकार कर ली।

पोलैण्ड ने भी रूस के विरुद्ध विद्रोह किया किन्तु ज़ार ने इसे निर्दयतापूर्वक दबा दिया। आस्ट्रिया के साम्राज्य में भी राष्ट्रीय भावना जाग्रत हो रही थी। क्रोशिया और डाल्मेशिया के स्लाव, हंगरी के मगयर और उत्तरी इटली के निवासी राष्ट्रीय एकता के लिए बेचैन थे। १८४८ ई० में यूरोप के अधिकांश भागों में क्रान्ति की अग्नि भभक उठी और वह साल 'क्रान्ति के साल' के नाम से विख्यात हो गया। किन्तु क्रान्ति सर्वत्र सफल नहीं हुई। मेटरनिक ने आन्दोलन को अपने जीवन-काल में अधिक बढ़ने नहीं दिया।

इस तरह कहीं-कहीं राष्ट्रवादी अपने प्रयत्न में असफल रहे लेकिन वे निराश नहीं हुए। उनका धैर्य और साहस बना रहा और राष्ट्रीय आन्दोलन विभिन्न देशों में धीरे-धीरे सशक्त होता गया। इटली तथा जर्मनी की राजनीतिक एकता राष्ट्रीयता के इतिहास में गौरवपूर्ण अध्याय है।

इटली का एकीकरण

१८१५ ई० की परिस्थिति

नेपोलियन की विजय से इटली में राष्ट्रीय भावना प्रस्फुटित हुई। उसने इटली को तीन भागों में विभाजित किया था और प्रत्येक भाग में उसी की प्रधानता थी। अब इटली के राज्यों का एकीकरण सम्भव प्रतीत हुआ। परन्तु १८१५ ई० में वियना की कांग्रेस ने इस आशा पर पानी फेर दिया। इटली एक विशाल देश होते हुए भी केवल भौगोलिक चिह्नमात्र रह गया। इसे कई छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त कर दिया गया और वहाँ विदेशियों की सत्ता स्थापित कर दी गई। उत्तर में वेनिस तथा लोम्बार्डी के प्रान्त आस्ट्रिया को सौंप दिये गए; मध्य में परमा, मोडेना और टस्कनी के राज्य आस्ट्रिया के सम्राट के ही निकट सम्बन्धियों को दिये गए; रोम के निकट के राज्यों में पोप के नेतृत्व में चर्च का शासन स्थापित हुआ; दक्षिण में नेपुल्स तथा सिसली में पुराने बोर्बन वंश का शासक नियुक्त किया गया। उत्तरी-पश्चिमी कोने में सार्डीनिया का एकमात्र देशी राज्य था जिसमें पीडमौंट को मिला दिया गया। इस प्रकार यूरोप के प्रतिक्रियावादियों ने इटली की एकता की सम्भावना को नष्ट कर देने का प्रयत्न

इटली के देशभक्त—मेजिनी तथा गैरीबाल्डी

देश की दयनीय दशा देखकर इटली के देशभक्त क्षुब्ध थे। उन्होंने इस स्थिति में सुधार लाने का प्रयत्न किया। किन्तु वे विदेशियों का सामना करने में समर्थ नहीं थे। अतः उन्होंने प्रारम्भ में गुप्त संस्थाएँ कायम कीं। कारबोनरी ऐसी ही एक संस्था थी जिसने नेपुल्स के शासक पर विधान स्वीकृत करने के लिए दबाव डाला। लेकिन आस्ट्रिया ने इस संस्था को दबा दिया। १८३० ई० में चर्च के राज्यों में विद्रोह हुआ और आस्ट्रिया ने उसे भी दबा दिया।

लेकिन इटली के लोगों में स्वतन्त्रता तथा देशभक्ति की जो भावना जाग्रत हो उठी थी उसे सदा के लिए सैन्यशक्ति से शान्त करना सम्भव नहीं था। देश के रंग-मंच पर कुछ ऐसे वीर नर-पुंगवों का आगमन हुआ जिन्होंने एकता स्थापित करने के लिए कमर कस लिया था। इनमें मेजिनी तथा गैरीबाल्डी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। मेजिनी (१८०५-७२ ई०) पहले कारबोनरी का एक सदस्य था, किन्तु १८३१ ई० में उसने 'तरुण इटली' नामक एक राजनीतिक संस्था स्थापित की। इसका उद्देश्य था विदेशी शासन का अन्त कर इटली में प्रजातन्त्र की स्थापना करना। इसके लिए शिक्षा का प्रचार और सैन्यशक्ति को सुदृढ़ करना आवश्यक समझा गया। वह सफल वक्ता तथा कुशल लेखक था। उसने अपनी वक्तृता तथा लेखों द्वारा देशभक्ति, त्याग तथा बलिदान की भावना को विकसित किया। मेजिनी के समान ही गैरीबाल्डी (१८०७-८२ ई०) भी उच्च कोटि का देश प्रेमी था किन्तु उसका रास्ता भिन्न था। वह सैनिक था और सैन्यबल के द्वारा ही इटली का एकीकरण करना चाहता था। उसने नवयुवकों की एक सेना भी कायम की जो 'लाल कुर्तियों (रेड शर्ट्स) के नाम से प्रसिद्ध है। ग्युबर्टी (१८०१-५२) सार्डीनिया का एक कैथोलिक था। वह भी इटली के संगठन का समर्थक था किन्तु वह चाहता था कि इटली का एकीकरण पोप के नेतृत्व में हो।

लेता। अलबर्ट भी योग्य सेनानायक नहीं था और आस्ट्रिया की सेना ने उसे दो युद्धों में हरा दिया। मेजिनी तथा गैरीबाल्डी ने पोप को पदच्युत कर रोम में लोकतन्त्र स्थापित किया, लेकिन फ्रांसीसी सेना के द्वारा वे पराभूत हो गए और पोप का पुनः राज्यारोहण हुआ। इस प्रकार इटली के नेता अपने प्रयत्न में असफल रहे किन्तु उनका *प्रयत्न पूर्णरूपेण व्यर्थ नहीं सिद्ध हुआ। इससे उन्हें लाभ भी हुए। यह स्पष्ट हो गया* कि देश का एक राजकुमार स्वातंत्र्य-आन्दोलन का नेतृत्व करने के लिए तैयार है। दूसरी बात यह थी कि विदेशी सत्ता के विरुद्ध पहले-पहल इटली के लोगों ने संयुक्त *प्रयत्न किया था। इससे उनमें एकता की भावना विकसित हुई।*

विक्टर इमैनुएल तथा कावूर

चार्ल्स अलबर्ट ने आस्ट्रिया के द्वारा पराजित होने पर राज्य का परित्याग कर दिया और उसका उत्तराधिकारी विक्टर इमैनुएल द्वितीय के नाम से सिंहासनारूढ़ हुआ। १८५२ ई० में इमैनुएल ने कावूर (१८१०-६१ ई०) को अपना प्रधान मंत्री बनाया। अब राजा और मंत्री—दोनों ने इटली के राष्ट्रीय संगठन का बीड़ा उठाया। दोनों ही उदारवादी, योग्य तथा दूरदर्शी व्यक्ति थे। कावूर उच्च कोटि का राजनीतिज्ञ था। उसकी प्रतिभा असाधारण थी। वह सार्डीनिया के राजा के नेतृत्व में इटली का एकीकरण करना चाहता था। उसने इंगलैंड की सहानुभूति प्राप्त की। लेकिन इतना ही पर्याप्त न था, विदेशी सहायता की भी आवश्यकता थी। वह सहायता केवल फ्रांस से ही मिल सकती थी। फ्रांस का राजा नेपोलियन तृतीय था। वह नेपोलियन प्रथम का भतीजा था और अपने चाचा के समान ही यश तथा नाम के लिए उत्सुक था। वह इटली की राजनीतिक संस्था कारबोनरी का भी सदस्य रह चुका था। अतः कावूर को विश्वास हो गया कि नेपोलियन तृतीय अवश्य ही उसका साथ देगा। १८५३ ई० में क्रीमिया के युद्ध में कावूर ने फ्रांस की सहायता के लिए सार्डीनिया की सेना भेजी। अब नेपोलियन कावूर के प्रति कृतज्ञ बन गया और सार्डीनिया की सहायता करने के लिए *सहर्ष प्रस्तुत हो गया। इमैनुएल और कावूर के प्रयास सफल हुए किन्तु इटली* की एकता शीघ्र ही प्राप्त नहीं हुई। इसमें पर्याप्त समय लगा और इसे कई सीढ़ियों से गुजरना पड़ा।

प्रथम सीढ़ी—नेपोलियन तृतीय के नेतृत्व में फ्रांसीसी सेना ने इटली में आस्ट्रिया पर आक्रमण किया। आस्ट्रिया की दो युद्धों में पराजय हुई। कावूर के हर्ष का अन्त न था। लोगों को ऐसी आशा हो गई कि अब आस्ट्रिया का इटली से बहिष्कार हो चुका। लेकिन लोगों की आशा पर पानी फिर गया, जब नेपोलियन ने अचानक आस्ट्रिया से सन्धि कर ली। यह एक बड़ी ही आश्चर्यजनक घटना हुई।

नेपोलियन के इस निर्णय के कई कारण थे। उसके हृदय में संयुक्त इटली के भविष्य में फ्रांस के लिए संकट की आशंका उत्पन्न हो गई। दूसरे, प्रशा आस्ट्रिया की मदद करने के हेतु राइन नदी के निकट सेना भेजने लगा। तीसरे, इटली के एकीकरण से इमैनुएल की महत्ता तथा गौरव में वृद्धि हो रही थी। इन्हीं सब कारणों से नेपोलियन ने विजय के मध्य ही आस्ट्रिया से संधि कर ली। अतः केवल लोम्बार्डी सार्डीनिया के राज्य में सम्मिलित हुआ और वेनिस आस्ट्रिया के ही अधीन रह गया। उत्तरी इटली की एकता अपूर्ण रह गई।

चित्र २८

तथा नेपुल्स पर अधिकार कर लिया और १८६० ई० में ये सार्डीनिया के राज्य के अंग बन गये।

चौथी सीढ़ी—अब पोप के राज्य, रोम और वेनिस संयुक्त इटली से अलग रह गये। गैरीबाल्डी रोम पर भी धावा बोलना चाहता था। लेकिन इससे फ्रांस के साथ युद्ध छिड़ जाने की आशंका थी क्योंकि पोप की सहायता के लिये फ्रांसीसी सेना रोम मे बैठी थी। अतः काव्र ने गैरीबाल्डी का समर्थन नहीं किया। लेकिन इमैनुएल ने अपनी सेना के साथ पोप के राज्य में प्रवेश किया। फलस्वरूप कई प्रदेश उसके अधीन आ गए। यह राष्ट्रवादियों का चौथा प्रयास था। १८६१ ई० में प्रथम इटालियन पार्लियामेंट की बैठक हुई जिसमें इमैनुएल संयुक्त इटली का राजा घोषित किया गया। इसके कुछ दिनों के पश्चात् काव्र की मृत्यु भी हो गई।

पाँचवीं और छठवीं सीढ़ियाँ—१८६६ ई० में प्रशा ने आस्ट्रिया पर आक्रमण किया। उसी समय इटली की सेना ने वेनिस पर भी चढ़ाई कर दी किन्तु इसे मुँहकी खानी पड़ी। परन्तु प्रशा विजयी हुआ और उसी के प्रयास से वेनिस इटली को प्राप्त हो गया। अब केवल रोम बच रहा। १८७० ई० में प्रशा तथा फ्रांस के बीच युद्ध छिड़ा। फ्रांस को अपनी सेना रोम से वापस बुलानी पड़ी। इसी सुअवसर को पाकर इमैनुएल ने रोम पर अधिकार कर लिया। अब इटली की राजधानी ट्यूरिन से हटाकर रोम में कायम की गई। पोप की सांसारिक शक्ति का अन्त हो गया। इस प्रकार लगभग २० वर्षों में इटली को एकता प्राप्त हो सकी और वह एक राष्ट्रीय राज्य में परिवर्तित हो सका।

जर्मनी का एकीकरण

१८४८ ई० के पूर्व जर्मनी की स्थिति—इटली की भाँति जर्मनी में भी नेपोलियन प्रथम ने राष्ट्रीय भावना को जाग्रत कर एकता के लिए मार्ग प्रस्तुत कर दिया था। किन्तु १८१५ ई० में यूरोप के प्रतिक्रियावादी निरंकुश राजाओं ने जर्मनी को राष्ट्रीय एकता के मार्ग में भी रोड़ा अटका दिया। आस्ट्रिया के अधीन ३६ स्वतन्त्र जर्मन राज्यों का एक ढीला ढाला संघ कायम किया गया। राजनीतिक और वैधानिक आन्दोलन दबा दिये गये। व्यापारिक तथा औद्योगिक विकास के लिए कोई सम्भावना नहीं रही। इस तरह प्रतिक्रिया की विजय हुई परन्तु यह विजय स्थायी नहीं थी। १८४८ ई० तक जर्मनी में संगठन के दो साधन वर्तमान थे। १८१५ ई० में जर्मन राज्यों का एक संघ कायम हुआ था जिसकी चर्चा अभी की जा चुकी है; किन्तु इससे एकीकरण के कार्य में कोई विशेष सहायता नहीं प्राप्त हुई। फिर भी अतीत की तुलना में संघ का निर्माण भी उपेक्षणीय नहीं था। दूसरे, १८१८ ई० में प्रशा के नेतृत्व में

एक व्यापारिक संघ कायम हुआ। इसे 'जोलवेरिन' भी कहा जाता है। इसके द्वारा जर्मनी के सभी राज्यों ने व्यापारिक क्षेत्र में सभी पारस्परिक बन्धनों को तोड़ दिया। इससे जर्मनी में प्रशा के नेतृत्व में व्यापारिक एकता स्थापित हो गई। शुरू में १८ राज्य इसमें शामिल हो गये। व्यापारिक एकता की स्थापना से राजनीतिक एकता के लिए मार्ग प्रशस्त हो गया। अतः एकता के कार्य-सम्पादन में व्यापारिक संघ से यथेष्ट सहायता मिली।

१८४८ ई० की क्रान्ति

१८३० ई० की क्रान्ति का जर्मनी पर व्यापक प्रभाव नहीं पड़ा। किन्तु १८४८ ई० की क्रान्ति ने जर्मनी में उथल-पुथल मचा दिया। वहाँ के उदारवादियों ने राष्ट्रीय एकता के लिए अथक परिश्रम किया। जर्मनी का विधान बनाने के हेतु फ्रैंकफर्ट में राष्ट्रीय पार्लियामेंट की बैठक की गई। पार्लियामेंट ने प्रशा के राजा फ्रेडरिक विलियम चतुर्थ को राजमुकुट समर्पित किया। परन्तु उसने राजमुकुट स्वीकार नहीं किया। उसे आस्ट्रिया से भय था। राजमुकुट स्वीकार करने में आस्ट्रिया के साथ युद्ध की आशंका थी, जिसे वह मोल लेना नहीं चाहता था। अब पार्लियामेंट में गतिरोध पैदा हो गया और कोई ठोस कार्य नहीं हो सका। फ्रेडरिक विलियम ने प्रशा के लिए एक नवीन विधान स्वीकार किया। वह जर्मन राज्यों का एक संघ भी स्थापित करना चाहता था किन्तु आस्ट्रिया के विरोध से उसका प्रयास सफल न हो सका।
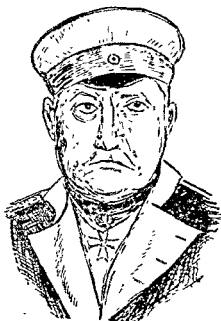
चित्र १६—बिस्मार्क

१८४८ ई० के बाद

आस्ट्रिया और प्रशा के बीच ईर्ष्या-द्वेष की भावना बहुत दृढ़ थी। एक की उन्नति

दूसरे की निराशा तथा चिन्ता का विषय थी। अतः प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी का संगठन शान्तिपूर्ण एवं वैधानिक ढङ्ग से सम्भव नहीं प्रतीत होता था। इसके लिये अस्त्र-शस्त्र की नीति आवश्यक थी। १९वीं सदी के उत्तरार्द्ध में इसी नीति के समर्थकों के लिये जर्मनी का रंगमञ्च भी खाली हो गया जिस पर दो विलक्षण पुरुषों का प्रादुर्भाव हुआ—विलियम प्रथम और ओटोवान बिस्मार्क।

विलियम प्रथम तथा बिस्मार्क

फ्रेडरिक विलियम चतुर्थ के बाद उसका भाई विलियम प्रथम के नाम से प्रशा की गद्दी पर आरूढ़ हुआ। वह शासक तो था ही, उसमें एक सैनिक के सभी गुण वर्तमान थे। वह व्यावहारिक और दूरदर्शी था। उसका दृढ़ विश्वास था कि प्रशा की सारी उन्नति उसकी सैन्य शक्ति पर ही निर्भर करती है। अतः सैनिक संगठन करना नितान्त आवश्यक है। लेकिन इसके लिए अधिक धन-व्यय करने की आवश्यकता थी। प्रशा की पार्लियामेंट इसके पक्ष में नहीं थी। बिस्मार्क राजा का कट्टर समर्थक था। अतः विलियम ने १८६२ ई० में उसे अपना प्रधान मन्त्री नियुक्त किया।

बिस्मार्क प्रशा का एक सुशिक्षित जमींदार था। इटली के भाग्य विधाता कावूर की भाँति वह प्रशा के नेतृत्व में जर्मन राज्यों का संगठन चाहता था। किन्तु उसका साधन भिन्न था। कावूर की तरह वह उदारवादी और वैधानिकता का समर्थक नहीं था। वह निरंकुश राजतन्त्र का प्रबल पक्षपाती था। उसका यह दृढ़ विश्वास था कि प्रशा के राजा के अधीन हिंसा के द्वारा ही जर्मनी में एकता स्थापित की जा सकती है। वह वाद-विवाद, भाषण तथा प्रस्तावों को व्यर्थ बतलाता था। अतः उसने लौह तथा रक्तपात की नीति अपनायी। जर्मनी के एकीकरण के लिए वहाँ से आस्ट्रिया का बहिष्कार आवश्यक था और आस्ट्रिया के बहिष्कार के लिए एक विशाल सुसंगठित सेना की आवश्यकता थी। इस तरह राजा और मन्त्री दोनों के मतों में समता थी। बड़ी सभा में राजपक्ष का ही बहुमत था। अब राजा और बड़ी सभा के सहयोग से छोटी सभा के मत के विरुद्ध सैन्य-संगठन का कार्य शुरू हुआ। बिस्मार्क ने सेना में वृद्धि की और इसका ऐसा संगठन किया कि वह यूरोप में सर्वोत्तम सेना बन गई। इसी सेना के सहारे उसने विरोधियों और दुश्मनों को पराजित किया और जर्मनी की एकता स्थापित की।

डेनमार्क के साथ युद्ध (१८६४ ई०)

आस्ट्रिया के साथ युद्ध (१८६६ ई०)

बिस्मार्क आस्ट्रिया के साथ युद्ध का बहाना ढूंढ रहा था। विजित उपराज्यों के विभाजन पर प्रशा और आस्ट्रिया में मतभेद हो गया जिससे दोनों में युद्ध अनिवार्य
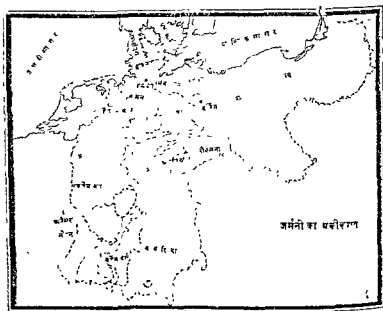
चित्र २०—जर्मनी का एकीकरण

हो गया। बिस्मार्क ने कूटनीति से आस्ट्रिया को मित्रहीन बना दिया। उसने इटली को वेनिस देने का वादा कर उसकी मित्रता प्राप्त की। रूस तटस्थ रहा क्योंकि पोलों के विद्रोह के समय बिस्मार्क ने रूस को मदद करने का वादा किया था। नेपोलियन तृतीय भी तटस्थ रहा। उसे बिस्मार्क की शक्ति के विषय में पूरी जानकारी नहीं थी। उसने अनुमान किया कि आस्ट्रिया के साथ युद्ध दीर्घकाल तक जारी रहेगा जिसमें

जर्मनी के राजकुमार ल्योपोल्ड को चुना गया लेकिन फ्रांस ने इसका घोर विरोध किया। ल्योपोल्ड को स्पेन का सिंहासन प्राप्य होकर अस्वीकार करना पड़ा। यह बिस्मार्क की प्रथम कूटनीतिक पराजय थी। फिर भी नेपोलियन इतने ही से सन्तुष्ट नहीं हुआ। वह प्रशा के सम्राट विलियम से प्रतिज्ञा करवाना चाहता था कि वह ल्योपोल्ड के पक्ष का कभी भी समर्थन नहीं करे। विलियम ने ऐसी प्रतिज्ञा नहीं की। उसने फ्रांसीसी दूत से भेंट तक नहीं की। उसने इन सभी बातों की खबर एक तार के द्वारा बिस्मार्क को दे दी। बिस्मार्क ने कुछ हेर-फेर कर तार को पत्रों में प्रकाशित कर दिया जिससे यह आशय निकलता था कि विलियम ने फ्रांस के दूत का अपमान किया है। बस, अब क्या था? जिस अवसर की प्रतीक्षा हो रही थी वह आ गया। फ्रांसीसी क्रुद्ध हो उठे और उन्होंने प्रशा के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया। यह जर्मनी का राष्ट्रीय संघर्ष था जिसमें दक्षिणी राज्यों ने भी फ्रांस के विरुद्ध सक्रिय भाग लिया। सेडान का प्रसिद्ध निर्णयात्मक युद्ध हुआ जिसमें फ्रांसीसी पराजित हुये। फ्रैंकफर्ट की सन्धि हुई। फ्रांस ने अलसेस लोरेन का प्रान्त जर्मनी को सौंप दिया और क्षतिपूर्ति के रूप में एक बहुत बड़ी रकम देने का वादा किया। वादा पूरा होने के समय तक फ्रांस के एक भू-भाग पर जर्मन सेना रखने का निश्चय हुआ।

अब जर्मनी का एकीकरण पूर्ण हो गया। १८७१ ई० में जर्मन साम्राज्य का निर्माण हुआ और प्रशा के राजा विलियम प्रथम को इस साम्राज्य का सम्राट घोषित किया गया। बर्लिन में इसकी राजधानी स्थापित हुई।

फ्रैंको-जर्मन युद्ध ने इटली की एकता को भी पूर्ण बना दिया। युद्ध के समय फ्रांसीसी सेना रोम से वापस बुला ली गई। उसी समय इमैनुएल ने अपनी सेना भेजकर रोम पर अधिकार कर लिया। अब रोम भी इटली में सम्मिलित हो गया और यहीं वहाँ की राजधानी निश्चित हुई। अब पोप की भौतिक शक्ति जाती रही और वह वेटिकन में एक कैदी के रूप में रहने लगा।

बिस्मार्क का मूल्यांकन

बिस्मार्क आधुनिक जर्मनी का निर्माता था। वह परिश्रमी, साहसी तथा दूरदर्शी था। उसकी राजनीतिक प्रतिभा अपूर्व थी और कूटनीति में वह बेजोड़ था। तत्कालीन यूरोप के राजनीतिज्ञ उसके हाथ के खिलौने थे। उसकी निर्णयात्मक शक्ति विलक्षण थी। एक बार किसी निर्णय पर पहुँचने पर वह उसे पूर्ण करके ही छोड़ता था। वह अच्छी तरह जानता था कि कब, क्या और किस प्रकार करना चाहिए। वह हिंसात्मक नीति का प्रबल पोषक था और वैधानिकता उसके लिए विदेशी चीज थी। वह प्रशा तथा प्रशा के राजा का कट्टर समर्थक था। वह जर्मनी की एकता के लिए भी प्रशा

का अस्तित्व मिटाने के लिए तैयार नहीं था, अतः प्रशा की ही प्रधानता में उसने जर्मनी की एकता स्थापित की।

इटली तथा जर्मनी के एकीकरण का तुलनात्मक अध्ययन

इस प्रकार १८७१ ई० तक इटली तथा जर्मनी का एकीकरण सम्पन्न हुआ। दोनों के एकीकरण का तुलनात्मक अध्ययन बड़ा ही मनोरंजक है। दोनों देशों में एकीकरण की प्राप्ति राष्ट्रीयता की महान् विजय है। दोनों देशों में एक-एक राज्य ने राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व किया—इटली में सार्डीनिया और जर्मनी में प्रशा। इन दोनों राज्यों के राजा तथा मन्त्री बड़े ही योग्य थे। सार्डीनिया के राजा विक्टर इमेनुएल और प्रशा के राजा विलियम प्रथम थे। कावूर तथा बिस्मार्क क्रमशः उनके मन्त्री थे जिनकी व्यावहारिक बुद्धि तथा अद्भुत प्रतिभा के फलस्वरूप दोनों देशों की एकता प्राप्त हो सकी।

इन कुछ समताओं के होते हुए इनमें विभिन्नता भी पर्याप्त रूप में पायी जाती है। दोनों देशों की एकता-प्राप्ति के साधन तथा तरीके विभिन्न थे। कावूर वैधानिकता तथा शान्तिपूर्ण ढङ्ग का समर्थक था किन्तु बिस्मार्क हिंसात्मक नीति का पक्षपाती था। अतः इटली की एकता की प्राप्ति में दो शताब्दी से अधिक समय लगा लेकिन जर्मनी की एकता एक दशाब्दी से भी कम समय में प्राप्त हो गई।

ग्रेटब्रिटेन में लोकतन्त्रात्मक शासन

यह पहले ही देखा जा चुका है कि १६८८ ई० की रक्तहीन क्रान्ति के द्वारा इंगलैंड का राष्ट्रीय संगठन दृढ़ हो गया था और राजा की निरंकुशता को मिटा कर पार्लियामेंट की सत्ता स्थापित हुई थी। १७०७ ई० में इंगलैंड तथा स्कॉटलैंड का पार्लियामेंटरी संयोग हुआ और यह संयुक्त राज्य ग्रेटब्रिटेन के नाम से प्रसिद्ध हुआ। १८०० ई० में आयरलैंड का ग्रेटब्रिटेन के साथ संयोग हुआ, किन्तु यह संयोग स्थायी न रह सका, जैसा कि आगे की घटनाओं से स्पष्ट होगा। १७८३ ई० में पिट मन्त्रि-मंडल की स्थापना के साथ पार्लियामेंटरी प्रणाली सुदृढ़ हो गई। १७९३ से १८१५ ई० तक ग्रेटब्रिटेन क्रान्तिकारी फ्रान्स तथा नेपोलियन के विरुद्ध युद्ध में संलग्न रहा और इसने गौरवमय विजय प्राप्त की। औद्योगिक क्रान्ति ने उसे विश्व की उद्योगशाला बना ही डाला था, १८१५ ई० में वह संसार की सर्वश्रेष्ठ शक्ति समझा जाने लगा। परन्तु वहाँ अब तक लोकतन्त्र शासन प्रणाली का उदय नहीं हो सका था। १६८८ से १८३२ ई० तक इंगलैंड अभिजाततन्त्रात्मक था और शासन में सर्वसाधारण का कोई हाथ नहीं था।

क्रान्ति ने ग्रेटब्रिटेन की सामाजिक तथा धार्मिक व्यवस्था को पूर्णरूपेण बदल दिया था। अतः अब उसकी राजनीतिक व्यवस्था में भी परिवर्तन आवश्यक हो गया। १९वीं शताब्दी तक ग्रेटब्रिटेन में प्रजातन्त्र की स्थापना भी हो गई। १८३२, १८६७, १८८४-८५ ई० में पार्लियामेंट की प्रतिनिधित्व और मताधिकार प्रणालियों में सुधार हुए और मध्यम वर्ग तथा श्रमिक वर्ग को मताधिकार दे दिया गया। अब सर्वसाधारण के प्रतिनिधि पार्लियामेंट में जाने लगे और विभिन्न क्षेत्रों में सुधारों का ताँता बँध गया। १९वीं शताब्दी के अधिकांश भाग (१८३७-१९०१ ई०) में महारानी विक्टोरिया का शासन रहा और इस काल में पील, पामर्स्टन, डिजरैली तथा ग्लैडस्टन की प्रधानता थी।

२०वीं शताब्दी में पुरुष तथा स्त्री दोनों को समानता के आधार पर मताधिकार दे दिया गया और ग्रेटब्रिटेन पूर्ण रूप से लोक सत्तात्मक बन गया। यहाँ तक कि अब मजदूरों की सरकार भी बनने लगा। राज्य में लोक सभा प्रधान और लार्ड सभा गौण बन गयी हैं।

रूस

पीटर महान तथा कैथेराईन के शासन काल में १८वीं शताब्दी में ही रूस का राष्ट्रीय संगठन हो गया था किन्तु प्रथम महायुद्ध के समय तक यहाँ का शासन विशुद्ध निरंकुश बना रहा। जार का शासन स्वेच्छाचारिता का प्रतीक था। १९१७ ई० में बोलशेविकों ने जार और जारशाही दोनों का ही अन्त कर डाला और यहाँ समाजवादी प्रजातन्त्र सरकार की स्थापना हुई।

राष्ट्रीयता के गुण-दोष

राष्ट्रीयता की गौरवपूर्ण विजय के विकास का अध्ययन कर चुकने के पश्चात इसके गुण दोषों का विवेचन करना आवश्यक है।

गुण

राष्ट्रीयता ने सभ्यता तथा संस्कृति के विकास में महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया है। इसका यह तात्पर्य है कि प्रत्येक राष्ट्र को राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में प्रत्येक राष्ट्र के लिए आत्मनिर्णय के सिद्धान्त का यह समर्थन करती है। इसने परतन्त्रता की बुराइयों और स्वतन्त्र राष्ट्र की प्रगति करने की क्षमता को प्रदर्शित किया है। इसने राष्ट्र के लिए व्यक्तिगत त्याग एवं बलिदान करने का पाठ पढ़ाया है और इसके नाम पर सैकड़ों तथा सहस्रों व्यक्ति अपने प्राणों की आहुति दे चुके हैं। राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत व्यक्तियों के सामने अग्नि के अंगार, बम के विस्फोट तथा तोप के ताप भी तुच्छ हो जाते हैं। उनके नाम इतिहास के पृष्ठों में स्वर्णाक्षरों में अंकित होते हैं। वे मरकर भी अमर हो जाते हैं। जब राष्ट्र के लिए बलिदान करने

का उदाहरण उपस्थित है तो किसी दिन सम्पूर्ण मानव-समाज के कल्याण के लिए भी त्याग किया जा सकता है। राष्ट्रीयता के ही समुचित विकास से अन्तर्राष्ट्रीयता का विकास सम्भव हो सकता है और अन्तर्राष्ट्रीयता का विकास वर्तमान युग की एक बहुत बड़ी आवश्यकता है। राष्ट्रीयता की ही शरण में जाकर कमजोर राष्ट्र सम्राज्यवाद का सामना कर अपनी रक्षा कर सकता है। राष्ट्रीयता ने कला तथा साहित्य को भी बहुत प्रोत्साहित किया है।

दोष

उपरोक्त गुणों के वर्णन से यह न समझ लेना चाहिए कि राष्ट्रीयता कोई ऐसी निर्दोष देवी है जिसकी आराधना आँख मूँद कर करनी चाहिए। इसमें कुछ अवगुण भी हैं जिनके प्रति सदा सतर्क रहने की आवश्यकता है। अति किसी भी वस्तु की बुरी होती है। राष्ट्रीयता जब अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है तो वह उग्र रूप धारण कर लेती है। उग्रता धारण करने पर इसका स्वरूप विकृत हो जाता है, यह कट्टर तथा संकीर्ण बन जाती है और इससे सैनिकीकरण तथा साम्राज्यवाद की भावना को प्रोत्साहन मिलता है। इसका अन्तिम परिणाम युद्ध होता है। फासिज्म और नात्सीवाद का उत्थान और पतन इसी विकृत राष्ट्रीयता का फल है।

१६वीं तथा २०वीं शताब्दी में इसने व्यापारवाद को प्रोत्साहित किया जिसके फलस्वरूप शक्तिशाली राष्ट्रों में उपनिवेश-प्राप्ति के लिए घोर प्रतियोगिता शुरू हो गई। इसी के परिणामस्वरूप वर्तमान शती में दो विश्वव्यापी युद्ध हुए जिनके परिणाम समस्त संसार के लिए भयकर हुए हैं।

अतः यह आवश्यक है कि राष्ट्रीयता का विकास उचित ढंग से किया जाय। इसके दोषों से बचने के लिए कुछ नियमों का पालन करना अत्यावश्यक है। सभी राष्ट्रों के द्वारा युद्ध के साधन का बहिष्कार कर देना चाहिए। दूसरे, एक शक्तिशाली अन्तर्राष्ट्रीय संघ रहना चाहिए जो आक्रमणकारियों को उचित सजा दे सके। तीसरे, बड़े राष्ट्रों के द्वारा छोटे तथा कमजोर राष्ट्रों के शोषण करने का विचार त्याग देना चाहिए। जब तक मानव-मस्तिष्क में क्रान्ति नहीं होगी, हृदय में शुद्ध निःस्वार्थ भाव का सृजन नहीं होगा तब तक किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय संघ या कानून से मानव समाज का वास्तविक कल्याण नहीं होगा।

अध्याय ६

आधुनिक युग का महारोग—साम्राज्यवाद

भूमिका

साम्राज्यवाद कोई बिल्कुल नई चीज नहीं है जो केवल आधुनिक युग की ही विशेषता रही हो। इसकी प्रगति प्रत्येक युग में हुई है, किन्तु इसके विकास के कारणों तथा नीतियों में विभिन्नता पाई जाती है। प्राचीन युग में मेसोपोटेमिया तथा मिश्र में साम्राज्यवाद का उदय हुआ था। सिकन्दर ने एक विशाल साम्राज्य की नींव खड़ी की थी। भारत ने भी मौर्य तथा गुप्तकाल में साम्राज्य स्थापित किया था। किन्तु साम्राज्यवाद के विकास में सबसे अधिक रोमन आगे बढ़े थे। रोमन साम्राज्य विस्तृत तथा सुसगठित था। मध्य युग में भी अरबवासियों तथा मंगोलों ने विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी। लेकिन आधुनिक साम्राज्यवाद बहुत ही व्यापक है और इसका जन्म-

[illegible]

भरपूर शोषण किया। जब इसका विरोध होना शुरू हुआ तो उन्होंने धन तथा बारूदा [illegible] ा प्रयत्न किया। लेकिन उनके [illegible] स्वार्थ तथा अन्याय के पथ पर थे [illegible] ो क्रूर आक्रमणकारी तथा लुटेरे [illegible] लिया उतना ही अधिक विजित राष्ट्रों का नैतिक बल बढ़ता गया, जनशक्ति में वृद्धि होती गई। अन्त में जनशक्ति के सामने विजेताओं को आत्मसमर्पण कर अपने देश में वापस लौटना पड़ा।

औपनिवेशिक संघर्ष

इंगलैंड और स्पेन तथा हालैंड

इस क्षेत्र में सर्वप्रथम पुर्तगाल तथा स्पेनवासियों ने आगे कदम बढ़ाया। यह पहले ही बताया जा चुका है कि १४६२ ई० में पुर्तगालवासी वास्कोडिगामा ने उत्तमाशा अंतरीप होते हुए भारतवर्ष आने का मार्ग ढूँढ निकाला और स्पेनवासी कोलम्बस ने ६ वर्ष बाद अमेरिका का अन्वेषण किया। १५वीं तथा १६वीं शताब्दियों में इन दोनों

ने साम्राज्य-विस्तार के क्षेत्र में सबसे अधिक नाम कमाया, किन्तु १६ वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में इनकी अवनति होने लगी। स्पेन के सम्राट फिलिप द्वितीय ने १५८० ई० में पुर्तगाल को स्पेन में मिला लिया। इसका पुर्तगाल के व्यापार पर विनाशकारी प्रभाव पड़ा। अब भारत में गोआ, डामन तथा ड्यू को छोड़कर उसके पास अन्य कोई उपनिवेश नहीं रहा। स्पेन के उपनिवेश अमेरिका तथा फिलिपाइन में थे। दक्षिणी अमेरिका में स्पेनी उपनिवेश बड़ी ही उन्नत दशा में थे किन्तु धीरे-धीरे स्पेन भी यूरोप में दुर्बल होता गया। इंगलैण्ड स्पेन का सबसे बड़ा दुश्मन था। वह प्रोटेस्टेंट था तो स्पेन कैथोलिक। इसके अतिरिक्त व्यापारिक तथा औपनिवेशिक क्षेत्रों में दोनों ही प्रबल प्रतिद्वंद्वी थे। दोनों में युद्ध अवश्यंभावी था जो ऐलिज़ाबेथ के राजकाल में ही हो गया। १५८८ ई० में आरमेडा का युद्ध हुआ जिसमें इंगलैण्ड ने स्पेन को बुरी तरह पराजित किया। आरमेडा की पराजय के पश्चात् स्पेन पतनोन्मुख हो गया और अँग्रेजों के सौभाग्य सूर्य का उदय हुआ। उनके उपनिवेशीकरण तथा व्यापार-विस्तार के लिए मार्ग सुगम हो गया।

डच तथा फ्रांसीसी भी अँग्रेजों के प्रतिद्वन्द्वी थे किन्तु १७ वीं शताब्दी में फ्रांसीसियों की अपेक्षा डचों की प्रतिद्वन्द्विता अधिक प्रबल थी। मसालों के व्यापार के लिए भारत-वर्ष तथा पूर्वी द्वीपसमूह में उन तीनों का प्रवेश हुआ। १७वीं सदी में भारत में शक्तिशाली मुगल साम्राज्य स्थापित था। अतः उन्हें साम्राज्य-स्थापना के लिए उपयुक्त अवसर नहीं मिला। किन्तु मुगल सम्राटों की आज्ञा से इन्हें व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त हो गईं और उनकी कोठियाँ खुलने लगीं। पूर्वी द्वीप-समूह में डचों की प्रधानता थी। इंगलैण्ड तथा फ्रांस को उत्तरी अमेरिका में उपनिवेश स्थापित करने में अधिक सफलता मिली और दक्षिणी अमेरिका में भी स्पेन ने उन्हें व्यापारिक सुविधा प्रदान कर दी। अब इंगलैण्ड, फ्रांस तथा हालैण्ड के बीच द्वेष की भावना का विकास होने लगा। वे व्यापार तथा उपनिवेश के क्षेत्रों में एक दूसरे को नीचा दिखाने का भरपूर प्रयत्न करने लगे। अन्त में विजयश्री अँग्रेजों को ही प्राप्त हुई। अँग्रेजों ने डचों के विरुद्ध अनेक कानून पास किये। नेविगेशन ऐक्ट सबसे अधिक प्रभावकारी कानून था, जिसने डचों की व्यापारिक सत्ता पर गहरी चोट कर उन्हें विशेष क्षति पहुँचाई। १६५१ ई० में यह नियम पास हुआ था। इसके अनुसार इंगलैण्ड तथा इसके अधिकृत प्रदेशों में बाहर से माल अँग्रेजी जहाजों में या निर्यात करने वाले देश के जहाजों में आ सकते थे, अन्य किसी जहाज में नहीं। इसका भी भीषण परिणाम हुआ। डचों के व्यापार में भयंकर मन्दी आ गई। इसके अतिरिक्त इंगलिश चैनल में अँग्रेज नाविक डच नाविकों को अँग्रेजी झंडे के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के लिए बाध्य करते थे। अतः १६५२ ई० में आंग्ल डच युद्ध शुरू हो गया। डच पराजित हुए किन्तु

अभी भी दोनों के झगड़े का अंतिम निर्णय नहीं हुआ। चार्ल्स द्वितीय के राज्यकाल (१६६०-८५ ई०) में फिर दो बार युद्ध हुए और डचों को आत्मसमर्पण करना पड़ा। १६८८ ई० में इंगलैण्ड की गद्दी पर विलियम तृतीय के राज्याभिषेक के साथ दोनों के द्वेष का अंत हो गया क्योंकि विलियम डच जाति का ही था।

प्रथम ब्रिटिश साम्राज्य

१७ वीं शताब्दी में डचों की शक्ति का ह्रास हो गया। इंगलैण्ड के इतिहास में यह शताब्दी प्रथम ब्रिटिश साम्राज्य के निर्माण के लिए प्रसिद्ध है। उत्तरी अमेरिका के पूर्वी तट पर अंग्रेजों ने विभिन्न समय में १२ उपनिवेशों की स्थापना कर ली। उत्तर में न्यूयार्क, न्यूजर्सी, डेलावेयर और पेंसिलवेनिया; मध्य में मेसेचुसेट्स, कनेक्टिकट, न्यू हैम्पशायर और रोड द्वीप और दक्षिण में वर्जीनिया, मेरीलैण्ड तथा उत्तरी और दक्षिणी कैरोलिना नाम के १२ उपनिवेश स्थित थे। भारत में भी ईस्ट इंडिया कम्पनी अपनी व्यापारिक कोठियाँ जहाँ-तहाँ कायम कर रही थी।

इंगलैंड तथा फ्रांस

अब इंगलैण्ड को दूसरे प्रतियोगी फ्रांस का सामना करना पड़ा। भारत तथा अमेरिका में दोनों ही एक दूसरे के प्रबल प्रतिद्वन्द्वी थे। भारत में पाण्डिचेरी तथा चन्द्र-नगर में, और अमेरिका में कनाडा में फ्रांसीसियों का ही आधिपत्य था। दोनों में संघर्ष अनिवार्य था। फ्रांस एक महत्वाकांक्षी राष्ट्र था और अपने औपनिवेशिक तथा व्यापारिक विस्तार के लिए प्रयत्नशील था। वह कैथोलिक राज्य था और स्टुअर्ट शासन-काल में इंगलैण्ड की कैथोलिक जनता को प्रोटेस्टेंटों के विरुद्ध उत्तेजित करने की चेष्टा करता था। वह १६८८ ई० की महान् क्रान्ति और इसके परिणामों को मानने के लिए तैयार नहीं था और वह जेम्स द्वितीय और उसके उत्तराधिकारियों की सहायता करता रहा। इंगलैण्ड का शासक विलियम तृतीय भी फ्रांस का कट्टर शत्रु था। इन सब कारणों से इंगलैण्ड तथा फ्रांस में शत्रुता बढ़ती गई और १८वीं शताब्दी में दोनों के बीच में अनेक युद्ध हुए। इन युद्धों के परिणामस्वरूप ब्रिटिश-साम्राज्य-विस्तार में आशातीत वृद्धि हुई।

१७०२—१३ ई० तक स्पेन के उत्तराधिकार का युद्ध हुआ। इसमें स्पेन तथा फ्रांस बुरी तरह पराजित हुए और यूट्रेक्ट की सन्धि में जिब्राल्टर तथा माइनोरका अंग्रेजों को मिले और इससे भूमध्य सागर का मार्ग सुरक्षित हो गया। इंगलैण्ड को स्पेनिश अमेरिका से दास-व्यापार करने के लिए अधिकार मिला। फ्रांस ने न्यूफाउन्ड-लैण्ड, नोवास्कोशिया और हडसन खाड़ी के प्रदेशों को अंग्रेजों के हाथ में सौंप दिया। इस प्रकार ब्रिटिश साम्राज्य के क्षेत्र में विस्तार हुआ और इंगलैंड विश्व की सर्वश्रेष्ठ सामुद्रिक शक्ति बन गया।

लेकिन अभी दोनों में मित्रता नहीं स्थापित हो सकी बल्कि आंतरिक द्वेष चलता रहा और सप्तवर्षीय युद्ध (१७५६—६३ ई०) में इसका विस्फोट हुआ। सभी युद्धों में यह युद्ध विशेष उल्लेखनीय है। इस समय इंगलैण्ड में बड़े पिट का नेतृत्व था। वह बड़ा ही मेधावी और प्रतिभाशाली था। वह फ्रांस को योरप में व्यस्त रखकर अमेरिका तथा भारत में इंगलैंड की प्रधानता स्थापित करना चाहता था। अतः उसने योरप में प्रशा को खूब आर्थिक सहायता दी। योरप, अमेरिका तथा भारत—सभी जगहों में फ्रांस बुरी तरह पराजित हुआ। पेरिस की सन्धि हुई। इंगलैण्ड को कनाडा, नोवास्कोशिया, केप ब्रिटेन तथा कुछ पश्चिमी द्वीप मिले। स्पेन ने फ्लोरिडा इंगलैण्ड को सौंप दिया। अब भारत तथा अमेरिका में अँग्रेजों का एकाधिकार स्थापित हो गया। भारत में केवल माही, कालीकट, पांडीचेरी और चन्द्रनगर फ्रांसीसियों के अधिकार में रहे। अँग्रेजों की सामुद्रिक सत्ता भी दृढ़ हो गई। अब योरप का कोई राज्य उनकी जल-शक्ति को चुनौती देने की क्षमता नहीं रखता था। धीरे-धीरे एक शताब्दी के भीतर उन्होंने सम्पूर्ण भारत पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। कालांतर में इंगलैण्ड ने ऐसा विशाल साम्राज्य स्थापित किया जिसमें सूर्यास्त कभी नहीं होता था।

इस तरह प्रथम ब्रिटिश साम्राज्य अपनी उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँच गया परन्तु निकट भविष्य में ही उसके लिये संकट सुरक्षित थे। १७७५ ई० में अमेरिकावासियों ने विद्रोह कर दिया और अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर ली। हम इसकी विस्तारपूर्वक चर्चा कर चुके हैं। इस प्रकार ब्रिटिश साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। परन्तु अंग्रेजों ने इससे कुछ शिक्षा ग्रहण की, अपनी नीति में उदारवादिता का समावेश किया और १९वीं शताब्दी में द्वितीय ब्रिटिश साम्राज्य का विकास किया।

१७९३ से १८१५ ई० तक फ्रांस समस्त योरप के साथ युद्ध में संलग्न रहा। इंगलैंड के अतिरिक्त सभी राज्य नेपोलियन के सामने झुक गये। इंगलैंड को हराने के लिए उसने अपनी सारी शक्ति लगा दी फिर भी वह पराजित नहीं हो सका और उसके सामने नेपोलियन को ही आत्मसमर्पण करना पड़ा। १८१५ ई० में वियना की सन्धि हुई। सेंट लूसिया, टुबैगो, ट्रीनीडाड, डच गियाना और होन्डूरस इंगलैंड को मिले। उत्तमाशा अंतरीप, सिलोन, मौरिसस, माल्टा तथा हेलीगोलैंड पर भी अंग्रेजों का अधिकार हो गया। इंगलैंड की शक्ति पुनः चरम सीमा पर पहुँच गई। पूरे एक सदी तक १८१५ से १९१४ ई० तक द्वितीय ब्रिटिश साम्राज्य का संगठन तथा विस्तार होता रहा। कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, न्यूफाउन्डलैंड तथा दक्षिणी अफ्रीका के संघ इस साम्राज्य के मुख्य अंग थे। धीरे-धीरे आंतरिक क्षेत्र में इन राज्यों ने स्वराज्य प्राप्त कर लिया था। किन्तु वैदेशिक तथा अंतर्राष्ट्रीय मामलों में ये अभी ग्रेट-ब्रिटेन पर ही निर्भर थे। ये डोमीनियन के नाम से प्रसिद्ध थे और डोमीनियन स्टेट्स के नाम से

इनका-पद सूचित किया जाता था। इनके अतिरिक्त इस साम्राज्य में अनेक आश्रित और संरक्षित राज्य भी सम्मिलित थे।

औपनिवेशिक प्रगति में मन्दी

१६वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में औपनिवेशिक प्रगति में मन्दी आ गई। १८वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अमेरिकी उपनिवेश मातृभूमि के विरुद्ध विद्रोह कर स्वतन्त्र हो गये थे। अतः उपनिवेशों की उपयोगिता तथा राज्य-भक्ति में इंगलैंड के राजनीतिज्ञों को शंका उत्पन्न हो गई। बाद में कनाडा ने भी स्वराज्य प्राप्त कर लिया। अतः साम्राज्य-विस्तार में अंग्रेजों की कोई विशेष अभिरुचि नहीं रही। उनका उत्साह शिथिल हो गया। यूरोप के अन्य राज्यों में भी क्रान्ति तथा वैधानिक संकट के कारण स्थिति संगीन थी। अतः फ्रांस, जर्मनी, इटली आदि देश भी औपनिवेशिक दौड़ में भाग लेने में समर्थ नहीं थे।

नये साम्राज्यवाद का उदय और कारण

लेकिन १६वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में परिस्थिति बदल गई और साम्राज्यवाद की प्रगति में उन्नति होने लगी। १८७० ई० के बाद इसका विकास होने लगा और यह इतिहास में 'नवीन साम्राज्यवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके उदय के कई कारण थे।

१. औद्योगिक क्रान्ति—नवीन साम्राज्य के उदय का प्रमुख कारण यूरोप की औद्योगिक क्रान्ति थी जिसने अनेक समस्याएँ उत्पन्न कर दी थीं। इसने कल-कारखानों का प्रचार किया जिसमें मालों के उत्पादन में दिन दूनी रात चौगुनी वृद्धि होने लगी। देश के ही बाजारों में समस्त मालों का विक्रय होना सम्भव नहीं था। अतः विदेशी बाजारों की भी नितान्त आवश्यकता थी। इतना ही नहीं, कल-कारखानों के लिये अपने ही देश में पर्याप्त कच्चे माल भी नहीं मिलते थे। इसके लिये भी बाहर से पूर्ति करना आवश्यक था। इस तरह बाजार तथा कच्चे माल के लिये उपनिवेश स्थापित करना अनिवार्य हो गया। उद्योग प्रधान देशों में अन्न की भी समस्या उठ खड़ी हुई। कई देशों में कृषि का ह्रास होने लगा और अन्न के लिये भी उपनिवेशों पर निर्भर रहना पड़ा। इस प्रकार उपनिवेशों के लिये औद्योगिक देशों में कटु प्रतियोगिता चल पड़ी।

पिछड़े हुए देशों में पूँजी लगाने से लाभ दीख पड़ता था क्योंकि वहाँ प्रतियोगिता का भाव नहीं था, कच्चे माल आसानी से मिल सकते थे और मजदूरी भी सस्ती थी। व्यवसाय के लिए पर्याप्त क्षेत्र था जिसमें अधिक नफा हो सकता था। इंगलैंड ने अपने पूँजी-पतियों के हित की रक्षा के लिये ही मिस्र में हस्तक्षेप करने के लिए अवसर प्राप्त किया था। इसी दृष्टि से जर्मनी ने भी मोरक्को में प्रवेश किया था।

३. साम्राज्य-विस्तार से जनसाधारण को लाभ—पूँजीपति अपने देश की आर्थिक नीति को प्रभावित करने लगे। वे इस बात का प्रचार करते थे कि साम्राज्य-विस्तार से वाणिज्य-व्यापार का विकास होगा और इससे राष्ट्रीय सम्पत्ति की वृद्धि होगी। राष्ट्रीय सम्पत्ति बढ़ने से राष्ट्र का विविध प्रकार से हित होगा और जीवन-स्तर ऊपर उठेगा।

४. साम्राज्य-विस्तार से राष्ट्रीय गौरव—साम्राज्य-विस्तार राष्ट्र के गौरव का प्रतीक समझा जाने लगा। जिस देश का साम्राज्य जितना ही अधिक विस्तृत था वह उतना ही अधिक शक्तिशाली एवं प्रतिष्ठित समझा जाता था। इस तरह सर्वसाधारण के सहयोग के लिये पूँजीपतियों ने उनकी राष्ट्रीय भावना को जाग्रत किया। साम्राज्य-प्रसार का विरोधी देश-द्रोही समझा जाने लगा। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति ने तो राष्ट्रीय भावना को उभाड़ ही दिया था। जर्मनी तथा इटली जैसे नवोदित राष्ट्र साम्राज्य-विस्तार के लिये बड़े ही भूखे थे। फ्रांस भी १८७० ई० में प्रशा से पराजित हो बड़ा ही लज्जित हुआ था और बाहर उपनिवेश स्थापित कर अपनी खोयी हुई प्रतिष्ठा को प्राप्त करना चाहता था। ऐसे ही कई अन्य देश भी अपने राज्य की सीमा बढ़ाकर प्रतिष्ठित बनने के लिए उत्सुक थे।

५. आत्म-निर्भरता की भावना—यूरोप के प्रायः प्रत्येक देश में राष्ट्रीय चेतना हो गई थी। प्रत्येक देश आर्थिक क्षेत्र में भी एक दूसरे से स्वतन्त्र रहना चाहता था। अन्य देश पर निर्भर रहना अपनी मानहानि समझी जाती थी। अतः प्रत्येक देश अपने को शक्तिशाली तथा सुसम्पन्न देखना चाहता था। वह दुर्बल देश को अपने चंगुल में फँसाने के लिए चिन्तित था। इस तरह अर्थ नीति राष्ट्रीयता तथा आत्म निर्भरता के भाव से प्रभावित थी। उपनिवेशों तथा अर्धसभ्य देशों का अधिक शोषण कर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करना ही नये साम्राज्यवाद का प्रमुख लक्ष्य था।

६. जनसंख्या की वृद्धि—उद्योगप्रधान देशों में जनसंख्या की वृद्धि होती थी। अतः अतिरिक्त जनसंख्या को बाहर जाकर उपनिवेशों में बसने के लिये प्रोत्साहित किया गया। लेकिन इस कथन में आंशिक सत्य है। व्यवहार में ऐसा देखा गया है कि कई देशों से लोगों ने अपने उपनिवेशों की अपेक्षा अन्य देशों में ही जाना पसन्द किया

है। १६वीं सदी के अन्तिम चरण में जितने अंग्रेज संयुक्त राज्य अमेरिका में गये उतने ब्रिटिश उपनिवेशों में नहीं गये। ऐसे ही बहुत से जर्मन भी अपने उपनिवेशों को छोड़ कर अमेरिका में ही गये थे। अतः कुछ विद्वानों के मतानुसार जनसंख्या के लिए उपनिवेश-स्थापना एक बहाना था।

७. यातायात में अद्भुत सुविधा—विज्ञान के कारण यातायात में बहुत सुविधा हो गयी थी। रेल, जहाज, तार आदि का प्रचार बढ़ने लगा था। दूरी संक्षिप्त होने लगी थी और आयात-निर्यात में सुविधा हो गयी। अतः शक्तिशाली राष्ट्रों के लिये दूरस्थ पिछड़े देशों पर आधिपत्य जमाना सरल हो गया। इस तरह यातायात के उन्नत साधनों से भी साम्राज्यवाद को प्रोत्साहन मिला।

८. जहाजी बेड़े एवं बन्दरगाहों की आवश्यकता—उपनिवेशों की रक्षा तथा व्यापार करने के लिये सबल जहाजी बेड़े की आवश्यकता हुई। जहाजों के विश्राम के लिए बन्दरगाह भी चाहिए जहाँ वे कोयले-पानी लेंगे और माल चढ़ाये-उतारे जावेंगे। इसी उद्देश्य से ग्रेटब्रिटेन ने १८१५ ई० में लंका तथा उत्तमाशा अन्तरीप को अधिकृत किया था।

९. मध्यम वर्ग की प्रधानता—हम देख चुके हैं कि फ्रांस की राज्य क्रान्ति से मध्यम वर्ग विशेष लाभान्वित हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय तथा प्रजातान्त्रिक राज्यों में भी इस वर्ग की प्रधानता थी। मध्यम वर्ग वाणिज्य-व्यापार के विकास में विशेष अभिरुचि रखता था। अतः साम्राज्य-विस्तार में भी उसकी अधिक अभिरुचि रहती थी।

१०. अन्वेषक तथा साहसिक—अन्वेषकों तथा साहसी यात्रियों के प्रयास से नये-नये देशों की खोज होती थी। जिस देश का नागरिक किसी नये देश का पता लगाता था तो वह अपने देश का झंडा वहाँ गाड़ देता था और वह उसके साम्राज्य का भाग समझा जाता था। इस तरह अफ्रीका के अधिकांश भागों पर यूरोपीय राज्यों का अधिकार स्थापित हुआ।

११. अश्वेतों को सभ्य बनाने की दलील—इस समय तक यूरोपीय सभ्यता एवं संस्कृति ने पर्याप्त उन्नति कर ली थी। यूरोपवासी अपने को सुसभ्य और संसार के अन्य भागों के निवासियों को असभ्य समझते थे। इन पिछड़े भागों में अपनी सभ्यता एवं संस्कृति का प्रचार कर लोगों को सभ्य बनाना वे अपना परम पावन कर्त्तव्य समझते थे। इसे वे 'श्वेत मनुष्य के भार' के नाम से पुकारते थे। उनका ऐसा दृढ़ विश्वास था कि साम्राज्यवाद के ही द्वारा इस कर्त्तव्य का पालन किया जा सकता है। यहाँ उनके विचारों में कई त्रुटियाँ पायी जाती हैं। पहिले तो उनकी सभ्यता मुख्यतः यन्त्रकलात्मक थी। कई दृष्टियों से भारत तथा चीन की सभ्यता यूरोपीय सभ्यता से

उन्नतर थी। दूसरे, साम्राज्यवाद को ही सभ्यता-प्रचार का उत्तम साधन मान लेना गलत था। अन्य उपायों से भी सम्पर्क स्थापित कर सभ्यता का प्रचार किया जा सकता था। तीसरे, इस बात में भी तथ्य नहीं था कि यूरोपीय सभ्यता के प्रचार से अश्वेतों का हित होगा। सच बात तो यह थी कि यूरोपवासी सभ्यता-प्रचार के बहाने अपना उल्लू सीधा कर रहे थे—परदे की आड़ में अपना स्वार्थ सिद्ध कर रहे थे।

१२. ईसाई धर्म का प्रचार—ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिये भी साम्राज्यवाद का सहारा लिया गया। ईसाई पादरी दूर-दूर देशों में धर्म प्रचार के लिये गये। यह ठीक है कि धर्म का प्रचार हुआ, महात्मा ईसा के उपदेशों पर प्रकाश डाला गया तथा दीन-दुखियों की सहायता के लिये भी कुछ कार्य किये गये। किन्तु ये सारी बातें भी गौण ही रहीं। धर्म-प्रचार के बहाने साम्राज्यवाद को ही प्रोत्साहन मिला। धर्म प्रचारक पादरी आये—उनके पीछे व्यापारी तथा राज कर्मचारी आने लगे। बस, अब क्या था, फिर वही शोषण एवं स्वार्थ सिद्धि की परम्परा का अनुसरण करना। धर्म प्रचारकों की रक्षा का उत्तरदायित्व उनकी सरकारों के ही ऊपर रहता था। धर्म-प्रचारकों के हित की रक्षा करने के ही बहाने जर्मनी को दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका में राज्य-विस्तार करने का मौका मिला। चीन में दो जर्मन पादरियों का वध कर दिया गया था। अतः इसी घटना से लाभ उठाकर जर्मनी ने कियाचाऊ प्रदेश को अधिकृत कर लिया। धर्म एवं सभ्यता, व्यापार एवं व्यवसाय के ही नाम पर अंग्रेजों ने भारत में कौन-सा कुत्सित कर्म नहीं किया? एक ही देश में पादरी ईसा का गुणगान करते थे तो राज कर्मचारी कुकृत्यों में अभिरुचि प्रदर्शित करते थे।

औपनिवेशिक विस्तार के क्षेत्र

औपनिवेशिक विस्तार के लिए आस्ट्रेलिया महाद्वीप में अब विशेष स्थान नहीं था। १८७० ई० तक इसका उपजाऊ भू भाग बसाया जा चुका था। अमेरिका का द्वार यूरोप के लिए बन्द था, क्योंकि वहाँ मुनरो सिद्धांत प्रचलित था। इसका तात्पर्य था कि अमेरिका अमेरिकनों के लिए है, विदेशियों को किसी प्रकार हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है। अफ्रीका और एशिया महादेश ऐसे थे जहाँ शोषण तथा साम्राज्य-प्रसार के लिये विशेष सम्भावना थी। अतः यूरोपीय राष्ट्रों का ध्यान इन दोनों महादेशों की ओर आकृष्ट हुआ।

(क) अफ्रीका

आन्तरिक खोज

१९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक यूरोपियनों का अफ्रीका महादेश का ज्ञान बहुत ही सीमित था। इसके भीतरी भाग की जानकारी उन्हें कुछ भी नहीं थी। वे इसे 'अंध

१९वीं सदी के प्रमुख साम्राज्य

चित्र २१

महादेश' कहते थे। इसके कई कारण थे। अफ्रीका जंगलों से भरा था, जहाँ जलवायु अच्छी नहीं थी, वहाँ सहारा का विशाल रेगिस्तान है और कड़ाके की गर्मी पड़ती है। उत्तम बन्दरगाहों तथा अन्य व्यापारिक सुविधाओं की कमी थी। आदिम निवासी भी विदेशियों को बुरी दृष्टि से देखते थे। १८४० ई० तक अफ्रीका में गुलामों का व्यापार होता था। वहाँ के हब्शी गुलाम बनाकर अमेरिका आदि देशों में भेजे जाते थे, किन्तु धीरे-धीरे दास-व्यापार की प्रथा बन्द हो चली। अब भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अफ्रीका के आंतरिक भागों की खोज जरूरी हो गई। लिविंगस्टोन, स्टेनली, स्पीक तथा बेकर जैसे साहसी अन्वेषकों ने इस दिशा में प्रयास किया और वे सफलीभूत हुये।
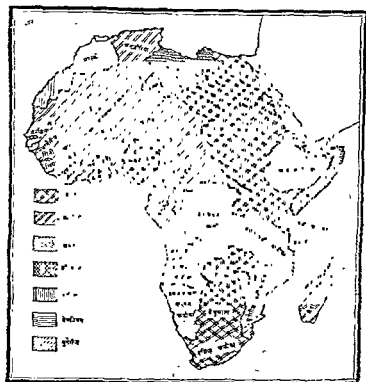
चित्र २२—अफ्रीका का विभाजन

इस प्रसंग में ईसाई पादरियों की देन के विषय में उल्लेख करना आवश्यक है।

अन्वेषकों में अधिक संख्या इन्हीं पादरियों की थी जिन्होंने अनेक कष्टों को झेलते हुये अपने प्राणों को हथेली पर रख, अध महादेश के भीतरी भागों में पर्यटन किया। इन्हीं के द्वारा यूरोपियनों को अफ्रीका का ज्ञान हुआ। वहाँ व्यापारियों ने प्रस्थान किया। अंत में सैनिकों का आगमन हुआ।

डेविड लीविंगस्टोन एक स्कॉट डाक्टर था। १८४० ई० में वह लंदन-पादरी-समाज की ओर से दक्षिणी अफ्रीका में गया और एक दशक के बाद उसने भीतरी मार्गों का भ्रमण शुरू किया। उसने लम्बी लम्बी कष्टपूर्ण तथा आश्चर्यजनक यात्राएँ कीं। उसने जाम्बेजी नदी के मार्ग का अनुसरण कर विक्टोरिया तथा न्यांजा झीलों की जानकारी प्राप्त की। एक बार वह रास्ता भूलकर दीर्घकाल तक बीहड़ जंगलों में भटकता रहा, उसके विषय में किसी को कोई खबर नहीं मिलती थी। उसी की खोज में स्टेनली चला। वह वेल्स का निवासी था और एक समाचार-पत्र का संवाददाता था। उसने अफ्रीका में भ्रमण किया और लिविंगस्टोन की खोज की। बाद में अन्य यात्रियों ने लिविंगस्टोन तथा स्टेनली का अनुसरण किया। स्पीक ने विक्टोरिया झील के दक्षिणी भाग की खोज की और सर्वप्रथम इसे नील नदी का उद्गम स्थान बतलाया।

अफ्रीका का विभाजन

बेलजियम के राजा लियोपोल्ड द्वितीय ने १८७६ ई० में योरप के राष्ट्रों की ब्रुसेल्स में एक सभा बुलाई। उसने अफ्रीका की महत्ता बतलाई। लगभग १ दशाब्दी बाद उसने स्वतन्त्र कांगो-राज्य को अपने अधीन स्थापित किया। रबर का व्यापार भी होने लगा। लेकिन उसने ईसाई धर्म के प्रचार में कोई दिलचस्पी नहीं दिखलाई। १६०८ ई० में उसने कांगो राज्य को बेलजियम सरकार के हाथ बेच दिया और यह बेलजियम राज्य का एक अंग बन गया।

यूरोप के अन्य देश भी पीछे नहीं रहे। इंगलैंड, जर्मनी, फ्रांस, इटली आदि देशों ने बेलजियम का अनुसरण किया। कुछ लोगों ने अफ्रीका को सभ्य बनाने या ईसाई धर्म का प्रचार करने का स्वाँग रचा, किन्तु अधिकांश लोग तो कल-कारखानों के लिए कच्चे माल और उनसे बने माल की खपत के लिए बाजार की खोज में थे। बड़े-बड़े पूँजीपति अपनी पूँजी के सदुपयोग के लिये विशाल क्षेत्र चाहते थे। अतः इन राज्यों ने अफ्रीका में व्यापार के लिये अपनी-अपनी कंपनियाँ खोल दीं। सेसील रोड्स नामक एक अँग्रेज ने बेचुआनालैंड तथा रोडेशिया पर अधिकार स्थापित किया और व्यापार के द्वारा अकूत धन प्राप्त किया। लुडरीज नाम का एक जर्मन व्यापारी दक्षिण-पश्चिम में तटीय भागों में व्यापार करने लगा। इस तरह यूरोप के राष्ट्रों द्वारा अफ्रीका की नोंच-खसोट शुरू हुई जिससे विभिन्न राज्यों में संघर्ष छिड़ गया। कई मौकों पर तो

१८३० ई० में उसने अल्जीरिया पर अधिकार कर लिया था। १८८१ ई० में उसने ट्यूनिस पर भी अधिकार स्थापित किया किन्तु उस पर इटली का भी दाँत लगा हुआ था। अतः ३० वर्ष तक इन दोनों में ट्यूनिस को लेकर संघर्ष चलता रहा। अंत में यह भी फ्रांस के ही अधिकार में रहा। अलजीरिया और ट्यूनिस के अतिरिक्त फ्रेंच वेस्ट अफ्रीका, फ्रेंच कांगो, फ्रेंच सोमालीलैंड, मोरक्को तथा मेडागास्कर फ्रांस को मिले। इटली के हाथ में इटालियन सुमालीलैंड, लीबिया और इरीटिया आये। जर्मनी को कैमरून, टोगोलैंड, दक्षिणी-पश्चिमी अफ्रीका तथा पूर्वी अफ्रीका मिले। पुर्तगाल के अधिकार में गिनी, पुर्तगीज पश्चिमी अफ्रीका तथा पुर्तगीज पूर्वी अफ्रीका आये। पश्चिमी तट पर रियोडीओरो को स्पेन ने अधिकृत किया।

अबीसीनिया तथा लाइबेरिया नामक दो प्रदेश स्वतन्त्र बच गये। अबीसीनिया का दूसरा नाम इथोपिया है। इस पर इटली का दाँत लगा हुआ था। किंतु जब दोनों में संघर्ष हुआ तो इटली को मुँह की खानी पड़ी। परन्तु मुसोलिनी के नेतृत्व में फासिस्ट सरकार ने १९३६ ई० में इस पर बलात् अधिकार कर लिया। किंतु इटली अपनी विजय का फल बहुत दिनों तक नहीं भोग सका। दूसरे महायुद्ध में इटली पराजित हुआ और अबीसीनिया पुनः स्वाधीन हो गया। लाइबेरिया के राज्य को हब्शी गुलामों ने कायम किया था और वहाँ अमेरिका का कुछ प्रभाव दीख पड़ता था। इस समय भी ये दोनों राज्य स्वाधीन हैं।

(ख) एशिया

भूमिका

अफ्रीका की भाँति एशिया भी यूरोपीय साम्राज्यवाद का शिकार हुआ, किन्तु एशिया में विदेशियों के लिए पैर जमाना आसान नहीं था। एशिया के कई देश प्राचीन सभ्यता तथा संस्कृति के केन्द्र हैं। लेकिन कालांतर में एशियाई राष्ट्र का गौरव अतीत का विषय बन गया और वे अवनति के मार्ग पर चलने लगे। उनकी प्राचीन प्रतिभा और शक्ति नष्ट होने लगी और वे लकीर के फकीर बन गए। वे औद्योगीकरण की दौड़ में पीछे पड़ गए। उनकी आर्थिक तथा राजनीतिक प्रणालियाँ असामयिक तथा ढीली हो गई थीं। कई राज्यों में अराजकता फैली हुई थी। अतः एशिया के देशों में व्यापारिक तथा औपनिवेशिक विस्तार के लिये अनुकूल वातावरण था और यूरोप के साम्राज्यवादी राष्ट्रों ने इससे समुचित लाभ भी उठाया। यह भी याद रखना चाहिये कि एशिया में साम्राज्यवाद की घोर प्रतियोगिता में अमेरिका तथा जापान ने भी भाग लिया।

भारतवर्ष

विदेशी भारत की असीम धन-दौलत की कहानी सुनते थे और इस पर उनकी लोलुप दृष्टि लगी हुई थी। १५वीं सदी के अन्त में सर्वप्रथम पुर्तगाल निवासी वास्को-डिगामा भारत के पश्चिमी तट पर कालीकट में पहुँचा। तत्पश्चात् भारत के साथ पुर्तगाल का भी व्यापार सम्बन्ध कायम हो गया और लगभग एक शताब्दी तक इस व्यापार पर उसका एकाधिकार बना रहा। पुर्तगालवासियों ने कुछ उपनिवेश भी स्थापित कर लिये और गोआ में उनकी राजधानी रही। १७वीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारत से व्यापार करने के लिये ब्रिटिश तथा डच कम्पनियाँ खुलीं और क्रमश: सूरत तथा चिनसुरा में उनकी कोठियाँ कायम हुईं। इसी शताब्दी के मध्य में फ्रांस ने भी एक कंपनी खोल दी। अब चारों विदेशी जातियों—पुर्तगीज, डच, अंग्रेज तथा फ्रांसीसी—में घोर प्रतियोगिता शुरू हुई। १७वीं शताब्दी के अन्त तक पुर्तगीजों का पतन हो चुका था। शाहजहाँ के शासन-काल में उन्होंने बंगाल में बड़ा उपद्रव किया। वे लोगों को बलात् गुलाम तथा ईसाई बनाने लगे। शाहजहाँ ने उनकी अच्छी खबर ली और बहुत से पुर्तगीज मौत के घाट उतार दिये गये। लेकिन भारत की तीन बस्तियों गोआ, डेमन और ड्यू पर पुर्तगालियों का अधिकार बना रहा।

डच लोगों की विशेष दिलचस्पी पूर्वी द्वीप समूह में थी क्योंकि वहाँ मसाले का व्यापार बहुत लाभदायक था। अब भारत का क्षेत्र अंग्रेजों तथा फ्रांसीसियों के लिए खुला रहा। बम्बई, मद्रास और कलकत्ते में अंग्रेजों की व्यापारिक कोठियाँ खुल चुकी थीं। पांडीचेरी और चन्द्रनगर में फ्रांसीसी लोग थे। १७०७ ई० के बाद से भारतवर्ष की राजनीतिक दशा बहुत ही बुरी होने लगी थी। सर्वत्र अराजकता फैल रही थी। इससे विदेशी व्यापारी अनुचित लाभ उठाने की चेष्टा करने लगे। फ्रांसीसी गवर्नर डूप्ले ने दक्षिणी राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करना शुरू किया। इससे अंग्रेज चिंतित हो गए। वे फ्रांसीसियों के पीछे जी जान से पड़ गये। इसका परिणाम हुआ युद्ध। दोनों के बीच तीन युद्ध हुए जो कर्नाटक युद्ध के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन युद्धों के फलस्वरूप फ्रांसीसियों की शक्ति का ह्रास हो गया और अंग्रेजों की प्रतिष्ठा तथा उत्साह में बहुत वृद्धि हो गई। इसी समय क्लाइव के योग्य नेतृत्व में अंग्रेज बंगाल में अपना प्रभाव स्थापित कर रहे थे। उन्होंने पलासी के युद्ध (१७५७ ई०) में बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला को पराजित किया और अपने अनुकूल संधि की। फिर १७६४ ई० में उन्होंने बक्सर के युद्ध में बंगाल के नवाब मीर कासिम, अवध के नवाब शुजाउद्दौला तथा भारत के मुगल सम्राट् शाहआलम द्वितीय को हराया और दूसरे साल बंगाल और बिहार की दीवानी प्राप्त की। अब ईस्ट इंडिया कम्पनी

भारत में केवल व्यापारिक संस्था ही नहीं रही, बल्कि वह एक राजनीतिक शक्ति भी बन गई।

अब भारत के कुछ राजाओं की आँखें खुलीं और उन्होंने अंग्रेजों को भारत से निकालने के लिये भरपूर प्रयत्न किया। ऐसे राजाओं में मैसूर के हैदरअली तथा उसके पुत्र टीपू सुलतान के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। ये दोनों अंग्रेजों से लड़ पड़े थे किन्तु निजाम तथा मराठों ने उनकी सहायता नहीं की और उनके सभी प्रयत्न विफल हुये।

किन्तु निजाम तथा मराठे भी अंग्रेजों के शिकार हुये। मुगल सम्राट औरंगजेब भी मराठों को नहीं दबा सका था। उसकी मृत्यु के बाद तो इनका सितारा ही चमक उठा था। दक्षिण में ये बहुत प्रबल हो गये थे। राजा साहू के समय में शासन-सूत्र पेशवा के हाथ में चला गया था। प्रथम तीन पेशवाओं के समय में मराठों ने उत्तरी भारत में अपना राज्य-विस्तार किया। किन्तु इनमें बहुत दिनों तक एकता नहीं रही। ये हिंसात्मक नीति से काम ले रहे थे, अतः १७६१ ई० में पानीपत के युद्ध में अहमद शाह अब्दाली के हाथ मराठों की बुरी तरह पराजय हुई। बाद में वे कुछ उठे किन्तु स्थायी रूप से नहीं। केन्द्रीय शक्ति पूर्व की भाँति सबल नहीं हो सकी। १८०२ ई० में नाना फड़नवीस की मृत्यु हो गई और बाजीराव द्वितीय ने पेशवा होने के लिये अंग्रेजों से एक संधि कर ली। लार्ड वेलेजली के समय में मराठों ने युद्ध में हार कर सहायक संधि की। उन्होंने सभी शर्तें मान लीं। लार्ड हेस्टिंग्स के समय १८१८ ई० में पेशवा के पद का अन्त कर दिया गया। मराठा राज्य अंग्रेजी साम्राज्य में मिला लिया गया।

भारतीय राज्यों में एकता तथा पारस्परिक सहयोग का सर्वथा अभाव था। अतः वे अंग्रेजों के विरुद्ध कभी भी संयुक्त मोर्चा उपस्थित नहीं कर सके। अंग्रेजों ने बारी-बारी से उन सभी राज्यों को युद्ध में हराया और ब्रिटिश साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। इस प्रकार मराठों के अतिरिक्त राजपूत, सिक्ख आदि अन्य जातियों की भी स्वतन्त्रता का अपहरण हो गया। लार्ड डलहौजी के समय (१८४८-५६ ई०) में बहुत से देशी राज्यों ने अंग्रेजों से संधि कर उनकी प्रभुता स्वीकार कर ली। इस तरह १९वीं सदी के मध्य तक सम्पूर्ण देश पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया। १८५७-५८ ई० में अंग्रेजी शासन के विरुद्ध भयंकर विद्रोह हुआ किन्तु वह सफल नहीं हो सका। अब कम्पनी के राज्य का अन्त हो गया और भारत के शासन का भार ब्रिटिश सरकार ने अपने हाथ में ले लिया। ब्रिटिश पार्लियामेंट की देख-रेख में भारत के शासन का प्रबन्ध होने लगा। अब यहाँ का गवर्नर जेनरल वायसराय भी बन गया। १५ अगस्त, १९४७ ई० तक भारत पर अंग्रेजों का प्रभुत्व अक्षुण्ण बना रहा।

भारतवर्ष में अंग्रेजों ने अपने साम्राज्य का सुदृढ़ संगठन किया। अंग्रेजी राजभाषा बना दी गई और स्कूलों, कालेजों तथा विश्वविद्यालयों में इसी के माध्यम से शिक्षा दी जाने लगी। अंग्रेजी प्रणाली में पाले-पोसे गए नवयुवकों का दृष्टिकोण परिवर्तित होने लगा। भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति में अधिकांश लोगों की श्रद्धा घट गई और उन पर अंग्रेजियत का गाढ़ा रंग चढ़ गया। वे ब्रिटिश सरकार के परम भक्त बन गये। वे हर बात में आज्ञाकारी शिष्य के समान अपने शीश झुकाते रहे। देश में आवागमन के साधन में भी उन्नति हुई और डाक, तार, रेल आदि की समुचित व्यवस्था की गई। आंतरिक विद्रोह और बाहरी आक्रमण से रक्षा के लिए एक विशाल सुसंगठित सेना का निर्माण हुआ और राज्य के बड़े-बड़े पदों को अंग्रेजों ने ही सुशोभित किया।

इस प्रकार भारत में ब्रिटिश सरकार की नीति साम्राज्यवादी थी। भारतीयों में मतभेद पैदा कर शासन करने की नीति व्यवहार में लाई गई। देश का हर तरह से शोषण हुआ। आर्थिक शोषण तो बड़ा ही भीषण था। यहाँ के सभी उद्योग-धन्धे नष्ट कर दिये गये। सूती व्यवसाय को समाप्त करने के लिए यहाँ के बुनकरों के अँगूठे काट लिए जाते थे। अब भारतवर्ष ब्रिटिश कारखानों के लिए कच्चे माल का एक विशाल साधन और पक्के मालों के लिए बाजार बन गया। भारत के उद्योग-धन्धों का नाश कर इंगलैंड के उद्योग-धन्धों का विकास किया गया।

लंका

लंका भारतवर्ष का ही एक अंग था। यहाँ सर्वप्रथम १६वीं सदी के प्रारम्भ में पुर्तगीजों का आगमन हुआ। १७वीं शताब्दी के मध्य में यह डचों के अधिकार में आ गया और अगली शताब्दी में इस पर अंग्रेजों का प्रभुत्व स्थापित हो गया। उस समय से अंग्रेज इसका शोषण करते रहे हैं। १८०२ ई० में उन्होंने इसे भारत से ही पृथक् कर दिया क्योंकि विभाजन और शासन ही साम्राज्यवादी नीति का प्रधान अङ्ग है। यहाँ का शासन एक राजकीय उपनिवेश की भाँति होता रहा है और १६२२ ई० तक इस स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। उपनिवेश-मंत्री की राय से बादशाह यहाँ के गवर्नर की नियुक्ति करता था। वही यहाँ का सर्वे-सर्वा था।

चीन

चीन में भी साम्राज्य का नग्न नृत्य हुआ। मार्कोपोलो की यात्रा के बाद से ही पाश्चात्य देश इसमें दिलचस्पी लेने लगे थे। १६वीं शताब्दी से ही अंग्रेज, पुर्तगीज तथा डच व्यापारियों का चीन के तटीय भाग में प्रवेश हो रहा था। लेकिन चीनी सरकार की सहानुभूति उन्हें प्राप्त नहीं थी। १६वीं शताब्दी में केन्द्रीय सरकार के

दुर्बल होने पर विदेशियों को प्रोत्साहन मिला और वे अधिक संख्या में चीन आने लगे। व्यापारी और पादरी दोनों ने ही अपने कार्य तीव्र गति से प्रारम्भ किये।

चीनियों को अफीम खाने की बीमारी थी। वे तम्बाकू के साथ-साथ अफीम का भी खूब व्यवहार करते थे। इससे राष्ट्रीय धन का अपहरण हो रहा था। १८३३ ई० में ब्रिटिश सरकार ने ईस्ट इंडिया कम्पनी से चीन के साथ व्यापार करने के लिए एकाधिकार छीन लिया और सभी अंग्रेजों को चीन के साथ व्यापार करने की स्वतन्त्रता दे दी। इसका चीन की आर्थिक दशा पर और भी बुरा प्रभाव पड़ा। अतः चीनी सरकार ने अफीम के आयात पर कड़ा नियन्त्रण लगाना आवश्यक समझा। उसने पहले ही इसे बन्द करने की आज्ञा दे दी थी। किन्तु इस आज्ञा का उचित ढंग से पालन नहीं हो रहा था। सरकार अफीम के व्यापार को बिलकुल बन्द कर देना चाहती थी। यह नितान्त आवश्यक था। ऐसा करने के लिए चीनी सरकार को पूरा अधिकार था। १८३९ ई० में लीन नाम के अधिकारी ने कैंटन में अफीम के गोदामों को जला कर दिया। अंग्रेजों को हजारों पौंड की हानि हुई। इसका फल हुआ युद्ध, जो अफीम युद्ध के नाम से प्रसिद्ध है। १८४० ई० से १८४२ ई० तक यह जारी रहा। चीनी पराजित हुये। नानकिन की सधि हुई। कैंटन, शघाई आदि पाँच बन्दरगाह अंग्रेजों को मिल गये। हांगकांग द्वीप पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया। चीनी सरकार को युद्ध का हरजाना देने के लिए भी बाध्य होना पड़ा। फ्रांसीसी, जर्मन तथा अमेरिकी राष्ट्र ने भी कुछ समय बाद व्यापार करना शुरू किया। आगे चलकर इंगलैंड तथा फ्रांस के साथ पुनः कुछ अनबन हो गयी और १८५८ ई० में दुबारा युद्ध छिड़ गया। दो वर्षों के बाद युद्ध समाप्त हुआ। विदेशियों को छः अन्य नगरों में व्यापार करने का अधिकार मिला और चीनी सरकार ने ईसाई पादरियों की रक्षा करने का उत्तरदायित्व स्वीकार किया। चीन क्षतिपूर्ति के रूप में भारी रकम देने के लिये भी बाध्य किया गया। इंगलैंड को अफीम का व्यापार करने के लिए भी पूरी स्वतन्त्रता मिल गई।

इस तरह चीनवासियों को विदेशियों के सपर्क में आना पड़ा और उनके एकान्तवास का अन्त हो गया। अब विदेशी व्यापारी तथा धर्म-प्रचारक बिना किसी रोक-टोक के अपना कार्य कर सकते थे। बैठने की जगह मिल जाने पर सोने की जगह खोजने का प्रयत्न करना स्वाभाविक ही है। विदेशियों को व्यापार करने का अधिकार मिला। वे धीरे-धीरे अपनी पूँजी का उपयोग कर चीन का शोषण करने का प्रयत्न करने लगे। इसमें उन्हें आशातीत सफलता भी मिली। खानों में खुदाई होने लगी। रेल, तार आदि का निर्माण होने लगा और हजारों मील में रेलवे लाइन बन गई। अनेक कल-कारखाने खुल गये। चीन में मजदूरों की भरमार थी जिससे मजदूरी में बहुत सुविधा

थी। विदेशियों ने चीन को अपने-अपने प्रभाव-क्षेत्र में बाँट लिया—यांगटिसीक्यांग नदी का विस्तृत मैदान इंगलैंड के प्रभाव में था। क्वांगतुंग प्रदेश फ्रांस के और सानतुंग जर्मनी के प्रभाव-क्षेत्र में थे। रूस उत्तरी क्षेत्र में अपना प्रभाव स्थापित कर रहा था। प्रभाव-क्षेत्र के सिवा विदेशियों ने चीन में उपनिवेश-विस्तार के लिए भी सफल प्रयत्न किया। हांगकांग पर इंगलैंड का अधिकार था। तिब्बत पर भी उसकी दृष्टि लगी हुई थी। आमूर तथा मंगोलिया के प्रदेश रूस के और अनाम फ्रांस के अधिकार में थे। के आवचू प्रान्त जर्मनी के अधीन था। केवल अमेरिका के हस्तक्षेप करने से चीन को विभाजित करने का प्रयत्न पूर्णरूपेण सफल नहीं हुआ। उसने चीन में मुक्त-द्वार की नीति का समर्थन किया था।

जापान भी पश्चिमी साम्राज्यवाद का शिकार हुआ। १७वीं सदी के मध्य में जापान ने अन्य देशों से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया था और विदेशियों के संपर्क में आने के लिए अनिच्छुक था। परन्तु दो शताब्दियों के बाद विदेशियों ने उसे बलात् अपने सम्पर्क में लाकर ही छोड़ा। सर्वप्रथम अमेरिका के प्रेसीडेंट ने पेरी नामक एक नाविक को व्यापारिक सुविधा प्राप्त करने के लिए जापान भेजा। पेरी को अपने उद्देश्य में सफलता मिली। इंगलैंड, हालैंड तथा रूस ने भी जापान में अमेरिका का अनुसरण किया। किन्तु जापान ने स्वयं इस कला में निपुणता प्राप्त कर ली और वह अपने स्वामियों से टक्कर लेने लगा। वह शीघ्र ही पूर्व का इङ्गलैंड बन गया। उसका भी औद्योगीकरण हुआ था। वह भी कच्चे माल तथा बाजार की खोज में था। उसकी आबादी भी बढ़ती जा रही थी। इसके लिए उसे उपनिवेश की भी आवश्यकता थी। अतः उसकी भी लोलुप दृष्टि अपने पड़ोसी चीन पर पड़ी। उसने १८६४-६५ ई० में चीन से युद्ध मोल लिया। कोरिया के प्रश्न पर युद्ध छिड़ गया। इस पर चीन का अधिकार था किन्तु जापान उसके आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करना चाहता था। चीन के लिए यह सह्य नहीं था। अतः दोनों में युद्ध हुआ। चीन पराजित हुआ और लायों-तुंग प्रायद्वीप, कोरिया तथा फारमोसा उससे छीन लिये गये। जापान के लिए भी उन बन्दरगाहों को खोल दिया गया जिनमें व्यापार करने के लिये यूरोपियनों को अधिकार मिला था। जापान की शक्ति ने यूरोपियनों के दिल में भय, ईर्ष्या-द्वेष उत्पन्न किया था। अतः उन्होंने पोर्ट आर्थर के मुख्य स्थान को जापान के हाथ से छीन कर चीन को दे दिया, किन्तु थोड़े दिनों के बाद रूस ने इसे भी हड़प लिया। जापान ने रूस से इसका बदला ले लिया। इस प्रकार चीन की भूमि पर साम्राज्यवाद अपना नग्न-नृत्य कर रहा था। इससे चीनी बड़े क्रुद्ध हुए। उन्होंने एक सेना का संगठन किया जो बोक्सर के नाम से प्रसिद्ध है। सेना ने विदेशियों के विरुद्ध विद्रोह किया। सैकड़ों विदेशी व्यापारियों तथा ईसाई धर्म-प्रचारकों की हत्या की गई। राजदूतों के मकान में आग लगाने

की चेष्टा की गई। यूरोपीय शक्तियों ने अन्तर्राष्ट्रीय सेना भेजी और इसके द्वारा चीन के राष्ट्र-विप्लव को बड़ी ही क्रूरता के साथ कुचल डाला गया। पेकिंग की संधि हुई जो चीन के लिए बहुत ही अपमानजनक थी। चीनी सरकार को कड़ा दण्ड मिला। उसे हरजाने के रूप में बड़ी रकम देने के लिए बाध्य किया गया।

१९०४-५ ई० में रूस तथा जापान के बीच युद्ध हुआ। दोनों ही कोरिया और मंचूरिया पर अधिकार करना चाहते थे। फलस्वरूप भीषण युद्ध हुआ। जापान विजयी हुआ और दक्षिण चीन तथा कोरिया में उसकी स्थिति सुदृढ़ हो गयी। लेकिन युद्ध से रूस की क्षति हुई। चीन की हानि सबसे अधिक हुई। यह युद्ध चीन के भू-भाग के लिए उसी की भूमि पर हुआ था। अतः स्वाभाविक ही उसे विशेष क्षति उठानी पड़ी।

हिन्द चीन

हिन्द चीन में फ्रांसीसियों के उपनिवेश थे। इसमें अनाम, कोचीन-चीन, कम्बो-

चित्र २३—एशिया में विदेशी साम्राज्य

डिया, टानकीन तथा लेवोस के राज्य थे। इन राज्यों में फ्रांसीसी उद्योगपति अनेक उद्योग-धन्धे स्थापित कर इनका शोषण कर रहे थे।

साइबेरिया

साइबेरिया एशिया के उत्तर में निर्जन भू-भाग था। यहाँ की जलवायु अत्यन्त ठंडी थी। रूस ने यहाँ अपना उपनिवेश स्थापित किया। दक्षिणी भाग में ही आबादी कायम हुई। रूस ने वहाँ अनेक सुधार कर उसका विकास किया है। एक लम्बी रेलवे लाइन का निर्माण हुआ जो ट्रान्ससाइबेरियन रेलवे के नाम से विख्यात है।

ईरान तथा अफगानिस्तान

इङ्गलैंड तथा रूस ने ईरान में भी हस्तक्षेप किया। ईरान की सरकार कमजोर थी और वहाँ अराजकता फैली हुई थी। रूस का प्रसार उत्तरी तथा मध्य एशिया में तीव्र गति से हो रहा था। भारत में अंग्रेज थे। अतः उनकी सुरक्षा खतरे में पड़ गई। इससे इङ्गलैंड ने रूसी साम्राज्य के विस्तार में बाधा देना आवश्यक समझा। १९०७ ई० में इङ्गलैंड तथा रूस दोनों ने ईरान को अपने प्रभाव-क्षेत्र में बाँट लिया, ईरान में मिट्टी के तेल की खानें हैं। उत्तर में रूस का और दक्षिण में इङ्गलैंड का प्रभाव रहा और दोनों शक्तियों के बीच मध्यवर्ती भाग नाम मात्र के लिए स्वतन्त्र रहा। अब भारत तथा चीन की भाँति यहाँ भी रेल के बनाने, खानों में खुदाई करने और मिट्टी का तेल निकालने के लिए विदेशी कम्पनियाँ खुलीं। ईरान का आर्थिक शोषण शुरू हुआ। तेल-कार्य के लिए ऐंग्लो-पार्शियन आयल कम्पनी बहुत प्रसिद्ध थी जो १९०९ ई० में स्थापित हुई। १९६१ ई० तक के लिये कम्पनी को तेल-व्यवसाय का ठीका दे दिया गया। इस कम्पनी ने अपने लाभ का कुछ अंश ईरानी सरकार को देने के लिए स्वीकार किया और १९३३ ई० में ठेका की शर्तों में परिवर्तन हुआ। १९६१ ई० की अवधि १९९३ ई० तक बढ़ा दी गई।

अफगानिस्तान रूस तथा भारत के बीच स्थित है। अतः फारस की भाँति इस पर भी इन दोनों राष्ट्रों के दाँत गड़े हुए थे और वे अपना आधिपत्य स्थापित करना चाहते थे। भारतीय सीमा की रक्षा करने के लिए इस पर अधिकार करना अंग्रेजों के लिए अधिक आवश्यक था। १९वीं सदी से अफगानिस्तान के आतरिक मामले में विदेशी हस्तक्षेप शुरू हुआ। अंग्रेजों और वहाँ के अमीरों में तीन युद्ध हुए—प्रथम १८३९-४२ ई०, द्वितीय १८७८-७९ ई० और तृतीय १८७९ ई० में। तीसरे युद्ध के फलस्वरूप अफगानिस्तान पर अंग्रेजों की प्रभुता स्थापित हो गयी। अमीरों ने युद्ध की क्षतिपूर्ति की और अपनी राजधानी में एक अंग्रेज प्रतिनिधि तथा सेना रखना स्वीकार किया। १९०७ ई० में अफगानिस्तान के सम्बन्ध में रूस तथा इङ्गलैंड ने एक सम-

मौता हुआ। रूस ने अफगानिस्तान में अपना हाथ खींच लिया और इङ्गलैंड ने इसे स्वातंत्र रखने का आश्वासन दिया।

तुर्की

१९वीं सदी में तुर्की भी यूरोप का मरीज बन चुका था। रूस इसका अंत कर देना चाहता था, किन्तु इङ्गलैंड पूर्वी साम्राज्य की रक्षा के हेतु इसे बचाये रखना चाहता था। इङ्गलैंड अपनी नीति में बहुत दिनों तक सफल न हो सका। सुलतान की सरकार भी कमजोर थी और विभिन्न प्रान्त साम्राज्य से एक-एक कर अलग होते जाते थे। अतः साम्राज्यवादी राष्ट्रों ने तुर्की की कमजोरी से लाभ उठाया। इङ्गलैंड ने साईप्रस और मिश्र पर अधिकार कर लिया। जर्मन सम्राट कैसर विलियम का भी लोभ बढ़ा और उसने तुर्की का मित्र होने का ढोंग रचा। उसने इसका शोषण करने के लिए बर्लिन बगदाद रेलवे की योजना कार्यान्वित की। इसमें तुर्की सरकार की ओर से पर्याप्त सुविधाएँ प्रदान की गयीं। लेकिन इङ्गलैंड, रूस तथा फ्रांस के विरोध से यह योजना सफल नहीं हो सकी। प्रथम महायुद्ध के होने में यह रेल-योजना भी एक कारण बनी।

पूर्वी द्वीप-समूह तथा प्रशांत महासागर

उपर्युक्त विशाल भू-भागों के अतिरिक्त पूर्वी द्वीप-समूह तथा प्रशांत महासागर के द्वीपों पर विदेशियों ने अधिकार स्थापित किया। सिंगापुर तथा मलाया प्रायद्वीप अंग्रेजों के अधिकार में रहे हैं। जावा, सुमात्रा आदि द्वीपों पर डचों का अधिकार था। इन द्वीपों में रबर की उपज खूब होती है और टीन का भी बाहुल्य है। मलाया का सम्पूर्ण टीन और रबर उद्योग ब्रिटिश सरकार के अधिकार में है। इन उद्योगों पर ब्रिटिश अर्थ-तंत्र की दृढ़ता बहुत कुछ निर्भर करती है। अतः ब्रिटेन मलाया को अभी तक छोड़ना नहीं चाहता है। वहाँ स्वातंत्र्य संघर्ष अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया है। सैनिकवाद का नग्न रूप नाच रहा है। मानव-रक्त से होलियाँ खेली जा रही हैं और वहाँ की धरती रक्तरंजित दीख पड़ती है।

प्रशांत महासागर के द्वीपों में नारियल की उपज अच्छी थी। सबसे पहले जर्मनी का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ और उसने कुछ द्वीपों पर अधिकार कर लिया। बाद में इङ्गलैंड तथा अमेरिका ने हस्तक्षेप किया; इङ्गलैंड के अधिकार में न्यूगिनी आदि द्वीप आये और अमेरिका ने हवाई, समाओ आदि द्वीपों पर अधिकार किया और उसने स्पेन को पराजित कर फिलीपाइन्स द्वीप पर भी अधिकार कर लिया। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् पराजित जर्मनी के राज्य सुरक्षित प्रदेशों के रूप में इङ्गलैंड,

आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड और जापान को सौंप दिये गये। धीरे-धीरे इस क्षेत्र में जापान ने अपना दबाव विशेष बढ़ा लिया।

अमेरिकी साम्राज्यवाद

हम एशिया तथा अफ्रीका में स्थित ब्रिटिश, फ्रांसीसी, रूसी, जर्मन तथा इटालियन साम्राज्य का उल्लेख कर चुके। इङ्गलैंड आदि देशों की भाँति अमेरिका में भी औद्योगिक क्रांति हुई और वहाँ भी उससे सम्बन्धित सारी समस्याएँ उत्पन्न हुईं। उसने अफ्रीका के विभाजन में तो भाग नहीं लिया किन्तु एशिया के देशों तथा अन्य स्थानों में हस्तक्षेप किया। १८२३ ई० में उसने यूरोपियनों के लिए अपना द्वार बंद कर दिया था। इसी सिद्धान्त के फलस्वरूप अमेरिका-स्थित पुर्तगाली, स्पेनी उपनिवेश स्वतन्त्र हो गये। इन स्वतन्त्र राज्यों से अमेरिका के भौतिक विकास में बड़ी सहायता मिली। किन्तु संयुक्त राष्ट्र स्वयं साम्राज्यवाद के मार्ग पर क्रमशः बढ़ता गया। १८४६ ई० में उसने मेक्सिको को युद्ध में पराजित कर अपनी शक्ति का परिचय दिया।

१८६७ ई० में उसने रूस से अलास्का का प्रायद्वीप खरीदा। १९वीं शताब्दी के अन्त तथा २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ में उसने प्रशान्त महासागर के कई द्वीपों पर अधिकार कर लिया। पूर्वी तथा पश्चिमी द्वीप समूहों में कई द्वीप भी उसके अधिकार में आ गये। उसने फिलीपाइन्स द्वीप-समूह, क्यूबा तथा पोर्टोरीको स्पेन से छीन लिया। चीन के व्यापारिक शोषण में उसने अन्य यूरोपियन राष्ट्रों से हाथ बँटाया और उसी के प्रभाव से चीन में मुक्त-द्वार की नीति कार्यान्वित हुई। इसी नीति के फलस्वरूप सभी विदेशियों को चीन में समान रूप से व्यापार करने का सुअवसर मिला। लेकिन यह स्मरणीय है कि यूरोपियनों के द्वारा चीन का जो लूट-पाट हुआ उसमें अमेरिका ने सक्रिय भाग नहीं लिया। जहाँ तक बन पड़ा, उसने न्याय का पक्ष लिया। उसी के प्रयत्न से चीन का बटवारा करने की योजना स्थगित रह सकी। अमेरिका की इस नीति से अन्य यूरोपीय राष्ट्र रुष्ट हुए किन्तु वे उसका कुछ बिगाड़ नहीं सके।

१९०३ ई० में अमेरिका ने पनामा जलडमरूमध्य पर अधिकार कर लिया और लैटिन अमेरिका के राज्यों में हस्तक्षेप करना शुरू किया। इन राज्यों तथा विश्व के अन्य भागों में भी अमेरिका ने आर्थिक जाल बिछा दिया। साम्राज्यवाद का यह एक दूसरा स्वरूप था जिसे डालर साम्राज्यवाद कहा जाता है। अमेरिकी साम्राज्यवाद का विस्तृत वर्णन हम आगे चलकर उपयुक्त स्थान पर करेंगे।

इस प्रकार लगभग सारे एशिया महादेश पर विदेशियों ने साम्राज्यवाद का जाल बिछाया और इसका आर्थिक शोषण करना शुरू किया। हाँ, जापान या द्वीप अपवाद-स्वरूप रहा।

ब्रिटिश साम्राज्यवाद की विशेषता

ऊपर जितने साम्राज्यों की चर्चा की गई है उनमें अंग्रेजी साम्राज्य ही अधिक महत्वपूर्ण है। यह सबसे अधिक विशाल और स्थायी रहा है। उदारवादिता और परिवर्तनशीलता इसके उत्तम गुण हैं। ऊपर प्रथम ब्रिटिश साम्राज्य के विनाश तथा द्वितीय ब्रिटिश साम्राज्य के संगठन के विषयों में प्रकाश डाल चुके हैं। प्रथम महायुद्ध के समय तक उन उपनिवेशों को, जिनमें गोरी जातियाँ बसती थीं, क्रम-क्रम से आन्तरिक क्षेत्र में स्वराज्य दे दिया गया था। ये डोमीनियन कहलाते थे और इनकी संख्या पाँच थी—कैनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैंड, न्यूफाउंडलैंड और दक्षिणी अफ्रीका के संघ। दक्षिणी अफ्रीका के संघ में केप कोलोनी, ट्रांसवाल, नेटाल और आरेंज फ्री स्टेट हैं। प्रथम महायुद्ध के अंत में इन उपनिवेशों को वैदेशिक क्षेत्र में भी स्वतंत्रता मिल गई। उन्हें शांतिसभा और राष्ट्र-संघ में सम्मिलित होने का अधिकार मिला। वे संधि-पत्रों पर भी अपना हस्ताक्षर करने लगे और विदेशों में अपने दूत भेजने लगे। अब ये व्यावहारिक दृष्टि से स्वतंत्र हो गये किन्तु इंगलैंड के सम्राट के प्रति राज्य-भक्ति रखते थे। १९२१ ई० में आयरिश फ्री स्टेट को भी औपनिवेशिक स्वराज्य[१] प्राप्त हुआ। इस समय तक साम्राज्य शब्द बड़ा अप्रिय हो गया था क्योंकि यह शोषण और दमन का प्रतीक समझा जाता था। १९०७ ई० के बाद प्रायः हर चार वर्षों पर एक सभा की बैठक होती थी जिसमें साम्राज्य सम्बन्धी विषयों पर विचार-विमर्श होता था। यह सभा साम्राज्य सम्मेलन[२] कहलाती थी। १९०७ के पहले इस तरह की सभा उपनिवेश परिषद् के नाम से प्रसिद्ध थी। १९२६ ई० की साम्राज्य महासभा ने इनकी व्यावहारिक स्वतन्त्र स्थिति को स्वीकार कर लिया और इन्हें ब्रिटिश राष्ट्रमंडल या कामनवेल्थ का सदस्य घोषित किया। अब ब्रिटिश साम्राज्य ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के रूप में बदल गया। इस ब्रिटिश राष्ट्रमंडल का प्रधान ग्रेट ब्रिटेन का सम्राट ही रहा। १९३१ ई० में ब्रिटिश पार्लियामेंट ने वेस्टमिनिस्टर कानून बनाकर १९२६ ई० की घोषणा को वैधता प्रदान कर दी।

साम्राज्यवाद के गुण-दोष

साम्राज्यवाद के विकास पर दृष्टिपात कर लेने के बाद अब इसके गुण-दोषों का विवेचन करना चाहिये। अब यह देखना है कि साम्राज्यवाद के क्या परिणाम हुए हैं, मानव-समाज के प्रति इसकी क्या देन है? साम्राज्यवाद का मानव-समाज पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। यह प्रभाव अच्छा तथा बुरा दोनों प्रकार का है।

---

१ डोमीनियन स्टेटस
२ इम्पीरियल कान्फरेंस

लाभ

यूरोपीय शासन-प्रबन्ध के फलस्वरूप अनेक पिछड़े हुए देशों की भौतिक उन्नति हुई। उन देशों की हर प्रकार से उन्नति करने की चेष्टा की गई है। दलदलों और [illegible]

[illegible]

अफ्रीका आदि ब्रिटिश उपनिवेशों में प्रजातन्त्र के सिद्धान्त पर स्वराज्य स्थापित हुआ है। इस पर प्रकाश डाला जा चुका है। यह शान्ति-स्थापना के मार्ग में भी प्रगति है क्योंकि ग्रेट ब्रिटेन और डोमीनियन के बीच युद्ध का छिड़ना संभव नहीं है। डोमीनियन ब्रिटेन से बिलकुल स्वतन्त्र हैं और उसके साथ उनका अटूट सम्बन्ध भी है। वे सभी ऐसे सूत्र में बँधे हैं जो ऐडमण्ड बर्क के शब्दों में हवा के समान हलका तथा लौह-शृंखला की भाँति मजबूत हैं। विदेशी सत्ता तथा शोषण ने एशिया के देशों में राष्ट्रीय तथा स्वातन्त्र्य आन्दोलनों को प्रोत्साहित किया है। इसके अतिरिक्त यूरोप के प्रकाण्ड विद्वानों के सतत् प्रयत्न से पूर्व की भाषाओं तथा संस्कृतियों के विकास को महत्वपूर्ण प्रोत्साहन मिला है।

हानि

अब तक जिन लाभों का उल्लेख किया गया है वे साम्राज्यवाद के उज्ज्वल पक्ष हैं। किन्तु ये विशाल रेगिस्तान में संकीर्ण शाद्वल के समान हैं। साम्राज्यवाद का दूसरा पक्ष भी है जो बड़ा ही विस्तृत है और बुराइयों से परिपूर्ण है।

१. साम्राज्यवादी स्वार्थों का प्राबल्य—पिछड़े देशों तथा उपनिवेशों की जो भौतिक उन्नति हुई वह परिस्थिति के कारण हुई, किसी के परोपकार की भावना से नहीं। किसी ने अपने प्रकाश के लिये दीपक जलाया, किन्तु अन्य लोगों ने भी प्रकाश से लाभ उठा लिया। कच्चे मालों तथा अन्य सामानों के ढोने की आवश्यकता के कारण ही यातायात के साधन उन्नत हुए। सड़क, रेल, जहाज आदि का निर्माण होने लगा। विविध युद्धों के सभी सामानों को आवश्यकतानुसार यथाशीघ्र बाहर से मँगाना संभव नहीं था। अतः छोटी-मोटी वस्तुओं के निर्माण के लिए कल-कारखाने खोले जाने लगे। युद्ध जैसे संकट काल को दृष्टि में रखकर उत्पादन को अधिक प्रोत्साहित किया

जाने लगा। इससे स्वदेशी पूँजीवाद के विकास के लिये भी रास्ता खुला। इस तरह उपनिवेशों में औद्योगीकरण का श्रीगणेश हुआ। इसके साथ ही उसके सभी परिणाम भी दृष्टिगोचर होने लगे।

साम्राज्यवाद का सम्बन्ध शोषण एवं रक्तपात से रहा है। इसके प्रवर्त्तक अन्यायी, क्रूर तथा स्वार्थी होते हैं और अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिये महानिन्दनीय कार्य भी करने से बाज नहीं आते। पिछड़े देशों की भौतिक उन्नति हुई, किन्तु उसमें भी साम्राज्यवादी स्वार्थ निहित था। इसी से साम्राज्यवादी राष्ट्रों के धन-वैभव में वृद्धि हुई। एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। मिश्र में स्वेज नहर के निर्माण में इंगलैंड तथा फ्रांस ने सहयोग दिया था। मिश्रियों ने भी तन-मन-धन से उसमें काम किया और कितने मिश्रियों ने तो अपने प्राण भी गँवाये। किन्तु कालान्तर में इंगलैंड ने छल-बल के द्वारा मिश्र के हिस्सों को भी ले लिया। नहर से जितनी आमदनी होती रही उसका अधिकांश भाग इंगलैंड को ही मिलता रहा। १९५५ ई० में ३५ करोड़ की आय में मिश्र को केवल १० लाख मिला था। उस पर भी आश्चर्य की बात यह है कि १९५६ ई० में जब मिश्र ने इंगलैंड तथा फ्रांस से कर्ज माँगा तो उन्होंने कर्ज देना भी अस्वीकार कर दिया। इसी तरह विजित देशों तथा उपनिवेशों की राजनीतिक स्वतन्त्रता का अपहरण हुआ, उनके उद्योग-धन्धों को नष्ट कर उनका आर्थिक शोषण हुआ। भारत के उद्योग-धन्धों को नष्ट कर इंगलैंड ने अपने उद्योग-धन्धों का विकास किया। इसी तरह शिक्षा का भी प्रसार हुआ लेकिन उतना ही जितना कार्य के लिये आवश्यक था। इस प्रकार साम्राज्यवादी व्यवस्था में साम्राज्यवादी स्वार्थ ही सर्वोपरि था।

२. परस्पर विरोधी नीतियों का समर्थन—साम्राज्यवादी राष्ट्र दो परस्पर विरोधी नीतियों का समर्थन करते हैं। जिस राष्ट्र ने अपने देश में राष्ट्रीयता एवं जनतन्त्र के सिद्धान्तों का समर्थन किया है उसी राष्ट्र ने साम्राज्यवादी बन जाने पर अन्य राज्यों में इन्हीं सिद्धान्तों का गला घोटा है। साम्राज्यवादियों ने एशिया तथा अफ्रीका के देशों में स्वतन्त्रता एवं समानता, राष्ट्रीयता एवं जनवाद के सिद्धान्तों का खूब ही हनन किया है। उन्होंने अपने देश में न्याय एवं साधुता का प्रचार किया है किन्तु दूसरों के घरों में बलात् घुस कर अन्याय एवं अनाचार का नग्न प्रदर्शन किया है। अंग्रेजों ने अपने अधिकारों की रक्षा के लिये क्या-क्या नहीं किया! उन्होंने अपने राजा तक को फाँसी के तख्ते पर झुला दिया। फ्रांसीसी तो अंग्रेजों से भी आगे बढ़े। इन्होंने अपने राजा को प्राण दण्ड तो दिया ही, स्वतन्त्रता एवं प्रजातन्त्र के नाम पर लाखों बलिदान हुए। वही इंगलैंड ने सर्वांगीण भारत को पराधीन बनाकर इसे चूसने एवं बर्बाद करने में कोई कोर-कसर उठा नहीं रखा। उसने बोअरों के प्रजातन्त्रों को भी निर्दयतापूर्वक नष्ट किया। फ्रांस ने मोरक्को तथा अल्जीरिया

-वृद्धि होती है, किन्तु यह वृद्धि जनसाधारण की नहीं बल्कि पूँजीपतियों की होती है। साम्राज्यवादी देश में धनी और गरीब दोनों ही दो विरोधी दिशाओं में बढ़ते हैं। लक्ष्मी एवं दरिद्रता दोनों ही बढ़ती हैं। इस तरह पूँजीपतियों और मजदूरों में वर्ग-संघर्ष अनिवार्य हो जाता है। मार्क्सवादी विचार-धारा में वर्ग-संघर्ष का भी प्रमुख स्थान है।

अतः सरकार विद्रोह की भावना को संगठित होने से रोकने के लिए कभी-कभी मजदूरों में वर्ग-विभाजन पैदा कर देती है। इंगलैंड में कुछ मजदूरों को विशेष सुविधाएँ देकर श्रमिक संगठन को कमजोर करने का प्रयत्न किया गया है।

अन्य देशों में भी साम्राज्यवादी वर्ग-विभाजन की नीति अपनाते हैं। 'फूट डालो और शासन करो'—साम्राज्यवादी राष्ट्रों की नीति होती है। आयरलैंड, फिलस्तीन तथा भारत का विभाजन इसी नीति का कटु परिणाम है।

५ परस्पर अनबन को प्रोत्साहन—साम्राज्यवादी देशों में परस्पर अनबन को भी प्रोत्साहन मिला। इंगलैंड तथा फ्रांस ने दुनिया के अधिकांश भाग को हड़प लिया था। जर्मनी तथा इटली ने साम्राज्यवादी दौड़ में बहुत देर करके भाग लेना शुरू किया। किन्तु क्या पहले और क्या पीछे—किसी भी साम्राज्यवादी राष्ट्र को सन्तोष नहीं था। इंगलैंड तथा फ्रांस में मिश्र एवं मोरक्को को लेकर संघर्ष था। फारस और अफगानिस्तान को लेकर इंगलैंड तथा रूस में मन-मुटाव था। सबसे बढ़कर इंगलैंड तथा जर्मनी में प्रतिद्वन्द्विता थी। तुर्की साम्राज्य में जर्मनी अपना प्रभाव बढ़ा रहा था। इससे इंगलैंड चिन्तित था। बाल्कन और दक्षिणी अमेरिका में जर्मनी का व्यापार बढ़ रहा था किन्तु ब्रिटिश व्यापार का ह्रास हो रहा था। सुदूर पूर्व में जर्मनी ने सामोआ और न्यूगिनी पर अधिकार कर लिया था। इससे इंगलैंड, फ्रांस और जापान तीनों ही सशंकित थे। इंगलैंड और जर्मनी का द्वेष उस समय और भी बढ़ा जब जर्मनी विश्व में उचित स्थान पाने के लिये सक्रिय प्रयत्न करने लगा। जर्मनी की स्थल सेना तो सुसंगठित थी ही, वह अपनी जहाजी शक्ति को भी सुदृढ़ करने लगा। लेकिन इंगलैंड की शक्ति का आधार सामुद्रिक-आधिपत्य ही था। यदि जर्मनी की नाविक शक्ति सबल हो जाती तो इंगलैंड के आधिपत्य को गहरा धक्का लगता। अतः इंगलैंड ने जर्मनी के प्रयत्न का घोर विरोध किया।

६. विरोधी गुटों की स्थापना—साम्राज्यवादी राष्ट्रों में जब परस्पर प्रतिद्वन्द्विता बढ़ने लगी तो वे अपनी रक्षा के लिए प्रयत्न करने लगे। इस तरह गुट-निर्माण को प्रोत्साहन मिला। १९०२ ई० में इंगलैंड ने जापान से और दो वर्ष के बाद फ्रांस से मित्रता कर ली। फ्रांस तथा रूस में पहले ही से दोस्ती थी। अब १९०७ ई० में इंगलैंड और रूस में भी मित्रता हो गयी। इस तरह इंगलैंड, फ्रांस और रूस के

मिलने से एक नवीन गुट[1] का निर्माण हुआ। जर्मनी, आस्ट्रिया तथा इटली का एक गुट[2] पहले ही से बना हुआ था। इस तरह बीसवीं सदी के प्रारम्भ में यूरोप दो विरोधी गुटों में विभाजित हो गया।

७. युद्ध एवं हिंसा को प्रोत्साहन—साम्राज्यवाद की भित्ति सैनिक शक्ति पर आधारित रहती है। इसका मार्ग हिंसात्मक रहा है। हिंसा से प्रतिहिंसा को प्रोत्साहन मिलता है, घृणा एवं द्वेष की वृद्धि होती है। जब साम्राज्यवादियों के स्वार्थ परस्पर टकराने लगते हैं तो हथियार तक भी उठाया जाता है। इस तरह युद्ध को प्रोत्साहन मिलता है। इसी प्रकार १९१४ ई० का प्रथम महायुद्ध हुआ जिसमें दोनों विरोधी गुट एक दूसरे का सामना करने के लिये युद्ध क्षेत्र में उतर गये।

महायुद्ध के कई परिणाम हुए। कई साम्राज्य विघट गये। किन्तु तात्कालिक परिणाम तो हुआ धन-जन की भयंकर क्षति। फिर भी साम्राज्यवादियों की *आँखें पूर्ण नहीं खुलीं। जो सन्धि हुई उसी में दूसरे युद्ध का बीजारोपण भी हुआ। १९३९ ई० में दूसरा महायुद्ध शुरू हो गया। इन दोनों महायुद्धों का प्रमुख कारण साम्राज्यवाद ही तो था।*

८. विश्व शान्ति में बाधक—*साम्राज्यवाद विश्व शान्ति की स्थापना में बहुत बड़ा बाधक है।* साम्राज्यवाद और विश्व-बन्धुत्व दोनों परस्पर विरोधी हैं। यह विश्व शान्ति के लिये बहुत बड़ा खतरा है। इसके रहते शान्ति एवं सुरक्षा की आशा करना निरी मूर्खता है। लेकिन सन्तोष की बात है कि इसके दिन लद चुके हैं—इसके पैर लड़खड़ा रहे हैं। अब यह प्रश्न नहीं है कि साम्राज्यवाद का पतन होगा या नहीं? इसके पतन की घोषणा तो हो ही चुकी है। अब प्रश्न है कि इसका अन्तिम पतन कब होगा?

नवीन साम्राज्य का स्वरूप

साम्राज्यवाद व्यावसायिक तथा पूँजीवादी था। आधुनिक साम्राज्यवाद पूँजीवाद पर आधारित है। आधुनिक काल में उपनिवेश तथा विजित देश कच्चे मालों की प्राप्ति के, तैयार मालों की बिक्री के और पूँजी लगा कर अधिक मुनाफा करने के मुख्य साधन समझे जाते हैं। शोषण इस साम्राज्यवाद की सबसे बड़ी विशेषता है।

साम्राज्यवाद के सफल होने के कारण

आधुनिक युग में लगभग आधी शताब्दी तक साम्राज्यवाद को अद्भुत सफलता मिली। इसका सर्वप्रधान कारण था यूरोप की वैज्ञानिक प्रगति। विज्ञान के क्षेत्र में उन्नति होने से विविध आविष्कार हुए और औद्योगिक क्रान्ति को भी प्रोत्साहन मिला। वैज्ञानिक उन्नति एवं औद्योगिक प्रगति के कारण यूरोपवासियों के जीवन में महान् परिवर्तन हुए। उनकी सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था बदल गई। उनमें नवीन उत्साह एवं आत्मविश्वास का संचार हुआ। उनके बीच अनेक समस्याएँ उत्पन्न हुईं जिन्हें हल करने के लिये उन्हें अपने देश से बाहर जाने के लिए बाध्य होना पड़ा। वे नवीन प्रकार के वैज्ञानिक अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित थे।

दूसरी ओर एशिया तथा अफ्रीका के महादेश वैज्ञानिक प्रगति एवं औद्योगिक क्रान्ति से अछूते रहे। इन महादेशों के लोग आधुनिक प्रगति से विमुख रहे। उनकी आर्थिक तथा सामाजिक व्यवस्था पुरानी ही रह गयी। वे अभी सामन्तवाद की ही दुनिया में थे। सामरिक क्षेत्र में भी वे पुरानी परम्परा को ही ढोते जा रहे थे। युद्ध के सामान, लड़ने के ढंग सभी पुराने थे। अत: जब पुरानी और नयी व्यवस्था में संघर्ष हुआ तो नयी व्यवस्था ही बाजी मार ले गयी।

लगभग समस्त आस्ट्रेलिया और अफ्रीका के अधिकांश भाग तो बिल्कुल आदिम अवस्था में थे। अतः यूरोप के सामने उनके झुक जाने में विशेष आश्चर्य नहीं। आश्चर्य तो यह जान कर होता है कि भारत, चीन तथा मिश्र जैसे सभ्य देश भी साम्राज्यवाद के चंगुल में शीघ्र ही फँस गये। किन्तु इन देशों में भी वही बात थी। इन देशों के निवासी अपनी प्राचीन समृद्धशाली सभ्यता के गौरव के भार से दबे बैठे थे। वे आगे की अपेक्षा पीछे की ही ओर अधिक देखते थे। अतः दीर्घ-काल तक उन्हें यह पता ही नहीं चला कि पाश्चात्य देश वाले उनसे कितना आगे बढ़ गये हैं। वे समय के साथ नहीं चले। उन्होंने विज्ञान एवं औद्योगीकरण में अभिरुचि नहीं दिखलायी। जब पश्चिम वालों ने उनका गला पकड़ा तब उनकी आँखें खुलीं। प्रारम्भ में तो उन्होंने समर्थन किया किन्तु धीरे-धीरे वे भी प्रगति के मार्ग पर अग्रसर हुए और साम्राज्यवाद के चंगुल से निकलने के लिये प्रयत्न करने लगे। उनके प्रयत्न में सफलता भी मिलने लगी।

अध्याय १०

यूरोप का मरीज—तुर्की साम्राज्य

भूमिका

१५वीं और १६वीं शताब्दियों में यूरोप में तुर्की साम्राज्य एक बड़ा ही प्रबल और शक्तिशाली साम्राज्य था जिसका विस्तार एशिया, यूरोप तथा अफ्रीका में बहुत दूर तक हो चुका था। यूरोप में तमाम बाल्कन प्रायद्वीप उसके अधीन था। लेकिन उत्थान के बाद पतन का जो स्वाभाविक रास्ता है, तुर्क लोग भी उससे वंचित नहीं रह सके। नवीन विचार-धाराओं से वे अछूते एवं अप्रभावित रहे, उनमें स्फूर्ति एवं जागृति का सञ्चार नहीं हुआ। वहाँ के मुसलमान शासक इस आधुनिक युग में भी मध्य युग की भाँति ही चलते रहे; अपने कट्टर धार्मिक बन्धनों में जकड़े रहे एवं जनता की कमाई पर भोग-विलासमय जीवन व्यतीत करते रहे। पश्चिमी यूरोप की ज्ञान-विज्ञान की प्रगति से उन्होंने अपना सम्पर्क नहीं रखा और फलस्वरूप राष्ट्रीयता के उत्थान एवं साम्राज्य-प्रसार के युग में भी वे पतन के पथ पर ही उन्मुख हुए। १८वीं शताब्दी में उनकी अवनति होने लगी और शीघ्र ही ऐसा ज्ञात पड़ने लगा कि इस महान साम्राज्य का विलयन होकर ही रहेगा। असल में बाल्कन प्रायद्वीप के निवासी अधिकांशतः ईसाई थे और मुसलमान सुल्तान अपनी धार्मिक असहिष्णुता के कारण उनको बराबर नाखुश ही रखता था। अतः वहाँ की जनता में भी सुल्तान के रुख के विरुद्ध प्रतिक्रिया का होना स्वाभाविक था और वे अपनी स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्नशील भी होने लगे। पड़ोस में रूस था जो बाल्कन प्रायद्वीपों में अपना प्रभुत्व कायम करना चाहता था और वहाँ के ईसाईयों को मदद भी देता था। इसमें उसका अपना स्वार्थ था। यूरोप की यह स्थिति तत्कालीन राजनीतिज्ञों के लिए एक चिन्त्य समस्या बन गयी जो प्रथम महायुद्ध तक कायम रही। पश्चिमी यूरोप के राज्य यह सोचते थे कि यदि बाल्कन प्रायद्वीप के देश रूस के प्रभाव में स्वतन्त्र हो गए तो इससे रूस की शक्ति बढ़ जायगी और यूरोप का शक्ति-सन्तुलन खतरे में पड़ जायेगा। रूस के जार ने द्रुतगति से पतन की ओर अग्रसर होते हुए तुर्की साम्राज्य को यूरोप का मरीज बतलाया था जिसकी मृत्यु आसन्न थी और उसके दाह-संस्कार की तैयारी वह करना चाहता था। लेकिन इसके विपरीत इंगलैंड और फ्रांस आदि देश उसे किसी भाँति जीवित रखना चाहते थे। यही समस्या इतिहास में पूर्वी समस्या के नाम से सम्बोधित की जाती है।

सर्बिया की बगावत

फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति के सिद्धान्तों ने बाल्कन प्रायद्वीप के ईसाई निवासियों में विद्रोह की भावना का सूत्रपात किया। उन प्रदेशों में राष्ट्रीयता की भावना का स्फुरण हो चुका था और उन्होंने तुर्की साम्राज्य से पृथक् होने के लिए विद्रोह प्रारम्भ कर दिया था। १९वीं सदी में इस तरह के विद्रोहों का ताँता बँधा रहा। सर्वप्रथम राष्ट्रीय बगावत १८०४ ई० में सर्बिया में हुई जिसका नेता काराजार्ज था। इस समय यूरोप नेपोलियनिक युद्ध में व्यस्त था, अतः किसी अन्य राष्ट्र का ध्यान इस तरफ नहीं गया, यद्यपि रूस चूकने वाला नहीं था। १८१७ ई० में काराजार्ज मारा गया और मिलोश नेता बना। रूस की मदद से सर्बिया को स्वाधीनता मिल गई और मिलोश सर्बिया का शासक बनाया गया।

यूनान की स्वाधीनता की लड़ाई

१८२१ ई० में यूनान की ईसाई प्रजा ने सर्बिया के उदाहरण से उत्साहित होकर तथा रूस से सहायता पाने की उम्मीद से विद्रोह कर दिया। विद्रोह का केन्द्र दक्षिण में था। १८२१-२७ ई० तक यूनानियों को किसी से भी कोई सहायता नहीं मिली। १८२५ ई० में निकोलास प्रथम रूस का जार हुआ। इंगलैण्ड के विदेश-मंत्री कैनिंग ने यूनान के मामले में रूस और फ्रांस को मिला लिया। १८२७ ई० में तुर्की जहाजी बेड़े नष्ट कर दिये गए। इसी साल कैनिंग की मृत्यु हो गई और नये विदेश-मंत्री वेलिंगटन ने अपनी नीति बदल दी। फिर भी यूनान रूस की सहायता से ही स्वतन्त्र हो गया और एड्रियानोपुल की सन्धि (१८२९ ई०) के द्वारा तुर्की सुल्तान ने उसे मंजूर कर लिया। रूस को भी कुछ व्यापारिक और राजनीतिक सुविधाएँ प्राप्त हुईं और एशिया में उसकी सरहद में कुछ वृद्धि हुई।

मुहम्मद अली का विद्रोह (१८३२ ई०)

यूनान की आजादी की लड़ाई में तुर्की की कमजोरी स्पष्ट हो गई। इसी लड़ाई में मिश्र के गवर्नर मुहम्मद अली ने उसकी सहायता की थी और बदले में सीरिया माँग रहा था। सुल्तान के इन्कार करने पर उसने आक्रमण कर सीरिया को अधिकृत कर लिया। इंगलैंड ने मुहम्मद अली का पक्ष लिया। रूस ने सुल्तान का ही पक्ष लिया। तब तक फ्रांस भी मुहम्मद अली के पक्ष में जा मिला। अन्त में इंगलैंड, आस्ट्रिया, प्रशा और रूस के बीच लंदन में समझौता हुआ जिसके अनुसार सीरिया सुल्तान को लौटा दिया गया और मुहम्मद अली को मिश्र की आनुवंशिक गवर्नरी मिली। इस सन्धि में फ्रांस की उपेक्षा की गई थी, अतः इंगलैंड तथा फ्रांस में दुश्मनी का प्रारम्भ हो गया।

क्रीमिया का युद्ध

१८५४ ई० में जब क्रीमिया का युद्ध छिड़ गया तो पूर्वी समस्या का एक नया अध्याय आरम्भ हुआ। रूस और फ्रांस की लोलुप साम्राज्यवादी नीति का यह परिणाम था। रूस के जार निकोलस प्रथम ने तुर्की सुल्तान से तुर्की के ग्रीक चर्चों के संरक्षण का अधिकार माँगा और फ्रांसीसी सम्राट नेपोलियन तृतीय ने वहाँ के लैटिन चर्चों का। जार ने मोलडेविया नामक तुर्की के एक प्रदेश को अधिकृत कर लिया। इंगलैंड और फ्रांस ने जार के पास एक चेतावनी भेजी तथा मोलडेविया छोड़ देने को कहा। रूस इसके लिए तैयार नहीं था। अतः इंगलैंड और फ्रांस ने १८५४ ई० में उसके विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया। १८५६ ई० में पेरिस की सन्धि हुई। मोलडेविया और वेलेशिया पर रूस का संरक्षण हटा दिया गया और ये तुर्की सम्राट की देख-रेख में स्वतन्त्र छोड़ दिये गये। तुर्की को यूरोप के राष्ट्रीय परिवार का एक सदस्य मान लिया गया और उसकी सुरक्षा की जिम्मेदारी महान् राष्ट्रों ने अपने ऊपर ली। इस युद्ध से रूस की साम्राज्य-विस्तार की नीति कुछ काल के लिए रुक गई।

बर्लिन कांग्रेस १८७८ ई०

पेरिस की सन्धि के बीस वर्ष बीतते-बीतते वेलेशिया और मोलडेविया के प्रदेशों ने तुर्की सुल्तान के विरुद्ध पुनः बगावत का झंडा खड़ा किया। सर्बिया, बोसेनिया, मौंटीनिग्रो, बल्गेरिया आदि में भी विद्रोह की आग सुलग रही थी। रूस के लिए यह अवसर बड़ा ही बहुमूल्य था। उसने १८७७ ई० में टर्की पर हमला कर दिया और वह सनस्टेफानो की सन्धि करने को बाध्य हुआ। उसने कई प्रदेशों को स्वतन्त्र मान लिया तथा बहुतों को रूस के संरक्षण में छोड़ दिया। अब इंगलैंड चुप नहीं रह सका, क्योंकि उसके भूमध्यसागरीय स्वार्थ में खतरा उपस्थित हो गया। प्रधान मंत्री डिजरैली ने हस्तक्षेप किया और फलस्वरूप १८७८ ई० में बर्लिन की संधि हुई जिसके द्वारा रूस के अधिकार में आए हुए प्रदेशों की संख्या कम कर दी गई; रूमानिया को आजादी मान ली गई, बोसेनिया और हर्जेगोविना को आस्ट्रिया के संरक्षण में छोड़ दिया गया और इंगलैंड को साइप्रस द्वीप मिला। इस तरह इंगलैंड के हस्तक्षेप से इस बार भी तुर्की साम्राज्य का विलयन रुक गया। डिजरैली ने इसे 'सम्मानपूर्ण सन्धि' कहा था। पर भविष्य की घटनाओं ने स्पष्ट कर दिया कि पूर्वी समस्या का निराकरण इस सन्धि के द्वारा भी नहीं हो सका, उल्टे इसने भविष्य में भीषण युद्धों के बीज बोये।

बर्लिन कांग्रेस के बाद

ऊपर कहा जा चुका है कि बर्लिन कांग्रेस ने पूर्वी समस्या का समाधान नहीं किया। १८८५ ई० में इसकी एक शर्त की उपेक्षा की गई। बल्गेरिया और पूर्वी रूमानिया एक राजा के अधीन मिला दिया गया। इस पर सर्बिया ने बल्गेरिया के विरुद्ध लड़ाई

छोड़ दी किन्तु वह पराजित हो गया। आस्ट्रिया के प्रयास से दोनों के बीच सन्धि हो गई।

१८९७ ई० में यूनान और तुर्की के बीच युद्ध प्रारम्भ हो गया। सुल्तान की मनोवृत्ति में कोई परिवर्तन नहीं हो रहा था। ईसाईयों पर अत्याचार होता रहा। क्रीट के ईसाई निवासियों ने विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। यूनान ने उन्हें सहयोग दिया क्योंकि वे लोग यूनान के ही साथ मिल जाना चाहते थे। तुर्की ने भी युद्ध घोषित कर दिया। यूनान की हार हो गई। यूरोप के महान् राज्यों ने पुनः तुर्की को उचित सन्धि करने के लिए बाध्य किया। क्रीट को तुर्की के संरक्षण में स्वराज्य दे दिया गया और यूनान के राजा का लड़का वहाँ का गवर्नर नियुक्त हुआ। किन्तु यूनान और क्रीट को पृथक् ही रखा गया।

१९०८ ई० में तुर्की में तरुण तुर्क-आन्दोलन हुआ। सुल्तान के निरंकुश शासन का अन्त हो गया। बल्गेरिया ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर ली और आस्ट्रिया ने बोसेनिया तथा हर्जेगोविना को अपने साम्राज्य में मिला लिया। रूस तथा सर्बिया ने *आस्ट्रिया के इस कार्य को नापसन्द किया किन्तु वे कुछ कर नहीं सके।*

बाल्कन-युद्ध

१९१२-१३ ई० में दो बाल्कन-युद्ध हुए। १९१२ ई० में बल्गेरिया, सर्बिया, ग्रीस और मौण्टनिग्रो तुर्की के विरुद्ध एक बाल्कन-संघ कायम किया और पहली लड़ाई हुई। तुर्की हार गया और यूरोप में कुस्तुन्तुनिया के अतिरिक्त सारा राज्य खो गया। दूसरे साल हिस्से के प्रश्न पर संघ के सदस्यों के बीच ही लड़ाई हुई। एक तरफ बल्गेरिया था और दूसरी तरफ रूमानिया तथा अन्य राज्य थे। बल्गेरिया हार गया और बुखारेस्ट की सन्धि के अनुसार उसे पहले से कम हिस्सा मिला। ये बाल्कन-युद्ध प्रथम महायुद्ध की पृष्ठभूमि कहे जाते हैं।

पूर्वी समस्या की प्रमुखता का अन्त

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् पूर्वी समस्या की प्रमुखता का अन्त हो गया। इसके कई कारण हैं। पहले तो महायुद्ध में तुर्की ने जर्मनी का पक्ष लिया और ये दोनों पराजित हो गए। अब यूरोप से तुर्की की विदाई हो गई। दूसरे, तुर्की में क्रान्ति हुई और वहाँ गणराज्य की स्थापना की गई। तीसरे, युद्धोत्तर काल में अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का प्रचार हुआ और शक्ति-सन्तुलन की नीति की प्रधानता नहीं रही। चौथे, बाल्कन प्रायद्वीप के सभी राज्य स्वतन्त्र हो गए और राष्ट्रीयता के सिद्धान्त पर उनका संगठन हो गया। पाँचवें, रूस की नीति में महान परिवर्तन हो गया। १९१२ ई० के बाद *वह आन्तरिक संगठन के क्षेत्र में विशेष रूप से व्यस्त रहा। अब बाल्कन में फैलने* की उसकी नीति नहीं रही और उसके पास पर्याप्त अवकाश भी नहीं रहा।

अध्याय ११

मानव-समाज का पागलपन—प्रथम विश्वयुद्ध

भूमिका

१६१४ ई० विश्व-इतिहास में महत्वपूर्ण तिथि है। इसी साल अगस्त महीने में ...ा। मानव ने एक ऐसे युद्ध ... विख्यात है। इस तरह का ... और बत्तीस राज्य थे—ग्रेट ... बेल्जियम, सर्बिया, यूनान, रूमानिया, मॉन्टनिग्रो, चीन, जापान, सयुक्त राष्ट्र अमेरिका, ब्राजील, क्यूबा आदि और दूसरी ओर चार राज्य थे—जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगरी, बल्गेरिया और तुर्की। इसकी दूसरी विशेषता यह थी कि इसमें केवल पेशेवर सैनिकों ने ही नहीं भाग लिया, अन्य लोगों को भी इसमें भाग लेने के लिए बाध्य होना पड़ा। अतीत की भाँति यह दो राजाओं का ही युद्ध नहीं रहा बल्कि यह राष्ट्रों का युद्ध हो गया। तीसरे, इस युद्ध में अच्छे और बुरे सभी प्रकार के वैज्ञानिक आविष्कारों का प्रयोग हुआ जिसका परिणाम बड़ा ही भयंकर हुआ। सर्वप्रथम विज्ञान से होने वाली बुराइयों का भी लोगों को आभास मिला। चौथे, पृथ्वी, समुद्र और आकाश तीनों ही क्षेत्रों में युद्ध हुए। पाँचवें मानव-संहार का ऐसा हृदय-द्रावक चित्र पहले कभी भी नहीं उपस्थित हुआ था। ...कता का नग्न-प्रदर्शन किया। मानव- ... गये। मनुष्य ने पशु से भी गया-बीता ... में मनुष्य ने निःसंकोच दूसरे मनुष्य ... चार वर्षों के बाद युद्ध का अन्त हुआ। इसके पश्चात् विजेता और विजित दोनों ही सुखी तथा शान्त नहीं रह सके। युद्ध-जनित समस्याओं ने दोनों ही के गले को पकड़ लिया। पराजित राष्ट्रों में द्वेष और ... और शंका से पीड़ित हुए। ...

अब इस महामारी के कारण और परिणामों पर विचार करना आवश्यक है।

मौलिक कारण

(१) गुप्त सन्धि प्रणाली—गुप्त तरीके से राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित करना आधुनिक काल का सबसे बड़ा अभिशाप है। इससे यूरोपीय राज्यों में पारस्परिक भय

तथा शंका की वृद्धि हो रही थी। इसी के कारण यूरोप दो विरोधी दलों में बँट गया था। १८८२ ई० में जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली में गठबन्धन हुआ और १९०७ ई० में इंगलैंड, फ्रांस तथा रूस दूसरे दल में संगठित हुए। प्रत्येक दल के सदस्य एक दूसरे की सहायता करने के लिए अपने को बाध्य समझते थे। अतः कोई साधारण घटना होने पर भी प्रत्येक सदस्य अपने मित्र की सहायता करने के लिए तत्पर हो जाता था और इससे मित्रता का सूत्र दृढ़तर हो जाया करता था। १९१४ ई० में दोनों गुट एक दूसरे के विरुद्ध युद्ध-क्षेत्र में हथियार लेकर खड़े हो गये।

(२) सैनिकवाद—फ्रांसीसी क्रान्ति ने राष्ट्रीय सैन्यकरण की प्रथा प्रचलित की। राष्ट्र का कोई भी योग्य व्यक्ति सेना में भर्ती होने के लिए बाध्य किया जाने लगा। १९ वीं सदी में रूस की अद्भुत विजय ने राष्ट्र की सैनिक शक्ति का महत्व प्रदर्शित किया। अब यूरोपीय राज्यों में सेना की वृद्धि दिन-दूनी रात-चौगुनी होने लगी। कितने लोगों को यह विश्वास हो गया कि शान्ति-स्थापना के लिए युद्ध की तैयारी ही सर्वोत्तम साधन है। अब सेनाध्यक्षों का प्रभाव राजनीति में भी बढ़ने लगा, यद्यपि वे राजनीतिक तथा कूटनीतिक क्षेत्र के लिए अनभिज्ञ होते थे। सैनिक शक्ति और अस्त्र-शस्त्र की वृद्धि से युद्ध को प्रोत्साहन मिलना स्वाभाविक ही था। १८७१ और १९१४ ई० के बीच यद्यपि कोई बड़ा युद्ध नहीं हुआ, अस्त्र-शस्त्र की वृद्धि होती रही। अतः इस काल को 'सशस्त्र शान्ति का युग' कहते हैं।

(३) राष्ट्रीयता—१९ वीं सदी में इसकी प्रेरणा से इटली तथा जर्मनी का एकीकरण हुआ, किन्तु २० वीं सदी में यह घातक सिद्ध हुआ। इसने आस्ट्रिया-हंगरी के साम्राज्य में अव्यवस्था उत्पन्न कर उसे छिन्न-भिन्न कर दिया। सर्बिया में सभी स्लावों को एकत्र करने का आन्दोलन चल पड़ा। जर्मनी ने आलसेस-लोरेन को ले लिया था जिससे फ्रांस में असन्तोष की अग्नि सुलग रही थी। जर्मनी और इटली को इंगलैंड तथा फ्रांस की राष्ट्रीय समृद्धि असह्य थी और निकट पूर्व में आस्ट्रिया तथा रूस में प्रतिद्वन्द्विता थी। जर्मनी के लेखक अपनी संस्कृति को सर्वोच्च सिद्ध कर रहे थे और विश्व में इसका प्रसार करना चाहते थे। प्रत्येक राष्ट्र आत्म-निर्भर बनने का प्रयत्न कर रहा था और कुछ राष्ट्र दूसरे को क्षति पहुँचा कर भी अपना गौरव बढ़ाना चाहते थे।

(४) साम्राज्यवाद—साम्राज्यवाद ने अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्विता की अग्नि में घी का काम किया। औपनिवेशिक तथा व्यापारिक प्रतियोगिता ने युद्ध अनिवार्य कर दिया। औद्योगिक क्रान्ति के कारण सभी महान राज्यों को कच्चे माल तथा बाजार की आवश्यकता थी। १८७० ई० के बाद नये साम्राज्यवाद का उदय हुआ। एशिया और

अफ्रीका के बँटवारे के लिए होड़-सी मच गई। रेल, बैंक आदि विभिन्न साधनों में पूँजी लगायी जाने लगी।

(५) प्रेस—लोकमत के निर्माण में प्रेस का महत्वपूर्ण स्थान है। प्रत्येक यूरोपीय देश में समाचार-पत्रों के द्वारा राष्ट्रीय भावना उत्तेजित की जाती थी। राष्ट्रीय गौरव बढ़ाने के हेतु ये युद्ध का प्रचार करते थे और घटनाओं तथा स्थितियों का दुरुपयोग करते थे।

(६) अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का अभाव— वर्तमान सदी के प्रारंभिक १४ वर्ष अन्तर्राष्ट्रीय दुर्व्यवस्था का काल था। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में चार दुर्घटनाएँ हुई—दो मोरक्को और दो बालकन में। इन दुर्घटनाओं के फलस्वरूप यूरोप के दोनों दलों में विरोध की वृद्धि होती गई। किन्तु कोई ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था नहीं थी जो महान् शक्तियों पर किसी प्रकार का दबाव डाल कर झगड़े का निपटारा कर सके।

(७) जर्मनी का उत्तरदायित्व—उपर्युक्त प्रवृत्तियाँ अधिक या कम सभी महान राज्यों में काम कर रही थीं। किन्तु युद्ध की स्थिति उत्पन्न करने में जर्मनी विशेष रूप से सक्रिय रहा। जर्मनी का कैसर विलियम द्वितीय साम्राज्यवाद और सैनिकवाद का बड़ा भूखा था और अपने देश को सर्वशक्तिशाली बनाना चाहता था। बिस्मार्क के ही समय में स्थल-सेना का सुदृढ़ संगठन हो चुका था। अतः उसका ध्यान हवाई तथा सामुद्रिक सेनाओं के निर्माण की ओर अधिक आकृष्ट हुआ। इनमें भी सामुद्रिक सेना के संगठन पर ही अधिक जोर दिया गया। जर्मनी का भविष्य समुद्र पर निर्भर है, यह लिखकर पुस्तिकाओं का वितरण होने लगा और कई जहाजी बिल पास किये गये। सामुद्रिक स्टेशन के लिए हेलीगोलैण्ड इंगलैण्ड से खरीदा गया और कई अन्य स्थानों में ऐसे स्टेशन स्थापित हुए। कील नहर का निर्माण हुआ और यातायात के अन्य साधनों में विकास किया गया। बर्लिन-बगदाद रेल-निर्माण की योजना बनी और तुर्की के निरंकुश सुलतान अब्दुल हमीद से मित्रता स्थापित हुई। जर्मनी के मित्र आस्ट्रिया ने १८७८ ई० की बर्लिन संधि की शर्तों के विरुद्ध बोसनिया तथा हर्जेगोविना को साम्राज्य में मिला लिया। जर्मनी ने स्वयं तो इसकी उपेक्षा की ही, रूस को भी इस मामले में हस्तक्षेप करने से रोका। उसने मोरक्को में १६०५ और १६११ ई० में हस्तक्षेप किया जिसके परिणामस्वरूप इंगलैण्ड-फ्रांस की मैत्री संगठित हुई। कैसर की नीति और कार्यक्रम से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह नेपोलियन प्रथम की भाँति महत्वाकांक्षी था।

तात्कालिक कारण

युद्ध का तात्कालिक कारण था २८ जून १६१४ ई० को आस्ट्रिया के राजा

फरडीनेन्ड और उसकी पत्नी की सेराजोवो में हत्या। यूरोप में सामान तो पहले से ही वर्तमान थे, इस घटना ने चिनगारी का काम किया। आस्ट्रिया ने सर्विया पर सन्देह किया क्योंकि आस्ट्रियन साम्राज्य विघन स्लावों को भड़काने में उसका हाथ था। ४८ घंटे के भीतर स्वीकार करने के लिए आस्ट्रिया ने सर्विया के पास एक प्रतिज्ञापत्र भेजा। सर्विया ने अस्वीकार कर दिया। आस्ट्रिया ने २६ जुलाई को सर्विया के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया। रूस सर्विया की ओर से और जर्मनी आस्ट्रिया की ओर से युद्ध में शामिल हो गये। फ्रांस रूस का मित्र था। अतः फ्रांस युद्ध में कूद पड़ा। अभी तक इंगलैण्ड का रुख अनिश्चित था। उसने युद्ध रोकने का भरसक प्रयत्न किया। किन्तु जर्मनी ने वेल्जियम की तटस्थता को भंग कर दिया और इसी राज्य से होकर फ्रांस पर आक्रमण किया तो इंगलैण्ड ने भी ४ अगस्त को जर्मनी के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया। इंगलैण्ड के राजनीतिज्ञों की यह नीति रही है कि वेल्जियम तटस्थ रहे क्योंकि इसकी सुरक्षा पर इंगलैण्ड की सुरक्षा भी आश्रित थी। दूसरे, अन्तर्राष्ट्रीय संधि के द्वारा महान् राज्यों ने इसकी तटस्थता की रक्षा करने के लिए प्रतिज्ञा की थी। इन्हीं कारणों से इंगलैण्ड युद्ध में भाग लेने के लिए बाध्य हुआ।

युद्ध के उत्तरदायित्व को बतलाने के लिए कोई उपयुक्त वैज्ञानिक साधन नहीं है। शायद ही कोई दिल से युद्ध चाहता था। लेकिन यूरोप के राजनीतिज्ञ और नेतागण कुछ ऐसी परिस्थितियों के वशीभूत थे जो कई पीढ़ियों से काम कर रही थीं। इस प्रकार एक राजा और रानी के वध से यूरोपीय युद्ध का श्रीगणेश हुआ। शीघ्र ही यह विश्वयुद्ध के रूप में परिणत हो गया। संसार के अन्य राष्ट्र एक या दूसरे पक्ष में युद्ध में शामिल होते गए। चार वर्षों तक विश्व के रंगमंच पर युद्ध का नाटक खेला जाता रहा। १९१७ ई० में संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का प्रवेश हुआ और दूसरे ही साल नाटक के पर्दे का पटाक्षेप हो गया। ११ नवम्बर १९१८ ई० को युद्ध बन्द हो गया। मित्र राष्ट्रों की विजय हुई और यूरोप के केन्द्रीय राज्य पराजित हुए।

मित्र राष्ट्रों की विजय के कारण

अब एक पक्ष की विजय और दूसरे पक्ष की पराजय के कारणों का अध्ययन करना है। पहले तो मित्र राष्ट्रों की शक्ति असीमित थी। उनके साधन अस्त्र-शस्त्र, रसद आदि सभी भरपूर थे। विश्व का अधिकांश भाग उनकी ओर से युद्ध में सम्मिलित था। समुद्र पर भी उनका आधिपत्य था। शत्रु राष्ट्रों के साधन सीमित थे। अतः दीर्घकालीन युद्ध में वे विवश हो गये। दूसरे, १९१५ ई० में इटली अपने गुट को धोखा देकर मित्र राष्ट्रों की ओर मिल गया। तीसरे, रूस से मुक्त जर्मन कैदी जर्मन सेना में भर्ती कर लिये गये जिसका सैनिकों पर बुरा प्रभाव पड़ा। चौथे, १९१७ ई० में युद्ध में

अमेरिका भी कूद पड़ा। इससे मित्र राष्ट्रों के आर्थिक तथा सेना सम्बन्धी साधनों में बहुत वृद्धि हो गई और उनकी आशा तथा खुशी का ठिकाना न रहा, इससे शत्रु राष्ट्रों में निराशा और आतंक फैल गया।

शान्ति-सम्मेलन और सन्धियाँ

युद्ध का अंत होने पर पेरिस में शान्ति-सम्मेलन बड़े धूमधाम के साथ आयोजित हुआ। विभिन्न शक्तियों के साथ विभिन्न संधियाँ हुईं। जर्मनी के साथ वर्साय की संधि हुई और वह विशेष महत्वपूर्ण है। जर्मनी युद्ध के लिए उत्तरदायी ठहराया गया। अतः उसे कठोर सजाएँ भुगतनी पड़ीं। जर्मनी का अधिकांश भू-भाग उसके हाथ से निकल गया। अलसेस लोरेन फ्रांस को मिल गया। सारे प्रदेश भी १५ वर्षों तक उसके अधिकार में रखने के लिए निश्चय हुआ। इस तरह जर्मनी का अंग-भंग कर दिया गया। जापान, ब्रिटेन आदि ने मिलकर उसके समुद्र-पार के प्रदेशों को बाँट लिया। जर्मनी की सैनिक शक्ति बहुत घटा दी गई। उस पर क्षति-पूर्ति की विशाल रकम लाद दी गई जिसे चुकाना उसकी शक्ति से परे था।

राष्ट्रीयता के आधार पर यूरोप के मानचित्र का निर्माण हुआ। पोलैंड, फिनलैण्ड, एस्थोनिया, लटविया, लीथुआनिया, चेकोस्लेवाकिया, युगोस्लाविया और हंगरी जैसे आठ नये राज्य स्थापित हुए। आस्ट्रिया, हंगरी, बलगेरिया और तुर्की के राज्यों का अधिकांश भाग छीन लिया गया। यूरोप के बाहर जर्मनी और तुर्की के प्रदेश शासनादेश[1] प्रथा के द्वारा अन्य महान् राज्यों को सौंप दिये गये। मेसोपोटामिया, फिलस्तीन और पूर्वी अफ्रीका ग्रेट ब्रिटेन तथा सीरिया फ्रांस को मिले।

शान्ति और संधि की विफलता

युद्ध-विजय के साथ शान्ति नहीं मिली और शान्ति के साथ विजय नहीं प्राप्त हुई। संसार के इतिहास में शायद ही कोई अन्य सन्धि वर्साय की संधि के समान विफल और अनिष्टकारी सिद्ध हुई होगी। इसके द्वारा कोई निर्णय नहीं हुआ। किसी प्रश्न का समाधान नहीं हुआ। इसने जितनी समस्याओं का समाधान किया उनसे अधिक समस्याओं को उत्पन्न कर दिया। इसके गर्भ में दूसरे युद्ध के बीज छिपे रहे जो धीरे-धीरे फूलने-फलने लगे और दो दशाब्दियों में हो मनुष्य फिर पागल हो उठा। इसकी विफलता के कई कारण थे।

शान्ति-सम्मेलन की बैठक दुर्भाग्यपूर्ण वातावरण में हुई। युद्ध-काल में सर्वसाधारण को बड़ी परेशानी उठानी पड़ी। विजयी देशों में लोकमत बड़ा ही क्रुद्धित और उत्ते-

[1] मैंडेट

यूरोप १९१९ ई० में

चित्र २४
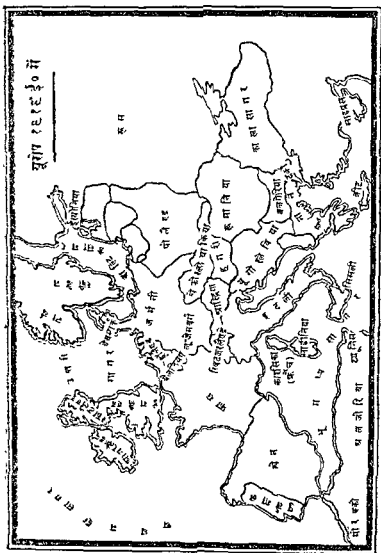
जित अवस्था में था। निकट अतीत के आतंक से लोग भयभीत थे और भविष्य में इसकी पुनरावृत्ति को रोकने के लिए चिंतित तथा व्यग्र थे। शान्ति-सम्मेलन में पेशेवर कूटनीतिज्ञों की नहीं बल्कि राजनीतिक नेताओं की प्रधानता थी। वे अपने देश के लोकमत की उपेक्षा नहीं कर सकते थे। दूसरे, शान्ति-सम्मेलन भी वर्साय के महल में हुआ जहाँ आधी शताब्दी पूर्व बिस्मार्क के नेतृत्व में जर्मन साम्राज्य की घोषणा की गई थी। इससे जर्मनी में बदला लेने की भावना अधिक उत्तेजित हो उठी। तीसरे, सम्मेलन के सामने अग्रिम कार्यक्रम तैयार नहीं था। दो सिद्धान्त प्रमुख थे—अमेरिकी जो राष्ट्र-संघ की स्थापना कर शान्ति-सुरक्षा और स्वतन्त्रता के आधार पर नई व्यवस्था का निर्माण करना चाहता था और फ्रांसीसी, जो जर्मनी और पश्चिमी यूरोप के बीच अनुल्लंघनीय दुर्ग का निर्माण करना चाहता था। किसी भी सिद्धान्त का अक्षरशः पालन नहीं हुआ। उलटे न्याय तथा शक्ति, आदर्शवाद तथा यथार्थवाद में समझौता करने का प्रयत्न किया गया। जर्मनी को न तो संतुष्ट किया गया और न उसका विनाश ही हुआ। वह घायल हो गया किन्तु मरा नहीं। १४ वर्ष के अन्दर उसके घाव अच्छे हो गये। यही दशा १८७१ ई० में फ्रांस की थी। उसे भी मारा गया किन्तु वह भी मरा नहीं और धीरे-धीरे उसने शक्ति-संचय कर ली। चौथे, सम्मेलन में तीन मनुष्यों का बोलबाला था—अमेरिका का प्रेसीडेण्ट विलसन जो आदर्शवादी था और जिसका दिमाग स्वप्न-कल्पनाओं से परिपूर्ण था, फ्रांस का प्रधान मन्त्री क्लेमान्सो जो जर्मनी का कट्टर विरोधी था और उससे क्षतिपूर्ति तथा सुरक्षा की गारन्टी चाहता था तथा इंगलैण्ड का प्रधान मन्त्री लायड जार्ज जो विलसन और क्लेमान्सो के बीच का व्यक्ति था। वह मध्यम मार्ग का अनुसरण करना चाहता था। वह जर्मनी को बिल्कुल कमजोर बनाना नहीं चाहता था। अतः वह उसकी कठोर सजा का पक्षपाती नहीं था। इस तरह सम्मेलन के नेताओं के उद्देश्यों में सामंजस्य नहीं था।

सन्धि भी त्रुटिपूर्ण थी। राष्ट्रीयता के आधार पर यूरोप के मानचित्र का निर्माण हुआ। किन्तु पूरी यूरोप में यह सिद्धान्त लागू नहीं किया गया और कई देशों में अल्पसंख्यक समस्या उठ खड़ी हुई। इसने आत्मनिर्णय के सिद्धान्त की भी उपेक्षा की। यूरोप में कई छोटे-छोटे राज्य कायम हुए जिनकी आर्थिक शक्ति सीमित थी। इससे यूरोप के आर्थिक पुनरुत्थान में बाधा पहुँची। हम को भूखा रखकर सुनहले अंडे की आशा नहीं की जा सकती, किन्तु विजेताओं ने ऐसा ही करना चाहा। जर्मनी को निःशक्त बनाकर उससे क्षति-पूर्ति की रकम प्राप्त करने की आशा की गई। विजित राष्ट्रों के अस्त्र-शस्त्र को घटा दिया गया और उनकी सैनिक शक्ति सीमित कर दी गई, किन्तु विजयी तथा नवीन राष्ट्रों के ऊपर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगा। अस्त्र-शस्त्र से

सुसज्जित राष्ट्रों के बीच जर्मनी की स्थिति अरक्षित हो गई। इससे पराजित राष्ट्रों में भय, सदेह तथा घृणा की भावनाएँ काम करने लगीं और वे संधि-पत्र को रद्द करने का मौका ढूँढ़ने लगे। इस तरह यूरोप फिर दो दलों में विभक्त होने लगा। जो युद्ध का अन्त करने के लिये लड़ा गया उसने दूसरे युद्ध को जन्म दिया।

महायुद्ध के परिणाम

महायुद्ध के विभिन्न क्षेत्रों में क्रान्तिकारी फल हुए। इसने विश्व के आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक सभी क्षेत्रों में महान् परिवर्त्तन किया।

आर्थिक

क्या विजेता और क्या विजित दोनों पक्षों के असंख्य जन तथा अकूत धन का विनाश हुआ। करोड़ों की संख्या में सैनिक और नागरिक मौत के घाट उतारे गये। अरबों की सख्या में धन खर्च किया गया। एक लेखक[1] के मतानुसार साढ़े अट्ठावन हजार करोड़ रुपया खर्च हुआ और तेरह हजार दो सौ करोड़ रुपये की सम्पत्ति का नाश हुआ। महायुद्ध के पश्चात् विश्व पर इसका भीषण प्रभाव पड़ा। ससार की आर्थिक व्यवस्था नष्ट हो गई। चीजों के मूल्य में वृद्धि होने लगी। मजदूरों की माँग बढ़ गई और वे अपने वेतन में वृद्धि चाहने लगे। कागजी मुद्रा का प्रचार हुआ और इसकी कीमत घटने लगी। वाणिज्य व्यवसाय, उद्योग-धन्धे छिन्न-भिन्न हो गये और १६२६ ई० में समस्त संसार में आर्थिक संकट छा गया। युद्ध-काल में कई राज्यों में कई विभिन्न व्यवसायों पर सरकार का नियन्त्रण स्थापित हो गया था और युद्ध के बाद भी यद्यपि नियन्त्रण में ढिलाई की गई, फिर भी सरकार का हस्तक्षेप कायम रहा। इस प्रकार युद्ध ने राष्ट्रीय समाजवाद को प्रोत्साहित किया और आर्थिक सकट से इसे और भी अधिक प्रोत्साहन मिला। जर्मनी में राष्ट्रीय समाजवादी पार्टी का शासन भी स्थापित हो गया और अन्य राज्यों ने भी उसका अनुकरण किया।

राजनीतिक

राजनीतिक क्षेत्र में भी एक नयी सृष्टि का निर्माण हुआ। राष्ट्रीयता और जनतन्त्र के सिद्धान्त फ्रांसीसी क्रान्ति के सिद्धान्तों में सर्वप्रमुख थे। १८१५ ई० में वियना की कांग्रेस ने इनकी उपेक्षा की थी और १६वीं शताब्दी में इन्हें कार्यान्वित करने के लिए सारे यूरोप में भीषण सघर्ष चलता रहा। महायुद्ध के पश्चात् ये सिद्धान्त व्यावहारिक राजनीति के अग बन गए। राष्ट्रीयता के आधार पर नये-नये राज्यों का निर्माण हुआ। प्राचीन राजवंशों की निरंकुश सत्ता का अन्त हो गया और इनके अवशेष पर लोकतत्र की नींव खड़ी की गई। इस प्रकार जर्मनी, आस्ट्रिया, रूस और तुर्की के साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गये और इन देशों में जनतत्र शासन की स्थापना

[1] श्री सत्यकेतु विद्यालंकार

पराक्रमी हैं, जिनका सहयोग उनके लिए लाभदायक है। जैसे पश्चिम वालों को पूरब वालों के विषय में भ्रम था वैसे ही पुरुषों को स्त्रियों के विषय में विशेष भ्रम था। अब तक पुरुषों का ख्याल था कि स्त्रियों का उचित क्षेत्र चहारदिवारी के भीतर है और वे बाहर के लिए सर्वथा अनुपयुक्त हैं। महायुद्ध ने इस भ्रम को भी दूर कर दिया। युद्ध में स्त्रियों ने पर्याप्त सहयोग दिया और अपनी योग्यता सिद्ध कर दी। अब युद्ध के बाद पुरुषों के समान उन्हें राजनीतिक अधिकार मिलने लगे। उन्हें मताधिकार मिला और वे विभिन्न पदों पर नियुक्त होने लगीं। एशियाई देशों में भी स्त्रियों की स्थिति में यह परिवर्त्तन हुआ। वे बुर्के और पर्दे को त्याग कर राज्य के कामों में हाथ बँटाने लगीं। स्त्रियों के समान मजदूरों के भी भाग्य-सूर्य का उदय हुआ। महायुद्ध ने श्रम की आवश्यकता और महत्ता सिद्ध कर दी। अब तक कुलीन और पूँजीपति भी उनकी उपेक्षा करते थे और श्रम को हेय समझा जाता था। किन्तु अब उनका भ्रम भी निर्मूल हो गया। उनके अस्तित्व को कायम रखने के लिए श्रम भी आवश्यक अंग था। अतः अब मजदूरों में भी जागरण हुआ। वे संगठित होने लगे और अपने अधिकार-वृद्धि के लिए आन्दोलन करने लगे। उन्हें भी मताधिकार मिला, उनके प्रतिनिधि लोक-सभा में जाने लगे और शासन-सूत्र के संचालन में हाथ बँटाने लगे। युद्ध काल में शिक्षा के क्षेत्र में अवनति हुई। योग्य व्यक्तियों के लिए सेना का द्वार मुक्त कर दिया गया था। बहुत से विद्यार्थी और अध्यापक युद्ध में काम करने लगे थे। कितने स्कूल, कालेज और विश्वविद्यालय बन्द हो गये। परन्तु युद्ध के बाद यह स्थिति नहीं रही। इस क्षेत्र में भी आशातीत उन्नति हुई। युद्ध-काल में और उसके बाद भी विज्ञान के क्षेत्र में बड़ी प्रगति हुई। उपयोगी या विनाशकारी—अनेक प्रकार के वैज्ञानिक आविष्कार हुए। राज्य में वैज्ञानिकों का सम्मान होने लगा।

धार्मिक

धार्मिक क्षेत्र में भी सर्वसाधारण के बीच भ्रम का एक जाल-सा बिछा हुआ था। धर्म उनके लिए श्रद्धा की वस्तु थी और धर्माधिकारी को पूज्य समझा जाता था। सारी इसाई दुनिया ईसा और बाइबिल को मानती थी। धर्माधिकारियों का जनता पर बड़ा प्रभाव था। महायुद्ध ने इसका भी रहस्योद्घाटन किया और सर्वसाधारण को धार्मिक जाल से मुक्त कर दिया। युद्धकाल में पादरियों ने अपनी सरकार का समर्थन किया और गिरजे में अपनी विजय तथा विपक्षी के नाश के लिए प्रार्थना की। धर्म का उद्देश्य है मानव-कल्याण, शान्ति-स्थापना और भाईचारे का प्रचार। धर्माधिकारियों के युद्ध-कालीन चरित्र ने धर्म के ढकोसले को स्पष्ट कर दिया और इसमें सर्वसाधारण की श्रद्धा का अन्त हो गया। विज्ञान ने जिस कार्य का प्रारम्भ किया था, महायुद्ध ने उसे पूरा कर दिया। बोल्शेविक रूस ने तो धर्म को अफीम ही घोषित कर डाला।

अध्याय १२

समाजवाद का प्रयोगस्थल—रूस

भूमिका

समाजवाद क्या है—इस पर दृष्टिपात किया जा चुका है।[१] कार्ल मार्क्स इस सिद्धान्त का महानतम प्रवर्त्तक था। संक्षेप में इसमें चार शर्तें मुख्य हैं। (क) आर्थिक परिस्थिति मनुष्य को बहुत प्रभावित करती है और इसी के आधार पर मानव-इतिहास का निर्माण हुआ है। (ख) समाज में सदा से धनी और निर्धन ये दो वर्ग रहे हैं और इनमें संघर्ष अनिवार्य है। (ग) वस्तुओं के उत्पादन तथा विभाजन पर राष्ट्र का अधिकार होना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यता के अनुसार कार्य करना चाहिए और उसकी आवश्यकता के अनुसार वस्तु उसे मिलनी चाहिए। (घ) सारी दुनिया के मजदूरों की समस्याएँ समान हैं। उन्हें एक होकर अपनी समस्याओं को हल करना चाहिए। यही समाजवाद का सार है और रूस इसकी विशाल प्रयोगशाला है।

१८वीं शताब्दी तक रूस में निरंकुश राजतन्त्र का विकास हो चुका था। पीटर महान् तथा कैथेराइन ने इसे पश्चिमी ढाँचे में ढालने का भरपूर प्रयत्न किया और उन्हें कुछ सफलता भी मिली। रूस ने एक महान् साम्राज्य स्थापित किया और जार की तूती बोल रही थी। जार के सामने प्रजा का कोई अधिकार नहीं था। १९वीं शताब्दी में कई जार रूस की गद्दी पर बैठे। उनमें कुछ सुधारवादी थे और कुछ प्रतिक्रियावादी। प्रायः उदारवादी जार के पश्चात् सुधार-विरोधी जार का राज्यारोहण होता था। उदारवादी जार अपने शासन-काल में कुछ सुधार करते थे तो प्रतिक्रियावादी जार अपने राज्यकाल में सुधार के प्रवाह को रोकने का प्रयत्न करते थे। सुधारवादियों में अलेक्जेंडर द्वितीय का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उसे मुक्तिदाता की उपाधि से विभूषित किया गया है। प्रतिक्रियावादियों में निकोलस द्वितीय प्रसिद्ध है जिसने १८९४ से १९१७ ई० तक शासन किया। वह बड़ा ही भाग्यहीन था। इसके समय में अनेक दुर्घटनाएँ घटीं। रूस को जापान के द्वारा पराजय हुई और १९१७ ई० में क्रान्ति का भीषण विस्फोट हुआ।

---

१ देखिये अध्याय ४

रूसी क्रान्ति के कारण

मार्च १९१७ ई० में रूसी क्रान्ति का विस्फोट हुआ। प्रायः सभी क्रान्तियों की भाँति रूसी क्रान्ति के भी कारण मौलिक तथा तात्कालिक दोनों प्रकार के हैं। मौलिक कारणों की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि रूसी क्रान्ति की जड़ें रूस के इतिहास में बहुत गहराई तक पहुँची हुई हैं। मौलिक तथा तात्कालिक—सभी कारणों पर विचार करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकलता है कि क्रान्ति के होने में आर्थिक तथा राजनैतिक कारणों की ही प्रमुखता है। अत. एक लेखक का कथन सत्य ही है कि १९१७ ई० की रूसी क्रान्ति एक आर्थिक विस्फोट के रूप में थी जो निरंकुश सरकार की मूर्खतापूर्ण कृत्यों द्वारा शीघ्र ही भड़क उठी थी। अब क्रान्ति के विभिन्न कारणों का उल्लेख किया जायगा।

मौलिक आर्थिक एवं सामाजिक

१. भूमि की समस्या—क्रान्ति होने के समय तक रूस कृषि-प्रधान देश था किन्तु कृषि प्रणाली तथा भूमि-वितरण दोनों ही त्रुटिपूर्ण थे। रूस की जनसंख्या में किसान-मजदूर ही सबसे अधिक थे और उन्हीं की दशा सबसे खराब थी। जहाँ करोड़ों किसान थे वहाँ डेढ़ लाख से कम ही जमींदार थे। अल्पसंख्यक जमींदार बहुसंख्यक किसानों को अपने चंगुल में बुरी तरह फँसाये हुये थे। १८६१ ई० तक रूस में अर्द्ध-दास प्रथा (सर्फडम) कायम थी। अधिकांश कृषक बँधुआ मजदूर की स्थिति में थे। जिस भूमि के साथ उनका सम्बन्ध था उस भूमि के क्रय-विक्रय के साथ उनका भी क्रय-विक्रय हो जाता था। बहुत कृषकों के पास भूमि बिलकुल नहीं थी और बहुतों के पास बहुत ही कम भूमि थी। वे सभी बड़े-बड़े भूमिपतियों पर आश्रित थे। इंगलैंड में बँधुआ कृषि मजदूर प्रथा को १५वीं सदी में ही समाप्त कर दिया गया था। फ्रांस में १७८९ ई० में और मध्य यूरोपीय देशों में १८४८ ई० में इसका अन्त हो चुका था। लेकिन रूस में १८६१ ई० में इस प्रथा का अन्त हुआ जिसका परिणाम सन्तोषजनक नहीं हुआ।

१८६१ ई० में जार अलेक्जेंडर द्वितीय ने सुधार किया। भूमिविहीन कृषकों को भूमि तथा स्वतन्त्रता देने की व्यवस्था की गई। सरकार ने जमींदारों से जमीन खरीद कर किसानों को देने की व्यवस्था की। किन्तु जमीन किसानों को सीधे नहीं दी गई। जमीन ग्राम पंचायत (मिर) के हाथ में सौंप दी गई और वही उसकी व्यवस्था करता। अतः किसानों को जो जमीन मिली उस पर उन्हें पूर्ण अधिकार प्राप्त नहीं था। वे उसे बेच नहीं सकते थे। इसके अतिरिक्त जो जमीन दी गई वह मुफ्त नहीं मिली। सरकार ने भूमिपतियों को जो मूल्य दिया उसे किसानों से वसूल करने का निश्चय

हुआ और वह भी सूद के साथ। एक ही सुविधा थी कि रकम किश्तों में चुकानी थी। लेकिन विचित्रता तो यह थी कि खुले बाजार में जमीन की जो दर थी उससे कई गुना अधिक मूल्य किसानों को चुकाना पड़ा। इसके अतिरिक्त उन्हें अन्य कर देने ही पड़ते थे। वसूली कड़ाई से होती ही थी। अतः कहने के लिये किसान मुक्त हुये किन्तु उनकी दशा में परिवर्तन नहीं हुआ। उनके साथ वही कहावत चरितार्थ हुई कि चौबे छब्बे होने गये और दुबे होकर आये। किसानों को लेने के देने पड़े।

बहुत से किसान निश्चित समय पर अपना बकाया चुकाने में असमर्थ होने लगे। उन्हें कृषि में लाभ के बदले अधिक हानि ही दीख पड़ने लगी। अतः वे अपनी जमीन धनियों के हाथ बेच देने को बाध्य हुए। अब वे कृषक मजदूर बनकर दूसरे के खेत में मजदूरी लेकर काम करने लगे और कितने नगरों में जाकर कल-कारखानों में मजदूरी करने लगे। इस तरह भूमि की समस्या बनी रही और साधारण किसानों की दयनीय दशा में कोई सुधार नहीं हुआ।

२. भूख की समस्या—भूमि एवं भूख की समस्याएँ परस्पर सम्बन्धित हैं। भूमि की समुचित व्यवस्था नहीं होने से कृषकों को जमीन की उर्वरा शक्ति बढ़ाने में कोई अभिरुचि नहीं थी। इसके अतिरिक्त जनसंख्या बढ़ती जाती थी और एक परिवार के सदस्यों में उसी अनुपात से भूमि का वितरण भी होता जाता था। अतः भूमि की छोटी छोटी टुकड़ियाँ कृषि के लिये अनुपयुक्त थीं। कृषि के औजार और तरीके भी पुराने थे। प्रथम महायुद्ध के समय तक बैलों के द्वारा खींचे जाने वाले लकड़ी के हल चलते थे और कितने किसानों के पास तो हल-बैल का भी अभाव ही था। इन सभी कारणों से कृषि के उत्पादन में बहुत कमी होती जा रही थी। ऐसी स्थिति में अकाल पड़ना और लोगों का रोग तथा मृत्यु का शिकार होना स्वाभाविक शर्तें थीं। सर्वसाधारण की दृष्टि में ऐसी भयावह स्थिति के लिये सरकार ही उत्तरदायी थी।

३. औद्योगीकरण का प्रारंभ—१८६१ ई० के सुधार से किसानों को विशेष लाभ नहीं हुआ किन्तु उद्योगपतियों को उससे लाभ हुआ। रूस में श्रमिकों की संख्या बढ़ी और सस्ती मजदूरी पर वे कल-कारखानों में काम करने लगे। अतः १८६१ ई० से ही रूसी औद्योगीकरण का श्री गणेश हुआ। प्रथम महायुद्ध शुरू होने के समय तक रूस में औद्योगिक क्रान्ति हो चुकी थी। यातायात के साधन उन्नत हुए। हजारों मील की रेलवे लाइन का निर्माण हुआ। खानों की खोज हुई। कोयले, लोहे, इस्पात आदि उद्योगों का विकास हुआ।

लेकिन औद्योगीकरण के प्रारंभ का यह तात्पर्य नहीं था कि इंगलैंड, फ्रांस आदि देशों के जैसा औद्योगिक क्रान्ति हुई। जनसंख्या, क्षेत्रफल तथा प्राकृतिक साधनों के अनुपात में रूस अभी पिछड़ा हुआ देश था। अभी वह इंगलैंड, अमेरिका आदि

देशों से बहुत पीछे था। रूस के औद्योगीकरण के मार्ग में कई बाधाएँ थीं। अभी वहाँ सामन्ती व्यवस्था के अवशेष पाये जाते थे। स्वदेशी पूँजीपति तो थे किन्तु उनकी शक्ति एवं साधन बहुत सीमित थे। अतः रूस को विदेशी पूँजी पर निर्भर रहना पड़ा। विदेशी पूँजीपतियों का उद्देश्य अधिक से अधिक मुनाफा कमाना होता है। विदेशी पूँजी पर सरकार को सूद भी देना पड़ता था। फ्रांस, जर्मनी तथा बेल्जियम ने अपनी अधिक पूँजी रूस में लगायी थी। पर्याप्त स्वदेशी पूँजी के अभाव में औद्योगिक विकास का होना कठिन है।

४. राजतन्त्र और पूँजीवाद का गठबन्धन—रूस में जारशाही तथा पूँजीवाद में घनिष्ठ सम्बन्ध था। दोनों ही परस्पर स्वार्थ के सूत्र में बँधे हुये थे। जार को पूँजीपतियों से पूँजी मिलती थी और वह उनके हितों की रक्षा करता था। यदि कहीं हड़ताल होती थी तो जार उसे दबाने में अपनी सेना से सहायता करता था। अतः पूँजीपति तथा जार दोनों ही जनहित के घोर विरोधी थे।

५. मध्यम वर्ग की दुर्बलता—इंगलैंड तथा फ्रांस के जैसा रूस का मध्यम वर्ग शक्तिशाली एवं निपुण नहीं था। पहले से रूस में मध्यम वर्ग का अभाव ही था किन्तु औद्योगीकरण के साथ मध्यम वर्ग का भी उदय होने लगा था। परन्तु अभी उसमें जार के विरुद्ध जन-आन्दोलन को न तो प्रेरित करने की क्षमता थी और न उसका नेतृत्व ही करने की। मार्च १९१७ ई० में केरन्सकी के पथ-प्रदर्शन में जो अस्थायी सरकार बनी वह मध्यमवर्गीय थी किन्तु उसे असफलता मिली और उसका शीघ्र ही पतन हो गया।

६. मजदूरों की दयनीय दशा—रूस में औद्योगीकरण के प्रारंभ के साथ-साथ उससे सम्बन्धित बुराइयों का भी प्रवेश हुआ। कल-कारखानों में मजदूरों की भरमार होने लगी। किन्तु उनकी दशा दयनीय थी। कम मजदूरी, कठोर काम, गन्दा एवं संकीर्ण वातावरण, सुरक्षा का अभाव आदि उनके जीवन की विशेषतायें थीं। लेकिन रूसी मजदूरों को एक बात की सुविधा थी। रूस में पूँजीवाद का विकास मन्दगति से हुआ। पूँजीपतियों के संगठन के पहले ही मजदूर संगठित हो चुके थे। वे समाजवादी विचारों से प्रभावित होने लगे थे। अतः पूँजीपति वर्ग मजदूर वर्ग को प्रारम्भ से ही भय एवं शंका की दृष्टि से देखता था। इसका परिणाम हुआ पूँजीपति वर्ग की जार के साथ घनिष्ठता और श्रमिक वर्ग के साथ शत्रुता। अतः जार तथा पूँजीपति मजदूरों को कोई भी सुविधा देने के लिये तैयार नहीं थे। उन्हें अपना संघ भी बनाने का अधिकार नहीं था।

इस तरह धनी तथा गरीब के बीच गहरी खाई थी। समाज में विषमता का विष

स्थान था। एक का धन बढ़ रहा था तो दूसरे की गरीबी बढ़ रही थी। गरीबों में अशिक्षा तथा अशन का प्रचार था उनमें संयम एवं शिष्टता का अभाव था।

राजनैतिक

७. **निरंकुश शासन**—रूस निरंकुश राजतंत्र का एक दृढ़ दुर्ग था। यूरोप के अन्य राज्यों में भी निरंकुश राजतन्त्र थे किन्तु धीरे-धीरे उनमें पर्याप्त सुधार हो चुका था। फ्रांस में भी जहाँ राजा की इच्छा ही कानून थी जनतंत्र कायम हो चुका था। लेकिन रूसी राजतन्त्र मध्य युग से ही स्थापित था फिर भी उसमें एक भी छिद्र नहीं हुआ था। *वह विशुद्ध स्वेच्छाचारी था। शासक सर्वेसर्वा था किन्तु शासित वर्ग को कोई अधिकार नहीं था।* सरकारी नीति की आलोचना—प्रेस, प्लेटफार्म या पार्लियामेंट कहीं भी नहीं हो सकती थी। पार्लियामेंट का तो अस्तित्व ही नहीं था। १८६१ ई० तक तो स्वायत्त संस्थाओं का भी सर्वथा अभाव ही था। १८६१ ई० में ही नगरों तथा ग्रामों में स्वायत्त संस्थाओं की व्यवस्था हुई थी। किन्तु उनके अधिकार बहुत सीमित थे और उनमें धनिकों की प्रधानता थी। मताधिकार का क्षेत्र बहुत ही संकुचित था। *सार्वजनिक जीवन निष्क्रिय था।*

शासन निरंकुश ही नहीं था, अयोग्य भी था। जब निरंकुश शासन में योग्यता रहती है तो प्रजा उसे सहन भी करती है क्योंकि यद्यपि राजनीतिक स्वतंत्रता का अभाव रहता है तो भी देश की समृद्धि तथा प्रतिष्ठा में वृद्धि होती है। इससे प्रजा को कुछ सन्तोष मिलता है। लेकिन रूस की जारशाही में योग्यता का नितांत अभाव था। *इसकी गृहनीति विवेक शून्य थी और विदेशनीति प्रभाव शून्य।* देश के अन्दर किसी भी क्षेत्र में समुचित प्रगति नहीं हो रही थी और वैदेशिक नीति भी असफल थी। १८५३ ई० में क्रिमिया के युद्ध में रूस को पराजित होना पड़ा। १८७७-७८ ई० में रूसी-तुर्की युद्ध में विजयी होकर भी उसे विजय के लाभों से वंचित रहना पड़ा। १९०४-५ में जापान जैसा एक छोटा देश रूस से भिड़ गया और इसे पछाड़ डाला। इससे सारी दुनिया में रूस अपमानित और लज्जित हुआ। *प्रथम महायुद्ध में रूस की दशा अत्यन्त ही बुरी थी।*

शासन अयोग्य ही नहीं था, भ्रष्ट भी था। प्रजा के खून-पसीने की कमाई पर जार भोगविलासमय जीवन व्यतीत करता था। जनता के दुख के लिये उसके दिल में दर्द नहीं था। कोई सहानुभूति नहीं थी। सरकारी नौकरी योग्यता के आधार पर नहीं *मिलती थी।* जार की कृपा का योग्यता की अपेक्षा अधिक महत्व था। राज्य में खुशामद एवं घूसखोरी का बाजार गर्म था। *संख्या की दृष्टि से नौकरशाही विशाल थी* किन्तु विचारों की दृष्टि से वह बहुत ही संकीर्ण थी। नौकरशाही, सेना, कुलीन, चर्च

सभी जार की ही सेवा करना अपना पुनीत कर्त्तव्य मानते थे। यहाँ तक कि न्यायालय भी भ्रष्टाचार का केन्द्र था और वहाँ न्याय का ही गला घोंटा जाता था। सर्वत्र खूब धाँधली थी।

८. अल्प संख्यक जातियों के साथ अनुचित व्यवहार—रूसी साम्राज्य में पोल, फिन, यहूदी आदि कई अल्पसंख्यक जातियाँ थीं। उनकी संस्कृति की रक्षा के लिये कोई प्रबन्ध नहीं किया गया। उनके विकास के लिये कोई अवसर नहीं प्रदान किया गया। जारशाही ने रूसीकरण की नीति अपनायी और गैर-रूसियों पर रूसी संस्कृति बलात् लादने का प्रयत्न किया। इससे अल्प संख्यक जातियों में घोर निराशा उत्पन्न हुई और वे जारशाही का अन्त हो जाने में ही अपना कल्याण देखने लगे।

६. विद्रोह की भावना का विकास—रूस में १६१७ ई० में क्रान्ति अचानक नहीं हो गयी। इसका बीजवपन बहुत पहले हो चुका था। विद्रोह की परम्परा कायम हो चुकी थी। आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में जैसी विषम एवं असह्य स्थिति थी उसने जनता में असन्तोष पैदा होना स्वाभाविक था। १६वीं सदी के मध्य से ही सर्वसाधारण में विद्रोह के लक्षण दीख पड़ने लगे थे। किसानों के विद्रोही रूप को देखकर अलक्जेंडर द्वितीय ने बुद्धिमता दिखलायी और अर्द्धदास प्रथा का अन्त कर दिया। लेकिन जहाँ एक टन बुराइयाँ थीं वहाँ एक औंस के सुधार से क्या होता! किसान-मजदूरों के विद्रोह होते रहे। बीसवीं सदी में प्रथम महायुद्ध के पूर्व विद्रोहों एवं हड़तालों की भरमार हो गई। किसानों ने छोटे-मोटे सहस्रों विद्रोह किया और श्रमिकों ने भी कई हड़तालें कीं। १६०५ ई० की हड़ताल अधिक प्रसिद्ध है जिसमें लगभग ३० लाख मजदूरों ने हाथ बँटाया था। रूस के किसान मजदूरों के अतिरिक्त साम्राज्य की अधीनस्थ जातियों के भी समय-समय पर विद्रोह होते रहे। इस तरह पोलों, उजवेकों, किरगिजों तथा मध्य एशियावासियों के विद्रोह हुए थे।

१०. दमन की परम्परा—सर्वसाधारण विद्रोह करें और सत्ताधारी चुपचाप सहन करे—यह सम्भव नहीं। सत्ताधारी तो शक्ति के मद से चूर रहता है। वह अपने ऊपर किसी के अँगुली उठाने के प्रयत्न को भी सहने में असमर्थ रहता है। अतः विद्रोह के साथ साथ दमन-चक्र भी चलता रहा। विद्रोह या क्रान्ति के समर्थकों को प्राणदण्ड या साइबेरिया में देश-निर्वासन की सजा दी जाती थी। लेकिन दमन-नीति का उपयोग शासक की कमजोरी का परिचायक है—यह उसकी अज्ञानता का द्योतक है। दमन-नीति से असन्तोष तथा प्रतिकार की भावना पैदा होती है। जब शासक अस्त्र-शस्त्र का उपयोग करता है तो शासित प्रजा भी इनका सहारा लेने से बाज नहीं आती। ईंट का उत्तर पत्थर से दिया जाने लगता है। विद्रोहियों ने स्वयं जार अलेक्जेंडर की

निर्मम हत्या कर डाली और राजा तथा प्रजा के बीच हिंसा-प्रतिहिंसा की भावना में क्रमशः वृद्धि होती रही। इस तरह जार पशु-बल के द्वारा कुछ व्यक्तियों को भले ही दबा सकता था, आत्मबल पर निर्भर समग्र राष्ट्र दबाना उसके बूते से बाहर की बात थी।

११. मार्क्सवाद का प्रचार—१९वीं शताब्दी के अन्त तक रूस में राजनीतिक दलों का भी उदय होने लगा था। शून्यवादी,* अराजकतावादी,† उदारवादी‡ नामक कुछ दल थे जो आगे नहीं बढ़ सके। दो दल अधिक प्रसिद्ध थे—समाजवादी क्रान्तिकारी§ और सामाजिक जनवादी ‍$। ये दोनों दल मार्क्सवादी विचारधारा से बहुत ही प्रभावित थे। १८८३ ई० से ही मार्क्सवाद का बहुत अधिक प्रचार होने लगा था। लेकिन समाजवादी क्रान्तिकारी दल में दीन कृषक तथा कृषि-मजदूरों की प्रधानता थी और सामाजिक जनवादी दल में मिल-मजदूर प्रमुख थे। १८९८ ई० में सामाजिक जनवादी दल का संगठन हुआ था और लेनिन जैसा महान् व्यक्ति इसी दल का सदस्य था। १९०३ ई० में इस दल में मतभेद हो गया और संख्या के आधार पर यह दो भागों में बँट गया—बोल्शेविक जो बहुमत में थे और मेन्शेविक जो अल्प संख्यक थे। मेन्शेविक मध्यम वर्ग के नेतृत्व में क्रान्ति चाहते थे और पूँजीपतियों का सहयोग भी प्राप्त करने के लिए उत्सुक थे। ये किसी को भी अपने दल में सदस्य बना सकते थे। किन्तु बोल्शेविक अपने बल पर जार का सामना करना चाहते थे और मध्यम तथा पूँजीपति वर्ग के सहयोग के विरुद्ध थे। ये अपने दल में कुछ खास चुने हुए साहसी व्यक्तियों को ही भर्ती करने के लिये तैयार थे।

१२. जार निकोलस द्वितीय एवं जारीना का चरित्र—निकोलस द्वितीय अन्तिम जार था जिसके समय में क्रान्ति हुई। वह दुर्बल और अदूरदर्शी शासक था। उसमें निर्णयात्मक शक्ति का अभाव था। यदि वह किसी निर्णय पर पहुँचा भी तो उसे उसके बदलने में भी विशेष देर नहीं लगती थी। व्यक्ति की योग्यता या परिस्थिति की गंभीरता कुछ भी समझने की उसमें क्षमता नहीं थी। वह अपनी पत्नी के हाथ का खिलौना भी बन गया था। जारीना स्वयं संकीर्ण, अहंकारी और प्रतिक्रियावादी थी। वह जर्मन भी थी। अतः रूसी प्रजा उसे फूटी आँखों भी नहीं सुहाती थी। एक समय

---

* निहिलिस्ट

† अनार्किस्ट

‡ लिबरल

§ सोशलिस्ट रिवोल्युशनरी

$ सोशल डेमोक्रेटिक

तो एक जर्मनवशीय जमींदार को प्रधान मंत्री के पद पर भी बैठा दिया गया था। वह कई शताब्दी पीछे की ओर देख रही थी। दुर्भाग्यवश जारीना रासपुटीन नामक एक पादरी के चंगुल में फँस गयी थी। वह पादरी पथ-भ्रष्ट एवं बुद्धिहीन था। रासपुटीन ने एक जादूगर की भाँति जारीना को प्रभावित किया था। वह जो कुछ चाहता था जारीना के द्वारा जार से करा लेता था। किसी का उत्थान या पतन उसी पर निर्भर करता था। लेकिन उसके अनुचित कार्य एवं प्रभाव को देखकर बहुत लोग असन्तुष्ट थे। अतः राज-दरबार मे एक षड्यन्त्र रचा गया जिसके फलस्वरूप रासपुटीन को अपना प्राण गँवाना पड़ा। लेकिन वह वातावरण को तो विषाक्त बना ही चुका था जो युद्धकाल मे बड़ा ही घातक सिद्ध हुआ।

१३. रूसी-जापानी युद्ध का प्रभाव—१९०४-५ ई० में रूसी-जापानी युद्ध हुआ। जापान एशिया का एक छोटा देश है और रूस यूरोप का एक विशाल देश है। रूसी-जापानी युद्ध मे यूरोप तथा एशिया की प्रतिष्ठा का प्रश्न था। इसमें भी रूस पराजित हुआ। रूसियों को राष्ट्रीय अपमान का कड़ुवा घूँट पीना पड़ा किन्तु उनका हृदय लज्जा एवं रोष से परिपूर्ण था। उस कलक से सरकार के प्रति असन्तोष की अग्नि और अधिक प्रज्वलित हो उठी।

१४. १९०५ ई० का अनुचित गोलीकांड—१९०५ ई० में क्रान्ति के लक्षण प्रकट हो गये। रविवार २६ जनवरी १९०५ ई० के दिन एक विशाल जुलूस का आयोजन किया गया। इसमें लगभग डेढ़ लाख मजदूर थे और वे अस्त्र-शस्त्रविहीन थे। अपने दिल के दुख-दर्द स्वयं जार के कानों तक पहुँचाना ही उनका एकमात्र उद्देश्य था। उन्हें विश्वास था कि इससे उनके शासक का हृदय पसीजेगा। लेकिन शासन के स्तंभ सैनिकों ने उस शान्तिपूर्ण भीड़ पर गोलियों की वर्षा कर दी। सैकड़ों काल-कवलित हुए। स्थिति सगीन हो गई। जनता के रोष तथा घृणा का पारावार नहीं था लेकिन उसमें अभी जारशाही को निर्मूल करने की शक्ति नहीं थी। सुयोग्य नेतृत्व का अभाव था। अभी उसे १२ वर्ष और अत्याचार सहना था।

१५. सुधार का प्रदर्शन—लेकिन लोगों का प्रयत्न बिल्कुल विफल नहीं गया। जार की आँखें अवश्य ही कुछ खुल गईं। सुधार करने एवं सुविधा देने की नीति भी अपनाली गई। जार इस नीति की घोषणा कर वस्तु स्थिति पर पर्दा डालना चाहता था किन्तु उसका प्रयास सफल नहीं हुआ। रूसियों को एक विधानसभा (ड्यूमा) बुलाने की आज्ञा दी गई किन्तु वास्तविक अर्थ में ड्यूमा राष्ट्र की प्रतिनिधि-संस्था नहीं थी। बहुत कम लोगों को मताधिकार प्राप्त था। स्त्रियाँ तो मताधिकार से बिल्कुल ही वंचित थीं। ड्यूमा मे धनी-मानी जमींदारों और व्यापारियों की प्रधानता थी।

ड्यूमा के अधिकार भी बहुत सीमित थे। वह शासन में सक्रिय भाग नहीं ले सकती थी। इसका काम था केवल सलाह देना जिसे स्वीकार या अस्वीकार करना जार की इच्छा पर निर्भर था। १९०५ और १९०७ ई० के बीच दो ड्यूमा की बैठक हुई किन्तु जार की ड्यूमा से पटी नहीं और दोनों बार ड्यूमा भंग कर दी गई। १९०७ ई० में जार ने निर्वाचन प्रणाली में कुछ परिवर्तन कर दिया और मताधिकार तथा प्रतिनिधित्व के क्षेत्रों को और अधिक सकुचित कर दिया। अब तीसरी ड्यूमा में जार के समर्थकों की प्रधानता हो गई और इसी से वह ५ वर्ष तक कायम रह सकी। १९१२ ई० में चौथी ड्यूमा बुलायी गई और उसमें भी प्रतिक्रियावादी प्रधान थे। इस प्रकार वास्तविक अधिकार न देकर अधिकार देने का प्रदर्शन मात्र किया गया। लेकिन अब सर्व-साधारण की आँखों में धूल झोंकना संभव नहीं था। वे वास्तविक अधिकार के लिए उत्सुक थे। वे सोचने लगे कि जार जब शिखर पर से थोड़ा नीचे उतर आया तो और भी अधिक नीचे आ सकता है। जब वह थोड़ा अधिकार देने के लिए सहमत हो गया तो और अधिक अधिकार भी दे सकता है।

इस बीच मजदूर अपनी सभाएँ स्थापित करने लगे थे जो सोवियत कहलाती थीं। इन सोवियतों की संख्या, शक्ति तथा प्रभाव में क्रमशः वृद्धि होती रही। महायुद्धकाल में ये सोवियत वैध सरकार को चुनौती देने लगीं।

तात्कालिक कारण—प्रथम महायुद्ध

१९१४ ई० में प्रथम महायुद्ध शुरू हुआ। इसके पहले ही से रूस के शिक्षित वर्ग के विचारों में क्रान्ति का प्रादुर्भाव हो चुका था। बहुत से रूसी विद्वान् पश्चिमी यूरोप के विचारकों के ग्रन्थों का अध्ययन कर चुके थे और राष्ट्रीयता तथा लोकतन्त्र से परिचित थे। महायुद्ध शुरू होने पर मित्र राष्ट्रों ने युद्धोद्देश्य को बतलाते हुए एक घोषणा निकाली। इसमें यह कहा गया कि वे स्वतन्त्रता, राष्ट्रीयता एवं लोकतन्त्र की रक्षा के लिये यह युद्ध लड़ रहे हैं। इस घोषणा से रूसी जनता भी बहुत प्रभावित हुई।

महायुद्ध में रूस ने मित्र राष्ट्रों की ओर से भाग लिया किन्तु इसकी आन्तरिक स्थिति बहुत ही बुरी थी। पिछले कई वर्षों से सेना में अनुशासन एवं निपुणता का अभाव था। महायुद्ध काल में तो इसकी स्थिति और भी अधिक खराब थी। सेना सुसगठित नहीं थी। अस्त्र-शस्त्र तथा अन्य सामानों का सर्वथा अभाव था। सैनिकों में आशा एवं उत्साह का भी अभाव था। शासन तो भ्रष्टाचार के लिये बदनाम ही था। अतः युद्धकाल में शासन के दो स्तम्भ—सेना तथा नौकरशाही किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये थे।

सर्वसाधारण की दशा भी पहले से बहुत अधिक बिगड़ गई। सर्वत्र अव्यवस्था

फैली थी। खुले बाजार में आवश्यक वस्तुओं की बहुत कमी हो गई। जो वस्तुएँ थीं वे बहुत महँगी थीं। गरीब उन्हें खरीदने में असमर्थ थे। दुर्भिक्ष के चिन्ह दिखाई पड़ने लगे। बहुत से कृषकों को कृषि क्षेत्र से हटाकर युद्ध-क्षेत्र में भेज दिया गया था। अतः उत्पादन का बहुत ह्रास हो गया। जिन किसानों के पास अन्न था भी वे बाजारों में बेचना नहीं चाहते थे। इस समय कागजी मुद्रा की भी अधिकता हो गई थी जिससे रूसी सिक्के की कीमत बहुत गिर गई थी। अतः अन्न तथा वस्त्र के अभाव में लोग सहज ही काल के गाल में जाने लगे। कितने परिवार उजड़ गये, कितने घर वीरान हो गये। देश में हाहाकार मच गया। अब लोग युद्ध से मुँह मोड़ने लगे और शान्ति की पुकार होने लगी।

अब क्रान्ति के विस्फोट को कोई नहीं रोक सकता था। फरवरी १९१७ ई० में वह शुरू हो गया। पेट्रोग्राड में हड़ताल हुई और सैनिकों ने मजदूरों पर गोलियों की बौछार करने से मुँह मोड़ लिया। मार्च में मजदूरों, किसानों तथा सैनिकों ने विद्रोह कर दिया। जमींदारों, पुलिस तथा सरकारी कर्मचारियों पर जनता की ओर से आक्रमण होने लगा। ड्यूमा ने क्रान्ति को प्रोत्साहित किया। जार ने इसे भंग करने का प्रयत्न किया किन्तु सोवियतों के प्रयास से वह विफल रहा। १५ मार्च को जार ने राजगद्दी छोड़ दी। जार और उसके परिवार को कैद कर लिया गया। केरेन्सकी ने शासन-सूत्र अपने हाथों में ले लिया। वह नर्म दल का समाजवादी था और उसे मित्र-राष्ट्रों का समर्थन प्राप्त था। केरेन्स्की सरकार अस्थायी एवं मध्यमवर्गीय सरकार थी। यह युद्ध के पक्ष में थी किन्तु लोकमत इसके विरुद्ध था। लोग शान्ति के लिये लालायित थे। किन्तु केरेन्स्की सरकार देश में शान्ति स्थापित न कर सकी। भूमि एवं भूख की समस्या भी बनी हुई थी। दुर्व्यवस्था का साम्राज्य था। इसी समय लेनिन रंगमंच पर उपस्थित हुआ और नवम्बर में पुनः क्रान्ति की अग्नि प्रज्वलित हो उठी। बोलशेविकों ने लेनिन के नेतृत्व में राजधानी पर आक्रमण किया और केरेंसकी सरकार से राज्य-सूत्र छीन लिया। धीरे-धीरे उन्होंने सारे रूस पर अपना अधिकार जमा लिया।

जर्मनी से रूस की सन्धि

बोलशेविक युद्ध के पक्षपाती नहीं थे। उन्होंने जर्मनी के साथ ब्रेस्ट लिटोव्स्क की सन्धि कर ली। आसपास के स्थानों से रूसी सेना हटा ली गयी। इस नीति से मित्र राष्ट्र रूस से क्रुद्ध हो गये और उन्होंने उसे घेरे में डाल दिया। इससे रूसी जनता की तबाही और बढ़ गई। इसी समय १९१८ ई० में जार तथा उसके परिवार को तलवार के घाट उतार दिया गया। समाजवादी सरकार के अन्य बहुत से विरोधियों को भी मार डाला गया। अब बोलशेविकों ने देश के लिए एक नया शासन-विधान बनाया और यूनियन आफ सोवियत सोशलिस्ट रिपब्लिक की स्थापना की।

क्रान्ति के निर्माता

यह पहले ही कहा जा चुका है कि बोलशेविकों ने क्रांति का नेतृत्व किया और इसकी सफलता का श्रेय उन्हीं को प्राप्त है। निकोलस लेनिन उनका सबसे बड़ा नेता था। १८७० ई० में उसका जन्म हुआ था। उसके पिता शिक्षक का काम करते थे और उन्होंने अपने पुत्र की शिक्षा के लिए उचित प्रबन्ध कर दिया। लेनिन ने उच्च शिक्षा प्राप्त की। वह प्रतिभाशाली पुरुष था और उसमें संगठन की अद्भुत शक्ति थी। विश्वविद्यालय में वह प्रायः छात्र-आंदोलन का नेतृत्व किया करता था। उसने सेंटपीटर्स-बर्ग में कानून का अध्ययन किया।। भ्रमण में उसकी पूरी दिलचस्पी थी और उसने लन्दन, पेरिस आदि बड़े-बड़े शहरों में भ्रमण किया। वह साइबेरिया में कई बार निर्वासित भी हो चुका था। १६०५ ई० की क्रान्ति के समय वह रूस में था। इसके बाद उसने अपना बहुत समय स्वीटजरलैंड में बिताया। इस तरह उसके जीवन का अधिकांश समय देश-निर्वासन तथा भ्रमण में ही बीता किन्तु उसने अपने समय का सदुपयोग किया। उसने मार्क्स तथा अन्य लेखकों की रचनाओं का अवलोकन तथा मनन किया और अपना जीवन-मार्ग निर्धारित किया। यह जीवन-मार्ग था क्रांति और साम्यवाद का। १६१७ ई० में वह जर्मनों के सहयोग से रूस पहुँचा और नवम्बर की क्रांति का उसने सफल नेतृत्व किया। वह युद्ध के पक्ष में नहीं था। अतः उसने शीघ्र ही जर्मनी से संधि कर रूसी सैनिकों को युद्ध-स्थल से हटा लिया। इसके पश्चात् सात वर्ष तक वह देश का आंतरिक संगठन तथा सुधार करने में व्यस्त रहा। कार्यभार के बीच ही १६२४ ई० में वह एक हत्यारे की गोली का शिकार हुआ और इस संसार से चल बसा।
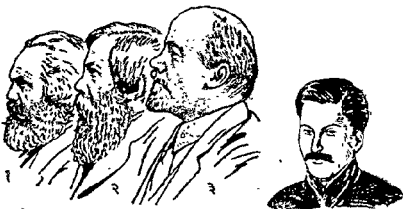
आधुनिक युग के महान् नेताओं में लेनिन का प्रमुख स्थान है। संसार में बहुत कम नेताओं को ऐसा सौभाग्य प्राप्त होता है कि वे अपने जीवन-काल में ही अपने उद्देश्य में सफल हों और मानव समाज में व्यापक प्रभाव डालें। ऐसे ही इने-गिने सौभाग्यशाली नेताओं में लेनिन भी एक स्थान रखता है। वह एक विलक्षण पुरुष था। उसका साहस, धैर्य तथा अध्यवसाय अमुल्य है। वह मार्क्सवाद का कट्टर समर्थक तथा आजीवन क्रान्तिकारी था। उसने जारशाही का तो अन्त किया ही, साथ ही एक नये युग की भी सृष्टि की। उसने सोवियत गणतन्त्र के जन्मदाता होने का गौरव प्राप्त किया और वर्तमान रूस की महानता की दृढ़ नींव डाली। इतिहास में उसका नाम अमर है। उसकी स्मृति में पेट्रोग्राड नगर का नाम लेनिनग्राड हो गया।

लेनिन के कुछ सहयोगी भी उल्लेखनीय हैं। उसके सहयोगियों में ट्राटस्की तथा स्टालिन के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। ये दोनों बड़े ही योग्य थे। ट्राटस्की यहूदी था और उसके विचार उग्रवादी थे। उसने उच्च शिक्षा प्राप्त की थी और वह क्रान्ति के सिद्धांत का कट्टर समर्थक था। लेनिन की मृत्यु के बाद वही शासन-मंडल का अध्यक्ष हुआ और उसने तीन वर्ष तक कार्य का संचालन किया किन्तु स्टालिन से उसका गहरा मतभेद था। स्टालिन उसके समान उग्रवादी नहीं था। वह रूस में ही क्रान्ति का संगठन करना चाहता था। अतः वह विश्व क्रांति का विरोधी था। दोनों में संघर्ष हो गया। स्टालिन ने ट्राटस्की को पदच्युत कर दिया और उसके बाद राज्य-शक्ति स्टालिन के हाथों में आयी। १६२७ ई० से वही रूस का प्रधान बना रहा। उसने ट्राटस्की को १६२६ ई० में देश से निर्वासित कर दिया। ट्राटस्की मेक्सिको में रहने लगा और वहीं षोंगेबाजी से उसका वध कर दिया गया।

स्टालिन (१८७६-१६५३) भी बहुत ही योग्य शासक था। उसने रूस का सफलता-पूर्वक आंतरिक संगठन कर उसे एक ऐसा शक्तिशाली राष्ट्र बना दिया जो विश्व के रंगमंच पर इंगलैण्ड तथा अमेरिका की बराबरी कर रहा है और उनसे टक्कर ले रहा है। आधुनिक युग का यह महान् राजनीतिज्ञ ६ मार्च १६५३ को स्वर्गवासी हो गया।

रूसी और फ्रांसीसी क्रांतियाँ

रूस तथा फ्रांस की क्रांतियों का तुलनात्मक अध्ययन बड़ा ही मनोरंजक है। दोनों में बहुत कुछ समता है। दोनों के मौलिक कारण एक-से ही थे। बोर्बन तथा रोमानोफ दोनों वंशों के शासक स्वेच्छाचारी, अयोग्य और कमजोर थे। १६वाँ लूई और निकोलस द्वितीय दोनों ही अपनी पत्नी मेरी ऐन्टोनेट और अलेकजेंड्रा के वशीभूत थे और यह कहना नहीं होगा कि दोनों की पत्नियाँ कितनी अदूरदर्शी, संकीर्ण और अहंकारी थीं। फ्रांसीसी क्रांति का प्रकाश-स्तम्भ रूसो था तो रूसी क्रांति का कार्लमार्क्स। फ्रांस

थी जैकोबिन पार्टी का प्रतिरूप रूस की बोलशेविक पार्टी थी और फ्रांस का दाटन रूस का लेनिन था। दोनों देशों में खूब रक्तप्लावन हुआ, क्रांति सफल रही और जनतन्त्र की स्थापना हुई। परन्तु रूस की अपेक्षा फ्रांस में रक्तपात अधिक हुआ और रूस का जनतन्त्र फ्रांस की अपेक्षा अधिक सफल तथा स्थायी सिद्ध हुआ। फ्रांस की क्रान्ति ने विशेष रूप से यदि स्वतन्त्रता प्रदान की तो रूसी क्रान्ति ने समानता स्थापित की। परन्तु दोनों में से किसी ने बन्धुत्व का सिद्धान्त कार्यान्वित नहीं किया।

रूसी क्रान्ति का महत्त्व

रूस की क्रान्ति संसार की प्रमुख घटनाओं में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। दुनिया के इतिहास में यह युगान्तकारी घटना है। अँग्रेजी तथा अमेरिकी क्रान्तियाँ प्रधानतः राजनीतिक थीं, फ्रांसीसी क्रान्ति राजनीतिक तथा सामाजिक थी; किन्तु रूसी क्रान्ति राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक तीनों थी। राजनीतिक क्षेत्र में इसने महान् परिवर्तन किया। जार तथा उसके परिवार का तो अन्त हुआ ही, जारशाही भी सदा के लिए धूल में मिल गई। सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्रों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। महायुद्ध के पूर्व तथा बाद के रूस में आकाश-पाताल का अन्तर पड़ गया। समाज के शोषक वर्ग भूमिपतियों एवं पूँजीपतियों का अन्त हो गया। रूसो ने यह सिद्धान्त स्थापित किया था कि जिस व्यक्ति ने सर्वप्रथम भूमि के एक खंड पर अपना अधिकार स्थापित कर कहा कि यह मेरा है वह समाज का सबसे बड़ा शत्रु है। रूसी क्रान्ति इस सिद्धान्त का व्यावहारिक रूप थी। रूस में व्यक्तिगत सम्पत्ति की बात करना पाप है और राज्य की ओर से प्राणदण्ड के द्वारा इसका उत्तर मिलता है। जो अब तक शोषित तथा उपेक्षित थे वे ही अब स्वामी तथा शासनाधिकारी बन गये। समाज की विषमता जाती रही, श्रम की महत्ता स्थापित हुई। उत्पादन के साधनों तथा वस्तुओं के वितरण पर राष्ट्र का अधिकार हुआ। प्रजातंत्र की विजय हुई, किसान-मजदूरों के हाथ में शासन-सूत्र आ गया। क्रान्ति के पूर्व रूस, इंगलैण्ड तथा अमेरिका की तुलना में बहुत पिछड़ा हुआ था। लेकिन क्रान्ति के बाद इसकी शक्ति इतनी बढ़ गई है कि यह इंगलैंड तथा अमेरिका की समता करने लगा है।

इस प्रकार रूसी क्रान्ति ने संसार को एक नयी सभ्यता एवं संस्कृति प्रदान की है। इसने मार्क्स के एक सिद्धान्त को भी उलट दिया है। मार्क्स का कथन है कि जिस देश में पूँजीवाद का विकास चरमसीमा पर पहुँच जायगा वहीं पर साम्यवादी क्रान्ति होगी। किन्तु रूस तो पिछड़ा हुआ कृषि-प्रधान देश था जहाँ क्रांति सर्वप्रथम सफल हुई। इससे यह स्पष्ट है कि साम्यवादी क्रान्ति के लिये औद्योगीकरण एवं पूँजीवाद का चरम विकास आवश्यक नहीं है।

धीरे-धीरे संसार के अन्य देशों के किसान-मजदूरों को मार्क्सवादी विचारधारा

आकृष्ट करने लगी है। द्वितीय महायुद्ध के बाद चीन जैसे विशाल राज्य में भी साम्यवादी व्यवस्था स्थापित हो चुकी है। विश्व में साम्यवादी प्रचार को रोकना अमेरिका की वैदेशिक नीति का प्रमुख अंग बन गया है।

बोल्शेविक सरकार के कार्य

(क) लेनिन

हम देख चुके हैं कि लेनिन के नेतृत्व में रूस ने युद्ध से अपना मुँह मोड़ लिया और जर्मनी से कड़ी शर्तों को भी मान कर सन्धि कर ली। जनता शान्ति चाहती थी और बोल्शेविकों को भी समाजवादी संगठन के लिए इसकी नितान्त आवश्यकता थी। रूस ने अपने समस्त साम्राज्यवादी अधिकारों एवं सुविधाओं को छोड़ दिया। इस नीति से अधीनस्थ जातियों को स्वतन्त्र होने का सुअवसर प्राप्त हुआ। रूस को भी इससे लाभ हुआ।

नवीन संविधान—१९१८ ई० में ही एक नया संविधान बनाने के लिये एक परिषद् बुलायी गई थी। किन्तु इसमें बोल्शेविक अल्पमत में थे और इसमें समस्त जनता का प्रतिनिधित्व नहीं होता था। अतः उस परिषद् को भंग कर दिया गया। सोवियतों की राष्ट्रीय कांग्रेस में सर्व-साधारण का विशेष प्रतिनिधित्व था। अतः इसी ने एक संविधान का निर्माण किया। इस संविधान में १९२४ ई० में कुछ छोटे-मोटे परिवर्तन हुए थे और यही संविधान १९३६ ई० तक लागू रहा था। इस संविधान की कई विशेषताएँ हैं। सर्वप्रथम, संविधान में संघीय शासन की व्यवस्था की गई। केन्द्रीय सरकार को समाजवादी जनतन्त्रों का संघ कहा गया। दूसरे, निर्वाचन-प्रणाली परोक्ष थी और व्यवसाय पर आधारित थी। तीसरे, १८ वर्षीय लोगों को मताधिकार दिया गया किन्तु पादरी, राजपरिवार, जमींदार और पूँजीपति इस अधिकार से वंचित रखे गये। चौथे, मनुष्य के मौलिक अधिकारों की घोषणा की गई। एक अधिकार की घोषणा नवीन एवं महत्वपूर्ण थी। वह घोषणा थी काम करने और पाने के अधिकार की। पाँचवें, अल्प संख्यक जातियों को आत्म-निर्णय का अधिकार दिया गया। छठवें, शक्ति के पार्थक्य का सिद्धान्त लागू नहीं हुआ। सातवें, सोवियतों की राष्ट्रीय कांग्रेस कार्य-कारिणी के सदस्यों को चुनती थी और ये सदस्य कमीसार को चुनते थे जिनके हाथ में वास्तविक शासन-सूत्र रहता था।

राष्ट्रीयकरण की ओर प्रगति—भूमि एवं कल-कारखानों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। कृषकों ने जमींदारों की भूमि पर अधिकार कर लिया। ऐसे ही मजदूरों ने कल-कारखानों पर अपना आधिपत्य जमाया। राज-परिवार तथा चर्च की जमीन की क्षति-पूर्ति किये बिना ही ले ली गई। बैंक, व्यापार, रेलवे, खान आदि व्यवसायों

पर भी राष्ट्र का अधिकार स्थापित हुआ। पूँजीपतियों ने ऋण के रूप में रूस में जो पूँजी लगायी थी वे सब रद्द कर दी गई।

संकट का प्रादुर्भाव—बोल्शेविकों की इन कार्रवाइयों से देश-विदेश के पूँजीपतियों के सर में दर्द होने लगा। वे बौखला उठे और सोवियत रूस को कुचल डालने के लिये प्रयत्न करने लगे। देश के अन्दर जितनी प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ थीं वे सब बोल्शेविकों के विरुद्ध संगठित होने लगी थीं। अन्य देशों की प्रतिगामी शक्तियाँ भी उन्हें उत्साहित कर रही थीं। इस तरह बोल्शेविकों को देशी-विदेशी सभी शत्रुओं की सम्मिलित शक्ति का सामना करने के लिये बाध्य होना पड़ा। विदेशी पूँजीपतियों ने तो सोवियत रूस पर आक्रमण तक कर दिया।

लेनिन ने सफलतापूर्वक सभी दुश्मनों का सामना किया। उसने पुलिस एवं सेना को सुसंगठित किया। बोल्शेविक पुलिस चेका के नाम से प्रसिद्ध है। घरेलू शत्रुओं को पकड़-पकड़ कर कारावास में रखा जाने लगा और हजारों व्यक्तियों को प्राणदण्ड दिया गया। विरोधियों के साथ लेशमात्र भी दया का बर्ताव नहीं होता था। आक्रमणकारियों का सामना करने के लिये ट्राटस्की तथा स्तालिन के नेतृत्व में लाल सेना भेजी गई। दोनों ने मिलकर विदेशी आक्रमणकारियों को पराजित कर दिया और उन्हें निराश हो रूसी-राज्य की सीमा से हटना पड़ा। इस तरह लेनिन की चतुराई एवं तत्परता से बोल्शेविक क्रान्ति की रक्षा हो सकी।

बोल्शेविक दल का संगठन—लेनिन ने अपने बोल्शेविक दल का भी संगठन किया। दल के सदस्यों को कठोर नियमों का पालन करना पड़ता था। उनमें अनुशासन एवं बलिदान की भावना बड़ी बलवती थी। वे अपने देश की रक्षा के लिये मर-मिटने को सतत तैयार रहते थे। रूस में अन्य दलों के निर्माण पर भी कोई वैध प्रतिबन्ध नहीं था। किन्तु परिस्थिति ऐसी थी कि अन्य दल का टिकना कठिन कार्य था। कोई भी क्रान्ति का खुलेआम विरोध नहीं कर सकता था। समाचार-पत्रों या सभाओं में बोल्शेविक सरकार की समालोचना नहीं की जा सकती थी। देश में बोल्शेविक दल की प्रधानता थी—उसी का अधिनायकत्व स्थापित हुआ था। प्रचार के सभी साधन उसी के हाथ में थे।

१९१९ ई० में रूस में एक साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन कायम हुआ। इसे तृतीय इन्टर नेशनल या कॉमिनटर्न कहते हैं। इसका प्रधान कार्यालय मास्को में ही स्थित था। अन्य देशों की कम्युनिस्ट पार्टियाँ इससे सम्बद्ध होती थीं। इससे दूसरे देशों में साम्यवाद के प्रचार को प्रोत्साहन मिलता था।

आर्थिक संकट का प्रादुर्भाव—प्रारम्भ में उत्पादन के समस्त साधनों पर सरकार का अधिकार स्थापित हो गया था। व्यापार भी सरकार के ही अधीन था। कृषकों को अपना अन्न सरकार के द्वारा निर्धारित मूल्य के अनुसार ही बेचना पड़ता था और उसे सरकार ही खरीदती भी थी। व्यक्तिगत पूँजी या व्यक्तिगत व्यवसाय को समाप्त कर देने का भरसक प्रयत्न हुआ। किन्तु जो सोचा गया सो नहीं हुआ। परिणाम प्रतिकूल हुआ। एक तो परिस्थिति बड़ी ही विषम एवं भयावह थी दूसरे सरकार को वाणिज्य-व्यवसाय के क्षेत्र में पर्याप्त निपुणता नहीं प्राप्त थी। राष्ट्रीयकरण की नीति से पूँजीपति एवं कृषक सभी असन्तुष्ट थे। इन सब का परिणाम यह हुआ कि अन्न तथा वस्तुओं के उत्पादन में बड़ी कमी हो गई। आर्थिक समस्या पुनः विकट रूप धारण करने लगी।

लेनिन बड़ा ही व्यावहारिक था। वह कट्टर एवं हठी नहीं था। उसका विचार था कि थोड़ा पीछे हट जाने से यदि अधिक आगे बढ़ा जा सके तो थोड़ा पीछे हट जाने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए। अतः परिस्थिति से बाध्य होने पर वह समझौता भी कर लेता था। आर्थिक संकट का सामना करने के लिये उसने पूँजीवाद से समझौता किया। उसकी इस नवीन आर्थिक नीति को संक्षेप में 'नेप' कहते हैं। इसके अनुसार एक सीमा के अन्दर व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने की अनुमति दे दी गई। साधारण पूँजीपति छोटे-छोटे कल-कारखानों में व्यक्तिगत पूँजी के आधार पर वस्तुओं का उत्पादन करा सकता था। ऐसे ही कृषकों को भी खेती कराने का अधिकार दे दिया गया। इस नीति से उत्पादन में वृद्धि होने लगी और आर्थिक स्थिति में सुधार होने लगा। उद्योग-धन्धों के विकास में लेनिन विजलीकरण का महत्व भी समझता था। अतः इसे भी उसने प्रोत्साहित किया।

सामाजिक सुधार—समाज में क्रान्ति-पूर्व रूस में स्त्रियों की दशा बड़ी ही खराब थी। वे पुरुषों के अधीन थीं और उन्हें कोई अधिकार नहीं था। लेनिन ने नर-नारी में कोई भेद-भाव नहीं रखा और दोनों को एक समान देखा। अब स्त्रियों को भी बढ़ने का अवसर प्राप्त हुआ।

धार्मिक सुधार—चर्च प्रगति के मार्ग में बहुत बड़ा बाधक था। वह जार को ईश्वर का ही प्रतिनिधि मानता था और उसकी निरंकुशता का समर्थक था। बोल्शेविक सरकार ने चर्च की सारी सम्पत्ति ले ली और उसे पंगु बना दिया गया। अब लोगों को धार्मिक स्वतन्त्रता मिल गई—जो जिस धर्म को चाहे माने या न माने। राज्य को अब इसके सम्बन्ध में कोई चिन्ता नहीं थी।

(ख) स्तालिन

हम देख चुके हैं कि अपने विरोधी ट्राटस्की को पराजित कर स्तालिन ने शासन-सूत्र अपने हाथों में ग्रहण किया। यही २६ वर्षों तक रूस का भाग्य-विधायक बना

रहा। लेनिन के द्वारा दी गई नींव पर उसने साम्यवादी राज्य का विशाल भवन निर्मित किया। लेनिन को आन्तरिक संगठन का पूरा अवसर नहीं मिला किन्तु उसने साम्यवादी व्यवस्था की ओर रूस को अग्रसर कर दिया। उसने स्तालिन के लिये पथप्रदर्शक का काम किया।

स्तालिन की नीति—लेनिन की मृत्यु के समय रूस की अभी बहुत कम प्रगति हो पायी थी। अभी भी उसकी दशा गिरी हुई थी और अनेक समस्याएँ निराकरण के लिये प्रतीक्षा कर रही थीं। धन-धान्य का अभाव था लेकिन विकास के लिये सम्भावनाएँ असीम थीं। स्तालिन ने देश के विकास के लिये भरपूर प्रयत्न किया। उसने पञ्च-वर्षीय योजनाओं का निर्माण किया। १६२८ और १६३६ ई० के बीच तीन पञ्च वर्षीय योजनाएँ लागू हो चुकी थीं। पहली १६२८ ई० में, दूसरी १९३४ ई० में और तीसरी १६-६ ई० में कार्यान्वित हुई थीं। तीसरी योजना की अवधि पूरी भी नहीं हुई थी कि १६४१ ई० में जर्मनी ने रूस पर धावा बोल दिया। अतः इस योजना को महायुद्ध समाप्त होने पर पूरा किया गया। ये सभी योजनाएँ मार्क्सवादी व्यवस्था पर आधारित थीं। पूँजीवाद की भाँति इसका उद्देश्य अधिक से अधिक धन कमाना नहीं था बल्कि जनता का अधिक से अधिक हित साधना था। प्रारम्भ में तो प्राचीन परम्परा को ठेस लगी और सर्वसाधारण को कष्ट एवं कठिनाई का अनुभव हुआ। किन्तु आगे चलकर उन्हें सुख शान्ति का पुरस्कार मिलने लगा।

नेप के अनुसार जो मध्यम मार्ग अपनाया गया था स्तालिन के समय में उसका अन्त कर दिया गया। अब साम्यवादी व्यवस्था के लिये समय उपयुक्त समझा गया। प्रायः समस्त उद्योगधन्धों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। जो जितना परिश्रम करके जितना उत्पादन करता था उसे उसी अनुपात में पारिश्रमिक भी मिलता था। सरकार समय-समय पर पुरस्कार भी घोषित करती थी। इस तरह उत्पादन के क्षेत्र में प्रति-योगिता की भावना को प्रोत्साहन मिला।

आर्थिक विकास—स्तालिन की नीति सफल हुई। उत्पादन में दिनदूनी रात चौगुनी वृद्धि होने लगी। कारखानों की संख्या बढ़ी; यन्त्रों का निर्माण बढ़ा। खनिज पदार्थों के व्यवसाय में उन्नति हुई। बिजलीकरण का अद्भुत विकास हुआ। नीपर नदी पर बिजली का एक विशाल कारखाना खोला गया जहाँ ६ लाख घोड़े की शक्ति की बिजली पैदा हो सकती थी। औद्योगिक विकास की दृष्टि से रूस को यूरोप में प्रथम और विश्व में दूसरा स्थान प्राप्त हो गया।

कृषि के क्षेत्र में नयी व्यवस्था लागू हुई। कृषि-क्षेत्रों का समूहीकरण कर दिया गया। पहले तो यह लोकप्रिय नहीं हुआ किन्तु इसके पक्ष में खूब प्रचार हुआ और

जनता को इसके लाभों से परिचित कराया गया। सरकार ने कड़ाई से भी काम लिया। इस तरह खेत के समूहीकरण के पक्ष में लोकमत का निर्माण हुआ। सामूहिक खेती सरकार तथा कृषक दोनों की देख-रेख में होने लगी। अब सोवियत रूस में समूहीकरण से बाहर खेती के लिये भूमि बहुत ही कम पायी जा सकती है। इन सामूहिक खेतों में आधुनिक वैज्ञानिक यन्त्रों के द्वारा ही कृषि-कार्य सम्पादित किये जाने लगे। वर्तमान रूस में हजारों और लाखों की संख्या में हारवेस्टर, ट्रैक्टर आदि मशीन देखी जा सकती हैं। खेतों के समूहीकरण और यन्त्रों के प्रयोग से खेती के पैदावार में अत्यन्त वृद्धि हो गई। विश्व में गेहूँ का जितना उत्पादन होता है उसका लगभग एक चौथाई रूस में ही उत्पन्न होता है।

कृषि एवं उद्योग-धन्धों के विकास से बेकारी तथा गरीबी का अन्त हो गया। राष्ट्रीय आय में बहुत वृद्धि हुई। जनता पर टैक्स का बोझ हलका होने लगा। जीवन-स्तर ऊपर उठने लगा और सुख-शान्ति का अनुभव होने लगा। १६२६-३१ ई० में जब सारा संसार आर्थिक संकट के चंगुल में था तो रूस उससे मुक्त था। सोवियत रूस द्वितीय महायुद्ध के भारी भार को भी सफलतापूर्वक सहन कर सका है।

सामाजिक सुधार—समाज से शोषण, बेगारी, विषमता आदि का बहिष्कार हो गया। क्रान्ति के पूर्व जितने लोग नीचे थे वे ऊपर उठ गये। उच्च-नीच, छोटा-बड़ा का भाव नहीं रह गया। सभी लोग बराबर समझे जाने लगे।

स्त्रियों की दशा में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। जारशाही रूस का एक बहुत बड़ा रोग था—वेश्या-प्रथा। बोल्शेविक सरकार ने इसे समाप्त कर डाला। स्त्रियों को सादर बनाने के लिये विविध उपाय किये गये। विवाह के सम्बन्ध में उन्हें स्वतन्त्रता मिली है। सम्बन्ध-विच्छेद (तलाक़) करना आसान कार्य नहीं है। सोवियत रूस में जन-संख्या सम्बन्धी समस्या का अभाव है। अतः वहाँ सन्तानोत्पत्ति पर कोई नियन्त्रण नहीं है। गर्भवतियों को सरकार की ओर से सुविधा दी जाती है। कानूनी दृष्टि में नर-नारी में कोई भेद-भाव नहीं है। स्त्री भी किसी पद पर आसीन हो सकती है। वे सहस्रों की संख्या में खेतों तथा कार्यालयों में देखी जाती हैं। हजारों स्त्रियाँ सैनिकों, चिकित्सकों, यन्त्र-विद्या-विशेषज्ञों, शिक्षकों आदि के पदों को सुशोभित करती हैं। वे सर्वोच्च विधान सभा तथा केन्द्रीय कार्यपालिका की भी सदस्या होती हैं।

कुछ लोगों का ख्याल है कि रूस में पारिवारिक बंधन ढीले पड़ गये हैं किन्तु ऐसी बात नहीं है। अब दाम्पत्य-प्रेम की भित्ति वास्तविकता पर आधारित हो गई। अब नर-नारी में परिस्थितिवश कृत्रिम प्रेम नहीं बल्कि स्वाभाविक प्रेम दीख पड़ने लगा।

इस प्रकार रूसी स्त्रियाँ सदियों की दासता से मुक्त होकर स्वाधीनता की साँस लेने लगी हैं और राष्ट्र के निर्माण में महत्वपूर्ण सहयोग देने लगी हैं।

सांस्कृतिक विकास—शिक्षा एवं संस्कृति के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण प्रगति हुई है। विद्यालयों की संख्या बढ़ी। प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य एवं निःशुल्क कर दी गई। अतः छात्रों की संख्या में भी वृद्धि हुई। केवल पाठकों की ही संख्या नहीं बढ़ी बल्कि पुस्तकों तथा पुस्तकालयों की भी संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई। संग्रहालय भी कायम हुए हैं। उच्च शिक्षा का भी प्रचार हुआ। शिक्षा-प्रणाली में विज्ञान एवं यन्त्र विद्या के पठन-पाठन पर विशेष जोर दिया गया है। सहशिक्षा का खूब प्रचार हुआ है। बच्चों के खेलने-कूदने तथा पढ़ने का समुचित प्रबन्ध हुआ है। विद्यार्थियों के मनोविनोद के लिये विविध साधन हैं।

सोवियत रूस की एक बड़ी विशेषता है कि भाषा के आधार पर प्रान्तों का संगठन हुआ है। अब रूसीकरण की नीति को तिलांजलि दे दी गई है और सब को अपनी भाषा के माध्यम से शिक्षा पाने का अधिकार है। इस तरह विविध अल्पसंख्यक जातियों को अपने सांस्कृतिक विकास के लिये सुअवसर प्राप्त है।

रूस में देशी विद्वानों का सम्मान तो होता ही है विदेशी लेखकों एवं विद्वानों का भी समादर होता है। विदेशी भाषाओं की कृतियों का रूसी भाषा में अनुवाद हुआ है। भारतीय साहित्य को प्रोत्साहन मिला है। रामायण, महाभारत तथा कुछ अन्य प्रमुख ग्रन्थों का अनुवाद हुआ है। कालिदास, प्रेमचन्द, रवीन्द्रनाथ टाकुर आदि लेखकों की कृतियों का बड़ी अभिरुचि से अध्ययन किया जाता है। शेक्सपीयर की रचनाएँ भी बड़ी रुचि के साथ पढ़ी जाती हैं।

कला को भी प्रोत्साहन मिला है। नाटक तथा संगीत से रूसियों को बहुत प्रेम है। रूस में रंग-मंच की भरमार है। वहाँ के नाच-गान संसार में प्रसिद्ध हैं।

सोवियत रूस में सार्वजनिक स्वास्थ्य का समुचित प्रबन्ध है। खेल-कूद तथा मनोरंजन के साधन सर्वत्र उपलब्ध हैं। बच्चों तथा गर्भवती औरतों के लिये उचित व्यवस्था की गई है। चिकित्सालयों की भरमार है। चिकित्सा कराने में न अधिक खर्च लगता है और न विशेष परेशानी उठानी पड़ती है।

बोल्शेविकों का धर्म में विश्वास नहीं था। साम्यवादी दल नास्तिकवाद का ही समर्थक है। लेनिन के ही समय में राज्य और रूढ़िवादी चर्च का सम्बन्ध-विच्छेद हो गया था। स्तालिन के समय में भी यह नीति जारी रही है। सोवियत रूस पूर्णतः धर्म निरपेक्ष राज्य बन गया। कुछ धार्मिक समाज कायम रहे किन्तु वे उपेक्षित दशा में ही रहे।

संविधान-निर्माण—पूर्व संविधान के आधार पर १६३६ ई० में एक नवीन संविधान का निर्माण हुआ। इसे स्तालिन संविधान भी कहते हैं। इस संविधान में समाजवादी संगठन को स्वीकृत किया गया। नागरिकों के अधिकारों तथा कर्त्तव्यों की व्यवस्था कर दी गई। श्रम को विशेष महत्व दिया गया। जीविका प्राप्त करना सर्वप्रथम अधिकार माना गया। वृद्धावस्था में भोजन तथा विश्राम पाने की भी व्यवस्था की गई। एक निश्चित सीमा के भीतर वैयक्तिक सम्पत्ति को स्वीकार किया गया। संविधान में सामाजिक सम्पत्ति और देश की रक्षा प्रमुख कर्त्तव्य बतलाये गये।

संविधान संघीय है। परराष्ट्र नीति, सुरक्षा, व्यापार, मुद्रा आदि संघ सरकार के अधीन हैं। नये जनतन्त्र को शामिल करना भी उसी के अधिकार में है। कार्यपालिका में कमीसारों की एक कौंसिल होती है जिसमें ८ सदस्य होते हैं। सर्वोच्च विधान सभा के दो अंग हैं—संघ की कौंसिल और जातियों की कौंसिल। पहले में समस्त राष्ट्र का और दूसरे में विविध जातियों का प्रतिनिधित्व है। बालिग मताधिकार प्रचलित किया गया है और प्रति ३ लाख पर एक सदस्य निर्वाचित होता है।

सोवियत रूस की वैदेशिक नीति

(१६१८-१६५३)

हम देख चुके हैं कि लेनिन के समय में साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना और विदेशी ऋण के रद्द होने के कारण पूँजीवादी राष्ट्रों ने रूस पर आक्रमण कर दिया किन्तु आक्रमण का सफलतापूर्वक सामना किया गया। लेनिन ने एक साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय संघ भी कायम किया था। इसका उद्देश्य था अन्य देशों में साम्यवाद का प्रचार करना। ट्राटस्की भी विश्व में साम्यवाद का प्रसार चाहता था। अतः पूँजीवादी राष्ट्र सोवियत रूस को शंका एवं घृणा की दृष्टि से देखते थे और उसका बहिष्कार करने की नीति अपनायी गई। उसे राष्ट्र संघ का सदस्य नहीं बनाया गया लेकिन यह नीति स्थायी रूप से लागू नहीं की जा सकी।

रूस ने साम्राज्यवादी नीति का परित्याग कर एशियायी देशों की सहानुभूति प्राप्त कर ली थी। टर्की, ईरान तथा अफगानिस्तान से १६२१ ई० में सन्धि हुई थी। चीन से भी मित्रता का भाव था। पोलैंड, फिनलैंड आदि पड़ोसी देशों को स्वतन्त्र कर उनकी सहानुभूति प्राप्त कर ली गई थी। युगोस्लाविया भी मित्रवत् था। इगलैंड से भी व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हुआ। १६२२ ई० में जेनोआ के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में रूस को भी निमंत्रित किया गया था। उसी साल रूस और जर्मनी में रपोल्लो की सन्धि हो गयी क्योंकि दोनों ही उपेक्षित देश थे। १६२४ ई० में ब्रिटिश मजदूर सरकार ने सोवियत

रूस को मान्यता प्रदान कर दी। इसके बाद इटली, जापान आदि देश भी मान्यता प्रदान करने लगे।

१६३३ ई० में जर्मनी में हिटलर का उदय हुआ। इससे रूस तथा फ्रांस भयभीत हो गये। १६३४ ई० में अमेरिका ने भी इस स्थिति से प्रभावित होकर रूस को मान्यता प्रदान कर दी। उसी साल रूस को राष्ट्र संघ का सदस्य भी बना दिया गया। १६३५ ई० में रूस तथा फ्रांस में एक सन्धि हुई जिसके अनुसार किसी पर आक्रमण होने पर परस्पर सहायता करने की बात निश्चित हुई।

नात्सी जर्मनी सोवियत रूस का दुश्मन था। अतः इंगलैंड तथा फ्रांस उसका विरोध करना नहीं चाहते थे। इटली तथा जापान ने भी आक्रामक नीति अपना रखी थी। इंगलैंड तथा फ्रांस की टालमटोल नीति से आक्रमणकारियों को बढ़ावा मिल रहा था। सोवियत रूस अपनी रक्षा के लिये चिन्तित था। हिटलर भी पहले पश्चिम की ओर ही बढ़ना चाहता था। अतः पूर्वी सीमा को सुरक्षित रखना अत्यावश्यक था। अतः २३ अगस्त १६३६ ई० को रूस तथा जर्मनी में अनाक्रमक सन्धि हो गई। इसके बाद पोलैंड पर हिटलर के आक्रमण के साथ ही द्वितीय महायुद्ध भी शुरू हो गया।

१६४१ ई० में हिटलर ने रूस पर ही धावा बोल दिया। तीन वर्षों तक घनघोर लड़ाई होती रही। अन्त में रूस ने जर्मनी को पराजित कर दिया। रूस की यह महान् विजय थी और थी स्तालिन की प्रतिभा का द्योतक।

द्वितीय महायुद्ध और इसके बाद—युद्ध काल में कई सम्मेलन हुए जिनमें रूजवेल्ट तथा चर्चिल के साथ स्तालिन ने भी भाग लिया। तेहरान, याल्टा, पोट्सडाम आदि स्थानों में ऐसे सम्मेलन हुए थे। युद्ध के अन्त में बर्लिन का बँटवारा हुआ जिसमें रूस को भी हिस्सा मिला। पूर्वी यूरोप में सोवियत रूस का गहरा प्रभाव पड़ा था और समाजवादी व्यवस्था को प्रोत्साहन मिलने लगा था। उत्तरी कोरिया रूस के प्रभाव में था और चीन तो पूर्णतः समाजवादी राज्य बन गया। संयुक्त राष्ट्र संगठन की स्थापना हुई और इसकी कार्य-कारिणी (सुरक्षा परिषद्) के ५ स्थायी सदस्यों में रूस को भी एक स्थान मिला। युद्ध काल में साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय संघ को तोड़ दिया गया था किन्तु १६५२ ई० में स्तालिन ने इसे फिर स्थापित कर दिया। इससे पूँजीवादी राष्ट्रों की शंका फिर बढ़ने लगी। अमेरिका साम्यवाद के प्रचार को रोकने के लिये अधिक सावधान हो गया। इसी समय ६ मार्च १६५३ ई० को स्तालिन इस संसार से चल बसा।

स्तालिन के बाद—संसार के महापुरुषों में स्तालिन का भी स्थान सुरक्षित है। रूस में साम्यवादी व्यवस्था के संगठन का सर्वाधिक श्रेय स्तालिन को ही प्राप्त है।

द्वितीय महायुद्ध के बाद सोवियत रूस बहुत शक्तिशाली हो गया है और विश्व के रंग-मच पर अमेरिका के प्रतियोगी के रूप में विराजमान है। उसी के निर्मित संविधान से वर्तमान रूस शासित हो रहा है। उसके मरने के बाद मलेनकोव के हाथ में शासन-सूत्र आया। किन्तु कुछ ही समय के बाद उसका पतन हो गया और बुल्गानिन ने शासन-सूत्र ग्रहण किया।

बुल्गानिन के आगमन से परराष्ट्रनीति में कुछ परिवर्तन हुआ है। सोवियत रूस का शान्ति की ओर विशेष झुकाव हुआ है। १९५५ ई० में जेनेवा में ४ बड़े राष्ट्रों का एक सम्मेलन हुआ। इन चार में रूस भी एक था। विविध विषयों पर वार्तालाप हुआ। उसी साल भारत तथा रूस के प्रधान मन्त्री श्री नेहरू और श्री बुल्गानिन ने एक दूसरे के देशों का भ्रमण किया। इससे दोनों देश घनिष्ट सम्पर्क में आये। बुल्गानिन के साथ कम्युनिस्ट दल के मन्त्री श्री क्रुश्चेव भी थे। इन दोनों नेताओं ने लन्दन का भी भ्रमण किया। १९५६ ई० जब कर्नेल नासिर ने स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण कर दिया तो रूस ने उसका समर्थन किया। मिश्र पर जब आंग्ल-फ्रांसीसी हमला हुआ तो रूस ने इसका घोर विरोध किया और मिश्र को सैनिक सहायता भी देने की धमकी दी। लड़ाई बन्द होने में इसका भी बहुत प्रभाव पड़ा। आजकल अमेरिका तथा ब्रिटेन के द्वारा पारमाणविक परीक्षण का भी रूस विरोध कर रहा है।

अध्याय १३

एकतंत्रवाद की प्रगति—यूरोप

भूमिका

२०वीं शताब्दी दुनिया के इतिहास में एकतंत्रवाद का युग रहा है। इस युग का प्रारंभ प्रथम महायुद्ध के बाद ही हुआ है। एकतंत्रवाद में एक ही व्यक्ति की इच्छा सर्वोपरि होती है। इसमें स्वायत्त शासन, निर्वाचन तथा वाद-विवाद की स्वतन्त्रता आदि की सर्वथा उपेक्षा की जाती है। प्रथम महायुद्ध के बाद यूरोप तथा एशिया के विभिन्न देशों में एकतंत्रवाद की प्रगति हुई है। एकतंत्रवाद को ही अधिनायकवाद या तानाशाही कहते हैं। इसका सर्वप्रमुख संचालक, तानाशाह या एकशास्ता की पदवी से विभूषित रहता है। यह पहले ही देखा जा चुका है कि किस तरह रूस में श्रमिकों की आड़ में एकतंत्र शासन काम कर रहा है। फिर इससे कुछ भिन्न प्रकार का एकतंत्रवाद यूरोप के अन्य देशों में विकसित हुआ है। इटली तथा जर्मनी में इसका सर्वोत्तम नमूना पाया जाता है। एशिया में तुर्की में कमालपाशा का शासन तानाशाही का उत्तम उदाहरण है। पहले यूरोप के तानाशाहों का अध्ययन किया जायगा। तत्पश्चात् एशिया के एकशास्ताओं का परिचय दिया जायगा।

(क) इटली

रूस में यदि कम्युनिस्ट पार्टी का उत्थान हुआ तो इटली में फासिस्ट पार्टी का अभ्युदय हुआ। वास्तव में फासिस्ट वर्ग का उत्थान कम्युनिस्ट पार्टी के विरोध में हुआ था। यदि कम्युनिस्ट पार्टी में कृषक तथा मजदूरों का बोलबाला था तो फासिस्ट पार्टी में भूमिपतियों का प्रभाव था। साम्यवाद के अतिरिक्त कुछ अन्य पार्टियों-सा इस पार्टी के उत्थान का मूल भी प्रथम महायुद्ध में बताया जा सकता है।

प्रथम, इटली युद्ध में मित्र राष्ट्रों की ओर से शामिल था। युद्ध में मित्र राष्ट्र विजयी हुए थे लेकिन इस विजय से इटली को कोई खुशी नहीं हुई, कुछ लाभ नहीं हुआ। १९१५ ई० की गुप्त संधि के द्वारा इटली को एड्रियाटिक सौंप देने के लिए वादा किया गया था। इटली ने पर्याप्त संख्या में अपने धन-जन का युद्ध में स्वाहा किया। उसकी इतनी बर्बादी स्वतंत्रता-संग्राम में भी नहीं हुई थी। फिर भी

मित्र राष्ट्रों ने अपना वादा पूरा नहीं किया। इटली एक नाबालिग बालकन राज्य के रूप में देखा गया। यह मित्र राष्ट्रों की ईर्ष्या और गृह-सरकार की दुर्बलता का परिणाम था। दूसरे, अन्य देशों की तरह इटली की आर्थिक दशा बिगड़ गयी थी। इसके बजट में बहुत घाटा हो गया था। मुद्रा की कीमत गिर गई थी और वस्तुओं का मूल्य बढ़ गया था। व्यापार तथा उद्योग-धंधे छिन्न-भिन्न हो रहे थे। हड़ताल साधारण घटना हो गई थी। गमनागमन में रुकावट पैदा हो रही थी और बेकारी की विकट समस्या उपस्थित थी। तीसरे, प्रजातंत्र सरकार भ्रष्टाचार और कमजोरी के लिए बदनाम थी। पार्टी का संगठन सिद्धान्तों के आधार पर न होकर व्यक्तित्व के आधार पर होता था। शासन के विरुद्ध विद्रोह होने लगे। पुलिस उन्हें दबाने में लाचार थी। जिस तरह इगलैंड में लंकास्ट्रियन काल में पार्लियामेंट शासन करने में असफल रही वैसे ही इटली में भी पार्लियामेंट की असमर्थता प्रकट हो रही थी। अब शासन में परिवर्तन करना आवश्यक प्रतीत होने लगा। यह परिवर्तन एक ही पार्टी ला सकती थी और वह फासिस्ट पार्टी थी। चौथे, यह पार्टी प्राचीन रोमन साम्राज्य के गौरव को पुनः स्थापित करना चाहती थी। पाँचवें, इस पार्टी का नेतृत्व सुयोग्य तथा कुशल व्यक्ति के हाथ में था।

फासिस्ट पार्टी का नेता था मुसोलिनी। १८८३ ई० में एक साधारण लोहार के परिवार में उसका जन्म हुआ था। उसका विद्यार्थी जीवन साधारण था। इसके बाद उसने शिक्षक तथा संपादक के रूप में कार्य किया, किन्तु उसकी दिलचस्पी सैनिक वृत्ति में थी। प्रारम्भ में वह उग्र समाजवादी था। किन्तु १९१४ ई० में जब उसने युद्ध का समर्थन किया तो उसे पार्टी से निकाल बाहर कर दिया गया। युद्ध में उसने इटली की सेना में एक साधारण पद पर काम किया। १९१९ ई० में उसने फासिस्ट पार्टी का सगठन करना शुरू किया। वह बड़ा ही परिश्रमी था और उसमें आदर्श तथा व्यवहार दोनों का ही सम्मिश्रण था। इस पार्टी में युद्ध से लौटे हुए सैनिक तथा अन्य भूमिपति और बुद्धिजीवी सम्मिलित हुए। इसके सदस्य काले रंग की वर्दी पहनते थे। ये लोग अपने अधिकारों के लिए रोम के सम्राटों की ओर देखते थे। इस पार्टी का नामकरण फासी शब्द

चित्र २६—मुसोलिनी

के आधार पर हुआ। फासी का अर्थ होता है डंडा जो प्राचीन रोम में अधिकार का प्रतीक होता था। १९२१ ई० में ३५ फासिस्ट लोक-सभा के लिए निर्वाचित हुए। अक्तूबर १९२२ ई० में अपने नेता के अधीन तीस हजार फासिस्टों ने मिलान से रोम के लिए प्रस्थान किया। सरकार किंकर्त्तव्यविमूढ़ थी। राजा ने सरकार-निर्माण के लिए मुसोलिनी को निमन्त्रित किया और उसने प्रधान मन्त्रित्व स्वीकार किया।

गृह नीति

अब यहाँ फासिस्ट की नीति पर प्रकाश डालना कुछ असंगत नहीं होगा। फासिस्ट राष्ट्रीयता एवं एकतंत्रवाद के समर्थक और पार्लियामेंट्री प्रणाली के विरोधी थे। वे राज्य को सर्वोपरि समझते थे और इसके सामने व्यक्ति का कोई अधिकार नहीं होता था। सब कुछ राज्य के अंदर, इसके बाहर कुछ नहीं—यही इनका उद्देश्य था। उनके कई सिद्धांत मेकियावेली के सिद्धांत थे। वे हिंसा तथा षड्यन्त्र की नीति में विश्वास करते थे। उनके मतानुसार राज्य के लिए उचित-अनुचित सभी प्रकार के साधनों का उपयोग किया जा सकता है। वे समाजवाद, साम्यवाद तथा विश्व की शान्ति के भी दुश्मन थे।

इस तरह फासिस्टों ने शासन-सूत्र प्राप्त करने पर एक सुदृढ़ केन्द्रीय शासन स्थापित किया। मुसोलिनी सर्वेसर्वा था। शासन के सभी अधिकार फासिस्ट पार्टी की महासभा ग्रैंड कौंसिल के हाथ में थे। इसमें कुल बीस सदस्य होते थे जिनमें मंत्री भी सम्मिलित थे। मुसोलिनी शासन का प्रधान मंत्री और महासभा का अध्यक्ष था। वह मन्त्रिमंडल में ६ विभिन्न विभागों का मालिक था। उसकी नीति का कोई विरोध नहीं कर सकता था। फासिस्ट राज्य सहकारी राज्य था, जिसके सभी अंग सहकारिता के आधार पर कार्य करते थे। राज्य के विभिन्न अंगों में सहयोग अत्यावश्यक समझा जाता था। मजदूरों को कुछ अधिकार दिये गये। रात में काम करने वालों को अतिरिक्त मजदूरी देने का नियम बना। रविवार को तथा कुछ धार्मिक छुट्टियाँ देने की व्यवस्था हुई किन्तु मजदूर हड़ताल और मालिक कारखाने को बन्द नहीं कर सकते थे। सरकार कारखानों में हस्तक्षेप कर सकती थी।

आर्थिक क्षेत्र में अनेक महत्त्वपूर्ण सुधार हुए। कृषि की उन्नति और गेहूँ के उत्पादन में वृद्धि हुई। उद्योग-धंधों का विकास हुआ। राष्ट्रीय कर्ज के सूद की दर साढ़े पाँच प्रतिशत से घटाकर तीन प्रतिशत कर दी गई और सहकारी अफसरों का वेतन ६ से २० प्रतिशत तक कम कर दिया गया। मजदूरी और किराये की दर भी घटा दी गई। लिरा के मूल्य में भी कमी हुई। जनसंख्या बढ़ाने के उद्देश्य से सन्तानोत्पत्ति को प्रोत्साहित किया गया। बाल-विवाह का प्रचार हुआ। जनसंख्या में अतिवृद्धि हुई।

सैनिक व्यय के कारण आर्थिक दशा में कोई सुधार नहीं हो सका। चर्च और राज्य में मित्रता स्थापित करना मुसोलिनी का एक बड़ा ही प्रशंसनीय कार्य था। १८७० ई० से ही दोनों में शत्रुता थी। १९२९ ई० में मुसोलिनी ने पोप के साथ एक संधि की। कैथोलिक धर्म घोषित हुआ। अब सेंट पीटर के गिरजाघर पर राज्य तथा चर्च दोनों के झंडे फहराने लगे।

वैदेशिक नीति

मुसोलिनी साम्राज्यवादी था। वह इटली को एक शक्तिशाली राष्ट्र बनाना चाहता था। प्रारंभ में फ्रांस से अनबन थी, किन्तु १९३५ ई० में दोनों में संधि हो गई। वह अफ्रीका में एक साम्राज्य कायम करना चाहता था। अतः कोई बहाना ढूँढ़ कर उसने अबीसीनिया पर आक्रमण कर दिया। राष्ट्रसंघ ने विरोध किया और आर्थिक नियन्त्रण लागू किया किन्तु मुसोलिनी ने कुछ भी परवाह नहीं की और १९३६ ई० में अबीसीनिया को अपने साम्राज्य में मिला लिया। इस मौके पर हिटलर ने मुसोलिनी के साथ सहानुभूति दिखलाई और रोम बर्लिन में सन्धि हो गई। १९३७ ई० में इटली ने जापान के साथ भी सन्धि कर ली और राष्ट्रसंघ को त्याग-पत्र दे दिया। १९३८ ई० में उसने फ्रांस के साथ की गई सन्धि को तोड़ डाला और स्पेन में विद्रोहियों को सहायता दी। १९३९ ई० में उसने अल्बेनिया को हड़प लिया। इसी साल द्वितीय महायुद्ध शुरू हुआ और उसी में मुसोलिनी का सर्वनाश हुआ। वह मार डाला गया और निरंकुश फासिस्ट सरकार का अन्त हो गया। धीरे-धीरे इटली में शान्ति कायम हुई और पार्लियामेंटरी शासन-प्रणाली की स्थापना हुई।

(ख) जर्मनी

महायुद्ध में पराजित होने के बाद जर्मनी में होहेन्जोलर्न राजवंश के शासन का अन्त हो गया और सम्राट कैसर को गद्दी छोड़ देनी पड़ी। १९१८ ई० के नवम्बर में जर्मनी में एक गणतन्त्र की स्थापना हुई जिसे वीमर गणतन्त्र कहते हैं।

वीमर गणतन्त्र को बड़ी ही विषम समस्याओं का सामना करना पड़ा। जर्मनी का आर्थिक पतन हो गया था। दरिद्रता और बेकारी सर्वत्र परिव्याप्त थी। लोग भूखों मर रहे थे। उनमें आशा और उत्साह का अभाव था। अतः देश में आन्तरिक शान्ति नहीं थी। लोग क्षुब्ध थे। इसी हालत में मित्र राष्ट्रों ने उसे बहुत ही अपमानजनक सन्धि करने को बाध्य किया तथा उसे प्रति वर्ष अरबों रुपया क्षति-पूर्ति के रूप में देने को बाध्य किया। जर्मनी के पास इसके लिये साधन नहीं थे। उसका व्यवसाय नष्ट हो चुका था तथा व्यावसायिक महत्व के सभी प्रदेश उसके हाथ से निकल चुके थे। वहाँ सिक्के (मार्क) का मूल्य द्रुत गति से गिर रहा था। इस स्थिति में जर्मनी की हालत

बहुत ही दयनीय थी और इन समस्याओं का समाधान करने में गणतन्त्र को असफलता ही मिल रही थी।

पर १६२४ ई० में डावस नामक एक अमेरिकन ने जर्मनी की स्थिति को सुधारने के लिए एक योजना बनाई तथा उसे अमेरिका से कर्ज दिलवाया। अब जर्मनी की स्थिति सुधरने लगी। अब तक राजनीतिक क्षेत्र में भी जर्मनी अछूता ही था। पर अब उस क्षेत्र में भी उसके प्रति उदारता दिखाई जाने लगी। १६२५ ई० में लोकार्नो की सधि हुई जिसमें जर्मनी को भी स्थान मिला। १६२६ में वह राष्ट्र संघ में भी शामिल कर लिया गया और जर्मनी से विदेशी सेना हटा ली गयी।

पर शीघ्र ही घटनाओं ने दूसरा मोड़ लिया। १६२६ ई० में सारे विश्व में भीषण आर्थिक संकट उपस्थित हुआ। इस आर्थिक संकट के फलस्वरूप अमेरिका जर्मनी को कर्ज देने में असमर्थ हो गया। जर्मनी पर तो इस अर्थ संकट का और भी बुरा प्रभाव पड़ा। उसकी आर्थिक स्थिति तो पहले से ही शोचनीय थी। व्यवसाय तथा उद्योग नष्ट हो गये। अब सभी कल-कारखाने बन्द हो गये। भीषण बेकारी फैली। सर्वत्र अकाल फैल गया। भूख से मरने वाले लोगों की संख्या बढ़ने लगी। जर्मनी का बैंक फेल कर गया और सरकार का दिवाला निकल गया। वीमर गणतन्त्र जर्मन-जनता की तकलीफों को दूर करने में सर्वथा असफल रहा और परिस्थितियों ने उसे कभी लोकप्रिय नहीं बनने दिया। पर इसके लिए गणतन्त्र की अपनी दुर्बलताएँ भी जिम्मेदार थी।

जिस समय गणतन्त्र के नेता क्षति पूर्ति की रकम को कम करने एव कुछ काल के लिए स्थगित करने तथा अमेरिका से ऋण लेने के प्रयत्न में लगे थे, उसी समय जर्मनी में एक नये व्यक्ति का उत्थान हो रहा था जो इन सारी चीजों को बेकार समझता था। वह जर्मनी के सिर से वर्साई की अपमानजनक सधि को दूर कर देना चाहता था और जर्मनी को पुनः एक महान् राष्ट्र में परिवर्तित कर देने का स्वप्न देख रहा था। यह व्यक्ति हिटलर था। उसका जन्म १८८६ ई० में आस्ट्रिया के साधारण परिवार में हुआ था। बचपन में उसने चित्रकारी की शिक्षा प्राप्त की थी और म्युनिक में चित्रकारी का काम करता था। युद्ध छिड़ने पर वह जर्मन सेना में भर्ती हो गया और उसकी प्रतिभा चमक उठी। उसकी अद्भुत योग्यता से लोग बहुत ही प्रभावित हुए। युद्ध की समाप्ति के बाद उसने राजनीति में प्रवेश किया तथा एक नयी पार्टी—नेशनल सोशलिस्ट पार्टी—का निर्माण किया जिसका संक्षिप्त रूप नाजी या नात्सी है।

युद्ध में पराजित होने के बाद जर्मनी की राष्ट्रीयता में धक्का लग गया था। वर्साई की संधि की शर्तें जर्मनी के लिये अपमानजनक थीं। अतः नात्सी इस सधि का अन्त कर अपने खोये हुये राष्ट्रीय गौरव को पुनः कायम करने की ताक में थे। उसका कार्यक्रम बड़ा ही विस्तृत था जिससे सारी जर्मन जनता प्रभावित हुई। गणतन्त्र के असफल

शासन और ढुलमुल नीति से सभी ऊब चुके थे। लोगों को यह विश्वास हो चुका था कि गणतन्त्र जर्मनी के राष्ट्रीय गौरव को पुनः कायम नहीं कर सकता। अतः सभी लोग दिल खोल कर नाजी पार्टी में सहयोग देने लगे।

रणक्षेत्र की हिटलर की सैनिक प्रतिभा राजनीति में भी अग्रगण्य रही। उसके आकर्षक व्यक्तित्व, अपूर्व उत्साह एवं प्रबल आकांक्षा तथा अद्भुत प्रतिभा से नाजी पार्टी का द्रुत गति से प्रसार होने लगा। हिटलर बड़ा ही सफल प्रचारक था। उसकी धूर्तता से उसके विरोधी परेशान रहते थे। उसके भाषण भी बड़े जोशीले एवं प्रभावशाली होते थे। धीरे-धीरे उसकी शक्ति बढ़ती गई। १६३० ई० के निर्वाचन में पार्लियामेंट के लिये नाजी पार्टी के १०७ सदस्य निर्वाचित हुए। १६३२ ई० में यह संख्या बढ़कर २३० हो गई। एक संयुक्त मन्त्रिमण्डल बना और हिटलर चान्सलर हुआ। पर हिटलर शासन में अपनी पार्टी की स्वच्छंदता चाहता था। अतः १६३३ में उसने पुनः निर्वाचन कराया जिसमें नाजियों का बहुमत हो गया। १६३४ ई० के अगस्त महीने में राष्ट्रपति हिंडेनबर्ग की मृत्यु हो गई और हिटलर ने चान्सलर एवं राष्ट्रपति दोनों ही पदों को मिलाकर स्वयं अधिकृत कर लिया। इस तरह म्युनिक का चित्रकार जर्मनी का भाग्य-विधायक बन गया।

नाजियों की अद्भुत सफलता के कई कारण थे। वीमर गणतन्त्र की असफल शासन नीति एवं उसकी दुर्बलता एवं अप्रियता पर हम दृष्टिपात कर चुके हैं। १६१८ के सुधार पूर्ण नहीं बल्कि आंशिक थे। शासन एवं न्याय विभाग में सुधार नहीं हुए थे। गणतन्त्र के पास सफल नेतृत्व का भी अभाव था क्योंकि कई दल स्थापित हो गये थे। उसकी कोई ऐतिहासिक परम्परा भी नहीं थी। इसकी स्थापना के लिए कोई संघर्ष नहीं करना पड़ा था। साथ ही इसका विधान त्रुटिपूर्ण था। जर्मनी में मौलिक एवं बुनियादी एकता नहीं थी, फिर भी वहाँ अनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली अपनाई गई थी जो दोषपूर्ण थी। अतः गणतन्त्र का आधार ही दुर्बल था और इसकी असफलता के कारण नाजियों की प्रगति में योग मिला।

चित्र २७— हिटलर

दूसरी बात यह थी कि नाजियों को हिटलर जैसा योग्य नेता प्राप्त था। उसका व्यक्तित्व

बड़ा ही आकर्षक और महान् था। वह उच्चकोटि का वक्ता था। उसके दृढ़ निश्चय, अपूर्व उत्साह, प्रबल आकांक्षा तथा अद्भुत प्रतिभा के परिणामस्वरूप नाजी पार्टी का विकास अनिवार्य ही था। तीसरे, जर्मनी एक पराजित देश था जिसके राष्ट्रीय गौरव में धब्बा लग गया और लोग पुनः अपनी राष्ट्रीयता को कायम करना चाहते थे। नाजी पार्टी का भी यही उद्देश्य था, अतः उसे लोकप्रियता प्राप्त हुई। चौथे, वर्साई की संधि की शर्तें जर्मनी के लिए घोर अपमानजनक, कठोर एवं अन्यायपूर्ण थीं जिन्होंने जर्मनी में एक प्रकार के असंतोष और बेचैनी का वातावरण उपस्थित कर दिया था। हिटलर इन शर्तों को तोड़ने के लिये प्रयत्नशील था। अतः जनता का सहयोग उसे मिला। पाँचवें, मित्र-राष्ट्रों ने जर्मनी के साथ सहानुभूति नहीं दिखलाई। जर्मनी पर आर्थिक संकट तो था ही, मित्र राष्ट्रों ने उसे अरबों रुपये क्षतिपूर्ति के रूप में देने को बाध्य किया और १९२३ ई० में क्षतिपूर्ति न दे सकने पर फ्रांस ने रूढ़ प्रदेश पर कब्जा कर लिया। नाजियों ने मित्र राष्ट्रों की इस नीति का विरोध किया। अतः उन्हें राष्ट्रीय सहयोग मिलना स्वाभाविक हो था। छठें, आर्थिक संकट नाजियों के विकास में बहुत ही सहायक हुआ। वे लाखों की संख्या में भूखे और बेकार मजदूरों में बड़ी शीघ्रता से अपने सिद्धान्त का प्रचार कर सके। सातवें, नाजियों ने यहूदियों के विरुद्ध जबर्दस्त घृणा का प्रचार किया। युद्ध में जर्मनी की पराजय का उत्तरदायित्व वे यहूदियों पर ही लादते थे, क्योंकि उस समय शासन में उन्हीं का हाथ था। वीमर गणतन्त्र में भी यहूदियों की ही प्रधानता थी जो देश में शान्ति और व्यवस्था कायम नहीं कर सके थे। मित्रराष्ट्रों के अपमानजनक संधि-पत्रों को यहूदियों ने ही स्वीकार किया था। अतः नाजी लोग यहूदियों को जर्मनी का विक्रेता कहा करते थे और इस प्रचार के कारण नाजियों के तरफ जर्मनी का बहुमत चला आया। आठवें, रूस की साम्यवादी लहर जर्मनी में भी फैली थी। नाजियों ने यह प्रचार किया कि ये साम्यवादी राष्ट्रीयता के दुश्मन तथा रूस के एजेन्ट हैं। अतः लोग नाजियों के प्रभाव में आ गये।

नाजी जर्मनी की गृह-नीति

हम देख चुके हैं कि किस तरह वीमर गणतन्त्र के खंडहर पर हिटलर के एकतन्त्र-वाद का निर्माण हुआ। उसने निरंकुश स्वेच्छाचारी शासन कायम किया। हिटलर की सरकार का आधारभूत तत्व एक दल और एक नेता का एकतन्त्र तथा अबाधित शासन था। वह अपनी शक्ति के लिये सेना पर निर्भर करता था। अत. प्रत्येक योग्य युवक के लिए सैनिक बनना अनिवार्य हो गया। अब सब समस्त देश एक सैनिक शिविर के रूप में परिवर्तित हो गया। उसने सर्वप्रथम अपने विरोधी सभी राजनीतिक दलों को कुचल डाला। यहूदियों और साम्यवादियों का विशेष रूप से दमन किया गया। नाजी पार्टी के सिवा किसी दूसरे दल को अपना विचार व्यक्त करने, सभा करने या भाषण की

स्वतंत्रता न रह गई। प्रेस, पुस्तकों एवं समाचारपत्रों की स्वतन्त्रता का अपहरण कर लिया गया। कोई भी व्यक्ति सरकार की आलोचना नहीं कर सकता था। हिटलर ने शरीर और मस्तिष्क दोनों पर पूर्ण रूप से अधिकार कर लिया। नाजी-विरोधी व्यक्ति होने के सन्देह मात्र से कोई बिना मुकदमा चलाये जेल में ठूँस दिया जाता था। बिस्मार्क की भाँति हिटलर भी पार्लिमेंटरी प्रणाली का घोर विरोधी था। पार्लियामेंट के अधिवेशनों में अब तर्क नहीं होते थे, वरन् सदस्यगण हिटलर के भाषण सुनते और स्वीकार कर लेते थे। पार्लियामेंट के निर्वाचन में जो सदस्य मनोनीत होते थे उनका विरोध नहीं होता था। सिनेमा, नाटक आदि मनोरंजन के साधनों पर भी कड़ा नियन्त्रण रखा गया। विश्वविद्यालयों एवं शिक्षण संस्थाओं पर अत्यधिक कड़ी दृष्टि रखी जाती थी। बालकों की कड़ी पढ़ाई में इस बात पर विशेष जोर दिया जाता था कि उनमें यह भावना जाग्रत हो कि जर्मन जाति विश्व की सर्वोत्कृष्ट जाति है और वह दुनिया भर के लोगों पर राज्य करने के लिए ही पैदा हुई है। उनमें यहूदी-विरोधी भावनाएँ भी खूब भरी जाती थीं। यहूदियों को सभी नागरिक अधिकारों से वंचित कर दिया गया था।

आर्थिक क्षेत्र में नाजियों ने फासिस्टों का अनुकरण किया। सभी उद्योग-धन्धों के ऊपर सरकार का नियन्त्रण कायम किया गया। मजदूरों को हड़ताल करने का अधिकार नहीं रहा। उनकी मजदूरी, उनके काम करने के घंटे, छुट्टी आदि का फैसला सरकार ही करती थी जो सर्वमान्य था। अब पूँजीपतियों को भी मुनाफा करने की स्वतंत्रता नहीं रही। उत्पादन, मुनाफा आदि सभी पर सरकार का नियंत्रण कायम हो गया।

राष्ट्रीय एकता के ख्याल से प्रशिया, बवेरिया, सैक्सनी आदि विभिन्न राज्यों की पार्लियामेंट तोड़ दी गई और ये सभी जर्मनी के विभिन्न प्रान्त बना दिये गये। नाजी सरकार ने जर्मनी की उन्नति के लिये जोरदार प्रयत्न किया। शिक्षा, श्रम, राजनीति, व्यवसाय, शिल्प आदि के अलग-अलग सरकारी विभाग संगठित हुए। इस तरह हिटलर के एकतन्त्रवादी शासन में जर्मनी की अभूतपूर्व उन्नति हुई।

वैदेशिक नीति

महायुद्ध के पश्चात् जर्मनी राजनीतिक क्षेत्र में अछूता था। उसकी कहीं कोई गिनती नहीं थी। दुनिया की राजनीति में उसका स्थान शून्यवत् था। रूस की भी यही स्थिति थी। अतः १९२२ ई० में जर्मनी और रूस के बीच रपालो की सन्धि हुई और इस तरह रूस और जर्मनी मित्र बने। १९२५ ई० तक अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में जर्मनी की यही स्थिति रही। १९२५ ई० की लोकार्नो की संधि में जर्मनी को भी स्थान मिला। दूसरे साल १९२६ ई० में जर्मनी राष्ट्र संघ का सदस्य बना लिया गया। इस तरह धीरे-धीरे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उसके प्रति उदारता दिखलाई जाने लगी। अमेरिका

अब उसे वार्षिक ऋण देने लगा। पर १६२६ ई० के विश्व आर्थिक संकट ने परिस्थिति को बदल दिया। सभी देश अपने को सँभालने में ही लग गये। इधर जर्मनी में नाजियों का उत्थान हुआ और १९३३ ई० मे हिटलर का एकतन्त्रीय शासन कायम हुआ। हिटलर के उत्थान से अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे महान् उथल-पुथल हो गयी। अब जर्मनी और रूस की मैत्री टूट गई। पोलैण्ड जो जर्मनी का दुश्मन था, अब मित्र बन गया। १९३४ ई० में दोनों के बीच एक अनाक्रमणात्मक सन्धि हुई। १९३३ ई० के अक्टूबर महीने में ही जर्मनी राष्ट्रसंघ से अलग हो चुका था। हिटलर ने अब वर्साई की संधि की सभी शर्तों को तोड़ डाला। वह सन्धि पत्रों को रद्दी कागज का टुकड़ा समझता था। उसने जर्मनी के सैनिकों की संख्या बढ़ाई। अस्त्र-शस्त्रों को बढ़ाने के लिये नये कारखाने खुलवाये। १९३६ ई० में उसने राईनलैण्ड की किलाबन्दी कराई। उसने क्षति-पूर्ति की रकम को देने से इनकार कर दिया। अब मुसोलिनी ने इसी साल अबीसीनिया पर चढ़ाई की। हिटलर ने मुसोलिनी के साथ सहानुभूति प्रदर्शित की। इस तरह इटली तथा जर्मनी में मित्रता हो गई। इसे ही रोम बर्लिन धुरी का निर्माण कहते हैं। कुछ समय बाद जापान भी इसमें सम्मिलित हो गया। हिटलर ने जल और थल सेना को बढ़ाकर उन सभी प्रदेशों को अधिकृत कर लेना चाहा, जहाँ जर्मन भाषा बोली जाती थी, ताकि वह एक विशाल जर्मन राष्ट्र का निर्माण कर सके। १९३८ ई० मे उसने आस्ट्रिया पर अधिकार कर लिया। उसने चेकोस्लोवाकिया के उन प्रदेशों (सुडेटनलैण्ड) को अधिकृत कर लिया जहाँ जर्मन लोग बसते थे। बाद में उसने वहाँ के अन्य महत्त्वपूर्ण प्रदेशों पर भी कब्जा कर लिया। इसके बाद उसने डैनजिक बन्दर को अधिकृत कर लेना चाहा। फलस्वरूप छिट-पुट संघर्ष प्रारम्भ हो गया। अगस्त १९३९ ई० में उसने रूस के साथ एक अनाक्रमणात्मक सन्धि की। नाजी और बोलशेविक सरकारों की इस सन्धि ने समस्त संसार को चकित कर दिया। सितम्बर में वह पोलैंड में घुस गया। पोलैंड के गलियारे को जीत लेना वह जरूरी समझता था। इसी समय ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस ने ३ सितम्बर को उसके विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी और द्वितीय विश्व-युद्ध प्रारम्भ हो गया जो १९४५ तक चलता रहा। विश्व-युद्ध में जर्मनी की पुनः पराजय हुई और हिटलर का पतन एवं नाजी शासन का अन्त हुआ।

अन्य देशों में एकतन्त्रवाद

रूस, इटली तथा जर्मनी के अतिरिक्त यूरोप के अन्य देशों में भी एकतन्त्रवाद का उदय हुआ। स्पेन, आस्ट्रिया, हंगरी, पोलैण्ड, यूगोस्लाविया, बलगेरिया, यूनान आदि सभी देशों में एकतन्त्रवाद फला-फूला। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् इन सभी देशों में प्रजातन्त्र की स्थापना हुई किन्तु अधिनायकों ने प्रजातन्त्र का गला घोंट कर अपनी सत्ता स्थापित कर ली।

एकतन्त्रवाद के गुण-दोष

एकतन्त्रवाद में गुण दोष दोनों ही हैं। इसका सबसे बड़ा गुण संकट के समय मालूम होता है। संकटकालीन परिस्थिति में शीघ्र निर्णय की आवश्यकता पड़ती है। प्रजातन्त्रीय व्यवस्था में शीघ्र निर्णय पर पहुँचना सरल कार्य नहीं है किन्तु शीघ्र निर्णय एकशासकों का विशेष गुण रहा है। लेकिन द्वितीय महायुद्ध में प्रजातन्त्र देशों की विजय ने एकतन्त्रवाद के इस गुण में भी धब्बा लगा दिया है। इस विश्वव्यापी युद्ध में प्रजातन्त्रवादी राष्ट्रों की जीत हुई और एकतन्त्रवादी राष्ट्रों को मुँह की खानी पड़ी।

अतः यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि एकतन्त्रवाद बहुत ही दोषपूर्ण सिद्धांत है। संक्षेप में इसका सिद्धान्त है कि सब कुछ राष्ट्र या राज्य के लिए, उसके बाहर कुछ नहीं है। यह राज्य के हित के लिए व्यक्ति का बलिदान कर सकता है। किन्तु व्यक्ति के हित के लिए राज्य के अधिकारों पर हस्तक्षेप नहीं करता है। इसमें भाषण तथा वाद-विवाद की कोई स्वतन्त्रता नहीं होती। अतः इसमें मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए कोई स्थान नहीं रहता। कठोर नियन्त्रण के कारण व्यक्ति की शक्तियाँ संकुचित हो जाती हैं। मनुष्य के शरीर तथा मस्तिष्क दोनों ही पर राज्य का एकाधिकार-सा स्थापित हो जाता है और वह यंत्र के समान सदा कार्यशील रहता है। दूसरे, इसका आधार है पशुबल। यह राष्ट्र का सैनिकीकरण करता है। इसका जीवन सैन्य शक्ति पर ही निर्भर करता है। अतः यह इसकी वृद्धि को प्रोत्साहित करता है। इसके लिए अधिक से अधिक धन खर्च किया जाता है। अतः जनहित सम्बन्धी कार्यों की उपेक्षा होती है और उनके पसीने की कमाई का अधिक से अधिक दुरुपयोग होता है। तीसरे, सैन्य शक्ति में वृद्धि होने से साम्राज्यवाद को प्रोत्साहन मिलता है। इससे युद्ध की भावना जाग्रत होती है। संक्षेप में एकतन्त्रवाद प्रजातन्त्र, अन्तर्राष्ट्रीयता, विश्व शान्ति तथा मानवता का कट्टर विरोधी और शत्रु है—यह मानव-सभ्यता तथा संस्कृति के लिए खतरनाक है।

अध्याय १४

इंगलैण्ड की मुसीबत—आयरलैण्ड का मौका

भूमिका

आयरलैंड अटलांटिक महासागर में एक छोटा-सा द्वीप है। किन्तु दुनिया की कहानी में इसका उल्लेख एक महान् अध्याय है। स्वतन्त्रता-संग्राम के इतिहास में इसका विशिष्ट स्थान है। यहाँ के निवासियों के रग-रग में देश-भक्ति और स्वतन्त्रता की भावना व्याप्त थी। लगभग ४ शताब्दियों तक इन्होंने अपनी स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए इंगलैंड जैसे शक्तिशाली और साम्राज्यवादी देश से संग्राम किया। इतने दीर्घ काल तक शायद ही किसी ने राष्ट्र-स्वतंत्रता-संग्राम जारी रखा है। जिस धैर्य तथा उत्साह के साथ आयरिशों ने अपना बलिदान किया वह विश्व-इतिहास में महत्वपूर्ण है। आयरिशों ने अपनी स्वाधीनता के लिए अच्छे-बुरे, हिंसात्मक-अहिंसात्मक सभी उपायों का अवलम्बन किया। वे इंगलैण्ड की मुसीबत में अपना मौका ढूँढ़ने लगे। ब्रिटिश सरकार ने भी उनके आन्दोलन को कुचलने में कोई कोर-कसर नहीं उठा रखी। परन्तु मनुष्य के आत्मविश्वास और दृढ़ इच्छा के सामने अन्य सारी शक्तियाँ बेकार हैं। स्वतंत्रता का पौधा लगा। वीर हुतात्माओं ने अपने पवित्र रक्त तथा पसीने से उसे वर्षों सींचा, उन्होंने अपने धैर्य और अध्यवसाय को नहीं खोया। उनकी भावना भी अग्नि में जितना ही अधिक दमन का घी पड़ता था, उतना ही वे उत्तेजित होते थे। स्वतन्त्रता का पौधा फला-फूला। आयरलैंड इंगलैण्ड के फौलादी फंदे से मुक्त हुआ परन्तु साम्राज्यवादी देश ने इसका अंग-भंग कर डाला। यह कोई नई बात नहीं। साम्राज्यवाद अपनी विदाई के समय अपना कुछ बुरा असर छोड़ जाता है। प्रथम महायुद्ध के बाद आयरलैंड का अंग-भंग हुआ तो द्वितीय महायुद्ध के बाद भारत और फिलस्तीन के अंगों का टुकड़ा कर दिया गया। फिर भी स्वतन्त्रता के पुजारी अंग-भंग की वेदना सह सकते हैं लेकिन दासता की वेदना उसके लिए असह्य होती है। अब हम आयरलैंड के स्वातन्त्र्य संग्राम के इतिहास पर विहंगम दृष्टिपात करेंगे।

१४८५—१८०० ई०

छठी शताब्दी में आयरलैंड पश्चिमी यूरोप में विद्या का केन्द्र था और दसवीं सदी तक गैलिक संस्कृति यहाँ फूलती-फलती रही। मध्य युग में इसकी अवनति शुरू हुई। ट्यूडर राजाओं ने इस पर अपना आधिपत्य जमाया। आयरिशों ने तत्काल ही

विद्रोह कर डाला, विद्रोह को क्रूरतापूर्वक दबा दिया गया। पूर्वकालीन स्टूअर्ट राजाओं के समय (१६०३ ४६ ई०) विद्रोह की अग्नि सुलगती रही किन्तु निरंकुशता के प्रबल झोंके से इसे दबाने का प्रयत्न होता रहा। आयरलैंड की भूमि में स्कॉट प्रेसबी-टेरियनों को बसा दिया गया और कितने भू पतियों को बेदखल कर दिया गया। इसी समय स्टैफर्ड ने कठोर शासन स्थापित किया। क्रॉमवेल (१६४६ ५८ ई०) ने अपनी तलवार के जोर पर आयरिशों को शान्त रखा, फिर भी हजारों आयरिश अपनी जन्म-भूमि छोड़कर यूरोप के अन्य देशों में चले गये। आयरलैंड की अधिकांश जनता कैथोलिक थी। अतः जेम्स दूसरे की ओर से आयरिशों ने पुनः विद्रोह किया। १६६० ई० में बोयन का युद्ध हुआ और विलियम तृतीय ने उन्हें पराजित किया। लिमरीक की संधि हुई जिसमें कैथोलिकों को बहुत सी सुविधाएँ देने की प्रतिज्ञा की गई परन्तु संधि की किसी भी शर्त का शायद ही पालन हुआ हो। उलटे, आयरिशों के विरुद्ध कई कठोर कानून पास हुए और उन पर सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक सब प्रकार के प्रतिबन्ध लगा दिये गये। वे न तो पार्लियामेंट के सदस्य बन सकते थे और न उसे चुन सकते थे। वे न सैनिक बन सकते थे और न राज्यकर्मचारी। आयर-लैंड की अपनी पार्लियामेंट थी किन्तु नाम के लिए—प्रदर्शन के लिये। इस पर इंगलैण्ड का अधिकार था। ब्रिटिश पार्लियामेंट की स्वीकृति के बिना इसका कोई कानून कार्यान्वित नहीं हो सकता था। उसका बनाया हुआ कानून आयरलैंड में लागू हो सकता था। आयरिशों की अधिकांश भूमि प्रोटेस्टेंटों को दे दी गई और उनकी बाकी जमीन पर कर लगा दिया गया। प्रोटेस्टेन्ट ही राज्यधर्म था और इसके चर्च के लिये कैथोलिकों को टैक्स देना पड़ता था। कैथोलिक ५ पौंड से अधिक का घोड़ा नहीं रख सकते थे। उनकी मुक्ति प्रोटेस्टेंटों की ही कृपा पर निर्भर थी। वे इंगलैंड से ही व्यापार करने के लिये बाध्य थे और ऊनी कपड़े स्वयं नहीं बना सकते थे। किसानों की दशा दयनीय थी। उनके पास खाने के लिये प्रायः आलू और उसके छिलके ही बच जाते थे और वे भी बड़ी कठिनाई से। आयरलैंड के प्रोटेस्टेंट भी मूल में थे। उन्हें भी कोई स्वतन्त्रता नहीं थी और वे भी अंग्रेजों की ही दया के भिखारी थे। यह था आयरलैंड में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का नग्न रूप।

लेकिन आयरिश अन्याय को सहने वाले नहीं थे। वे तो मौका ढूँढ रहे थे और १७७६ ई० में इंगलैंड मुसीबत में फँसा तो आयरिशों को सुअवसर मिला। अमेरिकी स्वतन्त्रता-संग्राम के समय ग्रेटन जैसे कुशल नेता के पथ-प्रदर्शन में वे विद्रोह संगठित करने लगे। १७८२ ई० में बाध्य होकर ब्रिटिश सरकार ने उन्हें कई सुविधाएँ दे दीं। उनकी पार्लियामेंट को कानून बनाने का अधिकार प्राप्त हो गया और व्यापार-प्रतिबन्ध हटा लिये गये। लेकिन आयरिश इन भीखों से—स्वतन्त्रता की टुकड़ियों

से—संतुष्ट होने वाले नहीं थे। वे पूर्ण स्वतन्त्रता चाहते थे। अतः फ्रांसीसी क्रान्ति के समय उल्फटन के नेतृत्व में 'युनाइटेड आयरिश मैन' नामक एक दल सगठित हुआ। १७६८ ई० में इस दल ने विद्रोह कर दिया। किन्तु एक साम्राज्यवाद की शक्ति का सामना करना आसान कार्य नहीं था। विद्रोह क्रूरतापूर्वक दबा डाला गया। उस समय इंगलैंड का शासन-सूत्र छोटे पिट के हाथ में था। वह बड़ा कुशल राजनीतिज्ञ था। उसने आयरिशों को मिलाने के लिए जादू का एक नया खेल खेला। उसने आयरलैंड और इंगलैंड के पार्लियामेंट्री संयोग का प्रस्ताव किया। १७०७ ई० में इंगलैंड और स्काटलैंड के बीच इस तरह का संयोग हो चुका था, किन्तु आयरिशों का खून स्कॉटों के खून से भिन्न था। आयरिश लोग संयोग के प्रस्ताव को मानने के लिए तैयार नहीं हुए। लेकिन पिट ने उन्हें लालच दिया कि इसी के साथ उनकी अन्य बुराइयों का भी अन्त हो जायगा। तब वे तत्पर हुए। अब १८०० ई० में दोनों देशों का पार्लियामेंट्री संयोग हुआ। आयरिश पार्लियामेंट का अन्त हो गया और आयरलैंड को ३२ सदस्य लार्ड सभा में और १०० सदस्य कामन्स सभा में भेजने का अधिकार मिला।

१८००-१८१४ ई०

परन्तु पिट अपनी प्रतिज्ञा पूरी नहीं कर सका। जार्ज तृतीय, जो राजा था, कैथोलिकों का प्रबल विरोधी था। वह इतना सकीर्ण था कि कैथोलिक-मुक्ति अपनी राज-शपथ के प्रतिकूल समझता था। अतः उसके विरोध पर पिट ने त्यागपत्र दे दिया। यह तो पहला ही उदाहरण हुआ। १९वीं शताब्दी में आयरिश प्रश्न ने ब्रिटिश राजनीति को बहुत ही प्रभावित किया। इस चट्टान से टकराकर कई मंत्रिमंडल भी चूर-चूर हो गये और पार्टी की स्थिति में महान् परिवर्तन हो गये।

१९वीं शती के पूर्वार्द्ध में डेनीअल ओकोनल आयरिशों का सबसे बड़ा नेता था। उसी के प्रभाव से १८२८ ई० में टोरी मंत्रिमंडल के समय कैथोलिक-मुक्ति-नियम पास हुआ और अब वे राज्य कर्मचारी तथा पार्लियामेंट के सदस्य बनने के अधिकारी हुए। इसका कारण यह था कि आयरलैंड संयोग से असंतुष्ट हो क्रान्ति की तैयारी कर रहा था। इसी समय ओकोनल बहुमत से पार्लियामेंट का सदस्य भी निर्वाचित हो चुका था। परन्तु इस कानून ने टोरी पार्टी को विभाजित कर दिया क्योंकि मुक्ति प्रदान करना इस पार्टी का सिद्धान्त नहीं था। मुक्ति-नियम के पास कराने में पील का विशेष हाथ था। अधिकांश टोरी सदस्य उससे चिढ़ गये। १८४६ ई० में परिस्थिति और भी अधिक संगीन हो गई। उस समय पील टोरी मंत्रिमंडल का प्रधान मंत्री था। पार्टी सिद्धान्त के प्रतिकूल अन्न-कानून को रद्द कर दिया गया। इसी कारण उसके मंत्रिमंडल का ही अन्त हो गया। यह कहा जाने लगा कि पील ने अपनी पार्टी को दो बार धोखा दिया। किन्तु बात ऐसी नहीं है। वह कुशल राजनीतिज्ञ था। उसने

पार्टी की अपेक्षा राष्ट्र के हित का अधिक ख्याल किया। दोनों ही बार विद्रोह की आशंका थी। अतः उसने विद्रोह की संभावना को दूर कर राष्ट्र की भलाई की। पार्टी तो राष्ट्र की एक टुकड़ी मात्र थी। अत. उसने संपूर्ण देश के सामने टुकड़ी की उपेक्षा की। यह उसकी व्यावहारिकता और व्यापकता का परिचय है।

इसी समय आयरलैंड मे एक तरुण दल कायम हुआ जो उग्रवादी था। यह पार्लियामेंट्री संयोग को रद्द करना चाहता था। ग्लैडस्टन की सरकार (१८६८-७४ ई०) ने आयरिशों को संतुष्ट करने का प्रयत्न किया। अब प्रोटेस्टेंट धर्म राजधर्म नहीं रहा और इसकी आर्थिक सहायता बन्द कर दी गई। किसानों को भी कुछ सुविधाएँ मिलीं। भूपतियों के द्वारा बेदखल किये जाने पर किसानों को क्षति-पूर्ति करने की व्यवस्था की गई। मालगुजारी की दर कम और निश्चित कर दी गई। कृषकों को कृषि की सुविधा दी गई। किन्तु आयरिशों की माँग बढ़ी थी। अब एक और क्रांतिकारी दल की स्थापना हुई। यह फेनीयन समाज के नाम से प्रसिद्ध है। इसने खुलेआम हिंसा की नीति अपनायी, किन्तु हिंसा से उत्तम लक्ष्य की पूर्ति नहीं होती। इस समय आयरलैंड में पार्नेल नामक नेता का उदय हुआ। उसने स्वराज्य (होमरूल) के लिए आन्दोलन खड़ा किया। ग्लैडस्टन भी इसका समर्थक हो गया और इस उद्देश्य से उसने दो बार होमरूल बिल पार्लियामेंट में पेश किया किन्तु दोनों ही बार, १८८६ ई० तथा १८९४ ई० में बिल पास नहीं हो सका और उसे त्यागपत्र देना पड़ा। कैथोलिक-मुक्ति के प्रश्न ने टोरी दल को और स्वराज्य के प्रश्न ने लिबरल दल को छिन्न-भिन्न कर दिया।

१८९४ ई० से १९१४ ई० तक ब्रिटिश सरकार की ओर से आयरलैंड पर कड़ा नियन्त्रण रखा गया। इस बीच पारनेल की शक्ति भी समाप्त हो चुकी थी। १९१३-१४ ई० में लिबरल सरकार के अधीन फिर होमरूल बिल पेश किया गया। उत्तर मे आयरिश प्रोटेस्टेन्टों ने इसका घोर विरोध किया। तब तक महायुद्ध शुरू हो गया और बिल स्थगित कर दिया गया।

१९१४—१९२२ ई०

महायुद्ध काल में भी आयरिशों का आन्दोलन जारी रहा। इसी समय सिनफीन पार्टी का उदय हुआ। डीवेलेरा इस पार्टी का प्रधान नेता था। यह पूर्ण स्वतन्त्रता चाहता था। इसने युद्ध में असहयोग की नीति बरती और जर्मन सहायता से एक प्रजातन्त्र राज्य कायम करना चाहा। १९१६ ई० में ईस्टरसोम के दिन इस पार्टी ने भयानक विद्रोह कर दिया। महायुद्ध के समय ऐसा विद्रोह बड़ा ही खतरनाक था। अतः ब्रिटिश सरकार ने बड़ी ही निर्दयता के साथ इसे कुचल डाला। आयरलैंड में

सैनिक कानून लागू हुआ और बड़े-बड़े नेता गोली के शिकार हुए। बहुतों को अपनी जननी तथा जन्मभूमि से निर्वासित कर दिया गया। युद्ध के अन्त में १६२० ई० में एक कानून के द्वारा आयरलैंड को उत्तरी और दक्षिणी दो भागों में बाँट दिया गया। इन दोनों भागों की पार्लियामेंट पृथक् कर दी गयी और उसे कानून आदि बनाने का अधिकार दे दिया गया। लेकिन संयोग कायम रहा और आयरलैंड की वैदेशिक तथा सैन्य नीति संयुक्त पार्लियामेंट के ही हाथ में रही। किन्तु सिनफिनियन इस अपूर्ण स्वराज्य से असंतुष्ट रहे और उन्होंने डीवेलेरा की प्रधानता में डेल आयरेन नामक एक स्वतन्त्र शासन इसके पहले ही स्थापित कर लिया था। इस तरह दक्षिणी आयरलैंड में लगभग दो वर्षों तक दोहरा शासन रहा। ब्रिटिश सरकार आयरिशों की इस धृष्टता को सहज ही सहन नहीं कर सकती थी। उसने आयरिशों को दबाने के लिये एक विशेष प्रकार की सेना भेजी जो अपनी पोशाक के आधार पर 'ब्लैक एंड टैंस' कही जाती है। यह अपने अमानुषिक कार्य के लिए प्रसिद्ध है। इसने पशुओं की भाँति आयरिशों का शिकार किया। परन्तु वीर आयरिशों को आत्मसमर्पण अज्ञात था। आखिरकार ब्रिटिश सरकार को झुकना पड़ा और १६२२ ई० में दोनों में संधि हुई। दक्षिणी आयरलैंड संयुक्त राष्ट्र से अलग कर दिया गया और आयरिश फ्री स्टेट के नाम से उसे औपनिवेशिक स्वराज्य दे दिया गया। उत्तरी भाग अल्स्टर ग्रेट ब्रिटेन के ही अधीन रहा।

१६२२-१६४६ ई०

इस संधि ने दक्षिणी आयरलैण्ड में भी भीषण गृह युद्ध का सूत्रपात किया। नर्म पंथियों ने संधि स्वीकार कर ली किन्तु डीवेलेरा के नेतृत्व में उग्र पंथियों ने इसे अस्वीकार कर दिया। अपनी जन्मभूमि के अंग-भंग से उग्र पंथियों के खून खौल रहे थे। अब दोनों विरोधी दलों में मार काट का बाजार गर्म हुआ। कॉसग्रेव सरकार ने उग्र पंथियों का जोरों से दमन किया। नर्म पंथियों की विजय रही। नर्म पंथी फ्री स्टेट के समर्थक थे। उग्र पंथी सम्पूर्ण आयरलैंड में पूर्ण सत्तात्मक जनतन्त्र की स्थापना करना चाहते थे। १६३२ ई० में डीवेलेरा की पार्टी का बहुमत हुआ और उसकी सरकार बनी। अब इसने एक-एक कर ग्रेट ब्रिटेन से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर डाला। उसने ब्रिटिश सम्राट के प्रति राजभक्ति की शपथ उठा दी। आयरी कानून के लिए गवर्नर-जेनरल की स्वीकृति अनावश्यक कर दी गई और प्रिवी कौंसिल में अपील भेजने की प्रथा बन्द कर दी गई। १६३७ ई० में एक नया विधान बना। देश का नाम आयर पड़ा और इसे पूर्ण सत्तात्मक जनतन्त्र घोषित किया गया। डगलस हाइड इसके प्रथम राष्ट्रपति और डीवेलेरा प्रथम प्रधान मन्त्री हुए। एक राष्ट्रपति, उत्तरदायी मंत्रिमण्डल और दो सदनों की व्यवस्था की गई। इस प्रकार डीवेलेरा

ने वेस्टमिनस्टर के कानून का अपने देश में खूब ही उपयोग किया। यहाँ तक कि दूसरे महायुद्ध के अवसर पर यह तटस्थ रहा। लेकिन अभी तक आयर ब्रिटिश राष्ट्र-मंडल का सदस्य बना रहा। वैदेशिक क्षेत्रों में ब्रिटिश सम्राट अभी उसकी ओर से काम करता रहा। किन्तु १९४९ ई० में यह अन्तिम सम्बन्ध भी तोड़ लिया गया। अलस्टर को मिलाने की नीति बराबर कायम रही। इसके लिए द्वार खुला रखा गया है और यह जब चाहे तब जनतन्त्र में सम्मिलित हो सकता है।

छोटे द्वीप के निवासियों का यह अद्भुत चमत्कार है जो पराजित राष्ट्र को सदा प्रेरणा देता रहेगा।

अध्याय १५

मानव समाज का पागलपन—द्वितीय विश्व-युद्ध

भूमिका

१९१४ ई० में मनुष्य ने सर्वप्रथम अपने पागलपन का परिचय दिया जबकि प्रथम विश्व-युद्ध का श्रीगणेश हुआ। ४ वर्षों तक युद्ध सामग्रियों का निर्माण, नर-नारी का संहार और धन-दौलत का नाश होता रहा। १९१८ ई० में इस युद्ध की महामारी का अन्त हुआ। कुछ राजनीतिज्ञों का कथन था कि युद्ध का अन्त करने के लिए ही यह युद्ध किया गया था किन्तु उनका कथन सत्य नहीं निकला। १९१९ ई० में वर्साय की संधि हुई और उसी संधि में दूसरे युद्ध का बीज छिपा हुआ था। कुछ अन्य घटनाएँ भी हुईं। अतः बीस वर्ष के ही बाद द्वितीय विश्व-युद्ध प्रारम्भ हो गया और यह ६ वर्षों (१९३९-४५ ई०) तक चलता रहा। यह प्रथम महायुद्ध से भी अधिक व्यापक, भयंकर तथा संहारक था। हिंसा अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई। मानव-संहार का नग्न-नृत्य हुआ। आकाश से वायुयानों के द्वारा बम-वर्षा, ध्वंसकारी अणुबम का प्रयोग और जलपोतों द्वारा इस युद्ध में विनाश ही इसकी विशेषताएँ थीं। फिर अकाल तथा महामारी का प्रकोप हुआ। इस प्रकार सहस्रों व्यक्ति काल के ग्रास बने। इस तरह खून की नदियाँ बहायी गईं और मनुष्य ने दूसरी बार अपने पागलपन का लज्जाजनक प्रदर्शन किया। इस द्वितीय विश्व युद्ध के भी अनेक कारण हैं।

कारण

राष्ट्रसंघ की निर्बलता

प्रेसिडेंट विलसन के प्रयास से शांति-स्थापना के लिए राष्ट्रसंघ का निर्माण हुआ। राष्ट्रसंघ छोटे तथा साधारण झगड़ों को सुलझाने में समर्थ हुआ लेकिन बड़े-बड़े झगड़ों में यह कुछ न कर सका। शक्तिशाली राष्ट्रों के विरुद्ध यह कुछ भी नहीं कर सकता था। जापान, जर्मनी, इटली आदि राज्यों ने आक्रमणकारी नीति अपनायी। किंतु राष्ट्रसंघ ने उनके विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की। इसने जब विरोध की आवाज उठाने का प्रयत्न किया तो इन राज्यों ने संघ की सदस्यता से ही पद-त्याग कर दिया। इस तरह राष्ट्रसंघ की उपेक्षा होती रही। इसकी दुर्बलता से राज्यों को आक्रमण के लिए प्रोत्साहन भी मिलता रहा। इसकी निष्फलता के प्रधान कारण थे—महान् राज्यों

में सहयोग का अभाव, स्वार्थ का प्राबल्य और इसकी सदस्यता की अमेरिका के द्वारा अस्वीकृति।

संयुक्त राज्य अमेरिका की नीति

संयुक्त राज्य अमेरिका केवल राष्ट्र संघ से ही अलग नहीं रहा, १६२१ से १६३६ ई० तक उसने पृथकता की नीति का अनुसरण किया। इसका अर्थ यह है कि यह संसार के मामलों से उदासीन रहा और किसी राज्य में इसने हस्तक्षेप नहीं किया। संसार के सर्वशक्तिशाली देश और स्वाधीनता तथा लोकतंत्र के कर्णधार की ऐसी नीति मानव-समाज के लिए घातक सिद्ध हुई। इससे महत्वाकांक्षी और दुराचारी राष्ट्रों को अधिक बढ़ावा मिला।

अस्त्रीकरण की प्रतियोगिता

गत महायुद्ध के बाद विभिन्न राज्यों द्वारा निरस्त्रीकरण के लिए प्रयत्न किया गया। जेनेवा में एक निरस्त्रीकरण-सभा भी बुलाई गयी। किन्तु प्रयत्न दिखावटी था, वास्तविक नहीं। शक्तिशाली राज्यों में भीतर ही भीतर अस्त्रीकरण के क्षेत्र में प्रतियोगिता चल रही थी और प्रत्येक राज्य अपने अस्त्र-शस्त्र में वृद्धि कर रहा था। उसे युद्ध की आशंका बनी हुई थी और वह सैन्य-शक्ति के मामले में इतना मजबूत बन जाना चाहता था कि लड़ाई छिड़ जाने पर उसे दूसरे का मुँह न ताकना पड़े। इससे युद्ध के लिए वातावरण तैयार हो रहा था।

जापान का अभ्युदय

यूरोप के राष्ट्र तो साम्राज्यवादी थे ही, एशिया में भी एक साम्राज्यवादी राष्ट्र का उत्थान हुआ। यह राष्ट्र था जापान। इसने २०वीं सदी में साम्राज्यवाद और सैनिकवाद के क्षेत्र में बड़ी उन्नति की। इसने १६३१ ई० में मंचूरिया पर अधिकार कर लिया। धीरे-धीरे चीन के उत्तरी प्रदेशों पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित किया। राष्ट्र-संघ में जब विरोध की बात हुई तो उसने त्यागपत्र दे दिया। १६३४ ई० में इसने एशिया के लिए मुनरो सिद्धान्त निकाला और १६३६ ई० में जर्मनी के साथ संधि की। दूसरे साल इटली भी इसमें सम्मिलित हो गया। समाजवादी रूस के विरुद्ध यह संधि की गई। १६३६ ई० में जापान ने दक्षिणी चीन पर धावा किया और ब्रिटिश भू-भागों पर भी अधिकार करने की चेष्टा करने लगा। इंगलैंड, फ्रांस आदि राष्ट्र चीन के साथ सहानुभूति रखते थे।

इटली की साम्राज्यवादी नीति

१६३४ ई० तक इटली का अधिनायक मुसोलिनी इंगलैंड तथा फ्रांस के साथ मिला रहा। किंतु अब उसकी नीति में परिवर्तन हो गया और १६३५-३६ ई० में

उसने अबीसीनिया पर आक्रमण कर अधिकार कर लिया। अबीसीनिया के सम्राट ने राष्ट्रसंघ में अपील की। राष्ट्रसंघ ने व्यापारिक प्रतिबन्ध लागू किया। लेकिन इससे इटली का कुछ विशेष नहीं बिगड़ा। तेल प्रधान वस्तु थी जिस पर कोई नियंत्रण नहीं [illegible] गया। अतः इटली का उद्देश्य पूरा हो गया। राष्ट्रसंघ के हस्तक्षेप का यह परिणाम हुआ कि इटली उससे अलग हो गया। दूसरे, मुसोलिनी तथा हिटलर में मित्रता हो गई क्योंकि हिटलर ने अबीसीनिया में मुसोलिनी की नीति का विरोध नहीं किया था और दोनों ही एकतंत्रवाद के समर्थक थे। १९३६ ई० में दोनों ने एक संधि की। यह संधि रोम-बर्लिन धुरी के नाम से विख्यात है। इसी समय हिटलर ने जापान के साथ भी एक संधि की। इस तरह बर्लिन, रोम तथा टोकियो में निकट सम्बन्ध स्थापित हो गया।

स्पेन का गृहयुद्ध

स्पेन प्रथम विश्व-युद्ध में किसी भी दल की ओर से शामिल नहीं हुआ था। किन्तु युद्ध समाप्त होने के बाद इसकी भी दशा बुरी होने लगी थी। १९२३ ई० में वहाँ राईवरा के नेतृत्व में एकतंत्र शासन स्थापित हुआ। लेकिन एक दशक के भीतर ही राईवरा सरकार का अन्त हो गया और जनतंत्र की स्थापना हुई। यह जनतंत्र दीर्घकाल तक नहीं रह सका। स्पेन में गृहयुद्ध छिड़ गया। विद्रोहियों का नेता फ्रैंको था। मुसोलिनी तथा हिटलर फ्रैंको की भरपूर सहायता करते थे। रूस ने जनतंत्र की सहायता की। इसी-समय ऐसा प्रतीत होता था कि स्पेन का गृहयुद्ध विश्व-युद्ध में परिणत हो जायगा। लेकिन अमेरिका, इंगलैण्ड तथा फ्रांस ने स्पेन में हस्तक्षेप नहीं किया और महायुद्ध का बादल टल गया। परन्तु नवजात जनतंत्र का अन्त हो गया, फ्रैंको की विजय हुई और इस विजय का सारा श्रेय जर्मनी तथा इटली को था।

जर्मनी का उत्कर्ष

१९१९ ई० से १९३३ ई० तक जर्मनी की दशा अत्यन्त ही शोचनीय थी। वर्साई की संधि की शर्तों के भार से वह कराह रहा था। यह संधि आगामी युद्ध के लिए एक पृष्ठभूमि थी। इस बीच वहाँ नात्सी (नाज़ी) पार्टी का क्रमशः संगठन होने लगा था। नाजियों की महत्वाकांक्षाएँ बहुत थीं। वे अपने को सर्वोच्च आर्य तथा विश्व के अधिकारी मानते थे। हिटलर इस पार्टी का सर्वेसर्वा था जिसकी संगठन-शक्ति अपूर्व थी। १९३३ ई० में जर्मनी का शासन-सूत्र उसी के हाथ में चला आया। वह एक सैनिक था और एकतंत्रवाद का समर्थक। वर्साई की संधि उसके हृदय में काँटों की तरह चुभती थी जिससे मुक्ति पाना उसके जीवन का प्रधान लक्ष्य था। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए वह कोई भी साधन अपनाने के लिए तत्पर था। अतः राज्यशक्ति हाथ में आने पर वह वर्साई की संधि की शर्तों को एक-एक कर तोड़ने लगा। उसने राष्ट्रसंघ

छोड़ दिया; जापान, इटली तथा रूस से सन्धि कर ली और आस्ट्रिया, चेकोस्लोवाकिया आदि देशों को सहज ही हड़प लिया। उसके मित्र मुसोलिनी ने भी अलबेनिया पर अधिकार कर लिया। १ सितम्बर १९३९ ई० को हिटलर ने पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया। युद्ध का श्रीगणेश हो गया। इंगलैण्ड तथा फ्रांस ने जर्मनी के विरुद्ध तीन सितम्बर को युद्ध छेड़ दिया।

इंगलैण्ड तथा फ्रांस का उत्तरदायित्व

युद्ध होने में इंगलैंड तथा फ्रांस भी उत्तरदायी थे। इन दोनों प्रजातन्त्री देशों की तटस्थता और सान्त्वना की नीति से जर्मनी को आक्रमण के लिए विशेष प्रोत्साहन मिला। स्पेन में वे तटस्थ रहे, आस्ट्रिया तथा चेकोस्लोवाकिया के मामले में उन देशों ने हिटलर को तुष्ट करने की नीति अपनायी। ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री चेम्बरलेन दो-तीन बार जर्मनी गये, उन्होंने हिटलर की माँग को स्वीकार किया और म्यूनिक पेक्ट हुआ। किन्तु हिटलर ऐसा लोभी और धूर्त था कि जब उसकी एक माँग पूरी हो जाती था तो वह कुछ समय बाद नई माँग पेश करता था। आस्ट्रिया और चेकोस्लोवाकिया पर जर्मनी का अधिकार हो जाने के समय तक ग्रेट ब्रिटेन की नीति से हिटलर का मन बढ़ता गया। लन्दन लौटने पर चेम्बरलेन ने बड़े गर्व से कहा कि हम लोगों के युग में शान्ति स्थापित रह सकी किन्तु चर्चिल ने उत्तर देते हुए कहा, "ब्रिटेन तथा फ्रांस को युद्ध तथा मानहानि में से किसी एक को चुनना था। उन्होंने मानहानि को चुना। युद्ध तो होकर ही रहेगा।"

एक और प्रकार से भी इंगलैण्ड तथा फ्रांस का उत्तरदायित्व है। ये दोनों देश समाजवादी रूस को शंका की दृष्टि से देखते थे। कभी-कभी उसकी उपेक्षा भी करते थे। १९३४ ई० तक रूस, जब कि वह राष्ट्रसंघ का सदस्य हुआ, यूरोप का अछूत जैसा था। इंगलैंड तथा फ्रांस पश्चिमी योरप में साम्यवादी रूस के प्रभाव को रोक रखने के लिए जर्मनी को सशक्त और संतुष्ट बनाये रखना चाहते थे। अतः उन्होंने जर्मनी के साथ उदारवादी नीति अपनायी थी। फलस्वरूप रूस जर्मनी की ओर झुक गया और दोनों में २३ अगस्त १९३९ ई० को एक सन्धि हुई। इस संधि के होने से भी हिटलर को पोलैण्ड पर आक्रमण करने के लिये प्रोत्साहन मिला। अब इंगलैंड तथा फ्रांस की नींद टूटी और उन्होंने हिटलर का वास्तविक उद्देश्य समझा। लेकिन अब तक काफी देर हो चुकी थी और स्थिति गंभीर हो चुकी थी। ३ सितम्बर १९३९ ई० को द्वितीय विश्व-युद्ध का प्रारंभ हो गया।

घटनाएँ

६ वर्षों तक युद्ध चलता रहा। लगभग चार वर्षों तक युद्ध की गति शत्रु राष्ट्रों के पक्ष में थी और पाश्चात्य राष्ट्रों की हार होती रही। जर्मनी ने बेलजियम, हालैण्ड,

नार्वे, तथा स्वेडन पर अधिकार कर लिया। उसने बालकन राष्ट्रों पर भी अपनी प्रभुता स्थापित की। रूस ने भी अपनी पश्चिमी सीमा पर के देशों पर आक्रमण किया। विस्तृत भूभागों को अपने राज्य में मिला लिया। दक्षिण-पूर्वी एशिया में जापान का आक्रमण हो रहा था और उसने बर्मा तक के भू-भागों पर अधिकार कर लिया। इसी समय भारतवर्ष के विद्रोही नेता सुभाषचंद्र बोस के नेतृत्व में भारतीय राष्ट्रीय सेना का निर्माण हुआ था। इतिहास में यह सेना आई० एन० ए० के नाम से प्रसिद्ध है। यह सब होते हुए भी युद्ध के उत्तरार्द्ध में मित्र राष्ट्रों का सितारा चमक उठा। जर्मनी ने अपने मित्र रूस पर भी तीर छोड़ दिया। १९४१ ई० के अन्त तक अमेरिका भी युद्ध में सम्मिलित हो गया था। अमेरिकावासियों ने जापानियों के छक्के छुड़ा दिये। उन्होंने उनके दो नगरों—हिरोशिमा तथा नागासाकी—को अणु बम से नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। दुनिया के इतिहास में यह नवीन प्रयोग था, साथ ही मानव-सभ्यता पर यह कलंक का एक टीका भी है। धुरी राष्ट्रों—जापान, जर्मनी, इटली की पराजय हुई। मित्रराष्ट्र विजयश्री को पाकर गौरवान्वित हुए। अगस्त १९४५ ई० में द्वितीय विश्वव्यापी युद्ध का अन्त हो गया।

मित्र राष्ट्रों की विजय के कारण

मित्र राष्ट्रों की विजय के अनेक कारण थे। (१) मित्र राष्ट्रों की धन-जन की शक्ति धुरी राष्ट्रों की अपेक्षा अधिक थी और उनके साधन अनन्त थे। (२) उनकी सामुद्रिक शक्ति असीम थी और उनके सामने जर्मनी विवश था। (३) नेपोलियन के समान हिटलर की महत्वाकांक्षाएँ असीम थीं। वह प्रदेशों को जीतता हुआ बढ़ते जाना चाहता था किन्तु विजित प्रदेशों का संगठन नहीं करता था। अतः इन देशों में गुप्त ढंग से उसके विरुद्ध विरोधी प्रवृत्तियाँ काम कर रही थीं। (४) उसने फ्रांस की पराजय के पश्चात् शीघ्र ही इंगलैण्ड पर आक्रमण करने का प्रयत्न नहीं किया। (५) जर्मनी ने रूस पर भी धावा बोल दिया जो उसकी बड़ी भारी भूल साबित हुई। इससे उसकी शक्ति छिन्न-भिन्न हो गई। इसी रूस ने लगभग डेढ़ सौ वर्ष पहले नेपोलियन का छक्का छुड़ा दिया था और उसकी पराजय का एक प्रमुख कारण बना था। रूस की वही भौगोलिक स्थिति थी जिसके कारण हिटलर को भी मुँह की खानी पड़ी। (६) अमेरिका के सम्मिलित हो जाने से युद्ध की गतिविधि निश्चित रूप से मित्र राष्ट्रों के पक्ष में हो गई। प्रथम महायुद्ध में भी उसका सम्मिलित होना निर्णायक सिद्ध हुआ था। युद्ध में अमेरिका के प्रवेश से मित्र राष्ट्रों की शक्ति तथा उत्साह में असीम वृद्धि हुई। अमेरिकावासियों ने ही अणु बम का प्रयोग कर जापान के दो समृद्ध नगरों को भस्मीभूत कर डाला और उसे गिर झुकने के लिए बाध्य किया।

सन्धियाँ

युद्ध के पश्चात् अनेक समस्याएँ उपस्थित हुई जिन्हें हल करने के लिए मित्र राष्ट्र कार्यशील हुए। परराष्ट्र सन्धियों के तथा अन्य प्रकार के कई सम्मेलन हुए। सर्वप्रथम पराजित राष्ट्रों से सधि करने की समस्याएँ थीं। पहले दक्षिणी और पूर्वी यूरोप के राष्ट्रों के साथ संधियाँ हुई। इटली के उपनिवेश छीन लिये गये। एरीट्रिया, लीबिया और सोमालीलैण्ड जो पहले इटली के अधिकार में थे, अब मित्र राष्ट्रों के अधीन हो गये और ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, रूस तथा अमेरिका इनकी देख-रेख करने लगे। यूरोप में भी उसके राज्य के कुछ भाग फ्रांस, यूनान, युगोस्लाविया और अलबेनिया के बीच बाँट दिये गये। इटली की सेना घटाकर ढाई लाख के लगभग कर दी गई। फिनलैण्ड को रूस के द्वारा १६४० ई० में जीते हुए भाग को उसी के अधीन मान लेना पड़ा। रूस को रूमानिया से भी कुछ भू-भाग मिला और रूमानिया की यह क्षति-पूर्ति हंगरी के द्वारा की गई। हंगरी को कुछ रकम भी चुकाने के लिए बाध्य किया गया। आस्ट्रिया तथा जर्मनी के साथ सधि करनी एक टेढ़ी खीर थी। इन प्रश्नों को लेकर रूस और दूसरे मित्र-राष्ट्रों के बीच भीषण मतभेद उठा। रूस दुर्बल आस्ट्रिया की स्थापना के पक्ष में था। किन्तु अन्य मित्र राष्ट्र इसका विरोध कर रहे थे। १६५४ ई० के मध्य तक उनमें समझौता न हो सका और उस समय तक आस्ट्रिया उनके बीच वाद-विवाद का विषय बना रहा। समझौता होने पर ग्रेट-ब्रिटेन, फ्रांस, रूस और अमेरिका ने इसे चार भागों में बाँट लिया। युद्ध-काल में ही रेनर की अध्यक्षता में अस्थायी सरकार बनी। नये निर्वाचन में भी इसी सरकार का बहुमत रहा। मित्र राष्ट्रों ने इसी सरकार को स्वीकार कर लिया।

मित्र राष्ट्रों के बीच सबसे अधिक मतभेद जर्मनी को लेकर हुआ। रूस अपने स्वार्थ से जर्मनी का औद्योगिक पुनरुत्थान चाहता था किन्तु ब्रिटेन, फ्रांस तथा अमेरिका इसके विरोधी थे। आखिरकार जर्मनी भी चार भागों में बाँट लिया गया और सभी एक-एक भाग के मालिक बने। जर्मनी का सबसे अधिक भाग रूस को और सबसे कम भाग फ्रांस को मिला। रूस से कम अमेरिका को और फ्रांस से अधिक ब्रिटेन को मिला। एक केन्द्रीय शासन परिषद् की स्थापना हुई जिसमें चारों राष्ट्रों का प्रतिनिधित्व था। परन्तु अभी भी वे आपस में एकमत न रहे।

जापान के शासन का भार जेनरल मैकआर्थर के हाथ में सौंपा गया। उसे राय देने के लिए एक जापानी कौंसिल स्थापित हुई जिसमें ८ सदस्य थे। इसका सभापति एक अमेरिकी सदस्य था। इसी जेनरल और कौंसिल की देख-रेख में जापानी सरकार काम करने लगी। कोरिया पर जापान का कोई अधिकार नहीं रहा। इसे रूस और अमेरिका ने आपस में बाँट लिया। १६४८ ई० के मध्य में संयुक्त राष्ट्र-संगठन ने

कोरिया की स्वतन्त्रता के लिए कमीशन भी नियुक्त किया। परन्तु रूस ने कमीशन के साथ सहयोग की नीति नहीं बरती और आगे कोरिया में दोनों बड़ी शक्तियों के स्वार्थ आपस में टकरा गये। इस बीच १९४७ ई० में जापान ने एक नवीन विधान कार्यान्वित किया।

परिणाम

युद्ध या महायुद्ध से जो साधारण परिणाम होते आये हैं वे तो हुए ही। करोड़ों नर नारी, बाल-बच्चे काल के गाल में चले गये। अरबों की धन-दौलत का नाश हुआ *सर्वविनाशकारी अणुबम का प्रयोग हुआ और जापान के दो हरे-भरे नगर धराशायी* और भस्मीभूत हो गये। मानव-समाज पर भय और विपत्ति के पहाड़ टूट पड़े और दुर्बल राष्ट्रों की रीढ़ टूट गई।

द्वितीय महायुद्ध के और भी महत्त्वपूर्ण परिणाम हुए। इसने विश्व की राजनीति में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिया।

द्वितीय महायुद्ध में दो विरोधी दल तो लड़ ही रहे थे; यह दो विचारधाराओं में भी संघर्ष था। ये दो विचारधाराएँ थीं—प्रजातन्त्र और एकतन्त्र। मित्रराष्ट्रों की *विजय के फलस्वरूप प्रजातन्त्र सिद्धान्त की भी विजय हुई और विश्व में* इसका क्षेत्र सुरक्षित हो गया।

परन्तु युद्ध के पश्चात् अन्य-अन्य दो राजनीतिक विचारधाराओं में संघर्ष भीषण रूप में शुरू हो गया। ये विचारधाराएँ हैं—साम्यवाद और पूँजीवाद। पूँजीवादी राष्ट्र लोकतन्त्र के भी समर्थक हैं। पहले का नेतृत्व रूस के और दूसरे का अमेरिका के हाथ में है। *रूस साम्यवाद का प्रचार चाहता है और अमेरिका इसका विरोध कर* लोकतन्त्र की स्थापना चाहता है। विश्व-शान्ति के लिये रूस और अमेरिका का यह संघर्ष बहुत ही घातक है। तृतीय महायुद्ध की यदि इसे भूमिका कहें तो अत्युक्ति नहीं। कोरिया में दोनों की मुठभेड़ और पैंतरेबाजी शुरू हो ही गई थी और दोनों अपने-अपने दल को संगठित करने में संलग्न हैं। पूर्वी यूरोप में रूस का प्रभाव बढ़ रहा है और पश्चिमी यूरोप में अमेरिका का। अब तक जर्मनी पूर्वी और पश्चिमी यूरोप के बीच एक दृढ़ दुर्ग के समान स्थित था किन्तु उसका पतन हो जाने से मध्य यूरोप तक प्रभाव *स्थापित करने के लिए रूस को सुविधा प्राप्त हो गई है।* पूर्वी यूरोप के देशों की व्यवस्था में रूस की देख-रेख में महान् परिवर्तन हुए हैं।

दूसरे विश्व-युद्ध के पश्चात् राष्ट्रीयता की पुरानी महत्ता नहीं रही। अब विचार-धारा का महत्व बढ़ा जो भौगोलिक सीमा के अन्दर सीमित नहीं रहती। प्रायः समस्त संसार उपर्युक्त दो विचारधाराओं में विभक्त है—साम्यवाद और पूँजीवाद। अब अपने-

अपने सिद्धान्त के लिए ही लोग मर मिटने के लिए कटिबद्ध हैं। एक ही देश के अन्दर दोनों विचारधाराओं के नागरिक वर्तमान हैं और वे आपस मे लड़ते-झगड़ते हैं। दूसरे देश के उसी विचारधारा के समर्थकों के साथ अपने देश के विरोधी विचारधारा के समर्थकों की अपेक्षा उनका घना सम्बन्ध स्थापित है। उदाहरणार्थ, भारत के कम्युनिस्टों का कांग्रेसियों की अपेक्षा रूस के कम्युनिस्टों के साथ निकट सम्पर्क है और वे राष्ट्रीय सरकार के प्रबल विरोधी हैं। भारत के एक कांग्रेसी मुख्य मन्त्री[1] ने अपनी सरकार की नीति ए से जेड तक कम्युनिस्ट विरोधी घोषित की थी। विचारधारा की महत्ता की अपेक्षा विज्ञान की उन्नति ने भी राष्ट्रीय सीमा के महत्व को घटा दिया है। विज्ञान ने दूरी और काल को बहुत ही सङ्क्षिप्त कर दिया है और सारे ससार को एक सूत्र में आबद्ध कर दिया है। वर्तमान समस्याएँ विश्व की समस्याएँ हैं जिनके समाधान के लिये अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर सहयोग की आवश्यकता है।

विचारधाराओं की महत्ता बढ़ने से राष्ट्रीय सरकारों की प्रवृत्ति एकाधिकार की ओर झुकने लगी है। विरोधी दलों पर नियन्त्रण करना आवश्यक समझा गया है। अतः लोकतन्त्री शासन में भी विचार-स्वातन्त्र्य पर प्रतिबन्ध लगाया जाता है और विरोधियों को दबाने के लिए तरह-तरह के कुचक्र रचे जाते हैं। साम्यवादी रूस में तो यह प्रवृत्ति और अधिक काम करती है। इस तरह विशुद्ध जनतन्त्र शासन का गला घोंटा जाने लगा है।

द्वितीय महायुद्ध ने महान् राज्यों की स्थिति में बहुत बड़ा परिवर्तन ला दिया है। पहले की अपेक्षा ग्रेट ब्रिटेन की स्थिति कमजोर पड़ गई है। उसका साम्राज्य संकुचित हो गया है और उसकी आर्थिक दशा बिगड़ गई है। साम्राज्य के कई अंग अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर उससे अलग हो गये हैं और जो पहले ब्रिटिश राष्ट्र संघ था वह अब सिर्फ राष्ट्र संघ रह गया है। प्रथम महायुद्ध के बाद उसकी गिनती विश्व की प्रथम शक्ति के रूप में होती थी किन्तु अब वह तृतीय श्रेणी का राज्य बन गया है। युद्ध के पश्चात् वहाँ एटली के प्रधान मन्त्रित्व में मजदूर सरकार की भी स्थापना हुई। फ्रांस भी १६३६ ई० तक तो एक शक्तिशाली राष्ट्र था परन्तु द्वितीय महायुद्ध के बाद उसकी गिनती चतुर्थ श्रेणी में होने लगी। इसके अतिरिक्त फ्रांस में तृतीय गणतन्त्र का अन्त हो गया और चतुर्थ गणतन्त्र की स्थापना हुई।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् दो राष्ट्र अधिक शक्तिशाली होकर निकले—अमेरिका और रूस। यूरोपीय राज्यों में रूस को प्रथम श्रेणी मे रख सकते हैं किन्तु विश्व के पैमाने पर अमेरिका को यह श्रेय प्राप्त होगा और रूस को द्वितीय श्रेणी का राज्य कहा

१ श्री राजगोपालाचार्य (मद्रास)

जायगा। फिर भी आज की दुनिया के रंगमंच पर ये ही दोनों प्रतिद्वन्द्वी के रूप में खड़े हैं और एक दूसरे के अशुभचिन्तक हैं।

विजित तथा उपेक्षित राष्ट्रों में स्वतन्त्रता की भावना जाग्रत हो उठी और स्वातन्त्र्य आन्दोलन में तीव्रता आ गई। युद्ध-काल में अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट तथा ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री चर्चिल के सहयोग से चार्टर प्रकाशित हुआ जो अटलान्टिक चार्टर के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें मित्र राष्ट्रों की ओर से युद्ध का उद्देश्य बतलाया गया। इसमें स्वतंत्रता तथा आत्मनिर्णय के सिद्धान्त का समर्थन किया गया था। अतः युद्ध का अन्त होने पर गुलाम जातियों में स्वतन्त्रता के लिये संघर्ष छिड़ गया। एशिया के देशों में स्वतन्त्रता का प्रभात हुआ।

एशियाई देशों में तो प्रथम महायुद्ध के बाद से ही स्वतन्त्रता के लिए आन्दोलन उठ खड़े हुए थे और पश्चिमी एशिया के कुछ देशों में सफलता भी मिल चुकी थी। परन्तु अभी भी एशियायी भू-भागों पर पाश्चात्य साम्राज्य का नंगा नाच हो रहा था। द्वितीय महायुद्ध के बाद ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस तथा हॉलैण्ड एशिया को छोड़ने के लिये बाध्य हुए और भारत, बर्मा, सीलोन, हिन्दचीन तथा हिन्देशिया स्वतन्त्र हो गये। एशिया में केवल जापान एक साम्राज्यवादी देश था जो चीन को अपने फौलादी पंजे में फंसाये हुए था। युद्ध में जापान का पतन हो गया और चीन स्वतन्त्र हुआ। इस चीन में समाजवादी प्रजातन्त्र की स्थापना हुई है। एशिया में दो नये राज्यों की सृष्टि हुई है—पाकिस्तान और इसरायल। १६४७ ई० में पहले का और १६४८ ई० में दूसरे का निर्माण हुआ है और ये दोनों क्रमशः मुसलमानों तथा यहूदियों की साम्प्रदायिकता के उत्पादन हैं। फिर भी सन्तोष इतना ही है कि ये दोनों भी स्वतन्त्र राज्य हैं। अब यह निश्चय है कि विश्व के रंग-मंच पर स्वतन्त्र एशिया वर्तमान शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रमुख भाग लेगा और मानव-समाज की प्रगति में सक्रिय सहयोग प्रदान करेगा।

इस प्रकार पुराना साम्राज्यवाद मृत्यु-शय्या पर अब अन्तिम साँस ले रहा है। अब देश या विश्व-विजय की कल्पना करना सम्भव नहीं रहा। सेना रखी जाती है परन्तु देश की व्यवस्था और सुरक्षा के लिए। परन्तु अब एक नये प्रकार के साम्राज्यवाद का उदय हुआ है। सबसे पहले प्रदेशों को जीतना और उनका शोषण करना ही साम्राज्यवाद का लक्ष्य होता था। प्रथम महायुद्ध के बाद अमेरिका ने आर्थिक साम्राज्यवाद का जाल बिछाना शुरू किया जो डालर साम्राज्यवाद कहलाता है। दूसरे महायुद्ध के पश्चात् एक तीसरे ही प्रकार का साम्राज्यवाद स्थापित हुआ। इसे सैद्धान्तिक साम्राज्यवाद कह सकते हैं। हम ऊपर कह चुके हैं कि विश्व में दो विचारधाराएँ

प्रधान हैं जिनका नेतृत्व रूस और अमेरिका कर रहे हैं। दोनों ही विश्व को अपने-अपने प्रभाव क्षेत्रों में बाँट लेने के लिए सचेष्ट हैं और उन्हें इसमें सफलता भी मिल रही है। वे इस मौके की ताक में भी हैं कि विरोधी सिद्धान्त का पृथ्वी से अस्तित्व ही मिट जाय।

शान्ति-स्थापना के लिए भी प्रयत्न हुआ। पिछले महायुद्ध के पश्चात् राष्ट्रसंघ का निर्माण हुआ था, किन्तु द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ होने के समय तक इसका अन्त हो चुका था। अतः अब संयुक्त राष्ट्र नाम की संस्था स्थापित हुई। आगे इन दोनों संस्थाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन किया जायगा

अध्याय १६

एशियाई देशों का जागरण—चीन तथा जापान

भूमिका

बहुत समय से हम लोगों ने एशिया के देशों की चर्चा नहीं की है। हाँ, इनका उल्लेख तो किया गया है किन्तु जहाँ-तहाँ, छिट-पुट, स्वतन्त्र रूप से नहीं। इसके कई कारण हैं। आधुनिक युग के प्रारम्भ में इन देशों की दशा शोचनीय थी। इनका प्राचीन गौरव जाता रहा था और ये पाश्चात्य साम्राज्यवाद के बुरे शिकार हो गए थे। इन देशों में शोषण, अत्याचार तथा अन्याय का राज्य था। कमाने वाला और कोई था और खाने वाला कोई दूसरा। वे परतन्त्रता की बेडी में जकड़ गये थे। एशिया-वासियों के मुख बन्द थे और वे पिंजड़े में चिड़ियों की भाँति सीमित थे। उनका जीवन दुखदर्द की कहानी था। आर्थर गुइटर मैन ने अपनी एक पुस्तक 'बेटल नट्स' में लिखा है—

> जब जीवन दर्द बन जाता है,
> उम्मीद मूक हो जाती है।
> तो विश्व कहता है 'जाओ',
> और कब्र कहती है 'आओ'।

ऐसा मालूम होता था कि कवि का कथन एशियावासियों के साथ सार्थक सिद्ध होगा। परन्तु काल-क्रम में पाँसा पलट गया। एशियावासी भी तो थे मानव, जिनके पूर्वज कभी समस्त संसार के पथप्रदर्शक रह चुके थे। उनके भी दिल थे, दिल में अरमान थे, महत्त्वाकाक्षाएँ थीं। उनकी भावनाओं को कोई कुचल नहीं सका था, उनकी आत्मा पर कोई अधिकार नहीं कर सका था। उनमें आशा की किरणें वर्तमान थीं। वे अपने गौरवमय-अतीत को याद करते थे और उज्ज्वल भविष्य के निर्माण का सुन्दर स्वप्न देखते थे। वे अपने पर किये गये अन्याय तथा अत्याचार को समझते थे किन्तु इनका सामना करने के लिए उनमें शक्ति का अभाव था। उनकी जीवनी शक्ति का दमन नहीं हुआ था। समय पाकर उनकी शक्ति का विकास होने लगा और वे अपनी निद्रा से जाग उठे। सदियों से जो दीपक बुझ गया था वह फिर जल उठा और स्फूर्ति-वेग से। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् उन्हें सुअवसर मिला। स्वतंत्रता तथा प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों ने, जिनकी आड़ में मित्र राष्ट्रों ने युद्ध का सफल संचालन किया, एशिया-

वासियों को प्रोत्साहित किया और उनके हृदय में राष्ट्रीयता के भाव बड़े वेग से सञ्चारित हुए। वे अपनी बेड़ियों को तोड़ने के लिए व्यग्र हो उठे। अनेक माँ के लालों ने शहादत का मुकुट पहना और स्वतन्त्रता देवी को अपने खून की बलि चढ़ाई। कितने नर पुंगवों ने तोप के तार को भी तुच्छ समझा और गोलियों का भी फूलों की भाँति स्वागत किया। उनके त्याग एवं तपस्या प्रतिफलित हुए, उनकी बेड़ियाँ टूट गई। स्वतन्त्र हो वे मानव सभ्यता एवं संस्कृति के विकास में उचित योग देने लगे हैं और विश्व में स्थायी शान्ति की स्थापना के लिए प्रयत्नशील हैं। इस तरह युद्धोत्तर काल में दुनिया की राजनीति में एशिया के महत्व में बहुत वृद्धि हो गई है। इस परिस्थिति से प्रभावित होकर एक कवि ने लिखा है—

> 'हम वक्त की लगाम को लपके हैं थामने
> कोई भी खबरदार, आना न सामने
> हम चाहें तो समाज की किस्मत को पलट दें
> जालिम घमंडियों के तख्तों का ताज उलट दें
> चाहें तो हिला दें हम पाताल का तला
> आज एशिया के लोगों का काफिला चला।'

अगले पृष्ठों में एशियाई देशों के इसी जागरण का उल्लेख किया जायगा। परन्तु इसका उल्लेख करने के पूर्व इसके कारणों पर विचार कर लेना युक्तिसंगत होगा।

एशियाई जागरण के कारण

१. प्राकृतिक—जागृति एक प्राकृतिक घटना है। दिन के बाद रात और रात के बाद दिन होता है। वैसे ही सभी मनुष्य के सभी दिन एक समान नहीं होते। सुख के बाद दुख और दुख के बाद सुख का होना स्वाभाविक है। जो ऊपर है वह कभी नीचे आ सकता है और जो नीचे है वह कभी ऊपर जा सकता है। यही बात किसी देश या राष्ट्र के सम्बन्ध में कही जा सकती है। राष्ट्र में भी बीमारी होती है, कमजोरी होती है और नींद आती है। किन्तु मनुष्य की अपेक्षा राष्ट्र एक बहुत बड़ी वस्तु है, अतः उसकी बीमारी, कमजोरी या नींद दीर्घ काल तक और कभी-कभी मनुष्य की कई पीढ़ियों तक कायम रहती है। परन्तु यह ध्रुव सत्य है कि किसी समय उसकी बीमारी अच्छी होती है, कमजोरी दूर होती है और नींद भी टूट जाती है। प्राचीनकाल में एशिया में ही मानव-सभ्यता एवं संस्कृति का सूर्य उदय हुआ था और उस समय यूरोप के भू-भाग जंगलों से आच्छादित थे और सभ्यता का कहीं नाम-निशान भी नहीं था। धीरे-धीरे एशिया पतनोन्मुख होने लगा और यूरोप में सभ्यता की प्रकाश-किरण फैली। अब पतन के बाद एशिया का पुनरुत्थान होना स्वाभाविक ही था।

२. विज्ञान की उन्नति—विज्ञान की उन्नति के कारण दुनिया छोटी हो गई है। समय और दूरी पहले की अपेक्षा संक्षिप्त हो गये हैं। जो काम पहले वर्षों, महीनों या सप्ताहों में होता था वही अब क्रमशः महीनों, या कुछ दिनों के अन्दर होने लगा है। अब घंटों का काम मिनटों में होता है। इसका कारण है यातायात के साधनों का उन्नत होना। रेल, जहाज, वायुयान आदि सवारियों के द्वारा विश्व के एक भाग से दूसरे भाग में जाना सरल हो गया है। तार, बेतार के तार, रेडियो आदि के द्वारा घर बैठे-बैठे सम्पूर्ण विश्व का समाचार मिल जाता है। इन सभी कारणों से मानव-समाज के सम्पर्क में वृद्धि हो गई है और सम्पर्क में वृद्धि होने से स्वाभाविक ही विचार-विनिमय होने लगता है। विचार-विनिमय से मनुष्य को अपने गुण-अवगुण का बोध होता है और वह अपनी उन्नति के लिए प्रयत्न करता है। यह सर्वविदित है कि मनुष्य अनुकरणशील प्राणी है।

३. पाश्चात्य शिक्षा का प्रसार—धीरे-धीरे एशिया के देशों में पाश्चात्य शिक्षा का प्रसार होने लगा। शिक्षा-प्रणाली में पाश्चात्य भूगोल, विज्ञान, दर्शन आदि शास्त्रों को स्थान मिला। अंग्रेजी भाषा का प्रचार हुआ और विदेशी ग्रन्थों का देशी भाषाओं में अनुवाद होने लगा। इन ग्रन्थों के पठन-पाठन से एशियावासियों को पाश्चात्य जगत की उन्नति का रहस्य मालूम होने लगा और वे तदनुसार अपने देश में सुधार कर उन्नति करने के लिए उत्सुक हो उठे। १९वीं सदी के पहले भी दुनिया में कई क्रान्तियाँ हो चुकी थीं। इंगलैण्ड की महान् क्रान्ति, अमेरिका का स्वातन्त्र्य संग्राम, फ्रांस की राज्य-क्रान्ति, आयरलैण्ड का विद्रोह आदि इनके कुछ उदाहरण हैं। पाश्चात्य शिक्षा के द्वारा एशियावासी इन क्रान्तियों से अवगत हुए और उनमें प्रजातन्त्र का विचार उत्पन्न हुआ। उनके रक्त में गर्मी पैदा हो गई, उनकी नसों में बड़े वेग से नये उत्साह का संचार हुआ, उनमें एक नई जान आ गई।

पाश्चात्य शिक्षा के साथ ईसाई धर्म तथा पाश्चात्य सभ्यता का प्रचार हुआ। इससे एशियावासियों के साथ सांस्कृतिक पुनरुत्थान को प्रोत्साहन मिला। इस सांस्कृतिक पुनरुत्थान के आधार पर राजनीतिक जागृति हुई।

४. विदेशियों की नीति—एशिया में विदेशियों ने अन्यायपूर्ण शोषण की नीति अपनाई। वे सारे एशिया पर आर्थिक साम्राज्यवाद का जाल बिछाकर एशियावासियों को चूसने लगे। एशिया वाले रात-दिन परिश्रम करते थे—एँड़ी-चोटी का पसीना एक करते थे किन्तु मौज उड़ाते थे विदेशी। कैसा घोर अन्याय था! इस पर भी यह आशा रहती थी कि एशिया वाले जरा-सा भी विरोध की आवाज न निकालें। आज्ञा-भंग का परिणाम होता था प्राणदण्ड। वे हिंसा तथा दमन के द्वारा एशियावासियों

का शोषण करते रहना चाहते थे। किन्तु ऐसी स्थिति टिकाऊ और सन्तोषजनक नहीं होती। पहले तो हिंसा से ईर्ष्या, घृणा तथा द्वेष की भावना उत्पन्न होती है। दूसरे, हिंसा और दमन के द्वारा कोई भी किसी के दिल पर अधिकार नहीं कर सकता—उनकी भावनाओं को नहीं कुचल सकता।

साम्राज्यवाद और शोषण की नीति ने एशियावासियों की राष्ट्रीय भावना को भी जागरित किया। उनमें देशभक्ति तथा जातीयता का बड़े वेग से संचार हुआ। जापान में उग्र राष्ट्रीयता का जन्म हुआ। एशिया की जाग्रति का यह सुन्दर प्रतीक था।

५. रूस-जापान युद्ध—१६०४-५ ई० में रूस और जापान के बीच युद्ध हुआ। अब तक यूरोप अजेय समझा जाता था। रूस की तुलना में जापान एक छोटा-सा राज्य था, किन्तु जापान ने रूस को युद्ध में पराजित कर दिया। एशिया के इतिहास में यह घटना बहुत महत्वपूर्ण सिद्ध हुई। इससे एशियावासियों में महान् मनोवैज्ञानिक परिवर्तन हुए। जापान की विजय पश्चिम पर पूर्व की विजय समझी जाने लगी और सर्वत्र बड़े उत्साह के साथ उत्सव मनाया गया। यूरोप अजेय है—अब इस धारणा का अन्त हो गया। इस विजय से एशिया के समस्त देशों में राष्ट्रीयता को प्रोत्साहन मिला और सभी विजित राज्य यूरोप की दासता से मुक्त होने का प्रयत्न करने लगे।

६. रूसी क्रान्ति—इसी समय रूसियों ने निरंकुश ज़ार के विरुद्ध खुलेआम विद्रोह कर दिया। यद्यपि विद्रोह सफल नहीं हुआ फिर भी ज़ार अपनी जनता को कुछ सुविधाएँ देने के लिए बाध्य हुआ। वह 'ड्यूमा' (राष्ट्रीय सभा) को स्वीकार करने के लिए विवश हुआ। इस विद्रोह का भी एशिया के लोगों पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था।

७. राष्ट्रपति विल्सन की घोषणा—महायुद्ध के समय अमेरिका के आदर्शवादी राष्ट्रपति विल्सन ने यह घोषित किया था कि मित्र राष्ट्र आत्मनिर्णय तथा स्वतन्त्रता के सिद्धान्त की रक्षा के लिए ही युद्ध कर रहे हैं। इस घोषणा ने दुर्बल, विजित तथा छोटे-छोटे राष्ट्रों में एक नई जान भर दी और वे अपनी मुक्ति के लिए आशान्वित हो उठे।

(क) चीन

चीनी क्रान्ति

यह पहले ही देखा जा चुका है कि मंचू वंश के उत्तरकालीन शासन में अनेक बुराइयाँ प्रचलित थीं। शासक अयोग्य थे। व्यभिचार का बाजार गर्म था। राज कर्मचारियों का नैतिक पतन हो गया था। व्यक्तिगत स्वार्थ सर्वोपरि समझा जाता था।

देश में अराजकता थी। इस स्थिति से विदेशियों ने लाभ उठाया। १६वीं शताब्दी में चीन में उन्हीं का बोलबाला था। उनकी अन्यायपूर्ण शोषण-नीति ने देश की आर्थिक स्थिति को और भी अधिक बिगाड़ दिया। उन्होंने चीनवासियों को जितना बन पड़ा उतना चूसा। जनता पीड़ित थी लेकिन उनकी कमाई से विदेशी मौज उड़ा रहे थे। ऐसी परिस्थिति दीर्घकाल तक नहीं टिक सकती। किसी भी देश के निवासी ऐसे घोर अन्याय तथा स्वार्थ को कब तक सह सकते हैं? कुशासन, निर्धनता तथा विदेशी प्रभाव ने चीनियों की राष्ट्रीय भावना को जागरित किया। उनमें देश-प्रेम तथा जातीयता का तीव्र वेग से संचार हुआ और राष्ट्रीय आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। यह आन्दोलन एक ओर मंचू राज्यवंश के विरुद्ध था और दूसरी ओर विदेशी साम्राज्यवाद के विरुद्ध। लेकिन प्रारम्भ में विदेशियों के ही विरुद्ध आन्दोलन अधिक सबल रहा। उन्हें देश से निकालने के लिए अनेक गुप्त दल स्थापित हो गये। बॉक्सिंग क्लब ऐसा ही एक गुप्त क्रान्तिकारी दल था। इस दल के सदस्य घूँसेबाजी का खूब ही अभ्यास करते थे। इसने विदेशियों के विरुद्ध १८६६ ई० में एक भयंकर विद्रोह किया। वह बॉक्सर विद्रोह कहलाता है। इसमें बहुत से विदेशियों को मौत के घाट उतारा गया। इस विद्रोह की पहले भी चर्चा की जा चुकी है। विद्रोह तो हुआ किन्तु विदेशियों ने इसे बड़ी ही क्रूरता के साथ कुचल डाला और अपनी स्थिति को पहले की अपेक्षा अधिक मजबूत कर लिया।

लेकिन बॉक्सर विद्रोह की असफलता से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि इसका कोई परिणाम नहीं हुआ। इससे चीनियों को अप्रत्यक्ष रूप से लाभ पहुँचा। इसने उनकी आँखें खोल दीं—उनके राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रोत्साहन दिया। प्रथम चीनो-जापानी युद्ध के पश्चात् (१८६५ ई०) चीन में यूरोपीय ढङ्ग पर सुधार करने के लिए 'तरुण चीन' आन्दोलन छिड़ा था। इस दिशा में कुछ प्रगति भी हुई थी, किन्तु इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया भी हुई। राजमाता जूसी ने सुधार का विरोध किया और सम्राट के हाथ से शासन-सूत्र छीन लिया। बॉक्सर विद्रोहियों ने भी सुधार के विरोध में जूसी का समर्थन किया था। लेकिन अब चीनी लोग समझने लगे कि उन्हें अपनी पुरानी आदतों में परिवर्तन लाना होगा—पाश्चात्य प्रणाली में भी कुछ अच्छी बातें हैं जिन्हें ग्रहण करना होगा। यूरोपीय ढङ्ग पर बिना सुधार किये उनके देश का हित सम्भव नहीं है।

१६०४-५ ई० में रूस और जापान में युद्ध हुआ। जापान ने पाश्चात्य स्कूल में शिक्षा पाई थी और तदनुसार अपना संगठन किया था। उसने युद्ध में रूस को पराजित कर दिया था। इस घटना से भी चीनियों को यह विश्वास हो गया कि उन्हें भी अपने देश में पाश्चात्य ढङ्ग पर आवश्यक सुधार करना चाहिए।

अब १९०५ ई० से चीन में पुनरुत्थान-काल शुरू हुआ। जापान की भाँति यहाँ भी उग्रवादी राष्ट्रीयता का विकास प्रारम्भ हुआ। अनेक प्रकार के सुधार हुए। सैकड़ों विद्यार्थियों को राज्य की ओर से शिक्षा पाने के लिए विदेश भेजा गया। सिविल सर्विस की परीक्षा के लिए इतिहास, विज्ञान, विदेशी भाषा आदि अनिवार्य कर दिए गये और देश में पाश्चात्य ढङ्ग के विद्यालय खोले गये। रेलों का निर्माण तथा सेना का पुनर्संगठन हुआ। उद्योग-धन्धों की उन्नति के लिए कल-कारखाने खोले गये।

इस प्रकार सुधारों का ताँता बँध गया, किन्तु देश में कुछ ऐसे नवयुवक भी थे जो इन सुधारों से सन्तुष्ट नहीं थे। उनके विचार से निरंकुश राजतंत्र का नाश कर जनतंत्र की स्थापना करना आवश्यक था। उनका विश्वास था कि प्रगतिशील जनतंत्र के द्वारा ही चीन का उद्धार होगा। सनयात सेन (१८६७-१९२५ ई०) नामक एक ईसाई डाक्टर उनका नेता था। वह केंटन का निवासी था। उसने १८९४ ई० में ही चीन में नवोत्थान समिति[1] स्थापित की थी। १९११ ई० में यह समिति कोमिन्ताँग के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसी समय एक घटना घटी। चीन के पूँजीपति एक रेल-निर्माण में अपनी पूँजी लगाने के लिए उत्सुक थे। किन्तु मन्चू सरकार ने उन्हें अनुमति नहीं दी और इसके लिए विदेशियों को अनुमति दे दी गई। इससे असन्तोष की अग्नि प्रज्वल हो उठी। दक्षिणी चीन में मचू राज्य के विरुद्ध विद्रोह हुआ। शासक ने दूसरे साल गद्दी छोड़ दी और सनयात सेन की प्रधानता में चीनी जनतंत्र की स्थापना हुई। नानकिंग में उसकी राजधानी स्थापित हुई।

जनतंत्र की कठिनाइयाँ

इस तरह चीन में क्रान्ति हुई, प्राचीन राजतन्त्र का अन्त हो गया और जनतंत्र का जन्म हुआ। लेकिन जनतंत्र का जन्म शुभ मुहूर्त में नहीं हुआ। इसे अनेक कठिनाइयों तथा विपदाओं का सामना करना पड़ा। प्रतिक्रियावादियों ने इसे उखाड़ फेंकने में कोई कोर-कसर उठा नहीं रखा। उत्तरी भाग मचू शासक युआन शिकाई के अधीन था। वह एक कुशल सैनिक था। उसने जनतन्त्र की सत्ता अस्वीकार कर दी और दूसरा राज्य स्थापित कर लिया। कर्ज और हथियार के रूप में उसने विदेशी सहायता ली और इसके द्वारा राष्ट्रवादियों का दमन करने का प्रयत्न किया। इस तरह चीन का राज्य दो भागों में बँट गया और घरेलू मतभेद तथा आन्तरिक कलह का जोर बढ़ता गया। १९१६ ई० में युआन की मृत्यु हो गई लेकिन इससे स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। आपसी फूट कायम रही। जनता में शिक्षा का नितान्त अभाव और शासन में भ्रष्टाचार का प्रचार था। सर्वत्र सामन्तों का बोलबाला था। इन सभी बुराइयों के अतिरिक्त विदेशियों की स्वार्थ-लोलुपता अपने भीषण रूप में काम कर रही थी।

---

[1] इसे तुंग मेंग हुई भी कहते हैं।

जापान के साथ संघर्ष

१६१४ ई० में महायुद्ध आया। चीन तथा जापान दोनों ही मित्रराष्ट्र की ओर से युद्ध में सम्मिलित हुए। दोनों ही को अपने-अपने लाभ की आशा थी। चीन को आशा थी कि मित्रराष्ट्रों के विजयी होने पर उसके दिन फिर जायँगे और शोषण बन्द हो जायगा किन्तु उसकी सारी आशा धूल में मिल गई। जापान ने चीन में जर्मनी के स्थित सारे भू-भाग पर अधिकार कर लिया। उसने चीन के सामने अपनी २१ माँगें भी उपस्थित कीं। इन माँगों को स्वीकार करने से सारे चीन में जापान का प्रभुत्व स्थापित हो जाता। चीनी घबड़ा उठे। उनमें नई चेतना का उदय हो रहा था। विद्यार्थियों और मजदूरों में उत्तेजना फैल रही थी। उन्होंने विरोध का प्रदर्शन किया और वे जापानी माल का बहिष्कार करने लगे। इस स्थिति पर विचार करने के लिए १६२१ ई० में वाशिंगटन कान्फ्रेंस बुलाई गई। चीनियों के पक्ष में कुछ निर्णय हुए। मुक्तद्वार की नीति का पुनः समर्थन किया गया। कुछ समय के लिए चीन की रक्षा हो गई। लेकिन जापान की वक्र-दृष्टि दुर्बल पड़ोसी चीन पर बराबर लगी रही। आर्थिक साधनों और सैनिक स्थिति के कारण वह मंचूरिया हड़प लेना चाहता था। इसके विषय में वह रूस की ओर से भी सशंकित था। अतः १६३१ ई० में जापान ने मंचूरिया को अधिकृत कर लिया। अब यह मंचुकों कहा जाने लगा और मंचू वंश के राजा पुई को वहाँ का कठपुतली सम्राट बना दिया गया।

प्रगति और प्रतिक्रिया

इस बीच चीन में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। जनतन्त्र के जन्मदाता सनयात सेन की १६२५ ई० में मृत्यु हो गयी। वे राष्ट्रीयता, प्रजातन्त्र और जीविकावाद के पक्के समर्थक थे। कोमिन्ताँग का संगठन उन्हीं के प्रयास का परिणाम था। यह चीन की राष्ट्रीय पार्टी थी। सनयात सेन ने कम्युनिस्ट पार्टी के साथ भी गठबन्धन कर संयुक्त मोर्चा स्थापित किया था। कोमिन्ताँग पार्टी के सदस्यों ने सनयात सेन के सिद्धान्तों का पालन किया। ३ वर्षों तक उनका प्रभाव बना रहा और उन्हें अद्भुत सफलता मिली। सनयात सेन के मरने के बाद चाँग काई शेक देश के नेता

चित्र २८—चाँग काई शेक

बने। ये समाजवाद के विरोधी थे और इन्होंने रूस के साथ चीन का सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। कोमिन्तांग और कम्युनिस्ट पार्टी का गठबन्धन भी टूट गया। चाँग साम्राज्यवादियों का पक्ष करते थे। वे जीजान से कम्युनिस्टों के पीछे पड़ गये और उनकी खबर लेने लगे। कोमिन्तांग पार्टी में नरम पंथियों और उग्रपन्थियों में फूट पड़ गई। चाँग नरम पंथियों का नेतृत्व कर रहे थे। यहाँ इन्हीं की प्रधानता थी। इस तरह देश में गृह-युद्ध शुरू हो गया। कम्युनिस्टों को झुकना पड़ा और चाँग की विजय हुई। १९३७ ई० तक चाँग के अधीन कोमिन्तांग पार्टी की तूती बोलती रही। १९२८ ई० में इन्होंने उत्तरी सरकार का अन्त कर चीन में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना की। नानकिंग में इनकी राजधानी कायम हुई। सभी राष्ट्रों ने इस सरकार को स्वीकार कर लिया।

१९१९ से १९३१ तक आन्तरिक कलह चीन के इतिहास की विशेषता है। फिर भी इस काल में चीन पतनोन्मुख नहीं था। दो दिशाओं में अद्भुत प्रगति हुई। चीनियों की राष्ट्रीय भावना सबल हो गई। विदेशियों के विरुद्ध प्रदर्शन, हड़ताल तथा विद्रोह हुए। अँग्रेजी माल का बहिष्कार हुआ। विद्रोहियों तथा हड़तालियों पर कहीं-कहीं गोलियाँ चलीं। किन्तु गोलीकाण्ड ने अग्नि में घी का काम किया और राष्ट्रीय भावना और भी उत्तेजित हो उठी। चीन के अधिकांश भाग पर राष्ट्रवादियों का आधिपत्य हो गया और शंघाई तथा नानकिंग भी उनके अधिकार में आ गये। अंत में उन्होंने चाँग के अधीन राष्ट्रीय सरकार भी स्थापित कर ली। उन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में उन्नति की। डा० हूशीह के प्रयत्न से लिपि में सुधार हुए और व्यापक रूप से नई लिपि का प्रयोग होने लगा। लोगों को साक्षर बनाने के लिए आन्दोलन किया गया। सीखने वालों के लिए नये ढंग से किताबें लिखी गईं। विदेशी भाषाओं में लिखे गये वैज्ञानिक, दार्शनिक आदि ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद हुआ। राजनीतिक क्षेत्र में भी सुधार हुए और नये-नये विभाग खोले गये। कानून तथा न्यायालय के क्षेत्र में परिवर्त्तन हुए। इस तरह विभिन्न सुधारों के द्वारा देश का पुनर्संगठन करने का प्रयत्न हुआ, परन्तु देश की सन्तोषजनक प्रगति नहीं हुई। चाँग की नीति के कारण राष्ट्रवादियों तथा कम्युनिस्टों के बीच गृहयुद्ध का श्रीगणेश हो ही चुका था। १९२८ से १९३६ ई० तक यह चलता रहा। देश के उद्योग-धन्धों का समुचित विकास नहीं हुआ। राष्ट्रीय पूँजी का अभाव था और सारे देश पर विदेशी आर्थिक जाल बिछा हुआ था। श्रमिकों को उचित वेतन और भर पेट भोजन नहीं मिलता था। कृषि की अवनति थी जिससे किसानों की दशा बिगड़ती जाती थी।

चीन १९३१—४५ ई०

अभी कहा गया है कि १९३१ ई० में जापान ने मंचूरिया हड़प लिया। चीन ने

राष्ट्रसंघ से सहायता माँगी। राष्ट्रसंघ जापान की निंदा करने के अतिरिक्त कुछ न कर सका। जापान ने राष्ट्रसंघ की सदस्यता को ही ठुकरा डाला। इसके पाँच वर्ष बाद युद्ध घोषित किये बिना ही उसने चीन पर आक्रमण कर दिया। राष्ट्रीय सरकार ने देश की रक्षा के लिए पूरी कोशिश की। जापानियों का सामना करने के लिए कम्युनिस्टों के साथ पुराना गठबधन पुनः स्थापित हो गया। अब गृहयुद्ध स्थगित हो गया। कम्युनिस्टों पर से सभी प्रतिबन्ध हटा लिये गये। इस प्रकार सभी चीनी धैर्य और वीरतापूर्वक आक्रमणकारियों का सामना करते रहे। बाद में यह युद्ध द्वितीय महायुद्ध में परिणत हो गया। इसी महायुद्ध में जापान की पराजय हो गई और वह १९४५ ई० के उत्तरार्द्ध में अलग हो गया।

चीन १९४५-४९ ई०

इस बीच राष्ट्रवादियों और कम्युनिस्टों के बीच फिर मनभेद शुरू हो गया और इनका गठबन्धन पुनः खुल गया। युद्ध-काल में कम्युनिस्टों की शक्ति बहुत बढ़ गई थी। युद्ध के बाद भी यह शक्ति बढ़ती रही। दूसरी ओर देश के आर्थिक साधनों पर चाँग और उसके सगे-सम्बन्धियों तथा सहयोगियों का अधिकार बढ़ता जा रहा था। इन सबों का अमेरिका के साथ सम्बन्ध था। अतः इनकी स्वार्थपूर्ण नीति के कारण चीन पर अमेरिका का आर्थिक जाल जोरों से फैलने लगा था। राष्ट्रीय उद्योग-धन्धों के विकास के लिए रास्ता बन्द होता जा रहा था। सर्वसाधारण की स्थिति बिगड़ती जा रही थी। माओ चे तुंग कम्युनिस्टों का प्रधान नेता था। वह अपने सिद्धान्त का सच्चा समर्थक था। उसने पाश्चात्य राजनीतिक विद्वानों की कुछ अमूल्य रचनाओं का गहन अध्ययन किया था। चीन से जापान के हटते ही उसने अधिकांश भू-भागों पर अधिकार कर लिया। रूस ने मंचूरिया में आधिपत्य जमा लिया। गृहसंघर्ष चलता रहा। अंत में राष्ट्रवादियों को पराजय स्वीकार करनी पड़ी और उनके नेता चाँग काई शेक ने फारमूसा में शरण ली। अब चीन में लाल तारे का उदय हुआ, कम्यु-निस्ट विजयी हुए। १३ नवम्बर, १९४९ ई० में चीनी जनतंत्र की स्थापना हुई। *माओ चे तुंग इसके सर्वप्रथम अध्यक्ष हुए जिन्हें चेयरमैन की पदवी प्राप्त है।*

इस तरह चीन में लोक गणतन्त्र की स्थापना हुई। परन्तु यह रूस का प्रतिरूप नहीं है। यह साम्यवाद और पूँजीवाद के बीच की व्यवस्था है। माओ चे तुंग उदार-वादी नेता है। उसमें कट्टरता का अभाव है। उसने चीन में साम्यवाद को चीनी जामा पहनाया, *रूसी नहीं। वह इस देश की बुराइयों का मूल दो ही बातों में देखता* था—भूमि प्रणाली तथा पारिवारिक उपासना। उसने इन दोनों प्रथाओं में परिवर्तन किया और चीन दिन-दूनी रात-चौगुनी प्रगति करने लगा है

कम्युनिस्टों की सफलता के कारण

कम्युनिस्टों की विजय और राष्ट्रवादियों की पराजय के कई कारण हैं। कम्युनिस्टों का सगठन सुदृढ़ था। उन्हें माओ त्से तुग जैसा योग्य नेता प्राप्त था। वह प्रतिभाशाली, दूरदर्शी तथा व्यावहारिक पुरुष है। वह त्र्वर्नी, क्रान्तिकारी या कट्टर सिद्धान्तवादी नहीं है। उसने चीन की विशेष परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए साम्यवाद को कार्यान्वित किया है। उसके सहयोगी-चाउ एन लाई और चूतेह भी बड़े ही योग्य थे। दूसरे, उसे सोवियत रूस से सहायता मिलती रही है। तीसरे, चीन के गरीबों तथा किसानों ने उनका साथ दिया क्योंकि वे तत्कालीन स्थिति में परिवर्त्तन चाहते थे। उन्हें जमीन देने की व्यवस्था की गई। छोटे-छोटे उद्योगपतियों तथा पूँजीपतियों ने भी उनका साथ दिया। इस तरह उन्होंने राष्ट्रवादियों के विरुद्ध सयुक्त मोर्चा कायम किया। चौथे, उनमें पूरी एकता थी और वे सैन्य-सगठन तथा युद्ध-सचालन में भी बड़े ही दक्ष थे। पाँचवें, राष्ट्रीयता के युग में चीन में विदेशियों का प्रभाव बढ़ता ही जाता था और राष्ट्रवादी नेता चॉग काई शेक उनके साथ सहानुभूति का ही बर्ताव रखता था। उसके नेतृत्व में साम्राज्यवाद से छुटकारा पाने की कोई आशा नहीं थी। चीनियों के लिए यह असह्य हो रहा था। छठें, चाँग की नीति में एक और भी त्रुटि थी। वह शासन में किसी प्रकार का सुधार नहीं करता था और शान्ति-स्थापना के लिए ही विशेष चिन्तित रहता था। लेकिन जनता सुधार चाहती थी। कम्युनिस्टों ने सुधार का कार्य-क्रम उपस्थित कर जनता को अपनी ओर आकृष्ट किया।

चीनी जनतत्र की महत्ता

चीनी जनतत्र की स्थापना एशिया के इतिहास में एक नवीन तथा गौरवपूर्ण अध्याय है। अब चीन प्रगति के मार्ग पर अग्रसर हो मानव-जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में तीव्रगति से उन्नति कर रहा है। पाश्चात्य साम्राज्यवाद के चंगुल से वह मुक्त हो गया है। सदियों से उसकी जो समस्याएँ थी उनका समाधान हो गया है और हो रहा है। अब सर्वसाधारण के दिन फिर गये और उनमें एक नई जान आ गई है। एशिया के कुछ अन्य देशों ने, जहाँ साम्राज्यवाद के कुछ चिह्न रह गये थे, चीन से शिक्षा ग्रहण की और उन्हें इन चिह्नों को निर्मूल करने के लिए विशेष प्रोत्साहन मिला है। किन्तु चीनी जनतत्र ने पूँजीपतियों तथा साम्राज्यवादियों के सिर में बहुत दर्द उत्पन्न कर दिया है। विश्व में रूस के बाद यह दूसरा विशाल साम्यवादी देश है। चीन का क्षेत्रफल १ करोड़ वर्ग किलोमीटर है और इसकी जनसख्या है ६० करोड़। यह प्राकृतिक साधनों से भी परिपूर्ण है। अतः चीनी लोक गणतन्त्र अमेरिका आदि पूँजीवादी राष्ट्रों की आँखों में काँटों के जैसा चुभ रहा है। भारत की जनतान्त्रिक सरकार ने चीनी लोक गणतन्त्र को मान्यता प्रदान कर अपनी दूरदर्शिता का परिचय दे दिया। कुछ

अन्य राज्यों ने भी भारत का अनुकरण किया है। किन्तु अमेरिका चीनी लोकतन्त्र को मानने से अभी तक अस्वीकार करता रहा है। लेकिन आज या कल नई एवं जीवित सरकार को स्वीकृति देनी ही पड़ेगी।

चीनी लोक गणतन्त्र के ८ वर्ष
(१९४९—१९५६)

आर्थिक प्रगति—चीनी जनवादी सरकार की स्थापना के पूर्व चीन की राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था छिन्न-भिन्न हो चुकी थी। चीन के वित्त तथा अर्थतन्त्र पर विदेशियों ने आधिपत्य जमा लिया था। जापान के लगातार आक्रमण से भी भीषण क्षति पहुँची थी। कृषि तथा उद्योग दोनों ही क्षेत्रों में उत्पादन बहुत घट गया था। भारी उद्योग में लगभग ७० प्रतिशत और हल्के उद्योग में ३० प्रतिशत का ह्रास हुआ था। अतः वस्तुओं के मूल्य में भी वृद्धि होती जाती थी। ऐसी स्थिति में सर्वसाधारण के रहन-सहन का स्तर भी क्रमशः नीचे गिरता जा रहा था।

चीनी लोक सरकार ने प्रथम तीन वर्षों (१९४९-५२) में आवश्यक सुधार कर राष्ट्रीय अर्थ-प्रणाली को सुव्यवस्थित किया। उद्योग तथा कृषि की पैदावार बढ़ने लगी और रहन-सहन में भी सुधार होने लगा। राजकीय उद्योग में २९० प्रतिशत तथा निजी उद्योग में ५४ प्रतिशत की वृद्धि हुई। औद्योगिक पैदावार का कुल मूल्य डेढ़ गुना बढ़ गया। अब औद्योगिक क्षेत्र से विदेशी पूँजी का अन्त हो गया। देशी या विदेशी सभी पूँजीपतियों के व्यवसायों को अधिकृत कर उन्हें समाजवादी साँचे में ढाल दिया गया। अन्न तथा कपास की उपज में बहुत वृद्धि हुई। पड़ती जमीन को जुताऊ बनाया गया। लाखों बीघे जमीन भूमिहीनों को बाँटी गई और उन्हें कई सुविधाएँ प्रदान की गईं। लगान उठा दी गई। अतः जो अन्न कर के रूप में देना पड़ता था वह किसानों के पास बचने लगा। कृषि तथा दस्तकारियों में सहकारिता को भी प्रोत्साहित किया गया। सिंचाई की समुचित व्यवस्था हुई। ह्वांगहो नदी में बाँध बाँधा गई जिससे अब हजारों एकड़ जमीन की सिंचाई होने लगी। अब किसान कृषि-कार्य वास्तविक अभिरुचि से करने लगे। अब कृषि के क्षेत्र में सामन्ती व्यवस्था का अन्त हो गया।

इस तरह देश में विस्तृत पैमाने पर आर्थिक योजनाओं को लागू करने के लिए अनुकूल वातावरण तैयार किया गया। अतः राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के विकास के लिए १९५३ ई० में प्रथम पंचवर्षीय (१९५३-५७) योजना लागू की गई। इन पाँच वर्षों में योजना को कार्यान्वित करने में ७६ अरब ६४ करोड़ युआन[1] खर्च करने का अनुमान है। यह रकम कुल राष्ट्रीय खर्च का लगभग ६० प्रतिशत है।

---
[1] चीनी सिक्का

प्रथम पंचवर्षीय योजना के प्रारंभ होने के समय से उद्योग तथा कृषि के क्षेत्रों में पर्याप्त वृद्धि होने लगी है। अनुमान है कि योजना की अवधि पूरी हो जाने पर औद्योगिक पैदावार के कुल मूल्य में ९८.३ प्रतिशत की वृद्धि होगी। कृषि की पैदावार १७.६ प्रतिशत बढ़ेगी। कपास का उत्पादन भी बढ़ रहा है। सहकारी समितियों की संख्या भी बढ़ रही है। १९५५ के अन्त में १६ लाख से ऊपर ही कृषि उत्पादक सहकारी समितियाँ थीं जिनमें किसान परिवारों की कुल संख्या के ६० प्रतिशत सम्मिलित थे। हस्त-कला सहकारी समितियों की संख्या में भी वृद्धि हो रही है। उद्योग तथा कृषि के अतिरिक्त संचार एवं परिवहन के क्षेत्र में भी तीव्रगति से प्रगति हो रही है। हजारों मील लम्बी रेलवे लाइन का निर्माण हो चुका है। सड़कों तथा जल-मार्गों का भी विकास हो रहा है। व्यापार के क्षेत्र में भी अद्भुत प्रगति हो रही है। सोवियत संघ तथा पूर्वी यूरोप के जनवादी गणतन्त्रों के साथ जनवादी चीन के व्यापार में पर्याप्त वृद्धि हुई है। चीन औद्योगिक उपकरणों तथा यन्त्रों का आयात और अन्न तथा हस्तकला-कृतियों का निर्यात करता है। भारत, बर्मा, हिंदेशिया, लंका, मिश्र, पाकिस्तान आदि देशों के साथ भी व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हुआ है। १९५३ ई० से पश्चिमी देशों के साथ भी चीन का व्यापार बढ़ रहा है।

उद्योग, कृषि तथा व्यापार के क्षेत्रों में समुचित विकास होने के कारण राष्ट्रीय धन-दौलत की वृद्धि हुई है। इससे सर्वसाधारण के जीवनस्तर में सन्तोषजनक परिवर्तन हुआ है। बेकारी घटी है और विभिन्न विभागों में कर्मचारियों की संख्या बढ़ाई गई है। उनके वेतन में भी वृद्धि हुई है। श्रमिकों की भी संख्या एवं मजदूरी बढ़ी है। अब वस्तुओं के मूल्य के अनुपात से ही मजदूरी निश्चित की जाती है। महँगा होने से मजदूरी भी अधिक मिलती है। इसके अतिरिक्त लाखों श्रमिक तथा कर्मचारी श्रम बीमा से लाभान्वित हो रहे हैं। १९५१ ई० से सरकार का बजट भी संतुलित हो गया है। खर्च की अपेक्षा आय में वृद्धि होने लगी है।

राजनीतिक प्रगति—चीन में लोक गणतन्त्र स्थापित है। शासन की स्थापना में जनता का हाथ है। बालिग मताधिकार प्रचलित हुआ है। मतदाता अपना प्रतिनिधि चुनते हैं और वे ही शासनसूत्र सचालित करते हैं। नगरों तथा ग्रामों में पचायतों की भी व्यवस्था की गई है। स्थानीय मामले पचायतों में ही देखे जाते हैं। इस तरह जनता को राजनीतिक शिक्षा के लिये पर्याप्त अवसर प्रदान किया गया है। चीनी लोक गणतन्त्र भी धर्म निरपेक्ष राज्य है और अल्पसंख्यक जातियों के हित की रक्षा की गई है।

सामाजिक प्रगति—सामाजिक क्षेत्र में स्त्रियों की दशा में बहुत सुधार हुआ है।

अब वे आर्थिक परतन्त्रता से मुक्त हैं। अब वे पुरुषों की दासी नहीं बल्कि संगिनी हैं। कानून की दृष्टि में नर-नारी सभी बराबर हैं। अतः अब स्त्रियाँ भी सार्वजनिक कामों में हाथ बँटाती हैं और सार्वजनिक पदों पर आसीन होती हैं। अब वे सभी क्षेत्रों में दृष्टिगोचर होती हैं। साधारणतः एक विवाह करने की परम्परा स्थापित की गई है। तलाक प्राप्त करना भी आसान नहीं है। तलाक के लिए पति-पत्नी दोनों की इच्छा आवश्यक है। वेश्या-प्रथा का अन्त किया जा रहा है और उन स्त्रियों को स्वतन्त्र जीविकोपार्जन में लगाया जा रहा है।

शिक्षा—शिक्षा में भी प्रगति हो रही है। साक्षरों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही है। प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य एवं निःशुल्क कर दी गई है। उच्च शिक्षा का खर्च भी घट गया है। विद्यालयों और विद्यार्थियों की संख्या में वृद्धि होती रही है। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्त तक उच्च शिक्षण-संस्थाओं की संख्या २०० से ऊपर और इनमें पढ़ने वालों की संख्या ५ लाख तक पहुँच जाने की सम्भावना है।

वैदेशिक नीति—चीनी लोक गणतन्त्र की वैदेशिक नीति शान्तिपूर्ण है। उसे अपने आन्तरिक संगठन के लिए अवकाश एवं शान्ति की अत्यन्त आवश्यकता है। अतः किसी देश के आन्तरिक मामले में वह हस्तक्षेप करना नहीं चाहता। सोवियत रूस और पूर्वी यूरोप के जनवादी लोकतन्त्रों के साथ उसका घनिष्ट सम्बन्ध है। उसके आर्थिक विकास में रूस से बहुमूल्य सहायता मिलती रही है। भारतीय गणतन्त्र के साथ भी चीन का मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध है। दोनों गणतन्त्रों में एक-दूसरे के राजनीतिक दूत रहते हैं और सरकारी तथा गैर सरकारी शिष्टमंडलों का आदान-प्रदान हुआ है। चीन के प्रधानमन्त्री चाउ एन लाई अब तक दो बार भारत-भ्रमण कर चुके हैं। उन्होंने पंचशील के सिद्धान्तों को भी स्वीकार किया है। भारत के प्रधान मन्त्री पं० जवाहर लाल नेहरू भी चीन जा चुके हैं।

अमेरिका के साथ चीनी लोक गणतन्त्र का सम्बन्ध अच्छा नहीं है। हम कह चुके हैं कि अमेरिका ने अभी तक चीनी जनवादी सरकार को मान्यता नहीं दी है। उसी के विरोध के कारण इसे संयुक्त राष्ट्र संघ में अब तक स्थान नहीं मिल सका है। कोरिया में चीन और अमेरिका कुछ समय तक एक-दूसरे के विरुद्ध लड़ भी चुके हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ में चीन के प्रवेश का अमेरिका बराबर विरोध करता रहा है किन्तु भारत चीन के पक्ष का बराबर समर्थन करता रहा है।

(ख) जापान

भूमिका

जापान का उत्थान तथा पतन आधुनिक इतिहास में एक बहुत महत्वपूर्ण तथा

शिक्षाप्रद घटना है। इसके प्राचीन तथा मध्यकालीन इतिहास पर दृष्टिपात किया जा चुका है। यहाँ भी अनेक देशों की भाँति राजतन्त्र प्रणाली प्रचलित थी। राजा मिकाडो के नाम से प्रसिद्ध थे और यह पदवी अभी भी कायम है। राजा बहुत ही उच्च दृष्टि से देखा जाता था और ईश्वर का प्रतिनिधि समझा जाता था परन्तु वास्तविक सत्ता शोगनों के हाथ में थी। राजा के मन्त्री शोगन कहलाते थे। वे ही शासन-सूत्र के सञ्चालक थे और राजा उनके हाथों में कठपुतले की तरह थे। १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में देश में कई गृह-युद्ध हुए। सर्वत्र अशान्ति फैलने लगी। अन्त में इयेयासु नाम के एक पुरुष ने शान्ति स्थापित की। यह तोकुगावा वंश का था। उसने अपनी योग्यता से अपने देश के गौरव को बढ़ाया। इससे मुग्ध होकर १६०३ ई० में सम्राट् ने उसे शोगन नियुक्त कर दिया। उसने येदो में अपनी राजधानी स्थापित की और इसे राज-प्रासादों तथा भवनों से खूब ही सजाया। १६१७ ई० में उसकी मृत्यु हुई लेकिन इतने ही समय में उसने अपने वंश की स्थिति सुदृढ़ कर दी। १८६८ ई० तक इसी वंश के हाथ में शासन-शक्ति सुरक्षित रही और यह तोकुगावा वंश के प्रभुत्व का काल कहलाता है। इसी वंश के दीर्घकालीन शासनकाल में जापान के एकान्त-वास का प्रारम्भ हुआ था और लगभग सवा दो सौ वर्षों के पश्चात् इसका अन्त भी हुआ। इंगलैंड ने चीन का दरवाजा खोला तो अमेरिका ने जापान का।

तोकुगावा वंश का प्रभुत्व

तोकुगावा वंश के शोगनों ने अनेक प्रकार के सुधार किये। उन्होंने सर्वप्रथम अपनी स्थिति मजबूत की। उनकी राजधानी की सजावट सम्राट् की राजधानी से बढ़-चढ़ कर थी। समस्त जापान में सामन्तवादी शासन-व्यवस्था थी। सम्राट् नाम के लिए शासक था, शोगन सर्वेसर्वा थे। शोगन के बाद सामन्तवर्ग का स्थान था और सेना सामन्तों के अधीन थी। सामन्तों या सरदारों को अपने साथ बाल बच्चे रखने की मनाही थी। उनका परिवार राजधानी में ही रहता था। दुश्मनों से जागीर छीनकर अपने मित्रों को दे दी गई और विरोधियों के जागीरों के बीच में अपने समर्थकों को जागीर दे दी जाती थी। इससे विद्रोहात्मक भावना को प्रोत्साहन नहीं मिलता था। सरदारों के आपसी झगड़े को भी प्रोत्साहित किया जाता था ताकि उनमें संगठन न हो सके। सैनिकों पर कड़ा नियन्त्रण रखा जाता था। जासूसों का एक विभाग खोला गया था। फौजदारी के कानून बहुत ही कठोर थे।

देश में शान्ति रहने से व्यापार की उन्नति हुई। धन-दौलत की वृद्धि हुई और विद्या, साहित्य तथा कला-कौशल का विकास हुआ। धार्मिक क्षेत्र में भी सुधार हुए। इसाई धर्म के प्रचार पर रोक लगा दिया गया और बौद्ध धर्म के प्रचार को प्रोत्साहन मिला।

तोकुगावा वंश के शोगनों ने विदेशी सम्पर्क को प्रोत्साहित नहीं किया। इस वंश के राज्यकाल के पहले विदेशों से कुछ सम्पर्क हो चला था। यूरोप के कुछ देशों के व्यापारी तथा पादरी जापान में आने जाने लगे थे। उन्हें शोगनों का सहयोग प्राप्त होता था लेकिन जापान-निवासी विदेशियों को सदा शंका की दृष्टि से देखते थे। धीरे-धीरे वे उनकी कूटनीति से परिचित होने लगे और उनके कुकृत्यों को सुनने-समझने लगे। उन्हें यूरोप के धार्मिक तथा महत्वों व्यक्तियों के संहार का समाचार मिला। उन्होंने चार्ल्स प्रथम के प्राणदण्ड तथा स्पेनवासियों के द्वारा पेरू और मैक्सिको में किये गये अत्याचारों के सम्बन्ध में सुना। इन सभी दुर्घटनाओं से जापानियों को विदेशियों के प्रति घृणा उत्पन्न होने लगी और वे उनसे भयभीत हो गये। अतः उन्होंने १६४० ई० में विदेशियों से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। ईसाई धर्म के प्रचार पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। जापान से कोई विदेश और विदेश से कोई जापान आ-जा नहीं सकता था। जापान का द्वार बन्द हो गया। इस प्रकार जापान का एकान्तवास शुरू हुआ जो १८५३ ई० तक कायम रहा।

एकान्तवास का अन्त

जापान का एकान्तवास स्थायी नहीं रह सका। यह ठीक है कि इस युग में अनेक महत्वपूर्ण सुधार हुए किन्तु सर्वसाधारण की दशा सन्तोषजनक नहीं थी। समाज में विषमता थी। भ्रष्टाचार का भी प्राबल्य था। अतः कितने लोगों को एकान्तवास का समय प्रिय तथा लाभदायक नहीं मालूम पड़ा। उनकी दृष्टि में पहले का ही समय अच्छा था। दूसरे, जापान में उद्योग धन्धों का विकास हो रहा था और इससे व्यापार को प्रोत्साहन मिलता था परन्तु अन्य देशों से सम्बन्ध-विच्छेद व्यापार की दृष्टि से हानिकारक था। अतः व्यापारी वर्ग जापान के अकेलापन का अन्त चाहते थे। तीसरे, कई देशों के निवासी भी जापान के साथ व्यापारिक सम्बन्ध कायम करना चाहते थे। चौथे, आधुनिक युग विज्ञान का युग है। इस युग में किसी देश के लिए अकेला रहना कठिन ही नहीं असम्भव है, क्योंकि वह कभी भी प्रगति के मार्ग पर अग्रसर नहीं हो सकता।

अतः १८५३ ई० जापान के इतिहास में महत्वपूर्ण साल है। उसी वर्ष उसके एकान्तवास का अन्त हो गया, उसकी दीर्घकालीन निद्रा भंग हो गई। इस सम्बन्ध में अमेरिका ने सर्वप्रथम कदम उठाया। जापान के निकट तक अमेरिका के जहाज मछली पकड़ने के लिए आया-जाया करते थे। लेकिन जब जहाज में कुछ गड़बड़ी होती थी या खाद्य सामग्री की आवश्यकता हो जाती थी तो नाविक अफसर विवश हो अपने जहाजों को जापान के बन्दरगाहों में या आस-पास लगा देते थे, किन्तु जापानी उन्हें तंग किया करते थे। दूसरे, अमेरिका के पश्चिमी भाग का विकास हो रहा था और

प्रशान्त महासागर में उसका स्वार्थ विशेष था। अतः अमेरिका के लिए यह अत्यावश्यक था कि वह जापान के बन्दरगाहों को खोलवा दे। इसी उद्देश्य से वहाँ का जहाजी अफसर कमोडोर पेरी १८५३ ई० में जापान पहुँचा। वह अपने साथ सम्राट के लिए कुछ भेंट का सामान भी लाया था। इस वर्ष कार्य-सिद्धि नहीं हुई। जहाजों को देख कर जापानियों के होश उड़ गये और उनमें हल्ला मच गया। लेकिन जापान ने मित्रता करने के लिए अमेरिका तुल गया था। दूसरे साल पेरी जंगी जहाजों के साथ फिर जापान पहुँचा। जापान के अधिकारी अमेरिका से सन्धि करने के लिए बाध्य हुए। उन्होंने दो बन्दरगाहों को अमेरिकी व्यापार के लिए खोल दिया। यह देखकर *यूरोप के अन्य राष्ट्रों इंगलैंड, फ्रांस, रूस ने भी जापान में प्रवेश करने के लिए प्रयत्न* किया। अगले कुछ वर्षों में सभी बन्दरगाह विदेशी व्यापार के लिए खोल दिये गये। विदेशों में आने-जाने के लिए जापानियों को भी सुविधा प्रदान की गई और इससे लाभ उठाने के लिए वे प्रयत्न करने लगे।

विदेशी सम्पर्क का प्रभाव

अब यह देखना चाहिये कि विदेशी सम्पर्क का जापान की गृह नीति पर क्या प्रभाव पड़ा?

जापान की गृह-नीति पर विदेशी सम्पर्क का व्यापक प्रभाव पड़ा। इससे शोगन की *दीर्घकालीन प्रभुता का अन्त हो गया। इस समय मिकाडो नाममात्र का ही शासक* था, वास्तविक शक्ति तो शोगनों के हाथ में केन्द्रित थी। परन्तु मिकाडो का स्थान सर्वोच्च था और वह प्रजा का प्रिय पात्र था। विदेशियों से सन्धि तथा सम्पर्क स्थापित करने के लिए शोगन को उत्तरदायी ठहराया गया। इससे उसमें लोगों की श्रद्धा कम हो गई और राजा के पक्ष में लोकमत संगठित हो गया और सम्राट की शक्ति सुदृढ़ हो गई।

१८५४ ई० के पश्चात् जापान में दो दल स्थापित हो गये—एक शोगन के पक्ष में और दूसरा राजा के। राज पक्ष वालों ने विदेशी सम्पर्क का समर्थन नहीं किया और वे शोगनों के द्वारा की गई सन्धियों को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। उन्होंने जापानी बन्दरगाहों को बन्द कर देने की धमकी दी और कई जगहों में विदेशियों को मौत के घाट भी उतार दिया। पश्चिम वाले भला इस धमकी से क्योंकर डरते। उन्होंने अपने जंगी जहाजों को भेजकर गोला-बारूद के द्वारा जवाब दिया। शिमोनोसेकी की खाड़ी में गोलियाँ बरसाई गईं। मीकाडो और उसके मित्रों ने हार मान ली और उन सन्धियों को स्वीकार कर लिया जिन्हें शोगन ने विदेशियों से की थीं।

१८६७ ई० में जापान में एक अमर घटना हुई। इस वर्ष वहाँ क्रान्ति का *श्रीगणेश हुआ। एक नया सम्राट सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। इसका नाम मुत्सुहितो*

था। वह अभी नाबालिग था किन्तु बहुत ही योग्य तथा दूरदर्शी था। जापान के प्रथम राजवंश में उसका स्थान १२२वाँ था। उसने ४५ वर्षों (१८६७—१९१२) तक शासन किया। वह अपने देश में पाश्चात्य सभ्यता के प्रचार का समर्थक था, साथ ही शोगनत्व का अन्त कर मीकाडो का प्राचीन स्थान भी प्राप्त करना चाहता था। अतः उसने अन्तिम शोगन को पदत्याग करने के लिये बाध्य किया और उसके हाथ में शासन का केन्द्रीयकरण हो गया। इस तरह जापान में एक नवीन युग का पदार्पण हुआ। इस युग को जापान के इतिहास का स्वर्णयुग कहा जा सकता है।

आन्तरिक प्रगति

विभिन्न क्षेत्रों में सुधार

अब जापान का नव-निर्माण शुरू हुआ। उसने तीव्र गति से अपनी प्रगति की। उसकी प्रगति का आधार-स्तम्भ था पाश्चात्य सभ्यता। पश्चिमी प्रणाली के ढंग पर ही उसने अपना संगठन किया। जागीरदारी प्रथा का अन्त हो गया और सामन्तों ने अपने सारे अधिकारों का परित्याग कर दिया। अब उनके प्रदेशों पर राज्य का अधिकार स्थापित हो गया। किसान सामन्ती वर्ग से मुक्त हो गये। बहुत से सामन्तों को क्षति-पूर्ति के लिए रकम दी गई। भूमि की माप कराई गई और भूमि-कर की व्यवस्था की गई।

सीमेंट आदि व्यवसायों को सरकार की ओर से विशेष प्रोत्साहित किया गया। निजी व्यवसायों को भी प्रोत्साहन दिया गया।

मुद्रा का भी प्रचार हुआ और बैंकों की स्थापना हुई। १८७२ ई० में जापानी राष्ट्रीय बैंक और १० वर्ष के बाद जापान-बैंक स्थापित हुए। निजी बैंक भी स्थापित होने लगे। डाकघरों में भी बचत-बैंक[1] खोले जाने लगे।

सचार तथा परिवहन के क्षेत्र में भी सुधार हुआ। डाक तथा तार और रेलवे की व्यवस्था की गई। रेल-निर्माण का कार्य पहले तो सरकार के ही हाथ में था लेकिन कुछ दिनों के बाद गैर सरकारी कम्पनियाँ इस तरह के कार्य को अपने हाथ में लेने लगीं। यातायात के उन्नत साधनों द्वारा व्यापार तथा राष्ट्रीयता के विकास को बड़ा प्रोत्साहन मिला।

शिक्षा के क्षेत्र में आमूल परिवर्तन हुए। पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली को प्रोत्साहित किया गया। फ्रांस, जर्मनी और अमेरिका की पद्धतियों का अनुकरण हुआ। प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य कर दी गई। अँग्रेजी भाषा का प्रचार हुआ। अनेक विश्वविद्यालय स्थापित हुए। १८७१ ई० में शिक्षा विभाग खोला गया और १८७७ ई० में टोकियो विश्वविद्यालय स्थापित हुआ। विज्ञान तथा कला सम्बन्धी विविध विषयों की पढ़ाई पर जोर दिया गया। यन्त्र विद्या का भी प्रचार हुआ। शिक्षा प्रणाली में नैतिकता एवं अनुशासन की भी उपेक्षा नहीं की गई। कालान्तर में विभिन्न विषयों पर पुस्तकें भी लिखी जाने लगीं। जापान के विद्यार्थी शिक्षा-प्राप्ति के लिए विदेशों में भी भेजे जाने लगे। ग्रीगरी के तिथि-पत्र का भी उपयोग होने लगा। सूट-बूट, कोट, पैन्ट का प्रचलन हुआ। धर्म सम्बन्धी सुधार भी हुए। सबको धार्मिक स्वतन्त्रता मिल गई। अब शिन्टो धर्म राजधर्म नहीं रह गया और ईसाई धर्म के ऊपर से प्रतिबन्ध हटा लिया गया।

राजनीतिक क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण सुधार हुए। इस दिशा में जापान पर जर्मनी का अधिक प्रभाव पड़ा था। जर्मन विधान के आधार पर १८८९ ई० में एक जापानी संविधान का निर्माण हुआ। सम्राट को सर्वोच्च सत्ता का प्रतीक माना गया। राज्य का वही प्रधान रहा। अतः शासन, सेना, युद्ध, सन्धि आदि सब पर उसी का अधिकार रहा, उसी की स्वीकृति से कोई नियुक्ति हो सकती थी या कोई कानून पास हो सकता था। उसकी सहायता के लिए दो संस्थाएँ थीं—मन्त्रिमंडल और प्रिवी कौंसिल। सम्राट ही अपने मन्त्रियों को नियुक्त करता था और मन्त्रीगण उसी के प्रति उत्तरदायी थे। दो धारा सभाएँ स्थापित की गईं—कुलीन सभा (हाउस ऑफ पीयर्स) और प्रतिनिधि सभा (हाउस ऑफ रिप्रेजेंटेटिव्ज)। पहली बड़ी तथा दूसरी छोटी सभा

[1] सेविंग्स बैंक

थी। मत देने तथा सभा का सदस्य होने के लिए कुछ आर्थिक योग्यता निश्चित की गई। अतः धारा-सभाओं में सर्वसाधारण का कोई प्रतिनिधित्व नहीं था। इस तरह पश्चिमी देशों के संविधान की रूपरेखा मात्र ग्रहण की गई, वास्तविकता नहीं। अतः जापान में उत्तरदायी शासन स्थापित नहीं हुआ। सर्वसाधारण राजनीतिक अधिकारों से वंचित रहे। सम्राट की शक्ति बढ़ी, कुलीन वर्ग का प्रभाव बढ़ा। प्रथम महायुद्ध के बाद आर्थिक योग्यता हटा दी गई और सभी को बालिग मताधिकार दे दिया गया। १६४७ ई० में संविधान में महत्वपूर्ण हेर-फेर हुआ। फ्रांस तथा जर्मनी के आधार पर न्याय-विभाग में भी सुधार हुए। नागरिक तथा फौजदारी कानून सम्बन्धी नये ग्रन्थ तैयार हुए और जूरी प्रथा का प्रचलन हुआ। अब जापान ने अपने कानूनों को सब पर समान रूप से लागू करना चाहा। विदेशी पूर्वी कानूनों को बड़ा कठोर और बुरा समझते थे और इस बहाने वे अपने को इन कानूनों से बरी रखते थे। किन्तु जापान में अब इस बहाने के लिए कोई स्थान न रहा। जापान ने विषम स्थिति का अन्त कर देने के लिए विदेशी शक्तियों से अनुरोध किया। पहले तो वे आना-कानी करने लगे परन्तु इसमें तो काम चलने को था नहीं, उन्हें जापान के अनुरोध को स्वीकार करना पड़ा। सर्वप्रथम मेक्सिको के साथ सन्धि हुई और उसके बाद ब्रिटेन तथा अमेरिका के साथ। इस तरह १६वीं शताब्दी के अन्त तक जापान में विदेशियों के विदेशाधिकार का अन्त हो गया। अब जापान में स्थित सभी विदेशी जापानी कानून के अन्तर्गत आ गये। यह जापान की बहुत बड़ी सफलता थी।

सामाजिक क्षेत्र में स्त्रियों की दशा में महत्वपूर्ण सुधार हुआ। पहले वे हर तरह से पुरुषों के अधीन थीं। उनका कार्य-क्षेत्र गृह के अन्दर ही सीमित था। उन्हें पढ़ने-लिखने का अवसर नहीं प्राप्त होता था। किन्तु अब सारी बातें धीरे-धीरे बदलने लगीं। उनके लिये भी स्कूल-कालेज खोले जाने लगे। वे भी विदेशों में पढ़ने के लिये भेजी जाने लगीं। कानून के स्तर पर वे पुरुषों के बराबर हो गईं। अब वे घर से बाहर के कामों में भी सहयोग देने लगीं।

जागृत जापान का महत्त्व

इस तरह जापान ने पश्चिमी के आधार पर अपना सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक संगठन किया। राजनीति की भाँति उसकी परराष्ट्रनीति पर भी पश्चिम का प्रभाव पड़ा। उसने पाश्चात्य जगत की कूटनीति तथा साम्राज्यवाद को भी ग्रहण किया जिसका उल्लेख अगले पृष्ठों में किया जायगा। इस प्रकार बड़े ही द्रुतवेग से जापान ने पश्चिमी जामा को धारण किया और बहुत ही कम समय में अपनी उन्नति से सारे संसार को चकित कर दिया। उसके उत्थान को देखकर एशियावासी ही नहीं सारे संसार के लोग दंग रह गये। यह यूरोप का शिष्य था किन्तु प्रगति की दौड़ में वह

उनसे भी आगे निकल गया और उसने अपने गुरु को पछाड़ने में तनिक भी संकोच नहीं किया। एशिया के सम्मुख जापान ने एक अनुकरणीय उदाहरण उपस्थित किया। *दुनिया की कहानी में जापान का यह जागरण एक अद्भुत घटना है, एशिया के इतिहास में यह एक महान् अध्याय है।*

जापान के पश्चिमीकरण की सफलता के कारण

अब यह जानने की उत्सुकता होती है कि जापान ने पाश्चात्य सभ्यता को इतनी जल्दी से क्यों अपना लिया और उसके पड़ोसी देश चीन में इसकी क्यों उपेक्षा की गई ? इसका कारण स्पष्ट है। चीन की सभ्यता अति प्राचीन थी और इसके निवासियों को उस पर गर्व था। वे पाश्चात्य सभ्यता को तुच्छ समझते थे। अतः उससे कुछ ग्रहण करना नहीं चाहते थे। इसके विपरीत जापान की सभ्यता नई थी और उस पर पश्चिमीकरण का रंग चढ़ना आसान था। दूसरे, मंचू वंश के उत्तरकालीन शासन में अव्यवस्था का साम्राज्य था और इसमें यूरोपियनों ने पर्याप्त लाभ उठाया, जैसे भारतवर्ष में उत्तरकालीन मुगलों के शासन में अंग्रेजों ने लाभ उठाया था। जापान में ऐसी विषम स्थिति नहीं उत्पन्न हुई थी। तीसरे, चीन में प्रारम्भ में पादरियों तथा व्यापारियों को प्रोत्साहित किया गया था किन्तु जापान के अधिकारियों ने उन्हें इस तरह का अवसर भी प्रदान नहीं किया।

सक्रिय विदेशी नीति तथा साम्राज्यवाद

कारण

जापान में उग्र राष्ट्रीयता का विकास हुआ और यह पश्चिमीकरण का ही एक अंग था। उग्र राष्ट्रीयता ने सैन्यवाद को जन्म दिया और सैन्यवाद से साम्राज्यवाद को प्रोत्साहन मिला। *जापानी साम्राज्यवाद का पहले भी कुछ उल्लेख हो चुका है किन्तु* यहाँ इसका विस्तारपूर्वक वर्णन किया जाता है।

शोगन के समय जापान ने विदेशियों से अपमानजनक सन्धि की थी। जापान उनमें आवश्यक परिवर्तन लाने के लिए उत्सुक था और इस उद्देश्य से उसने प्रमुख राष्ट्रों से अनुरोध किया, किन्तु किसी ने उसकी सहायता नहीं की। इससे उसकी राष्ट्रीय भावना को बहुत चोट पहुँची और उसे यह अनुभव हुआ कि दुनिया में दुर्बलता भयकर पाप है और शक्ति अधिकार का स्रोत है। इसके अतिरिक्त जापान का औद्योगीकरण हो चुका था और उसे भी कच्चा माल तथा नये बाजारों की आवश्यकता थी। उसकी जनसंख्या में भी निरंतर वृद्धि हो रही थी और बढ़ती हुई आबादी के लिए निवास तथा भोजन की समस्या उत्पन्न हो रही थी। इस समस्या का समाधान

होना भी आवश्यक था। अतः जापान ने सक्रिय परराष्ट्र नीति अपनायी और सर्वप्रथम अपने पड़ोसी राज्य चीन में इसका प्रयोग किया।

चीन-जापानी युद्ध १८६४ ई०

कोरिया का एक छोटा-सा भू-भाग भौगोलिक दृष्टि से बड़ा ही महत्त्वपूर्ण रहा है। चीन, जापान तथा रूस तीनों की लोलुप दृष्टि उस पर लगी रही है। वर्तमान काल में भी यह अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्विता का अखाड़ा बना हुआ है। पाश्चात्य देश इसे साम्यवादी रूस तथा चीन के विरुद्ध मोर्चा का आधार बनाना चाहते हैं। यह पहले चीन के अधिकार में था किन्तु १८७२ ई० में जापान ने इस पर आक्रमण कर दिया। चीन से संघर्ष छिड़ गया परन्तु घनघोर युद्ध नहीं हुआ। कोरिया जापान से सन्धि के लिए बाध्य हुआ और १८७६ ई० से जापान वहाँ प्रभाव बढ़ाने लगा। जीवित रहने के लिए जापान कोरिया पर अधिकार करना आवश्यक समझता था, लेकिन चीन के लिए यह असह्य था। अतः कोरिया को ही लेकर १८६४-६५ ई० में भीषण युद्ध छिड़ गया। चीन पराजित हुआ। चीन से जापान को एक बड़ी रकम क्षतिपूर्ति के रूप में मिली और पोर्ट आर्थर, लिआयोतुङ्ग, फारमूसा द्वीप प्राप्त हुए। इस विजय से जापान की प्रतिष्ठा एवं महत्ता में वृद्धि हुई। वह यूरोप की असमान सन्धियों से मुक्त हो गया और उसकी साम्राज्यवादी प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला।

रूसी-जापानी युद्ध १६०४ ई०

अब जापान का रूस के साथ युद्ध अनिवार्य हो गया। जापान की उन्नति रूस को पसन्द नहीं थी। वह रूस के मार्ग में काँटा था। उसने फ्रांस तथा जर्मनी की सहायता से पोर्ट आर्थर तथा लिआयोतुङ्ग त्याग देने के लिए जापान को विवश कर दिया। लेकिन रूस स्वयं मचूरिया से हटना नहीं चाहता था और कोरिया पर भी अपना दाँत गड़ाये हुए था। १६०२ ई० में जापान ने इंगलैण्ड के साथ रक्षात्मक सन्धि कर ली। उसने रूस के साथ भी सन्धि करना चाहा किन्तु रूस कोरिया में जापान के प्रभाव क्षेत्र को मानने के लिए कदापि तैयार नहीं था। इसका बुरा परिणाम हुआ। रूस को अपनी शक्ति का गर्व था। आँग्ल जापानी सन्धि के समय यह तय हुआ था कि डेढ़ साल के अन्दर रूस मचूरिया से हट जायगा। लेकिन रूस ने अपनी प्रतिज्ञा का पालन नहीं किया। अतः १६०४ ई० में रूस तथा जापान के बीच युद्ध छिड़ गया। जापान ने रूस के गर्व को चूर-चूर कर दिया। रूस को आत्मसमर्पण करना पड़ा। पोर्टस्माउथ की सन्धि हुई। रूस ने कोरिया में जापान के स्वार्थों को मान लिया और लिआयोतुङ्ग जापान को पुनः मिल गया। वह मचूरिया छोड़ने के लिए सहमत हुआ। इससे रूस की प्रतिष्ठा धूल में मिल गई और ज़ार के प्रति असन्तोष फैल गया। अन्तर्राष्ट्रीय

क्षेत्र में जापान की मर्यादा बढ़ गई और वह प्रथम कोटि का राष्ट्र बन गया। सारे एशिया में नवीन स्फूर्ति तथा चेतना का बड़े वेग से प्रादुर्भाव हुआ। जापान में सैन्यवाद को और प्रोत्साहन मिला और उसकी साम्राज्यवादी भूख अधिक तीव्र हो गई।

अब जापान की महत्वाकांक्षा में दिन दूनी रात चौगुनी वृद्धि होने लगी। वह सुदूर पूर्व में विदेशियों का शक्तिशाली प्रतिद्वन्द्वी बन गया। प्रशान्त-क्षेत्र का सन्तुलन ही पलट गया। इंगलैंड, रूस तथा फ्रांस ने जापान के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किया। अमेरिका भी जापान का विरोधी बनना नहीं चाहता था। इस तरह अनुकूल वातावरण पाकर १९०५ ई० में जापान ने कोरिया में अपना संरक्षण स्थापित कर लिया और पाँच वर्ष के बाद इसे जापानी साम्राज्य का अंग बना दिया गया। १९१० ई० में ही मंचूरिया में जापान तथा रूस के बीच प्रभाव-क्षेत्रों का विभाजन हुआ।

१९१४ ई० में प्रथम महायुद्ध शुरू हुआ और साम्राज्य-विस्तार के लिए जापान को स्वर्णावसर मिल गया। उसने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया। चीन के भीतर जर्मनी के जो उपनिवेश थे उन पर जापान ने अधिकार कर लिया। इसी समय उसने चीन के सामने इक्कीस माँगें उपस्थित कीं और ४८ घंटे के अन्दर उसने उत्तर माँगा। उन्हें स्वीकार करने से चीन जापान का उपनिवेश बन जाता। चीन को पाश्चात्य राष्ट्रों की सहानुभूति प्राप्त थी। फिर भी उसने कुछ शर्तों को स्वीकार कर लिया। अब अधिकांश चीन पर जापान का प्रभाव हो गया और मंचूरिया भी उसके प्रभाव-क्षेत्र में आ गया। उसने चीन के बन्दरगाहों को सभी विदेशियों के लिए बन्द कर दिया और चीन के व्यापार पर अधिकार स्थापित करना चाहा। इस तरह जापान ने प्रशान्त महासागर में भी अपना पैर जमा लिया। अब जापान निस्सन्देह एक महान राष्ट्र बन गया। उसकी महानता को अन्तर्राष्ट्रीय स्वीकृति भी प्राप्त हो गई। उसने वर्साय के शान्ति-सम्मेलन में प्रमुख विजेताओं के साथ भाग लिया। उसे राष्ट्र-संघ का सदस्य बना दिया गया और परिषद् में भी उसे स्थायी स्थान प्राप्त हो गया। इस तरह मित्र-राष्ट्रों का युद्ध में साथ देने से जापान को तो खूब लाभ हुआ किन्तु बेचारे चीन को कुछ नहीं मिला, यद्यपि मित्र-राष्ट्रों का साथ पकड़े रहा।

वाशिंगटन सम्मेलन १९२१-२२ ई०

लेकिन पाश्चात्य राष्ट्र जापान की शक्ति में वृद्धि होने से कुछ सशंकित और भयभीत भी हो रहे थे। अतः उसकी प्रगति पर कुछ नियंत्रण लगाना उचित एवं आवश्यक समझा। इस प्रकार १९२१ ई० में वाशिंगटन में एक सम्मेलन बुलाया गया। ग्रेट ब्रिटेन, अमेरिका, जापान, फ्रांस तथा इटली के बीच एक समझौता हुआ। वे

प्रशान्त-क्षेत्र में एक-दूसरे के विरुद्ध हानिकारक कार्य न करने के लिये वादा किये। सभी अपने जहाजों की संख्या घाटा देने के लिए सहमत हुए। ग्रेट ब्रिटेन, अमेरिका और जापान की जल-सेना क्रमशः ५ : ५ : ३ के अनुपात में रखने के लिए निश्चित हुआ। फ्रांस तथा इटली की जलशक्ति जापान से कम और बराबर-बराबर अनुपात में निर्धारित हुई। ६ राष्ट्रों के बीच भी एक और समझौता हुआ। इसके अनुसार चीन में मुक्त द्वार की नीति पुनः दुहराई गई। चीन का द्वार सभी राष्ट्रों के व्यापार के लिए खुला रखने का निश्चय हुआ और सबों ने उसकी प्रादेशिक सुरक्षा का बीड़ा उठाया।

इस तरह पाश्चात्य राष्ट्रों का उद्देश्य एक सीमा के अन्दर पूरा हुआ। जापान की बढ़ती हुई शक्ति पर नियंत्रण लगा दिया गया। उसकी नौ सेना अमेरिका तथा इंगलैंड की अपेक्षा कम निश्चित हुई। चीन में भी उसके विस्तार के मार्ग में रुकावट डाल दी गई। तात्कालिक परिणाम जापान के लिए हानिकारक था किन्तु यह परिणाम स्थायी नहीं रहा। जापान इस अपमान के कड़वे घूँट को सहज ही नहीं पी सकता था। वह तो सारे चीन को आत्मसात् करने के लिए व्यग्र था। अवसर की खोज थी। अवसर भी मिला। जापान में उग्रराष्ट्रवाद, सैनिकवाद एवं पूँजीवाद का सवेग विकास हो रहा था। इन सभी वादों ने साम्राज्यवाद को प्रोत्साहित किया। इटली के फासिस्टवाद और जर्मनी के नाजीवाद से भी जापान को बहुत प्रोत्साहन मिला। अतः जापान साम्राज्यवाद के मार्ग पर बहुत ही तीव्रगति से अग्रसर हुआ।

जापानी सरकार अपनी शक्ति के लिए सैनिकों पर ही निर्भर थी। अतः उन्हें खुश रखने के लिए आक्रमण एवं युद्ध आवश्यक था। इससे घरेलू त्रुटियों की ओर जनता का भी ध्यान केन्द्रित नहीं होता। अतः सरकार ने आक्रामक-नीति का समर्थन किया। इस तरह १९३१-३२ ई० में जापान ने दक्षिणी मंचूरिया को हड़प लिया। यह उसके साम्राज्य का अंग बन गया और अब मंचूको कहलाने लगा। गद्दी पर मंचू शासक पूई को बैठाया गया जिसे चीन से १९१२ ई० में निकाल दिया गया था। यह जापान की अनुगामी सरकार थी।

राष्ट्र संघ ने मंचूरिया पर जापानी हमले की जाँच के लिये एक कमीशन नियुक्त किया जिसका अध्यक्ष लिटन था। किन्तु जापान ने संघ को अँगूठा दिखा दिया और १९३३ ई० में त्याग-पत्र दे डाला। उसने चीन के कुछ और भू-भागों पर हाथ साफ किया। चीन की राष्ट्रीय सरकार जापान का विरोध करती रही। १९३६ ई० में जापान और जर्मनी में एक साम्राज्यवाद-विरोधी समझौता हुआ। दूसरे ही साल इटली भी इसमें शामिल हो गया और जापान ने नियमित रूप से घोषणा किये बिना ही चीन

के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। जापान ने नानकिंग भी अधिकृत कर लिया। वह बढ़ता
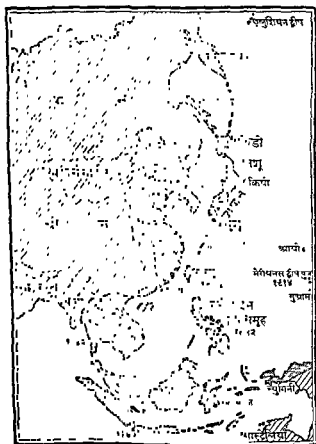
चित्र २६—जापानी साम्राज्य

रहा। चीन के राष्ट्रवादी तथा साम्यवादी दोनों ही उसका विरोध करने के लिए एक साथ जुट पड़े। तब तक सितम्बर १६३६ ई० में द्वितीय महायुद्ध शुरू हो गया।

यह महायुद्ध शुरू होने के ठीक एक वर्ष बाद जापान, जर्मनी तथा इटली में एक सैनिक समझौता हुआ। जापान एशिया में खासकर पूर्वी एशिया में अपना पूरा आधिपत्य जमाना चाहता था। उसने युद्ध में धुरी राष्ट्रों का पक्ष लिया। दिसम्बर १६४१ ई० में जापान ने अमेरिका के पर्लहार्बर पर धावा बोल दिया। इसके शीघ्र

ही बाद अमेरिका भी मित्र राष्ट्रों की ओर से युद्ध में कूद पड़ा। जापान की अद्भुत प्रगति हो रही थी। पूर्वी एशिया में उसकी तूती बोल रही थी। मलाया, बर्मा, हिन्द चीन, हिन्देशिया आदि पर उसका अधिकार हो चुका था। भारत पर भी जापानी हमले की आशंका हो रही थी किन्तु उसकी विजय अस्थायी सिद्ध हुई।

जापान का पतन

युद्ध के उत्तर काल में जापान की स्थिति खराब होने लगी थी। मई १९४५ ई० को जर्मनी ने आत्मसमर्पण कर दिया। तत्पश्चात् मित्र राष्ट्रों ने जापान के जीते हुए द्वीपों पर अधिकार कर लिया लेकिन जापान अभी भी युद्ध से मुँह मोड़ने के लिए तैयार नहीं था। वह लड़ता ही गया। अगस्त का महीना था। इसी समय अमेरिका ने एक नये शस्त्र का सर्वप्रथम प्रयोग किया। वह शस्त्र है भीषण तथा भयकर परमाणु बम। दो बमों का प्रयोग हुआ जिनके द्वारा हिरोशिमा तथा नागासाकी दो नगरों का सर्वनाश हुआ। अब जापान हथियार डाल देने के लिए बाध्य हुआ। इसके सारे साम्राज्य का नाश और इसकी शक्ति का पूर्ण पतन हो गया। जापान का शासन-प्रबन्ध अमेरिकी सेनाध्यक्ष डगलस मैक आर्थर के हाथ में सौंप दिया गया। वहाँ अमेरिकी सेना रहने लगी। १९५१ ई० में अमेरिका ने जापान के साथ सन्धि कर अपने प्रभाव को सुदृढ़ बना लिया। उसी की देख-रेख में उसी समय से जापान में पुन-निर्माण का कार्य हो रहा है। मित्र राष्ट्र जापान को चीनी लोक गणतंत्र के विरोध में एक सबल राष्ट्र बनाना चाहते हैं। अमेरिका इसके लिये अधिक प्रयत्नशील है। उसकी नीति कहाँ तक सफल होगी—यह तो भविष्य ही बतलायेगा। १९५१ ई० में ही वहाँ एक नवीन संविधान लागू हुआ जिसके द्वारा उत्तरदायी शासन की स्थापना हुई। अब सम्राट की स्थिति वैधानिक हो गई।

अध्याय १७

एशियाई देशों का जागरण—ईरान तथा अफगानिस्तान

(क) ईरान

क्रान्ति का सूत्रपात

यह पहले ही कहा जा चुका है कि १७६४ ई० में ईरान में काजर राजवंश की स्थापना हुई जिसने १९२५ ई० तक राज्य किया। इसी वंश के समय में ईरान ब्रिटिश तथा रूसी साम्राज्यवाद का अखाड़ा बन गया। दोनों ही उस पर अपना दांत लगाये हुए थे। २०वीं सदी के प्रारम्भ में मिट्टी के तेल की खानें मिलीं। अब ब्रिटेन तथा रूस के बीच प्रतिद्वन्द्विता और अधिक बढ़ी। तेल की खानों में कार्य करने के लिए एक ऐंग्लो पर्शियन आयल कम्पनी स्थापित हुई। ब्रिटेन और रूस ईरान को दुर्बल बनाने और उसका आर्थिक शोषण करने के लिए सतत् प्रयत्न करने लगे। सम्राट भी कमजोर और व्यसनी थे। देश की दशा दयनीय हो रही थी। अतः १९०५ ई० में एक राष्ट्रीय दल की स्थापना हुई। यह विदेशियों के हस्तक्षेप तथा सम्राट की स्वेच्छाचारिता पर रोक लगाना चाहता था। यह देश में लोक-सत्तात्मक शासन कायम करना चाहता था। इसी समय रूस और जापान में युद्ध हुआ जिसमें जापान विजयी हुआ। इस घटना से राष्ट्रीय दल को बहुत प्रोत्साहन मिला। १९०६ ई० में एक शान्तिपूर्ण क्रान्ति हुई। शाह ने बाध्य होकर लोक-सत्तात्मक विधान स्वीकार किया। एक व्यवस्थापिका सभा का निर्माण हुआ जिसमें १३६ निर्वाचित सदस्य थे। यह 'मजलिस' के नाम से विख्यात है। शासन में शाह को सहायता देने के लिए एक कैबिनेट का निर्माण हुआ।

शुरू में तो कुछ ऐसा लगा कि १९०६ ई० की क्रान्ति सफल हो गई किन्तु यह बात नहीं हुई। शाह ने लाचारीवश विधान स्वीकार किया था। अतः वह इसकी उपेक्षा भी करने लगा। मजलिस के साथ उसका संघर्ष हो गया और उसने मजलिस भवन पर बम तक गिरा दिया। ईरान की सेना तथा जनता मजलिस के पक्ष में थी। शाह मजलिस का अन्त तो करना चाहता ही था, रूस तथा ब्रिटेन भी यही चाहते थे। राष्ट्रवादी मजलिस की सफलता उनके लिए घातक सिद्ध होती। अतः रूसी तथा ब्रिटिश सेना ने शाह को सहायता की। ब्रिटिश सरकार ने हिन्दुस्तान से अपनी सेना ईरान भेजी थी। विदेशियों के हस्तक्षेप के कारण मजलिस कुछ न कर सकी। अन्त में

अपनी आर्थिक दशा सुधारने के लिए राष्ट्रवादियों ने अमेरिका से सहायता माँगी। १६११ ई० में मोर्गनशुस्तर नाम का एक योग्य अर्थशास्त्री ईरान आया। लेकिन ब्रिटेन तथा रूस की कुचेष्टाओं के कारण वह भी सफल नहीं हुआ और ईरान छोड़ देने के लिए बाध्य हुआ।

ईरान १६१४-२५ ई०

१६१४ ई० में प्रथम महायुद्ध शुरू हुआ। इस समय तक ईरान की हालत बहुत खराब हो चुकी थी। १६०७ ई० में ब्रिटेन और रूस ने इसे अपने-अपने प्रभाव-क्षेत्रों में बाँट लिया था। उत्तरी भाग रूसियों और दक्षिणी भाग अंगरेजों के अधिकार में थे। वे इसे अपने साम्राज्य के गर्भ में ले लेने के लिए प्रयत्नशील थे। किन्तु महायुद्ध ने इसकी स्वतन्त्रता बचा ली। युद्ध में ईरान ने अपनी तटस्थता घोषित की। लेकिन वह तो एक दुर्बल राज्य था। अतः किसी ने उसकी तटस्थता की नीति का सम्मान नहीं किया। उसकी भूमि पर विदेशी सेनाएँ युद्ध कर रहीं थीं और फारस चुप था। जब १६१७ ई० में रूस में क्रान्ति हुई तो रूसी सेनाएँ फारस से हट गईं। किन्तु अंगरेजों ने उत्तरी भाग पर भी अधिकार कर लिया और फारस को अपने साम्राज्य का अंग बना लेना चाहा। लेकिन रूस में बोलशेविक सरकार की स्थापना तथा तुर्की में कमालपाशा की सफलता के कारण इंगलैंड का मनोरथ पूरा नहीं हो सका। दोनों ही ईरान के मामले में हस्तक्षेप करना नहीं चाहते थे। रूस ने तो फारस की बहुत बड़ी सहायता भी की। १६२१ ई० में दोनों में एक सन्धि हुई। रूस ने फारस-स्थित अपने सभी स्वार्थों को तिलांजलि दे दी। फारस में रूस का जो कुछ था सो फारस को मिल गया। १६२० ई० में पर्शिया राष्ट्रसंघ का सदस्य भी हो गया। दूसरे ही साल ब्रिटिश सेना फारस छोड़ देने के लिए विवश हुई और कितने ब्रिटिश अफसर भी देश से निकाल दिये गये। दक्षिण के अतिरिक्त उत्तर में भी अँगरेजों ने तेल के सम्बन्ध में कुछ नई सुविधाएँ प्राप्त कर ली थीं। इन सुविधाओं को भी छीन लिया गया।

रजाशाह पहलवी (१६२५-४१ ई०)

सम्भव ईरान के प्राचीन राजवंश (पहलवी) से स्थापित किया और स्वयं रजाशाह पहलवी के नाम से विख्यात हुआ।

सुधार की प्रगति

रजाशाह उदारवादी शासक था। उसके शासनकाल में राष्ट्रीयता की विशेष प्रगति हुई। अनेक क्षेत्रों में महत्वपूर्ण सुधार हुए। उसने तुर्की के कमालपाशा की भांति ईरान को आधुनिक देश बनाने का भरपूर प्रयत्न किया। उसने लोक-सतात्मक प्रणाली की नींव दृढ़ की और अपने यहाँ से विदेशियों को भगाने की चेष्टा की।

पाश्चात्य ढंग पर सैनिक संगठन की व्यवस्था हुई। यातायात के साधन उन्नत किये गये। रेलों का निर्माण हुआ, उद्योग-धन्धों का विकास हुआ, कल कारखाने खोले जाने लगे। एक राष्ट्रीय बैंक की स्थापना हुई और बजट के घाटा को क्रमशः पूरा कर लिया गया। हवाई अड्डे बने और फारस की खाड़ी से होकर कराची तथा भारत के लिए हवाई जहाज उड़ने लगे। फारस की खाड़ी में जहाज आने लगे। राष्ट्रीय सरकार ने विदेशी व्यापार पर अधिकार किया और फारस में विदेशियों के लिए कृषि के हेतु जमीन खरीदना रोक दिया गया। इन्डो-यूरोपियन कम्पनी के हाथ से तार छीन लिया गया। तेल के क्षेत्र में भी सरकार ने कम्पनी से विशेष सुविधा प्राप्त करनी चाही। अतः १९३३ ई० में *एक नयी सुलह हुई जो फारस सरकार के लिए अधिक लाभदायक* थी। १९३५ ई० में फारस का नाम ईरान में परिवर्तित हो गया।

आधुनिक ढङ्ग की शिक्षा की व्यवस्था हुई। स्कूल-कालेज खोले गये। स्त्रियों की *स्थिति में सुधार हुआ। उनकी भी शिक्षा का प्रबन्ध हुआ। पर्दा पर प्रतिबंध लगा* और पाश्चात्य वेष-भूषा को प्रोत्साहित किया गया। शिक्षा के प्रचार के साथ फारस-वासियों की अपनी प्राचीन संस्कृति में अभिरुचि बढ़ी और इस क्षेत्र में विद्वान् अनु-सन्धान का कार्य करने लगे। प्रसिद्ध कवि फिरदौसी के कब्र का नव-निर्माण हुआ।

न्याय प्रणाली में भी परिवर्तन हुआ। फ्रांस के आधार पर एक नई न्याय-व्यवस्था कायम की गई। असमान सन्धियों का अन्त कर दिया गया। अब सभी विदेशियों पर भी फारस के कानून लागू होने लगे।

द्वितीय महायुद्ध के समय रजाशाह ने अपने देश को तटस्थ रखना चाहा किन्तु इंगलैंड तथा रूस को यह स्वीकृत नहीं था। उन्होंने ईरान में हस्तक्षेप किया और उनके कुचक्रों के कारण १९४१ ई० में रजाशाह गद्दी छोड़ देने के लिए बाध्य हुआ। उसका पुत्र मुहम्मद रजा सिंहासनारूढ़ हुआ। दूसरे महायुद्ध का अन्त होने पर ईरान में इंगलैंड और अमेरिका का प्रभाव बढ़ा। परन्तु कुछ समय बाद ईरान की सरकार

और ऐंग्लो-ईरानियन आयल कम्पनी के बीच मतभेद शुरू हो गया। डॉ० मोसादीक़ के प्रधान मन्त्रित्व में मतभेद ने संघर्ष का रूप ग्रहण कर लिया। ईरानी सरकार तेल व्यवसाय का राष्ट्रीयकरण करना चाहती थी। किन्तु अंगरेजों को यह बात पसन्द नहीं थी। सरकार और कम्पनी में खुल्लम-खुल्ला लड़ाई छिड़ गई और कम्पनी तेल क्षेत्र को छोड़ने के लिए बाध्य हुई। कई महीने समझौते की बात चलती रही किन्तु कोई परिणाम नहीं निकला। अक्टूबर १६५२ ई० में ईरान ने ब्रिटेन के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध-विच्छेद करने की भी घोषणा कर दी।

वैदेशिक नीति

वैदेशिक नीति में ईरान अन्य राज्यों से मित्रता कायम रखना चाहता था। फारसी सरकार ने ईराक के नये राज्य को स्वीकार किया और वहाँ के राजा फैजल फारस में भ्रमण करने आये। तुर्की के साथ सीमा सम्बन्धी झगड़े का अन्त कर दिया गया। १६३७ ई० में अफ़ग़ानिस्तान, ईराक तथा तुर्की के साथ एक अनाक्रमणात्मक सन्धि हुई और इन चार राष्ट्रों के गुट को पूर्वी गुट कहा जाने लगा।

(ख) अफ़ग़ानिस्तान

भूमिका

यह देखा जा चुका है कि ईरान की भाँति अफ़ग़ानिस्तान भी रूस तथा इंगलैण्ड के बीच प्रतिद्वन्द्विता का अखाड़ा बना हुआ था। १६०७ ई० में इस देश के बारे में भी दोनों में समझौता हुआ था। अंग्रेजों ने वहाँ अपनी प्रभुता स्थापित कर ली थी। इस तरह २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक अफ़ग़ानिस्तान पर साम्राज्यवाद का जाल बिछ चुका था और वहाँ राजनीतिक चेतना का अभाव था। अमीर की सेना सुसंगठित नहीं थी और उसके दरबार में एक अंग्रेज प्रतिनिधि रहने लगा था। देश में अव्यवस्था थी। षड्यन्त्र और रक्तपात की प्रधानता थी। लेकिन वर्त्तमान शताब्दी में एशिया में क्रान्ति और सुधार की जो लहर प्रवाहित हुई उससे अफ़ग़ानिस्तान भी अछूता नहीं रहा।

अमानुल्ला और अफ़ग़ान-स्वतन्त्रता

१६वीं सदी के अन्त में अब्दुर्रहमान (१८८०-१६०१ ई०) अफ़ग़ानिस्तान के अमीर थे। अफ़ग़ानों में भी राष्ट्रीयता की भावना उदित होने लगी थी। अमीर ने अपने देश का नव-निर्माण करना चाहा। इस उद्देश्य से उसने सैनिकों को सुसंगठित किया लेकिन शीघ्र ही उसकी मृत्यु हो गई। उसके मरने पर हबीबुल्ला (१६०१-१६ ई०) अमीर हुए। नये अमीर ने भी सेना को शिक्षित बनाने का प्रयत्न किया लेकिन

वह अंग्रेजों का पक्षपाती था। अतः १६१६ ई० में उसकी हत्या कर डाली गई तत्पश्चात् उसका भाई अमीर बना। किन्तु वह शीघ्र ही पदच्युत कर दिया गया। हबीबुल्ला का पुत्र अमानुल्ला गद्दी पर बैठा।

अफगानिस्तान के इतिहास में अमानुल्ला का शासन (१६१६-२६ ई०) बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। वह उदारवादी तथा स्वतन्त्र विचार का शासक था। उसमें देश-भक्ति की भावना थी। उसकी पत्नी का भी दृष्टिकोण व्यापक था। वह भी उदारवादी थी। यदि अमीर को अफगानिस्तान का पीटर महान् कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं। पीटर सर्वप्रथम शासक था जिसने १८वीं सदी में रूस को पाश्चात्य सभ्यता का जामा पहनाने का भरपूर प्रयत्न किया। प्रथम महायुद्ध के समय तक अफगानिस्तान मध्य-कालीन राज्य के जैसा था। वहाँ अमीर का मनमाना शासन था और विदेशी राष्ट्र साम्राज्यवादी खेल खेल रहे थे। वहाँ न तो कोई विधान था और न लोकसत्ता थी। अमानुल्ला के राज्याभिषेक के साथ सुधार के युग का प्रादुर्भाव हुआ और राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में अफगानिस्तान की ख्याति बढ़ गई।

यों तो अनेक क्षेत्रों में सुधार हुए, किन्तु जो वैधानिक सुधार हुआ वह विशेष उल्लेखनीय है। १६२३ ई० में अमीर ने एक विधान स्वीकार किया। यह तुर्की के विधान के आधार पर निर्मित हुआ था। अमीर कार्यकारणी का प्रधान था और उसके अधिकार अभी भी विस्तृत थे। लेकिन विधान की स्वीकृति ही प्रगति की सूचक थी। एक धारा सभा (कौंसिल ऑफ स्टेट) की व्यवस्था की गई जिसके आधे सदस्य मनो-नीत और आधे निर्वाचित थे। इसके बाद अन्य सुधार हुए। शिक्षा में परिवर्त्तन हुआ, पर्दा प्रथा उठाने की चेष्टा की गई, सड़कों का निर्माण हुआ और वाणिज्य-व्यवसाय को प्रोत्साहन मिला। सेनाओं का पुनर्संगठन हुआ और अफगान विद्यार्थी विदेशों में भेजे जाने लगे। १६२६ ई० में अमीर ने राजा की पदवी धारण की। राज्याभिषेक होते ही अमीर ने भारत पर चढ़ाई करने के लिए अफगानों को प्रोत्साहित किया। इतना ही नहीं, उसने अंग्रेजी शासन के विरुद्ध बगावत करने के लिए भारत के मुसलमानों को भी बढ़ावा दिया। ब्रिटिश सरकार अफगानिस्तान से सम्बन्ध करने के लिए बाध्य हुई। इसके द्वारा उसने अफगानिस्तान की पूर्ण स्वतन्त्रता स्वीकार कर ली। इसे स्वतन्त्र विदेशी नीति भी अनुसरण करने का आदेश दे दिया। अमीर ने इस्लामी राष्ट्रों के साथ सद्भावना स्थापित की। इस उद्देश्य से प्रेरित होकर ईरान तथा तुर्की से मैत्रीपूर्ण सन्धि की। सोवियत रूस से भी ऐसी सन्धि की गई थी। १६२८ ई० में राजा सपत्नीक यूरोप भ्रमण के लिए चला और वहाँ के सभी प्रमुख देशों की राजधानियों में गया। उसने तुर्की, ईरान तथा भारत में भी यात्रा की। इन यात्राओं

के द्वारा वह विदेशियों से सम्पर्क और मित्रता स्थापित करना चाहता था। जब वह विदेशों में सैर कर रहा था उसी समय देश में उसके विरोधियों को मौका मिला। पिछड़े हुए देश में तीव्र गति से क्रांतिकारी सुधार करना खतरे से खाली नहीं रहता। उसके सुधार लोकप्रिय नहीं हुए। कट्टर धर्माधिकारी उससे असन्तुष्ट हो गये थे। अतः उसकी अनुपस्थिति में विरोधी पक्ष का संगठन हुआ और १९२९ ई० में जब वह लौटा तो उसे गद्दी छोड़ देने के लिए बाध्य होना पड़ा।

नादिरशाह और मुहम्मद जाहिरशाह

बच्चा सक्का बागियों का नेता था। १९२९ ई० में उसी के हाथ में शासन-सूत्र आया किन्तु वह दीर्घकाल तक गद्दी पर नहीं रह सका। उसे गद्दी से उतार कर नादिर खाँ नामक व्यक्ति पदारूढ़ हुआ। वह अमानुल्ला के ही दल का व्यक्ति था, किन्तु अँग्रेजों की ओर विशेष झुका हुआ था। गद्दी पर बैठने के बाद उसने शाह की उपाधि ली और ४ वर्षों (१९२९-३३ ई०) तक शासन किया। उसने सुधार क्रम को जारी रखा। १९३२ ई० में पुराने विधान में परिवर्तन हुआ और दो धारा सभाएँ—बड़ी तथा छोटी स्थापित हुईं। लेकिन उसके सुधारों में उग्रवादिता नहीं थी। १९३३ ई० में उसका भी बध कर डाला गया और उसका पुत्र मुहम्मद जाहिरशाह सिंहासनारूढ़ हुआ। इसने भी सुधार की नीति जारी रखी। अपने देश की रक्षा के हेतु इसने तुर्की, ईराक तथा ईरान के साथ मिलकर एक सशक्त संघ स्थापित किया।

अफगानिस्तान और भारत

प्राचीन काल में अफगानिस्तान का अधिकांश भाग भारत में ही सम्मिलित था। कन्दहार भारतीय साम्राज्य का ही अंग था और वह गंधार के नाम से प्रसिद्ध था। अतः अफगानिस्तान से भारत का पुराना सम्बन्ध रहा है। भारतीय स्वतन्त्रता प्राप्ति से अफगानों में भी उत्साह का सचार हो गया है। दोनों देशों का पुराना सम्बन्ध पुनः स्थापित करने का प्रयत्न हो रहा है। भारत का अफगानिस्तान में और अफगानिस्तान का भारत में दूतावास स्थापित है और १९४९ ई० में दोनों के बीच व्यापारिक सम्बन्ध हुआ।

ईरान, पाकिस्तान तथा रूस में भी अफगानिस्तान के दूतावास स्थापित हैं। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में यह शान्ति का समर्थक है। अतः महान राष्ट्रों के गुट से अलग है।

अध्याय १८

अहिंसा का प्रयोग-स्थल—भारतवर्ष

भूमिका

वर्तमान युग उथल-पुथल, चहल पहल और अस्त-व्यस्तता का युग है। सर्वत्र चंचलता है और प्रगति की दौड़ हो रही है। सारे विश्व में ही यह नाटक चल रहा है। भारतवर्ष भी विश्व का एक भाग है। अतः यह विश्वव्यापी घटनाओं से कैसे अछूता बच सकता है। अशोक की मृत्यु के बाद से ही भारत की राजनीतिक एकता जाती रही थी। ८वीं शताब्दी में इस देश पर मुसलमानों का आक्रमण शुरू हो गया और १३वीं शताब्दी के प्रारम्भ में उन्होंने यहाँ अपना शासन स्थापित कर लिया। १६वीं शताब्दी के प्रारम्भ में मुगल आये और दो शताब्दियों तक यहाँ इनकी तूती बोलती रही। १८वीं शताब्दी में भारत की दशा दयनीय थी। इसे कई रोगों ने ग्रस्त कर लिया था। प्रत्येक दिशा में प्रगति रुक गई थी और सर्वत्र सुस्ती तथा भ्रष्टाचार का साम्राज्य फैल रहा था। शारीरिक तथा मानसिक दोनों दृष्टिकोणों से भारतीय साम्राज्य निःशक्त हो रहा था। *अब मुगलों का सौभाग्य-सूर्य अस्त हो रहा था।* यहाँ की भूमि पर फ्रांसीसी तथा अँग्रेज लड़ रहे थे और अपना-अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए एक-दूसरे का क्रूरतापूर्वक सिर तोड़ रहे थे। अँग्रेजों को विजयश्री प्राप्त हुई और उन्होंने भारत पर अपना आधिपत्य स्थापित किया जो १७५७ से १९४७ ई० तक अक्षुण्ण बना रहा। लेकिन यह स्मरण रखना चाहिए कि अँग्रेजी शासन से भारत *की केवल बुराई ही नहीं हुई, कुछ लाभ भी हुए। यद्यपि भारत राजनीतिक परतन्त्रता* की बेड़ी में जकड़ा हुआ था तो भी १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ से इसकी कई दिशाओं में उन्नति होने लगी। इसे आधुनिक भारतीय पुनरुत्थान का युग कहते हैं। भारतीयों का राजनीतिक जागरण भी इसी पुनरुत्थान का एक अंग मात्र है। इन सबका परिणाम यह हुआ कि भारत ने १९४७ ई० में अँग्रेजों से अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली। इस *स्वतन्त्रता-प्राप्ति का साधन था अहिंसा, जिसके प्रवर्तक थे युगपुरुष महात्मा गांधी।* दुनिया की राजनीति में यह एक नया प्रयोग था, नई साधना थी। २०वीं शताब्दी में जैसे रूस साम्यवाद का प्रयोग स्थल है वैसे ही भारत अहिंसा का प्रयोग-स्थल रहा है। अतीत में बहुत से सन्तों तथा साधुओं ने धार्मिक और नैतिक क्षेत्र में अहिंसा का प्रचार किया है, किन्तु सामाजिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में महात्मा गांधी ही उसके सर्वप्रथम प्रचारक हैं।

(क) १८५७ ई० का सशस्त्र विद्रोह

कारण

१७५७ ई० में प्लासी-विजय के साथ भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की नींव पड़ी और १८५७ ई० तक उस नींव पर साम्राज्य का विशाल महल खड़ा हो गया। लगभग सारा भारत अंग्रेजी आधिपत्य में आ गया। किन्तु इस काल में भारतीयों ने स्वेच्छापूर्वक अंग्रेजों के हाथ में आत्मसमर्पण नहीं किया। परिस्थिति तथा अपनी विविध त्रुटियों से ही बाध्य होकर वे अंग्रेजों के चंगुल में फँसे। प्रारंभ से ही भारतवासी ब्रिटिश शासन से असन्तुष्ट थे और वे उसके विरुद्ध विद्रोह भी करने लगे थे। सर्वप्रथम मीर कासिम ने ही अंग्रेजों का घोर विरोध किया। मैसूर के हैदरअली और टीपू सुल्तान ने भी उसके पद-चिह्नों का अनुसरण किया और वे आजीवन अंग्रेजों से लड़ते रहे। अन्य लोगों ने भी अंग्रेजों से युद्ध किया। १९वीं सदी के आरंभ में तथाकथित ठगों और पिंडारियों ने लूट-पाट, मार-काट के द्वारा ब्रिटिश भारत में अराजकता फैलाने का प्रयत्न किया। लार्ड हेस्टिंग्स को उन्हें दबाने के लिए बड़ा ही कठोर परिश्रम करना पड़ा था। मुसलमानों का वहाबी आन्दोलन भी बहुत कुछ ब्रिटिश विरोधी था। इस तरह १८५७ ई० के पहले भी छिट-पुट आन्दोलन होते रहे थे। किन्तु ये आन्दोलन राष्ट्रीय भावना या व्यापक सार्वजनिक उद्देश्य से प्रभावित नहीं थे। ये हिंसात्मक भी थे। अतः ब्रिटिश सरकार ने अपने श्रेष्ठ पाशविक बल से उन्हें दबा डाला।

१८५७ ई० में अंग्रेजी शासन के विरुद्ध एक व्यापक आन्दोलन का विस्फोट हो गया। इसके कई कारण थे। राजनीतिक दृष्टि से अंग्रेजों ने भारत को परतन्त्रता की बेड़ी में बाँध डाला और इसका हर तरह से शोषण होने लगा। किसी न किसी बहाने बहुत से राजाओं के राज्य छीन लिये गये और कितनों का पेंशन बन्द कर दिया गया। आर्थिक दृष्टि से भी देश को भरपूर चूसा जाने लगा। अंग्रेजी शिक्षा, ईसाई धर्म और वैज्ञानिक साधनों के प्रचार तथा सामाजिक सुधार से सर्वसाधारण को भय होने लगा कि उन्हें धर्मच्युत करने की कोशिश हो रही है। यह भय सैनिकों में भी फैल गया जब वे समुद्र पार विदेशों में युद्ध करने के लिये भेजे जाने लगे और चर्बी-युक्त कारतूसों को दाँत से काटने के लिये बाध्य हुए। बस अब क्या था? सैनिक छावनी में विद्रोह शुरू हो गया और इसकी लपट अन्य भागों में भी फैलने लगी। कलकत्ता, बिहार, मेरठ, लखनऊ, कानपुर, झाँसी, दिल्ली तथा अम्बाला विद्रोह के प्रमुख केन्द्र थे। रानी लक्ष्मीबाई, कुँवरसिंह, ताँतियाटोपे, नानासाहब, मंगल पाँडे विद्रोह के प्रधान नेता थे।

चित्र ३०—प्रथम स्वाधीनता संग्राम कालीन भारत

असफलता

सारे उत्तरी भारत में आन्दोलन फैल गया और अंग्रेजी सरकार की स्थिति संकट-पूर्ण हो गई। 'मरता क्या नहीं करता' वाली कहावत चरितार्थ हुई। अंग्रेजों ने हिंसा और दमन का सहारा लिया। भारतवासी पशुओं की भांति मौत के घाट उतारे जाने लगे। आन्दोलन असफल हो गया। असफलता के अन्य भी कई कारण थे। पहले तो भारतवासी लकीर के फकीर बने हुए थे और पुराने ढंग से अंग्रेजों का सामना करने के लिए चेष्टा कर रहे थे। किन्तु अंग्रेज आधुनिक ढंग से काम कर रहे थे और रेल, तार, डाक के प्रचार से उन्हें विशेष सुविधा प्राप्त थी। दूसरे, आन्दोलन उत्तरी

आत्माभिमान को गहरी चोट लगी। इतना ही नहीं, भारतीयों को लोक सेवा में प्रवेश करने से वंचित रखने के लिए उम्र २१ से घटा कर १६ वर्ष कर दी गई। इस समाचार के सुनते ही देश में रोष एवं क्षोभ पैदा हो गया। श्री बनर्जी ने १८७६ ई० में इंडियन एसोसियेशन नामक संस्था स्थापित की और दूसरे ही साल कलकत्ते में इसकी बैठक हुई। श्री बनर्जी पर लोकमत तैयार करने और एसोसियेशन की शाखाएँ विभिन्न भागों में खोलने का भार सौंपा गया। उन्होंने देश का तूफानी दौरा किया और अनेक सभाओं में ब्रिटिश सरकार की नीति की कटु आलोचना की। एसोसियेशन की ओर से १८८३ ई० (दिसम्बर) में कलकत्ते में एक 'भारतीय राष्ट्रीय सम्मेलन' बुलाया गया जिसमें भारत के विभिन्न भागों से प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। इस समय कुछ अंग्रेज भी थे जो एक अखिल भारतीय संस्था की आवश्यकता समझते थे। उनमें ए० ओ० ह्यूम का नाम अधिक उल्लेखनीय है। उसने भारत के नैतिक, सामाजिक तथा राजनीतिक अभ्युदय के लिये एक देशव्यापी संस्था की आवश्यक समझा और इसके लिए कलकत्ता विश्वविद्यालय के स्नातकों को प्रेरित किया। तत्कालीन वायसराय ने भी इस विचार का समर्थन किया। इस तरह २८ दिसम्बर १८८५ ई० को बम्बई में एक सम्मेलन बुलाया गया जिसमें देश के विभिन्न भागों से ७२ प्रतिनिधि शामिल हुए थे। यही सम्मेलन 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' के नाम से प्रसिद्ध हुआ और यह इसका प्रथम अधिवेशन था।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का निर्माण भारतीयों की राजनीतिक जागृति का सर्वप्रथम प्रतीक है। इसी कांग्रेस के कुशल नेतृत्व में प्रत्येक दिशा में सुधार एवं प्रगति के लक्षण दृष्टिगोचर हुए। भारत ने करवट बदली—सदियों की नींद टूटी। शिथिलता भागी, जर्जर शरीर में नई जान आ गई। भारतवासी राष्ट्रीयता की भावना से ओत-प्रोत होने लगे। भय भागा और राष्ट्र का कायाकल्प हुआ। भारतमाता के पैरों में दीर्घकाल से पड़ी हुई दासता की बेड़ी कट गई। इसमें समय तो लगा किन्तु धैर्य नहीं टूटा और मानवता की मर्यादा का उल्लंघन नहीं हुआ।

(ग) राजनैतिक प्रगति और स्वाधीनता संग्राम

(१८८५—१९४७)

सम्बन्धी सुधार चाहते थे। पूना कांग्रेस में (१८६५) श्री सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने ब्रिटिश सम्बन्ध का समर्थन किया था। केवल राजनीतिक क्षेत्र में नहीं बल्कि अन्य क्षेत्रों में भी सुधार करना कांग्रेस का लक्ष्य था। अतः इस काल को सुधार का युग भी कहते हैं। ब्रिटिश सरकार का ध्यान आकृष्ट करने के लिए कांग्रेस प्रस्ताव पास करती थी, प्रार्थना पत्र देती थी और देश-विदेश में अपनी माँगों का खूब प्रचार करती थी। प्रस्ताव एवं प्रार्थना-पत्र की भाषा में कटुता का अभाव रहता था। इस युग में ब्रिटिश सरकार की सच्चाई एवं सद्भावना में भारतीयों का अटूट विश्वास था। कलकत्ता कांग्रेस में (१८६६) श्री रहमतुल्ला सयानी ने अध्यक्ष पद से अंगरेजों की ईमानदारी की घोषणा की थी और उन्हें संसार में सर्वाधिक ईमानदार कहा था। ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेस की कुछ माँगों को मान लिया तो खुशी की बात हुई और यदि नहीं भी माना तो फिर उससे वैर-विरोध करने का कोई प्रश्न नहीं था। स्वामी से संकोच के साथ सुविधा माँगी जाती थी, स्वाधीनता नहीं। इस तरह इस काल में कांग्रेस के उद्देश्य बहुत ही सीमित एवं संकीर्ण थे और इसके तरीके बहुत ही शान्तिपूर्ण एवं वैधानिक थे।

अतः इस युग में कांग्रेस तथा सरकार में परस्पर सहयोग का भाव था। अतः कांग्रेस के प्रति बहुत से अंग्रेजों—सरकारी और गैर सरकारी—की सक्रिय सहानुभूति थी। ह्यूम और वायसराय डफरिन के सहयोग से तो कांग्रेस का पौधा ही लगाया गया था। १८८६ ई० में जब कलकत्ता में कांग्रेस का द्वितीय अधिवेशन हुआ तो लार्ड डफरिन ने इसके प्रतिनिधियों के स्वागत में भोज का आयोजन किया था। दूसरे साल मद्रास अधिवेशन के अवसर पर वहाँ के गवर्नर ने भी ऐसा ही किया। सरकारी कर्मचारी भी कांग्रेस की कार्यवाही में अभिरुचि प्रदर्शित करते थे। बम्बई कांग्रेस में (१८८६ ई०) ब्रिटिश लोक सदन का एक सदस्य—चार्ल्स ब्रैडला—स्वयं उपस्थित हुआ था। उसी समय इंगलैंड में कांग्रेस की एक अंग्रेजी समिति भी स्थापित की गई। भारतीय सुधारों का समर्थन करने के लिए (१८६३ ई० में) ब्रिटिश लोक-सभा में एक भारतीय संसदीय समिति की भी स्थापना हुई और अल्पकाल में इसके सदस्यों की संख्या डेढ़ सौ तक हो गई।

जैसा कि कहा जा चुका है, कांग्रेस इस काल में सुधारवादी थी। राजनीतिक क्षेत्र में कांग्रेस की माँगें थीं—भारत मंत्री की भारत परिषद् (इंडिया कौंसिल) उठा दी जाय, विधान सभा का विस्तार हो और निर्वाचित सदस्यों को उसमें स्थान मिले, न्याय तथा कार्यपालिका का पृथक्करण हो, भारतीयों को उच्च पद मिले तथा लोक सेवा (सिविल सर्विस) की परीक्षा भारत में भी हो और सेना तथा शासन पर खर्च कम हो। प्रवासी भारतीयों के साथ न्यायोचित व्यवहार हो। आर्थिक क्षेत्र में कांग्रेस चाहती

थी कि भारत में संरक्षण की नीति लागू हो, उचित लगान निश्चित हो, अन्न का निर्यात न हो और पैदावार बढ़ाने के लिए सिंचाई आदि की व्यवस्था हो। कांग्रेस भारतीय समाज की विविध बुराइयों को भी दूर करने के लिए प्रयत्नशील थी।

ब्रिटिश सरकार कांग्रेस के प्रस्ताव और प्रार्थना-पत्र पर विशेष ध्यान नहीं देती थी। उसकी नीति उपेक्षा एवं टालमटोल की नीति थी। फिर भी कांग्रेस के प्रयत्न बिल्कुल ही विफल नहीं हुए। आज के दृष्टिकोण से उसके कार्य भले ही महत्त्वपूर्ण न हों, उस काल में कांग्रेस की नीति उचित थी और उसे कुछ सफलता भी मिली। कांग्रेस की कार्यवाही एवं माँगों को देख कर ब्रिटिश सरकार के सिर में दर्द पैदा होना शुरू हो गया था। १८९० ई० में ही सरकारी कर्मचारियों को कांग्रेस के अधिवेशन में उपस्थित होने से मना कर दिया गया। १८९२ ई० ब्रिटिश पार्लियामेंट ने इंडियन कौंसिल ऐक्ट पास किया। इसके अनुसार केन्द्रीय विधान परिषद् में अतिरिक्त सदस्यों की संख्या बढ़ी और स्थानीय संस्थाओं द्वारा कुछ मनोनीत व्यक्तियों की नियुक्त किया जाने लगा। अतः जिस समय कुछ माँगना ही गुनाह था उस समय यदि कुछ भी मिल गया तो वही कम महत्त्व की बात नहीं है। प्रारम्भकाल में कांग्रेस ने सबल राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए पृष्ठभूमि तैयार कर दी, अंगरेजों को आने वाले संकट की सूचना दे दी।

लेकिन कांग्रेस में कुछ ऐसे भी थे जिन्हें कांग्रेस की नरम-नीति और सरकार की उपेक्षा-नीति दोनों ही अच्छी नहीं लगती थी। सरकार भारतीयों को वास्तविक अधिकार देने में आनाकानी करती थी। १८९२ ई० का नियम उन्हें फुसलाने का प्रयास मात्र था। लेकिन सभी भारतीय भुलावे में नहीं आ सकते थे। जिन्हें कांग्रेस की नरम नीति नापसन्द थी उनमें बाल गंगाधर तिलक (१८५६-१९२०) का नाम सर्वोपरि है। तिलक ने मराठों में शिवाजी समारोह के द्वारा राष्ट्रीय भावना को उभारा और उन्हें निर्भीकता का पाठ पढ़ाया। वे 'केसरी' नामक पत्र में सरकारी नीति की कटु शब्दों में आलोचना करने लगे। पूना में अकाल आने पर उन्होंने लोगों को टैक्स न देने के लिए प्रोत्साहित किया और प्लेग के समय समाज-सेवा का आदर्श उपस्थित किया। वे अंगरेजों से अधिकार माँगने के बजाय छीन लेना चाहते थे। इसी समय दो मराठों ने दो अंगरेज अफसरों का वध

चित्र ३२—लोकमान्य तिलक

कर डाला।' उन्हें पकड़ कर प्राण दण्ड दे दिया गया। इस हत्याकाड से तिलक का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं था। किन्तु उन पर भी इसका दोषारोपण किया गया और उन्हें डेढ़ वर्ष कारावास की कठोर सजा मिली। इससे देश में हलचल पैदा हो गई और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के शब्दों में 'समस्त राष्ट्र के आँसू बहने लगे।' अब कांग्रेस और सरकार में संघर्ष का बीजारोपण हो गया।

उग्रता का युग (१६००—१६१८ ई०)

इस युग में कांग्रेस की नीति एवं तरीकों में परिवर्तन हुए। कांग्रेस में उग्र एवं हिंसात्मक प्रवृत्ति का विकास होने लगा। एक ओर उसकी माँगें बढ़ने लगीं और दूसरी ओर शान्तिपूर्ण वैधानिक उपायों तथा अंगरेजों की सच्चाई में विश्वास भी घटने लगा। अतः इसे उग्रवादिता का युग कहते हैं। इस परिवर्तन के कई कारण थे। अंगरेजी शासन की जितनी बुराइयाँ थीं वे बढ़ती ही जाती थीं। अकाल एवं महामारी का प्रकोप होने पर भी अंगरेजी सरकार विचलित नहीं होती थी और आर्थिक शोषण तथा साम्राज्यविस्तार के कार्यक्रम में मग्न रहती थी। जातीय भेद-भाव एवं दमन में *भी वृद्धि हो रही थी।* १८८६ ई० *में रुड़की यन्त्र विद्यालय में एशियावासियों* के प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगाकर उसे श्वेतों के लिए सुरक्षित कर दिया गया। १८६८ ई० में कुछ अंग्रेज सैनिकों ने एक भारतीय पर भयानक हमला किया। उन पर मुकदमा चला किन्तु वे अंग्रेजों की जूरी के द्वारा मुक्त कर दिये गये। आंग्ल-भारतीय समाचार पत्रों में भारतीयों के लिए अपमानजनक शब्दों का प्रयोग होता था। तिलक आदि देश-भक्तों की गिरफ्तारी से राष्ट्रीय भावना को गहरी चोट पहुँची। १८६२ ई० के नियम के द्वारा जो अधिकार मिले वे भी बड़े ही नगण्य थे। अतः इन घटनाओं से कुछ लोगों को विश्वास होने लगा कि नरम पंथियों की उदारवादी राष्ट्रीयता की नीति *असफल हो गई और अंग्रेजों से बिना लड़े हुए अधिकार नहीं मिलेगा।* १८६६ ई० में अबीसीनिया ने इटली को और १६०४ ई० में जापान ने रूस को पराजित किया। इन विजयों ने श्वेतों की श्रेष्ठता एवं अजेयता की भावना को चूर-चूर कर दिया और एशियावासियों के उत्साह एवं आत्म विश्वास में बहुत वृद्धि कर दी।

इसी समय लार्ड कर्जन (१८६६-१६०५ ई०) भारत का गवर्नर जेनरल तथा वायसराय होकर आया। उसके समय में कुछ ऐसी घटनाएँ हुईं जिनके द्वारा राष्ट्रीयता उत्तेजित हो उठी। उसने एक राजद्रोह नियम पास किया जिसके अनुसार सरकारी नीति की आलोचना करना भी कठिन हो गया। समाचार-पत्रों पर प्रतिबन्ध लगाया *गया और अपने को निर्दोष सिद्ध करने का भार अपराधी पर सौंपा गया।* उच्च शिक्षा तथा स्थानीय शासन पर सरकारी नियन्त्रण स्थापित हुआ। उसने भारतीय लोकमत के

विरुद्ध भारतीय सेनाओं को विदेशों में लड़ने के लिये भेजा। एडवर्ड सप्तम के राज्याभिषेक के उपलक्ष में दिल्ली में एक वैभवशाली दरबार का आयोजन किया गया था। वह भी कब ? जब कि भारत में आर्थिक संकट का बादल छाया हुआ था। लेकिन सभी घटनाओं में बंगाल-विभाजन का स्थान प्रमुख है। शासन की सुविधा के नाम पर बंगाल-विभाजन की घोषणा की गई, किन्तु वास्तव में राष्ट्रीय आन्दोलन को निर्बल बनाने के लिए यह ब्रिटिश कुचक्र था। इसके विरुद्ध समस्त देश में आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। इसी समय स्वदेशी आन्दोलन ने भी जोर पकड़ा और ब्रिटिश वस्तुओं के बहिष्कार की नीति घोषित की गई। सरकार और विश्वविद्यालय से स्वतन्त्र राष्ट्रीय शिक्षालय भी खुलने लगे। दादाभाई नौरोजी ने १९०६ ई० में ही कांग्रेस के अध्यक्ष पद से घोषित किया कि स्वराज्य भारतीयों का जन्म-सिद्ध अधिकार है।

इसी समय से उग्रपंथियों और क्रांतिकारियों का उदय हुआ। बारीन्द्र घोष, रास बिहारी बोस, खुदीराम बोस, राजा महेन्द्र प्रताप, मदनलाल धिंगरा, सरदार भगत सिंह, सावरकर बन्धु, लाला हरदयाल, बरकतुल्ला आदि प्रसिद्ध क्रान्तिकारी थे। वे हिंसात्मक तरीकों के समर्थक थे। बम फेंकना, गोली चलाना, डकैती करना, खून बहाना ही इनका प्रमुख कार्य था। दूसरी ओर लाला लाजपत राय, बाल गंगाधर तिलक और विपिन चन्द्र पाल प्रसिद्ध उग्रपन्थी थे। इस तरह अब कांग्रेस दो विभिन्न दलों में बँट गई—नरम पंथी और उग्रपन्थी। पहले के नेता गोखले और दूसरे के तिलक थे। नरम पन्थियों की प्रधानता थी किन्तु उन्हें जनता की सहानुभूति प्राप्त नहीं थी। गरमदल में साधारण लोग भी थे। अतः यह लोकप्रिय दल था। १९०७ ई० में सूरत के अधिवेशन में दोनों दल एक दूसरे का विरोध करने में मर्यादा की सीमा का भी उल्लंघन कर गये। तिलक के नेतृत्व में अल्पसंख्यक उग्रपन्थी कांग्रेस से निकल गये।

उग्रपंथियों की चाल देखकर ब्रिटिश सरकार आपे से बाहर हो रही थी। उसने सवेग दमन-चक्र चलाया। स्वाधीनता-प्रेमियों को जेल एवं कष्ट देने के लिए कई नवीन नियम निर्मित हुए। साधारण बात में भी कठोर सजा दी जाने लगी। समाचार-पत्र तथा सभा-संगठन पर कड़ा प्रतिबन्ध लगा दिया गया। लाला लाजपत राय तथा तिलक को कैदी के रूप में माडले भेज दिया गया। तिलक को ६ वर्ष की कठोर सजा मिली थी। लेकिन इससे तो राष्ट्रीय आन्दोलन में और शक्ति एवं गर्मी आने लगी। उग्रपंथियों ने अंगरेजों को ईंट का जवाब पत्थर से देना शुरू किया। लाठी-गोली का उत्तर लाठी-गोली से मिलने लगा। महाराष्ट्र, पंजाब और बंगाल क्रान्ति एवं उग्रवादिता के मुख्य केन्द्र थे। हम देख चुके हैं कि महाराष्ट्र में १९वीं सदी के

अन्त में चापेकर बन्धुओं ने दो अंगरेज अफसरों की हत्या कर डाली थी। १६०७ ई० में मुजफ्फरपुर में एक अंग्रेज न्यायाधीश पर बम चलाया गया किन्तु वह बम दूसरे को ही लगा। प्रफुल्ल चकी तथा खुदीराम बोस बम चलाने वाले थे। श्री चकी ने तो अपने सीने में स्वयं गोली मार ली और श्री बोस ने अपराध स्वीकार कर प्राणदण्ड का स्वागत किया। १६१० ई० में कलकत्ते में एक उच्च पुलिस अफसर का वध हो गया। भयंकर अलीपुर षड्यन्त्र में कितने भारतीय फाँसी के तख्ते पर हँसते-हँसते झूल गये। बंगाल के लेफ्टिनेंट गवर्नर को गोली से उड़ा देने की चेष्टा की गई और दिल्ली में १६१२ ई० में वायसराय हार्डिंज पर ही बम फेंका गया। श्याम जी कृष्ण वर्मा, मदन लाल और विनायक सावरकर विदेशों में विद्रोहात्मक कार्य कर रहे थे। इस तरह साम्राज्यवादी अंगरेजों तथा क्रान्तिकारी भारतीयों में आक्रमण-प्रत्याक्रमण होते रहे।

ब्रिटिश सरकार भारत के लालों को यदि थप्पड़ मारती थी तो चुम्बन भी करती थी। दमन के साथ सुधार भी होता था। १६०७ ई० में ही भारत मन्त्री की कौंसिल में दो भारतीयों को और १६०६ ई० में गवर्नर जेनरल की कौंसिल में एक भारतीय को स्थान मिला। इसी साल मार्ले-मिंटो सुधार योजना लागू हुई। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय विधान सभाओं का विस्तार हुआ और इनके अधिकारों में भी वृद्धि हुई। फिर भी उत्तरदायी शासन का कहीं नाम-निशान भी नहीं था। अतः इस सुधार-योजना से नरम पंथी भी सन्तुष्ट नहीं हुए।

इसी बीच १६०६ ई० में मुस्लिम लीग की स्थापना हुई जो देश के हित में घातक सिद्ध हुई। राष्ट्रीयता को दुर्बल बनाने के लिए अंग्रेजों ने इसे प्रोत्साहित किया। अब 'मतभेद पैदा कर शासन करो' वाली नीति चरितार्थ होने लगी। ब्रिटिश सरकार ने इसे मुसलमानों की प्रतिनिधि-संस्था मान ली और उसके लिए पृथक् निर्वाचन की व्यवस्था कर दी। इस तरह हिन्दू-मुस्लिम समस्या उठ खड़ी हुई जिसने भारतीय राजनीति को विषाक्त बना डाला। इसी के फलस्वरूप कालान्तर में देश का विभाजन हो गया, हजारों हिन्दू-मुसलमानों की जानें गईं और अपार धन-दौलत की क्षति हुई।

१६१४ ई० में प्रथम महायुद्ध शुरू हुआ। इस युद्ध में भारतीयों ने अंग्रेजों की धन-जन से खूब सहायता की। मित्र राष्ट्रों ने घोषणा की थी कि वे युद्ध का अन्त करने और लोकतन्त्र एवं आत्मनिर्णय के सिद्धान्तों की रक्षा के लिए लड़ रहे हैं। गाधी जी ने भी सहायता देने की नीति का समर्थन किया था। इस समय तक तिलक भी माण्डले से अपनी सजा की अवधि पूरी कर लौट आये थे। १६१५ ई० में गोखले की मृत्यु हो गई। अब उग्रपंथी कांग्रेस में पुनः आ गये और १६१६ ई० में नरमपंथियों

के साथ समझौता हो गया। अब एनीबिसेंट तथा तिलक के लिए मैदान साफ था और इन्हीं के पथ-प्रदर्शन में राष्ट्रीय आन्दोलन चलने लगा। दोनों ने स्वराज्य-प्राप्ति के लिए होमरूल लीग स्थापित किया था। १६१६ ई० में ही कांग्रेस और लीग में भी समझौता हो गया। अतः इस समय कांग्रेस सबल हो गई थी। लेकिन युद्धजनित संकटमय परिस्थिति थी। अतः सरकार ने एनीबिसेंट को कुछ साथियों के सहित नजरबन्द कर दिया। किन्तु २० अगस्त १६१७ ई० को भारत मंत्री ने एक महत्वपूर्ण घोषणा भी की। यह कहा गया कि सरकार भारत में उत्तरदायी शासन स्थापित करेगी किन्तु अंग्रेजी साम्राज्य के साथ सम्बन्ध बना रहेगा। कब और कितना अधिकार भारत को दिया जायगा—यह ब्रिटिश सरकार ही निश्चित करेगी। अब नजरबन्द कैदियों को भी छोड़ दिया गया।

गांधीवाद का युग (१६१६—१६४७)

राजनीतिक रंग-मंच पर गांधी जी का उदय—१६१६ से १६४७ ई० तक के काल को गांधी एवं गांधीवाद का युग कहते हैं। इस काल का यह नामकरण सर्वथा *उचित ही है। स्वाधीनता संग्राम के इतिहास में गांधीवादी युग का बड़ा ही महत्वपूर्ण* स्थान है। इस युग में राष्ट्रीय आन्दोलन के सबसे बड़े संचालक महात्मा गांधी (१८६९-१६४८) रहे हैं। इनका पूरा नाम है मोहनदास कर्मचन्द गांधी। लड़कपन से ही इनमें सद्‌प्रवृत्ति कूट-कूट कर भरी हुई थी। भारतीय परतन्त्रता एवं राष्ट्रीय अपमान से ये बहुत ही दुखी थे। सत्य एवं अहिंसा के आधार पर भारत का राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक पुनरुद्धार करना चाहते थे। २०वीं सदी के प्रारंभ में ही इन्होंने दक्षिणी अफ्रीका में जातीय भेद-भाव के समर्थक श्वेतों के विरुद्ध सत्याग्रह आन्दोलन किया था। प्रथम महायुद्ध शुरू होने के समय तक ये भारत लौट आये थे और युद्ध में अंग्रेजों को सहायता देने के लिए इन्होंने भरपूर प्रयत्न किया था। किन्तु १६१७ ई० में ही इन्होंने बिहार (चम्पारण जिला) में नीलहे साहबों के विरुद्ध आन्दोलन किया और शोषित एवं पीड़ित किसानों का उद्धार किया।

१६१८ ई० में महायुद्ध समाप्त हुआ। भारतीयों के हृदय में आशा उमड़ रही थी कि युद्ध का अन्त होने पर उन्हें स्वराज्य मिल जायगा। आशा करना स्वाभाविक एवं उचित था। किन्तु युद्ध समाप्त होते ही ब्रिटिश सरकार ने ऐसी नीति अपनायी कि भारतीयों की समस्त आशाओं पर पानी फिर गया। यही नहीं कि आशायें पानी के बुलबुले की तरह मिट गई बल्कि सारे देश में निराशा एवं रोष का कोई ठिकाना नहीं रहा। श्री जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में ऐसा मालूम पड़ता था कि हम लोग किसी

सर्वशक्तिशाली दानव के चंगुल में असहाय जैसे हो गये थे। हमारे अंगों को मानों लकवा ने मार दिया था और हमारे मस्तिष्क मुर्दा जैसे हो गये थे।[१]

इस तरह १६१६ के प्रारम्भ तक भारत के राजनीतिक मंच पर गांधी जी का शुभागमन हो चुका था। उन्होंने अपने अद्भुत ढंग से राष्ट्रीय आन्दोलन का सचालन करना शुरू किया। इस समय तक राजनीतिक आन्दोलन देश के विशेष वर्ग तक ही सीमित था। सर्वसाधारण राजनीति की ओर से उदासीन थे। कांग्रेस के अधिवेशन भी बड़े-बड़े नगरों में ही होते थे। गांधी जी ने जनता की नाड़ी पहचानी और उसके दिल-दिमाग तक पहुँचने के लिये उसी की वेश-भूषा एव भाषा को अपनाया। उन्होंने कांग्रेस का द्वार सर्वसाधारण के लिए भी खोल दिया। अब धीरे-धीरे यह जनवादी सस्था बन गई और राजनीतिक आन्दोलन जन-आन्दोलन में परिवर्तित होने लगा। कांग्रेस के स्वरूप में ही नहीं बल्कि इसके लक्ष्य एव इसकी पूर्ति के साधन में भी महान् परिवर्तन हुए। गांधी जी के मतानुसार उच्च लक्ष्य की पूर्ति के लिए साधन भी उच्च होना चाहिए। उन्होंने भारतीयों में भय दूर कर साहस का सचार किया। श्री जवाहरलाल जी के शब्दों में 'गाधी जी स्वच्छ हवा के उस सशक्त प्रवाह की भाँति थे जिसने हमारे लिए पूरी तरह फैलना तथा गहरी साँस लेना सरल कर दिया। वे प्रकाश की उस किरण की भाँति थे जिसने अन्धकार को फाड़ दिया और हमारी आँखों से परदे को हटा दिया। वे उस आँधी की तरह थे जिसने बहुत-सी चीजों को खासकर लोगों के दिमाग को झकझोर दिया।'[२]

ब्रिटिश सरकार के अनुचित कार्य—१६१६ ई० में गवर्नमेंट ऑफ इंडिया ऐक्ट के द्वारा शासन-सुधार हुआ। इसके अनुसार प्रान्तों में आंशिक उत्तरदायी शासन स्थापित हुआ। केन्द्र अछूता रहा। गवर्नर तथा गवर्नर जनरल के अधिकारों में कोई कमी नहीं हुई। अतः इस सुधार से भारतीय असन्तुष्ट रहे। इसके अतिरिक्त ब्रिटिश सरकार ने कई अनुचित कार्यों एव दमन के द्वारा भारतीयों के हृदय में घाव पैदा किया और उस घाव पर नमक भी छिड़का। मार्च १६१६ ई० में रौलट ऐक्ट पास हुआ। इसके पहले ही गाधी जी ने घोषणा कर दी थी कि यदि यह बिल पास हो गया तो वे सत्याग्रह करेंगे। भारत रक्षा कानून को स्थायी रूप देने के लिए यह पास किया गया। इसके द्वारा कोई भी किसी समय गिरफ्तार किया जा सकता था। सारे देश में इस काले कानून के विरुद्ध ६ अप्रैल को विरोध-दिवस मनाया गया और हड़ताल की गई। सरकार भी सत्याग्रह-संग्राम को शान्ति के साथ सह नहीं सकती थी। पंजाब में

१ दि डिस्कवरी ऑफ इंडिया, पृष्ठ ४२५
२ दि डिस्कवरी ऑफ इंडिया, पृष्ठ ४२७

अधिक खलबली मची हुई थी। अमृतसर में ही कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन होने वाला था। १० अप्रैल को सरकार ने कांग्रेस के दो प्रमुख कार्यकर्ताओं—डा० किचलू तथा डा० सत्यपाल को गिरफ्तार कर अज्ञात स्थान में भेज दिया। उसी दिन गांधी जी ने पंजाब के लिए प्रस्थान किया। लेकिन उन्हें पंजाब में प्रवेश करने से रोक दिया गया और वे गिरफ्तार कर बम्बई लाये गये। इससे वातावरण बहुत उत्तेजित हो गया।

लेकिन सरकार इतने ही से सन्तुष्ट नहीं थी। उसका पारा बहुत ऊपर चढ़ गया था। १३ अप्रैल को अमृतसर के जलियानवाला बाग में एक सार्वजनिक सभा का आयोजन किया गया। लगभग २० हजार लोग उपस्थित थे। जेनरल डायर कुछ अंग्रेज और भारतीय सैनिकों के साथ वहाँ पहुँच गया और सभा भंग करने की आज्ञा दी। लोग तंग रास्ते से शीघ्र निकल भी नहीं सकते थे। तीन ही मिनट के बाद गोली भी चलवा दी गई। सरकारी सूचना के अनुसार ४०० मरे और एक तथा दो हजार के बीच लोग घायल हुए। सभी रात भर वहीं पड़े भी रहे। सब १६०० फायर हुए थे और गोली तब तक चली जब तक सभी कारतूस समाप्त नहीं हो गये। इसके लिए डायर को दुख हुआ नहीं तो अभी और गोली चलती। पंजाब के लेफ्टिनेंट गवर्नर ने मृतकों एवं घायलों के प्रति कोई सहानुभूति नहीं दिखलाई किन्तु डायर के काम की खूब प्रशंसा की। पंजाब में फौजी कानून भी लागू हुआ और अन्य अत्याचार भी किये गये।

इस समय टर्की के प्रति अंग्रेज सरकार का व्यवहार अच्छा नहीं था। इस तरह खिलाफत आन्दोलन उठ खड़ा हुआ था। इस कारण भी भारतीय मुसलमान अंग्रेजों से बहुत असन्तुष्ट थे और कांग्रेस ने भी इसका समर्थन किया था। अतः इस समय हिन्दू-मुसलमानों में पूरी एकता थी। सरकार से संघर्ष के लिए समय उपयुक्त था।

असहयोग आन्दोलन—१९२० ई० में कांग्रेस ने सरकार से असहयोग करने का प्रस्ताव पास किया। गांधी जी के नेतृत्व में असहयोग आन्दोलन शुरू हो गया। असहयोग का कार्यक्रम बड़ा ही व्यापक था। ब्रिटिश माल का बहिष्कार हुआ, विदेशी वस्त्र जलाये जाने लगे। सरकारी स्कूल, कालेज तथा कोर्ट छोड़े जाने लगे। सरकारी उपाधियों का परित्याग किया जाने लगा, सरकारी समारोहों तथा दरबारों की उपेक्षा की जाने लगी। स्वदेशी वस्तुओं तथा राष्ट्रीय विद्यालयों को प्रोत्साहित किया गया और तिरंगा झंडा जहाँ-तहाँ फहराया जाने लगा। उनमें बिहार-विद्यापीठ, गुजरात-विद्यापीठ, तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ आदि प्रसिद्ध हैं। दो वर्षों तक आन्दोलन चला और हजारों व्यक्ति जेल गये। इस आन्दोलन ने जेल के भय को दूर कर दिया।

जेल यात्रा के लिए देश-भक्तों में होड़ होने लगी। आन्दोलन सफलतापूर्वक चल रहा था। इसी बीच एक जगह[1] जनता ने आवेश में आकर एक थाने पर आक्रमण कर दिया और कुछ सिपाहियों को मार डाला। पुलिस ने भी भीड़ पर गोली चलाई। अतः बीच ही में गाधी जी ने आन्दोलन स्थगित कर दिया। उनके इस कार्य से कई नेता बड़े ही क्षुब्ध हुए क्योंकि उनका विश्वास था कि इसी बार भारत स्वतन्त्र हो जाता। किन्तु अहिंसा के पुजारी पाशविक ढग से स्वराज्य लेना भी नहीं चाहते थे। फिर ब्रिटिश सरकार ने उन्हें मार्च १६२२ ई० में ६ वर्ष के लिए जेल की सजा दे ही दी। अब असहयोग आन्दोलन में शिथिलता आने लगी।

स्वराज पार्टी और अड़ंगा नीति—अब तक कांग्रेस १६१६ ई० के विधान के अनुसार कौंसिल-प्रवेश के पक्ष में नहीं थी। किन्तु प० मोतीलाल नेहरू के नेतृत्व में एक स्वराज पार्टी का प्रादुर्भाव हुआ जो कौंसिल—प्रवेश का समर्थन करती थी। इस तरह १६२२ ई० में इस प्रश्न पर कांग्रेस के दो दल हो गये। १६२३ ई० में दिल्ली कांग्रेस ने स्वराज पार्टी के मत को स्वीकार कर लिया। लेकिन यह स्मरणीय है कि स्वराज पार्टी वाले कौंसिल में आकर सरकार को सहयोग देना नहीं चाहते थे बल्कि अड़ंगा नीति द्वारा उसे तग करना चाहते थे। इनका उद्देश्य १६१६ ई० के विधान को असफल बनाना था। १६२४ ई० में इन्हें कई प्रान्तों के चुनाव में सफलता मिली और इनका उद्देश्य भी पूरा हुआ। इस समय तक दो ही वर्ष के बाद अस्वस्थता के कारण गांधी जी जेल से भी मुक्त कर दिये गये थे।

इसी समय सरकार ने वैधानिक जाँच के लिए एक मुडीमैन समिति नियुक्त की जिसने प्रान्तीय द्वैध शासन को दोषपूर्ण घोषित किया। इसी उद्देश्य से १६२७ ई० में एक साइमन कमीशन की भी नियुक्ति हुई। यह जाँच समिति पूर्णरूपेण श्वेत थी क्योंकि इसमें एक भी भारतीय नहीं था। अतः १६२८ ई० में जब यह भारत पहुँचा तो सारे देश में इसका विरोध हुआ। सर्वत्र काले झंडे से इसका अपमान किया गया और कहा गया कि 'भारत से वापस चले जाओ'। साइमन अवश्य ही लज्जित हुआ होगा किन्तु वह किसी तरह अपना काम पूरा कर ही लौटा। सरकार ने प्रदर्शनकारियों की भी खूब खबर ली। लाला लाजपतराय तथा श्री जवाहरलाल जैसे नेता भी पुलिस की लाठी के शिकार हुए और लालाजी तो उसी प्रहार के कारण मृत्यु के निकट पहुँच गये।

इसी समय शासन विधान की एक योजना तैयार करने के लिए भारतीयों को कहा *गया। १६२८ ई० में एक सर्वदल सम्मेलन हुआ जिसमें श्री मोतीलाल के सभापतित्व* में एक समिति निर्मित हुई। समिति ने विधान की योजना बनाई जिसमें औपनिवेशिक

[1] गोरखपुर जिले में चौरी चौरा में

स्वराज्य की माँग की गई। किन्तु सरकार अभी इतना देने को तैयार नहीं थी। लार्ड इरविन की घोषणा से यह बात स्पष्ट हो गई थी।

पूर्ण स्वाधीनता की घोषणा—अब तक भारत बहुत जागरित हो उठा था और उसमें तरुणाई आ गई थी। कांग्रेस की ओर से चेतावनी दे दी गई थी कि यदि ३१ दिसम्बर १६२६ ई० तक औपनिवेशिक स्वराज्य स्वीकृत नहीं हुआ तो पुनः आन्दोलन किया जायगा। कुछ नेतागण पूर्ण स्वाधीनता के ही पक्षपाती थे। उन्होंने एक 'स्वाधीनता संघ' भी स्थापित कर लिया। औपनिवेशिक स्वराज्य मिलने की कोई आशा नहीं दिखाई दी। अतः १६२६ ई० के दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में श्री जवाहर लाल नेहरू की अध्यक्षता में लाहौर कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। एक प्रस्ताव के द्वारा पूर्ण स्वाधीनता कांग्रेस का ध्येय घोषित हुआ। २६ जनवरी १६३० ई० को बड़े धूम-धाम से सारे देश में स्वाधीनता दिवस मनाया गया और इसके सम्बन्ध में घोषणा-पत्र पढ़ा गया। स्वतन्त्रता-प्राप्ति तक प्रत्येक २६ जनवरी को इसी तरह स्वाधीनता सम्बन्धी घोषणा-पत्र को सामूहिक सभा में दुहराया जाने लगा।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन—गांधी जी ने कुछ माँगों की एक सूची तैयार की और वायसराय के द्वारा उसे अस्वीकृत करने पर उन्होंने सविनय अवज्ञा आन्दोलन शुरू कर दिया। नमक कानून भंग करना प्रधान कार्यक्रम था। ११ मार्च १६३० ई० को ७६ मित्रों के साथ गांधी जी ने साबरमती आश्रम से डंडी-यात्रा प्रारम्भ की और २४ दिन की पैदल यात्रा के बाद वे डंडी पहुँचे। ६ अप्रैल को समुद्रतट पर नमक बना कर उन्होंने नमक कानून भंग किया। उसके बाद सारे देश में आन्दोलन फैल गया। नमक बनने लगा, शराब की बिक्री को रोका जाने लगा और लगान बन्दी को भी प्रोत्साहित किया गया। १६२८ ई० में ही बारडोली में पटेल के नेतृत्व में लगान-बन्दी आन्दोलन प्रारम्भ हो चुका था। सरकार ने भी आन्दोलन दबाने का भरपूर प्रयत्न किया। लोगों को जेल दिया जाने लगा। पचासों हजार लोग जेल गये। पुलिस ने लाठियाँ और गोलियाँ भी चलायीं। लेकिन आन्दोलन बढ़ता ही गया। इस आन्दोलन ने पुलिस के डण्डे का भय एकदम दूर कर दिया। गांधी जी भी गिरफ्तार कर लिये गये और उन्हें एक वर्ष की सजा दी गई।

गोलमेज सम्मेलन—इस समय लन्दन में श्रम सरकार कायम (१६२६-३१) थी। इसी समय १६३० ई० के अन्त में भारतीय शासन विधान पर विचार करने के लिए लन्दन में प्रथम गोलमेज सम्मेलन का आयोजन हुआ। कांग्रेस ने इसका बहिष्कार किया। १६३१ ई० के प्रारम्भ में गांधी जी आदि नेताओं को जेल से मुक्त कर दिया गया। सरकार और कांग्रेस में समझौता भी हुआ जिसे गांधी-इरविन समझौता कहते हैं। आन्दोलन स्थगित हुआ और कांग्रेस की ओर से गांधी जी ने

दूसरे गोलमेज सम्मेलन में भाग लिया। किन्तु कोई परिणाम नहीं निकला। ब्रिटिश अनुदार दल और मुस्लिम लीग के विरोधी रुख के कारण सफलता नहीं मिली।

गांधी जी निराश हो भारत लौटे। इसके पूर्व ही सरकार ने भगत सिंह आदि कुछ क्रान्तिकारियों को बम-प्रयोग के अपराध में प्राणदण्ड दे दिया। नेताओं को पुनः गिरफ्तार किया जाने लगा। लार्ड विलिंगडन ने गांधी जी को भेंट करने की भी अनुमति नहीं दी। अतः १९३२ ई० में फिर राष्ट्रीय आन्दोलन और सरकारी दमन का जोर बढ़ा। गांधी जी को फिर जेल में ठूँस दिया गया। उसी साल ब्रिटिश सरकार ने साम्प्रदायिक निर्णय की घोषणा की। इसमें अछूतों को पृथक् निर्वाचन का अधिकार देकर उन्हें हिन्दू जाति से अलग कर देने का प्रयत्न किया गया। इसे जानकर गांधी जी ने जेल में ही आमरण अनशन शुरू कर दिया। किन्तु उनकी रक्षा के लिए पूना समझौता हुआ। अछूतों को संरक्षण के द्वारा कुछ अधिक ही प्रतिनिधित्व दे दिया गया। ब्रिटिश सरकार ने भी समझौता मान लिया और गांधी जी ने ५ दिन के बाद अनशन तोड़ा। इसी वर्ष के अन्त में तृतीय गोलमेज सम्मेलन हुआ और शासन-सुधार पर विचार हुआ। १९३३ ई० में ब्रिटिश सरकार ने शासन-सुधार की योजना को श्वेतपत्र में प्रकाशित किया। उस पर भारत के सभी राजनैतिक दलों ने असन्तोष प्रकट किया। फिर भी वह १९३५ ई० में विधान के रूप में पास ही हो गया।

इस बीच १९३४ ई० में कांग्रेस ने आन्दोलन को बन्द कर दिया। इसी समय कांग्रेस के भीतर एक समाजवादी दल का भी संगठन हुआ। श्री जयप्रकाशनारायण, आचार्य नरेन्द्र देव आदि जैसे चोटी के नेता समाजवादी थे। इनके प्रयत्न से किसान मजदूर अधिक मात्रा में कांग्रेस की ओर आकृष्ट होने लगे।

नवीन विधान और कांग्रेस—१९३५ ई० के विधान द्वारा केन्द्र में संघ शासन की व्यवस्था की गई। प्रान्तों में द्वैध शासन का अन्त कर पूर्ण उत्तरदायी शासन स्थापित हुआ जिसे प्रान्तीय स्वराज कहा गया। लेकिन वास्तविकता कुछ और ही थी। एक हाथ से जो कुछ दिया गया उसे दूसरे हाथ से छीन लेने का भी प्रयत्न किया गया। श्री जवाहरलाल जी के शब्दों में 'यह विधान दासता का नया पत्र था। सम्पूर्ण विधान बुरा तो था ही किन्तु इसमें संघीय व्यवस्था जैसी बुरी चीज और कुछ नहीं थी।' संघ शासन सचमुच संसार का एक नवीन आश्चर्य ही था। श्री चिन्तामणि के शब्दों में भारत शासन-विधान भारत विरोधी विधान था और भारत सरकार विरोधी सरकार थी। गवर्नर और गवर्नर जेनरल को अनेक विशेषाधिकारों से सुसज्जित कर दिया गया था। कीथ जैसे अंग्रेज विद्वान ने भी इसकी कटु आलोचना की थी। अतः १९३५ का विधान केन्द्र में तो कभी भी लागू ही नहीं हुआ, केवल प्रान्तों में कार्यान्वित हुआ।

कांग्रेस सरकार का निर्माण—अब प्रश्न यह उठा कि नये विधान के अन्तर्गत मन्त्रि-पद ग्रहण करना चाहिये या नहीं। कांग्रेस ने चुनाव में भाग लिया। पंजाब, सिन्ध और बंगाल को छोड़कर अन्य प्रान्तों में कांग्रेस को बहुमत मिला। लेकिन कुछ कांग्रेसी पद-ग्रहण के विरुद्ध थे। समाजवादी भी पद-ग्रहण के पक्ष में नहीं थे। चार महीने तक गतिरोध बना रहा। अन्त में जब ब्रिटिश सरकार की ओर से आश्वासन मिला कि गवर्नरों द्वारा दैनिक शासन में विशेषाधिकारों का कम से कम प्रयोग होगा तब कांग्रेस ने मंत्रिमण्डल बनाना स्वीकार किया। पहले ६ और बाद में फिर दो प्रान्तों में मंत्रिमण्डल बना।

द्वितीय महायुद्ध १६३६-१६४५ ई०—१६३७ से १६३६ ई० तक कांग्रेस सरकार ने महत्वपूर्ण सुधारों को किया और कई राजनीतिक कैदियों को मुक्त किया। कुछ छोटी-मोटी बातों पर ब्रिटिश सरकार से मतभेद और उनका समाधान भी होते रहे। किन्तु ३ सितम्बर १६३६ को द्वितीय महायुद्ध शुरू हुआ और प्रान्तीय स्वराज की असली कसौटी का समय आया। ब्रिटेन युद्ध में शामिल हुआ और अपने साथ भारत को भी उसमें घसीट ले गया। इसके लिये उसने किसी भारतीय से राय नहीं ली। अब प्रान्तीय सरकार के अधिकार-क्षेत्र भी सीमित किये जाने लगे और अध्यादेशों की भरमार होने लगी। युद्ध का स्पष्ट उद्देश्य भी नहीं बताया गया। अतः नवम्बर में ही कांग्रेस मंत्रिमंडल पद त्याग कर देने को बाध्य हुए।

मुस्लिम लीग और पाकिस्तान—इसी बीच लीग और कांग्रेस में मतभेद बढ़ता रहा। कांग्रेस मंत्रिमडल के पदत्याग के दिन लीग ने मुक्ति दिवस मनाया। लीग ने स्वयं मुसलमानों का प्रतिनिधित्व करने का दावा किया। उसने भारत में हिन्दू तथा मुस्लिम दो राष्ट्रों के सिद्धांत का प्रचार किया और इसी आधार पर भारत का विभाजन कर पाकिस्तान की माँग की।

सत्याग्रह एवं क्रान्ति—कांग्रेस चुपचाप नहीं बैठी थी। गांधी जी के नेतृत्व में १६४० ई० में सत्याग्रह आन्दोलन शुरू हुआ। यह सत्याग्रह सामूहिक न होकर व्यक्तिगत था। आचार्य विनोबा भावे सर्वप्रथम और श्री जवाहरलाल नेहरू द्वितीय सत्याग्रही थे। युद्ध के विरोध में कुछ कहना या नारा लगाना ही प्रमुख कार्यक्रम था। फिर लोगों को जेल की यात्रा करनी पड़ी। उधर युद्ध में ब्रिटेन की प्रगति सन्तोषजनक नहीं थी। भारत की सीमा पर युद्ध का बादल मँडरा रहा था। जापान बड़ी तेजी से बढ़ रहा था। अतः मार्च १६४२ ई० में भारतीयों से समझौता करने के लिये ब्रिटिश मंत्रिमंडल के एक सदस्य सर स्टैफर्ड क्रिप्स भारत आये। क्रिप्स के प्रस्ताव कई अंशों में त्रुटिपूर्ण थे। पहिले तो देश कई टुकड़ों में बँट जाता, दूसरे, देशी राज्यों की जनता

की उपेक्षा की गई थी। तीसरे, वायसराय के हाथ में वास्तविक शक्ति थी और रक्षा का भार भी भारतीयों के हाथ में नहीं था। अतः उनके प्रस्ताव अस्वीकृत हो गये और वे निराश लौट गये।

८ अगस्त १९४२ ई० को बम्बई में अखिल भारतीय कांग्रेस समिति का अधिवेशन हो रहा था। अंग्रेजों के लिये 'भारत छोड़ो' का प्रस्ताव पास हुआ। भारतीयों के लिये करो या मरो का सन्देश दिया गया। बस, अब क्या था। अंग्रेज बौखला उठे। सभी नेता जेल में भर दिए गए। देश में व्यापक आन्दोलन शुरू हो गया। ६ अगस्त का दिन था। यह तोड़-फोड़ का आन्दोलन था। जनता ने नेतृत्व अपने हाथ में ले लिया। एक सप्ताह के अन्दर अगणित बर्बादियाँ हुईं। रेल की पटरियाँ

चित्र ३३

उखाड़ी गईं, स्टेशन लूटे गये, डाकखाने जलाये गये और थानों पर हमले हुए। कुछ स्थानों में राष्ट्रीय शासन भी स्थापित कर लिया गया। अनेक शिक्षण संस्थाओं को बन्द कर देना पड़ा। ब्रिटिश सरकार की ओर से दमन-चक्र का भी पूरा जोर रहा। गोरे सैनिकों ने अत्याचार के पहाड़ ढा दिये। अनेक स्थानों में गोलियों की

वर्षा हुई, लाठी-प्रहार हुआ, अश्रुगैस छोड़ि गये। कितने माई के लाल फाँसी पर झूल गये, कितनी ही ललनाओं की माँगों के सिन्दूर धुल गये और अनेक माताओं की गोद सूनी पड़ गई। कितनी रमणियों की प्रतिष्ठा धूल में मिल गई, कितने बच्चे पितृहीन हो गये। अनेक स्थानों में कितने घर द्वार, विद्यालय एवं पुस्तकालय जलकर नष्ट हो गये। सामूहिक अर्थदण्ड लगाया गया। आतंक का राज्य कायम हुआ। १९४५ ई० तक, जब कि द्वितीय महायुद्ध का अन्त हुआ, यही स्थिति बनी रही।

लेकिन इस क्रूरता एवं पाशविकता का परिणाम क्या हुआ? परिणाम वही हुआ जो होना चाहिये। अब गोली एवं तोप का भी भय जाता रहा। राष्ट्रीयता की अग्नि कुछ काल के लिये मन्द हो गई किन्तु वह धीरे-धीरे जलती रही। भारत की वीर सन्तानें अपनी मातृभूमि की बलिवेदी पर मरमिट जाने को तैयार थीं। अब हुतात्मा बनना गौरवपूर्ण समझा जाने लगा। अब ये गीत बड़े ही उत्साह के साथ गाये जाने लगे— 'सर बाँधे कफन शहीदों की टोली निकली' और 'शहीदों की चिताओं पर लगेंगे हर बरस मेले' 'वतन पर मरने वालों का यही आखिर निशाँ होगा'।

१९४३ ई० के प्रारम्भ में ही गांधी जी ने जेल में २१ दिन के लिये उपवास किया। इससे देश चिन्ताग्रस्त हो गया किन्तु सरकार टस से मस नहीं हुई। उसी साल बंगाल में एक भीषण अकाल पड़ा जिसमें हजारों नर-नारी, बच्चे-बूढ़े काल के गाल में चले गये।

१९४३ ई० में ही लार्ड वेवेल वायसराय होकर भारत आये। गांधी जी को कारावास से मुक्त कर दिया गया। उन्होंने लोगों से समझौता करने का विफल प्रयत्न किया। १९४५ ई० के मध्य में एक वेवेल योजना प्रस्तुत की गई और इस पर विचार करने के लिये शिमला में भारतीय नेताओं का एक सम्मेलन बुलाया गया। लीग से मतभेद होने के कारण सम्मेलन असफल हो गया। लीग नेता श्री जिन्ना का कहना था कि कांग्रेस हिन्दू संस्था है और लीगी मुसलमान ही कार्यकारिणी में सम्मिलित होने के अधिकारी थे। लेकिन कांग्रेस तो राष्ट्रीय थी जो कांग्रेसी मुसलमानों की उपेक्षा नहीं कर सकती थी। अतः लीग के विरोधी रुख के कारण सम्मेलन भंग हो गया।

युद्धोत्तर काल १९४६-४७—युद्धकाल में ही एशिया के दक्षिण-पूर्व में श्री सुभाष चन्द्र बोस के नेतृत्व में भारतीय राष्ट्रीय सेना का संगठन हुआ और मित्र राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध घोषित किया गया। लेकिन इसे पूरी सफलता नहीं मिली। युद्ध के अन्त में उक्त सेना के तीन प्रमुख सेनापतियों पर अभियोग लगाया गया

किन्तु भारत के लोग नहीं चाहते थे कि उन पर मुकदमा चलाया जाय। भारतीय लोकमत उन्हें सजा देने के विरुद्ध था। फरवरी १६४६ ई० में तब तक नाविक विद्रोह भी हो गया और इसके साथ अन्य लोग भी सहानुभूति दिखलाने लगे। इसी साल के प्रारम्भ में भारत में पुनः चुनाव हुआ और प्रान्तीय मन्त्रिमंडल का निर्माण हुआ। इंगलैंड में भी चुनाव के कारण श्रम सरकार की स्थापना हुई थी। श्रम सरकार ने एक मन्त्रि प्रतिनिधि मंडल भारत भेजा। १६ मई १६४६ ई० को इस मण्डल ने अपनी योजना प्रस्तुत की। इसके दो भाग थे—दीर्घकालीन एवं लघुकालीन। कांग्रेस ने इसे स्वीकार कर लिया और लीग भी इससे खुश ही थी क्योंकि इस योजना से दोनों की बहुत माँगों की बहुत कुछ पूर्ति हो रही थी। इसके अन्तर्गत संविधान सभा का चुनाव हुआ किन्तु लीग ने इसमें भाग नहीं लिया क्योंकि पाकिस्तान बनाने के लिये वह अपनी अलग संविधान परिषद् चाहती थी। लेकिन कांग्रेस देश-विभाजन के विरुद्ध थी। उस वर्ष के अन्त तक नेहरू ने मन्त्रिमंडल बनाया। इसमें एक समय लीग का भी प्रतिनिधित्व हुआ किन्तु कांग्रेस का साथ इसे पटा नहीं। २० फरवरी १६४७ ई० को ब्रिटिश प्रधान मन्त्री श्री एटली ने घोषणा की कि जून १६४८ के पहले ही ब्रिटिश सरकार भारतीयों को शक्ति हस्तान्तरित कर देना चाहती है। मार्च में वेवेल के स्थान पर माउन्टबेटन वायसराय हुए। उन्होंने ३ जून को भारत-विभाजन की योजना प्रस्तुत की। लीग के साथ समझौता करने के सारे प्रयत्न विफल हुए। अतः कांग्रेस देश-विभाजन की योजना मान लेने के लिये बाध्य हुई। यह तय हुआ कि १५ अगस्त को ब्रिटिश शासन भारत में समाप्त हो जायगा और देश भारत तथा पाकिस्तान के नाम से दो भागों में विभाजित हो जायगा। देशी रजवाड़ों को अधिकार दिया गया कि वे जिसमें चाहें सम्मिलित हो जायँगे। जुलाई में स्वातंत्र्य-नियम पास हुआ और १५ अगस्त को यह लागू हो गया। भारत का विभाजन हो गया किन्तु वह स्वतन्त्र हो गया।

भारतीय स्वतन्त्रता की महत्ता

मानव-समाज के इतिहास में भारतीय स्वतन्त्रता का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। संसार में अब तक जितनी क्रान्तियाँ हुईं वे सभी हिंसात्मक थीं। भारत की स्वाधीनता अहिंसात्मक तरीके से प्राप्त की गई। इसके साधन और साध्य दोनों ही उच्च और पवित्र थे। इसीलिए इसे स्वतन्त्रता प्राप्त करने में कई वर्ष लगे हैं। लेकिन भारत ने अपने लक्ष्य को पूरा करके ही छोड़ा। एक महात्मा के नेतृत्व में अहिंसा के द्वारा इंगलैण्ड जैसी साम्राज्यवादी शक्ति का सफलतापूर्वक सामना करना, दुनिया के इतिहास में आश्चर्यजनक घटना है। राजनीति में अहिंसा का प्रयोग ही भारत की विश्व को

अनुपम देन है। अब इसी भारत की ओर शान्ति-स्थापना के लिए सारा संसार टकटकी लगाए देख रहा है। यह भी निश्चित है कि यही स्वाधीन भारत सत्य तथा शान्ति, सेवा तथा सादगी, प्रेम तथा भ्रातृत्व का दिव्य संदेश मानव-समाज को प्रदान करेगा।

चित्र ३४—महात्मा गांधी

विश्व इतिहास में महात्मा गांधी का स्थान

विश्व-इतिहास के पृष्ठों में अनेक महापुरुषों के नाम आए हैं किन्तु इन सब में महात्मा गाधी का नाम विशेष स्थान रखता है। इतिहास जिन महापुरुषों की चर्चा करता है उनमें कोई कुशल शासक है तो कोई यशस्वी विजेता; कोई प्रकाण्ड पण्डित है तो कोई धर्मप्रचारक; कोई राष्ट्रीय नेता है तो कोई समाज-सुधारक। गाधी जी इन सभी व्यक्तियों से परे हैं। शारीरिक दृष्टि से तो गाधी जी और अन्य पुरुषों में कोई अन्तर नहीं है, परन्तु नैतिक या आध्यात्मिक दृष्टि से महान् अन्तर पाया जाता है। अन्य महापुरुषों के जैसा वे महान् तो हैं ही, साथ ही वे महात्मा भी हैं—यही उनकी विशेषता है। उनका हृदय समुद्र के समान विशाल था और मानव मात्र का कल्याण ही उनके जीवन का लक्ष्य रहा है। सर्वोदयवाद गाधीवाद का ही प्रतीक है। सत्य और अहिंसा गाधी जी के साधन थे और इन्हीं के द्वारा उन्होंने मानव-समाज में सबसे बड़ी क्रान्ति की। उनके सिद्धान्त कोई नवीन नहीं हैं किन्तु राजनीतिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में इनके प्रयोग करने में उनकी महत्ता और मौलिकता है। इस तरह उन्होंने एक नयी विचार-धारा मानव-समाज के सामने प्रस्तुत की है, एक नवीन मार्ग प्रदर्शित किया है। इससे वर्त्तमान सभ्यता का नैतिक स्तर बहुत कुछ ऊँचा हुआ है और अभी आगे ऊपर उठने की आशा की जाती है।

(घ) आधुनिक भारत की सांस्कृतिक प्रगति

शिक्षा

आरम्भ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने शिक्षा की प्रगति में कोई अभिरुचि नहीं दिखलाई। लेकिन १८वीं सदी के अन्तिम चरण में फारसी एवं संस्कृत को प्रोत्साहित करने के लिये कलकत्ते में एक मदरसा और काशी में एक विद्यालय खोले गये। १८१३ ई० में एक लाख रुपया वार्षिक शिक्षा पर खर्च करने के लिये निश्चय हुआ। १८३५ ई० में *शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी भाषा को स्वीकार कर लिया गया।* इस तरह १९वीं सदी के पूर्वार्द्ध में कई स्कूल तथा कालेज खुले। किन्तु इस सदी के उत्तरार्द्ध में विशेष प्रगति हुई। वुड योजना (१८५४ ई०) के अनुसार प्रसिद्ध नगरों में विश्व-विद्यालय खुलने लगे। स्कूल-कालेजों की संख्या बढ़ने लगी। स्त्री-शिक्षा पर भी जोर दिया जाने लगा। प्रत्येक प्रान्त में एक डायरेक्टर के अधीन एक शिक्षा विभाग स्थापित किया जाने लगा। १८८२ ई० में प्राथमिक शिक्षा का भार स्थानीय संस्थाओं को सौंप दिया गया।

२०वीं सदी के पूर्वार्द्ध में शिक्षा के क्षेत्र में बहुत अधिक प्रगति हुई। १९१०

ई० में केन्द्र में एक शिक्षा-विभाग खोला गया। १६१६ ई० के सुधार-नियम के द्वारा प्रान्त में शिक्षा का भार उत्तरदायी मंत्रियों के हाथ में सौंप दिया गया। १६३५ ई० के विधान ने तो प्रान्तों में उत्तरदायी शासन स्थापित किया। अब प्रान्तीय स्वराज्य के अन्तर्गत समस्त देश में शिक्षा का प्रचार हुआ। सरकार की ओर से आर्थिक सहायता दी जाने लगी। अब स्कूल-कालेजों की सख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगी। वयस्क शिक्षा पर भी जोर दिया जाने लगा।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद अन्य क्षेत्रों की भाँति शिक्षा के क्षेत्र में भी पर्याप्त उन्नति हुई है। इस समय भारत में कुल ३२ विश्वविद्यालय हैं जिनमें १० स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद स्थापित हुए हैं। १६४७ ई० के बाद स्कूल-कालेज तथा पुस्तकालयों की सख्या मे बड़ी वृद्धि हुई है। अतः विद्यार्थियों की संख्या में भी वृद्धि हुई है। १६४६ ई० में भारत सरकार की ओर से उच्च शिक्षा की जाँच के लिये राधाकृष्णन कमीशन की नियुक्ति हुई थी। इस कमीशन ने देश के सभी प्रमुख विश्वविद्यालयों का निरीक्षण किया है और महत्वपूर्ण सुझावों को प्रस्तुत किया है।

पढ़ाई के विषय में कला के साथ-साथ वाणिज्य एवं विज्ञान सम्बन्धी शिक्षा के प्रसार पर जोर दिया गया है। इनमें भी स्वतन्त्र भारत में वैज्ञानिक एवं यान्त्रिक विषयों की पढ़ाई पर विशेष ध्यान दिया गया है। वैज्ञानिक अनुसंधान को प्रोत्साहित करने के लिये देश में कई अनुसंधानशालाएँ स्थापित हुई हैं। बगलोर का इंडियन इस्टीट्यूट आॅफ साइन्स प्रसिद्ध है। दार्शनिक तथा ऐतिहासिक साहित्य के अध्ययन को भी प्रोत्साहन मिला है। प्राचीन ऐतिहासिक स्थानों की खुदाइयाँ होने लगी हैं और ऐतिहासिक अनुसधान को भी प्रोत्साहित किया गया है। कई विश्वविद्यालयों में शिक्षा का माध्यम भी राष्ट्रभाषा हिन्दी को मान लिया गया है। अतः हिन्दी मे अन्य भाषाओं से पुस्तकों का अनुवाद हो रहा है और मौलिक पुस्तकें भी लिखी जा रही हैं।

काग्रेस सरकार आत्मनिर्भरता के विकास के लिये पाश्चात्य ढग की शिक्षा प्रणाली के साथ-साथ बुनियादी शिक्षा के प्रचार के लिये भी प्रयत्नशील है।

साहित्य

साहित्य के क्षेत्र में विविध अंगों का विकास हुआ है। भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों के प्रयत्न से सस्कृत के अध्ययन में लोगों की अभिरुचि बढ़ने लगी है। हिन्दी के क्षेत्र में गद्य और पद्य दोनों में रचनाएँ हुई हैं। १६वीं सदी के आरम्भ में लल्लू लालजी (प्रेमसागर) और सदल मिश्र के (नासिकेतोपाख्यान) ने गद्य को प्रोत्साहित

किया और भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र (भारत दुर्दशा) ने इसके विकास मे बहुत सहयोग दिया। उन्होंने भाषा एवं साहित्य दोनों में महत्वपूर्ण सुधार किया। प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बदरी नारायण चौधरी आदि ने भी हिन्दी गद्य को विकसित किया है। हिन्दी के आलोचकों में रामचन्द्र शुक्ल, महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा श्यामसुन्दर दास के नाम उल्लेखनीय हैं। शुक्ल जी का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' बहुत ही प्रसिद्ध है। उपन्यासकारों में प्रेमचन्द का नाम सर्वोपरि है। जयशंकर प्रसाद, उदयशंकर भट्ट आदि प्रसिद्ध नाटककार हुए हैं। कवियों मे अयोध्या सिंह उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त, रामधारी सिंह 'दिनकर', सुमित्रा नन्दन पंत, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, महादेवी वर्मा आदि उल्लेखनीय हैं। हिन्दी में और भी अनेक विद्वान्, लेखक एवं कवि हैं जो इसकी सेवा मे सतत सलग्न हैं। उन सबों का नाम यहाँ उल्लेख करना सम्भव नहीं। काशी नागरी प्रचारिणी सभा और हिन्दी साहित्य सम्मेलन से हिन्दी के प्रचार में बहुत बड़ी सहायता मिल रही है।

उर्दू के क्षेत्र में भी उन्नति हुई। मुसलमान काल से ही इसका विकास हो रहा था। उर्दू के कई प्रमुख केन्द्र थे। उर्दू के भी कई प्रमुख लेखक एवं कवि हुए। कवियों में गालिब एव जकी के नाम बहुत ही प्रसिद्ध हैं। उर्दू साहित्य में इकबाल का नाम बड़ा ही प्रसिद्ध है। सर सैयद अहमद ने भी इसके विकास मे बड़ा सहयोग दिया है। मुस्लिम विश्वविद्यालय (अलीगढ़) तथा उस्मानिया विश्वविद्यालय (हैदराबाद) की स्थापना से उर्दू साहित्य एवं भाषा के विकास मे बड़ी सहायता मिली है।

बँगला के क्षेत्र मे भी कहानी, नाटक, उपन्यास, काव्य आदि विविध अंगों का विकास हुआ। राजा राममोहन राय को आधुनिक बंगला गद्य साहित्य का जनक माना जाता है। उसके बाद केशवचन्द्र सेन, देवेन्द्रनाथ टाकुर, दीनबन्धु मिश्र, द्विजेन्द्र लाल, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर आदि से बँगला के विकास में पर्याप्त सहयोग मिला है। माइकेल मधुसूदन दत्त प्रसिद्ध नाटककार एवं काव्यकार थे। शरत् चन्द्र और बंकिमचन्द्र चटर्जी प्रमुख उपन्यासकार हुए हैं। किन्तु बँगला साहित्य में श्री रवीन्द्र नाथ ठाकुर (१८६७-१९४१) का नाम सर्वोपरि है। केवल भारतीय साहित्य में ही नहीं, विश्व साहित्य मे उनका विशिष्ट स्थान है। वे अंग्रेजी के भी अच्छे विद्वान् थे। कहानी, उपन्यास, निबन्ध, नाटक, कविता आदि सभी क्षेत्रों में उनकी प्रतिभा फूट पड़ी थी। उन्होंने कई रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। उनकी रचनाओं मे शैली की सरलता और भाव की गम्भीरता पायी जाती है। देशी और विदेशी अनेक विद्वान् उनकी कृतियों से बहुत ही प्रभावित हुए हैं। रैमजे मैकडोनल्ड के मतानुसार रवीन्द्र

नाथ की कविता राष्ट्र की कविता है और उसमें सुर तथा संस्कृति दोनों ही हैं। १९१२ ई० में उन्हें गीतांजलि नामक काव्य पुस्तक के लिये नोबुल पुरस्कार भी मिला था।

भारत की अन्य भाषाएँ—मराठी, गुजराती, तामिल, तेलगू, आसामी, उड़िया, मैथिली, भोजपुरी—में भी पर्याप्त प्रगति हुई है। मराठी में विष्णुशास्त्री, गुजराती में बहरामजी तथा श्री के० एम० मुन्शी के नाम उल्लेखनीय हैं।

कला

साहित्य में जितनी प्रगति हुई उसकी तुलना में कला की प्रगति बहुत ही नगण्य रही। कला के पुनरुद्धार के लिये श्री ई० बी० हैवेल तथा डा० आनन्द कुमार स्वामी को विशेष श्रेय प्राप्त है। चित्रकला में एक नवीन शैली का उदय हुआ है। चित्रकारों में *श्री अवनीन्द्र नाथ टाकुर, श्री नन्दलाल बोस और श्री अब्दुलरहमान चगताई के नाम* प्रसिद्ध हैं। आधुनिक काल में संगीत तथा नृत्यकला को भी प्रोत्साहन मिला है। संगीत के विकास में श्री विष्णु दिगम्बर और श्री विष्णु नारायण भारतखण्डे के प्रयत्न सराहनीय हैं। १९२० ई० में एक अखिल भारतीय संगीत परिषद् स्थापित की गई। *वर्तमान सदी के संगीतज्ञों में श्री ओंकारनाथ का नाम उल्लेखनीय है। भारत के* नर्तकों में श्री उदयशंकर और नाट्यकारों में पृथ्वीराज कपूर प्रसिद्ध हैं।

(च) स्वतंत्रता का युग १९४७-५७ ई०

कांग्रेस सरकार के कार्यों का सिंहावलोकन

विकट समस्याएँ—हम देख चुके हैं कि १५ अगस्त १९४७ ई० को भारत स्वतंत्र हो गया। किन्तु इस बीच देश में साम्प्रदायिकता का जोर बहुत बढ़ गया। पाकिस्तान का निर्माण इसी का भयंकर परिणाम था। इसके चलते कितने लोग बेघरबार के हो गये और अपनी जन्मभूमि की गोद से सदा के लिये वंचित हो गये। कितने खून-खतरे हुए। हजारों हिन्दू तथा मुसलमान एक दूसरे के हथियार के शिकार बन कुत्ते की मौत मरे। बहुत बड़ी संख्या में हिन्दू पाकिस्तान से भागकर भारत की ओर आने लगे। उनके वास एवं जीविका का प्रबन्ध करना आवश्यक हो *गया। इस तरह शरणार्थी समस्या विकराल रूप में उठ खड़ी हुई। भारत सरकार* बड़ी ही शान्ति एवं धैर्य के साथ इसे हल करने लगी और इसमें उसे पर्याप्त सफलता भी मिली। साम्प्रदायिकता के कारण भारत पर एक और भीषण वज्रपात हुआ। साम्प्रदायिकता के विष से पागल बनकर नाथूराम गोडसे नामक एक हिन्दू ने राष्ट्रपिता

महात्मा गाधी को ही प्रार्थना-सभा में जाते समय गोली से उड़ा दिया। यह दुर्घटना ३० जनवरी १६४८ ई० को हुई। इस हृदय विदारक समाचार को सुनकर देश-विदेश के लाखों नर नारी शोकातुर हो उठे। पाकिस्तान की ओर से बराबर उलझनें भी पैदा होती रहीं। औद्योगिक क्षेत्र मे पाश्चात्य देशों की तुलना में भारत बहुत ही पिछड़ा हुआ था। द्वितीय महायुद्ध के भयकर परिणाम अलग ही काम कर रहे थे। देश में बेकारी, अन्न-वस्त्र के संकट उत्पन्न हो गये थे। प्रकृति का भी प्रकोप होता रहा। इन भीषण समस्याओं तथा उलझनों के होते हुए विफलताओं का होना स्वाभाविक है। विफलताएँ हुई हैं किन्तु बहुत कम। गृह तथा वैदेशिक दोनों ही क्षेत्रों मे कांग्रेस सरकार को अद्भुत सफलता मिली है।

गृहक्षेत्र में सफलताएँ

संविधान का निर्माण—दिसम्बर १६४६ ई० मे ही एक सविधान परिषद् का चुनाव हुआ। सविधान बनाने के हेतु डॉ० राजेन्द्रप्रसाद की अध्यक्षता मे दिल्ली में इसका अधिवेशन होने लगा। लगभग ३ वर्षों में सविधान बनकर तैयार हो गया। भारतीय सविधान अपने ढग का अकेला है। इसमे ससार के अन्य सविधानों की अच्छाइयों का समावेश किया गया है और साथ ही इसे भारतीय परम्परा के अनुकूल भी बनाया गया है। इसकी कई विशेषताएँ हैं:—(१) यह आधुनिक भारत का सर्व-प्रथम स्वदेशी और ससार का विशालतम सविधान है। (२) संशोधन की दृष्टि मे यह सरल और जटिल दोनों ही है। किन्तु ब्रिटिश सविधान के जैसा न तो सरल है और न अमेरिकी सविधान के जैसा जटिल है। (३) यह धर्म निरपेक्ष है। (४) गणतन्त्रात्मक है और जनता के हाथ मे शक्ति का स्रोत है। जहाँ इगलैंड ने लगभग एक सौ वर्षों के अन्दर ५ बार में बालिग मताधिकार का प्रचार किया, स्वतंत्र भारत ने प्रारम्भ में ही इसका प्रचार कर दिया। (५) इसमें राजनीतिक समता के साथ सामाजिक समता को भी स्थापित किया गया है। (६) अमेरिका के जैसा राज्य का प्रधान राष्ट्रपति है किन्तु इङ्गलैंड के जैसा ससदात्मक एव मत्रिम डलात्मक शासन-व्यवस्था है। (७) इसमें जनता के मौलिक अधिकारों और राज्य-नीति के निर्देशक सिद्धान्तों का उल्लेख है। (८) यह सघीय और एकात्मक दोनों ही है किन्तु इसमें एकात्मक तत्व अधिक हैं। अतः इसमें केन्द्र को सबल बनाया गया है। (९) इसमे एक स्वतन्त्र एव शक्तिशाली सर्वोच्च न्यायलय की व्यवस्था की गई है। (१०) इसमें हिन्दी के रूप में एक राष्ट्रभाषा की व्यवस्था की गई है।

२६ जनवरी १६५० ई० को सविधान लागू हुआ। डा० राजेन्द्र प्रसाद सर्वप्रथम

राष्ट्रपति और श्री जवाहरलाल नेहरू सर्वप्रथम प्रधान मंत्री हुए। अभी ये दोनों ही अपने अपने पद पर आरूढ़ हैं।

चित्र ३५—डा० राजेन्द्र प्रसाद

साधारण चुनाव—भारतीय संविधान के अन्तर्गत भारत का चुनाव संसार का महत्तम जनतंत्रीय प्रयोग है। १९५२ ई० के प्रारम्भ में पहला चुनाव हुआ। उस समय १७ करोड़ ३२ लाख मतदाता थे और लोकसभा के ४९४ तथा राज्य विधान सभाओं के ३२८३ सदस्यों का निर्वाचन हुआ था। केन्द्र और राज्यों में कांग्रेस को बहुमत मिला था। दूसरा चुनाव २५ फरवरी १९५७ ई० से १४ मार्च तक हुआ है। इस बार

मतदाताओं की सख्या में पहली बार से दो करोड़ की वृद्धि हुई है। इस बार लोक सभा के ५०० और राज्यसभाओं के २६०६[1] सदस्यों का चुनाव हुआ है। इसके लिये २३५४ चुनाव क्षेत्र, २६ लाख ६० हजार मत पेटिकाएँ और लगभग ५१ करोड़ मतपत्र तैयार हुए थे। केन्द्र तथा १२ राज्यों[2] में पुनः कांग्रेस को ही बहुमत मिला है और उसी की सरकार बनी है। इस निर्वाचन मे २६ दलों के ६८४० उम्मीदवारों ने भाग लिया। इनमें २८८१ कांग्रेसी उम्मीदवार थे।

देशी राज्यों का अन्त—देश में राजनीतिक एकता की स्थापना एक आश्चर्य-जनक घटना है। इसका श्रेय सरदार पटेल (१८५०-१६५०) और श्री जवाहरलाल नेहरू को प्राप्त है। इन दोनों नेताओं ने अपनी बुद्धिमता से देशी राज्यों का अन्त कर दिया है और इसके लिये एक बूँद रक्तपात भी नहीं हुआ है। यह स्वतंत्र भारत मे रक्तहीन क्रान्ति का उदाहरण है। दो रक्तहीन क्रांतियों के फलस्वरूप देशी राज्यों की स्थिति और भारत के मानचित्र में महान् परिवर्तन हुआ है। पहली क्रांति १६४७-४८ मे और दूसरी १ नवम्बर १६५६ ई० को हुई है। पहली क्रांति का श्रेय श्री पटेल को और दूसरी का श्रेय श्री नेहरू जी को प्राप्त है।

ब्रिटिश शासन काल में ब्रिटिश प्रान्तों के सिवा लगभग ६०० छोटे-बड़े देशी राज्य थे। ये देशी रजवाड़े ब्रिटिश राजा की सत्ता के अधीन थे। अंग्रेजों ने भारत छोड़ने के पूर्व इन्हें स्वतंत्र कर दिया था। यदि उनकी चाल सफल होती तो भारत निश्चय ही रसातल को पहुँच जाता। किन्तु गृह-मंत्री पटेल के प्रयत्न से देशी राज्यों का पुनर्संगठन हुआ और ये भारतीय संघ में मिल गये। कुछ आसपास के प्रान्तों में विलीन हो गये। कुछ राज्यों को मिलाकर संघ बना दिये गये और किसी मुख्य राजा को राजप्रमुख बना दिया गया। मैसूर, हैदराबाद और काश्मीर को पूर्ववत् रहने दिया गया किन्तु यहाँ के राजा भी राजप्रमुख के रूप में स्वीकृत हुए। हैदराबाद तो भारत में मिलने से आनाकानी कर रहा था। अतः उसके विरुद्ध उचित कार्रवाई करनी पड़ी थी। काश्मीर का भी मामला जटिल था किन्तु वह भी भारत

---

[1] इनके अतिरिक्त आंध्र में १६६ सदस्यों का निर्वाचन मार्च १६ ५ ई० में ही हो चुका है। अतः वहाँ इस बार १०५ सदस्यों का ही चुनाव हुआ।

[2] केरल में कांग्रेस को बहुमत नहीं मिला है। केरल में साम्यवादी दल को बहुमत मिला है। साम्यवादियों द्वारा गोली के बदले मत द्वारा विजय प्राप्त करने का संसार मे यह प्रथम उदाहरण है।

का अन्त हो गया है। देशी राज्यों के पुनर्संगठन से जो राज्य बने उन्हें संविधान में 'ब' श्रेणी में रखा गया।
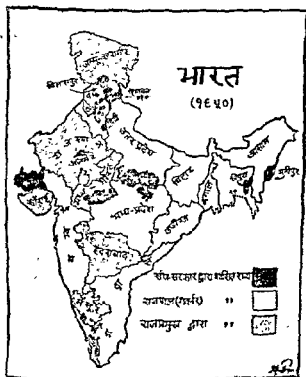
चित्र ३६--गणतंत्र भारत (१९५०)

राजप्रमुख में अन्तर था। राजप्रमुख अनुवांशिक शासक था और उसे सरकार की ओर से कुछ पेंशन मिलती थी। धीरे-धीरे भाषावार राज्यों के निर्माण के लिये लोकमत संगठित होने लगा। कांग्रेस भी पहले से इसके पक्ष में थी। अतः एक राज्य पुर्नसंगठन आयोग की नियुक्ति हुई जिसके सुझावों के आधार पर १ नवम्बर १९५६ ई० को
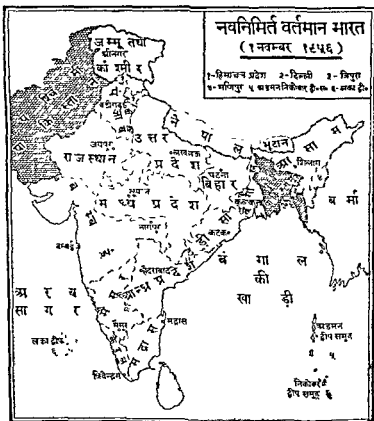
चित्र ३७—नवनिर्मित वर्तमान भारत

भारत का नवीन मानचित्र निर्मित हुआ। अब संघ की इकाइयों के रूप में १४ राज्य[१] कायम हुए हैं। इनके प्रधान को राज्यपाल कहा जाता है। केन्द्र के अधीन ६ प्रदेश[२] रखे गये हैं। अब सभी राज्य एक ही स्तर पर आ गये हैं। अब पुराने देशी राज्यों का अन्त हो गया है और अब राजप्रमुख भी न रहे। हैदराबाद का विघटन हो गया है। इस तरह सामन्तवाद के अवशेष मिट गये। अब भारत पूर्ण सुव्यवस्थित जनतंत्र की ओर अग्रसर है। शान्तिपूर्ण ढंग से ऐसा क्रान्तिकारी परिवर्तन संसार के इतिहास में नहीं मिलेगा।

आर्थिक व्यवस्था—देश के विकास के लिये श्री नेहरू की अध्यक्षता में एक योजना-आयोग का निर्माण हुआ। इसके पथ-प्रदर्शन में दो पञ्चवर्षीय योजनाओं का निर्माण हुआ है। पहली योजना १६५१-५२ में लागू हुई और १६५५-५६ में समाप्त हुई। देश के कई भागों में सामुदायिक परियोजनाएँ और राष्ट्रीय विस्तार सेवा सम्बन्धी योजनाएं कार्यान्वित हुई हैं। इन योजनाओं से अब तक २ लाख २० हजार गाँव और ११ करोड़ लोग लाभान्वित हुए हैं। कृषि की पैदावार को बढ़ाने के लिये सिंचाई, नहर, कुएँ आदि की व्यवस्था की गई है। कितनी नदी-घाटी-योजनाओं का निर्माण हुआ है और उनमें कितनी पूरी भी हो गई हैं जैसे, दामोदर घाटी, मयूराक्षी योजना, हीराकुंड योजना, कोसी योजना आदि। वैज्ञानिक ढंग से खाद तैयार करने के लिये सिंदरी में एक विशाल कारखाना खोला गया है। जमींदारी प्रथा तोड़ दी गई है। भूमि-समस्या हल करने के लिये श्री विनोबा जी के नेतृत्व में भूदान यज्ञ चालू है। सहकारिता तथा पंचायत को प्रोत्साहित किया जा रहा है।

औद्योगिक विकास के लिये भी सरकार प्रयत्नशील रही है। इसके लिये विदेशों से भी पूँजी तथा अन्य सहायता ली गई है। चितरंजन में इंजिन के कारखाने खुले हैं। मद्रास और बम्बई में मोटर तथा साइकिल के तथा मैसूर में हवाई जहाज के कारखाने स्थापित हुए हैं। भारत में जहाज भी बनने लगे हैं और मार्च १६४८ ई० में देश में निर्मित प्रथम जहाज 'जल उषा' का जलावतरण हुआ। इम्पीरियल बैंक और बीमा

---

[१]राजधानी सहित नये राज्यों के नाम—(१) जम्मू तथा काश्मीर-श्रीनगर (२) पूर्वी पंजाब-चंडीगढ़ (३) राजस्थान-जयपुर (४) उत्तर प्रदेश-लखनऊ (५) बिहार-पटना (६) पश्चिमी बंगाल-कलकत्ता (७) आसाम-शिलांग (८) मध्य प्रदेश-भोपाल (६) उड़ीसा-कटक (१०) बम्बई-बम्बई (११) आन्ध्र-हैदराबाद (१२) मैसूर-मैसूर (१३) मद्रास-मद्रास (१४) केरल-त्रिवेन्द्रम।

[२]केन्द्रशासित भाग—(१) हिमाचल (२) दिल्ली (३) त्रिपुरा (४) मणिपुर (५) अन्डमन-निकोबार द्वीप (६) लका द्वीप।

व्यवसाय का राष्ट्रीयकरण हुआ है। निजी एवं कुटीर उद्योग-धन्धों को भी प्रोत्साहित किया जा रहा है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना १९५६-५७ ई० में लागू की गई है। यह प्रथम योजना से बहुत बड़ी है और इसमें औद्योगिक विकास पर अधिक जोर दिया गया है। लोह एवं इस्पात उद्योग के विकास के लिये केन्द्र में एक नया विभाग ही खोला गया है। बोकारो (बिहार) में बिजली पैदा करने के लिये एक विशाल कारखाना स्थापित हुआ है। ऐसे ही भाखरा (पंजाब) में भी एक कारखाना खुला है। मार्च १९५७ ई० में कंदला नामक विशाल बन्दरगाह निर्मित कर खोला गया है।

कृषि तथा उद्योग के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। शिक्षा सम्बन्धी प्रगति पर पहले ही दृष्टिपात किया जा चुका है। समाज सेवा के विविध मदों पर खर्च करने के लिये प्रथम योजना में लगभग ५½ अरब और द्वितीय योजना में ९¾ अरब रुपया स्वीकृत हुआ है। वैज्ञानिक उन्नति के लिये सरकार प्रयत्नशील रही है। १९४८ ई० में इसके लिये केन्द्र में एक विभाग खोला गया है। देश में कई प्रयोगशालाएँ स्थापित की गई हैं। सामाजिक क्षेत्र में स्त्रियों की स्थिति में बहुत सुधार हुआ है। अब वे राजदूत, मंत्री, राज्यपाल जैसे बड़े-बड़े पदों को सुशोभित करने लगी हैं। पिछड़े वर्गों का उत्थान हो रहा है। डाक विभाग में विविध प्रकार के टिकट चलाये गये हैं। २२ मार्च १९५७ ई० से एक नयी जन्त्री चलाई गई है। १ अप्रैल १९५७ ई० से दशमलव पद्धति के आधार पर नये पैसे प्रयोग में आये हैं। नाप-तोल के क्षेत्र में भी दाशमिक पद्धति अपनाने का निर्णय हुआ है।

चित्र ३८—श्री जवाहरलाल नेहरू

पड़ोसी एवं वैदेशिक नीति

परिचय—स्वतंत्र भारत को वैदेशिक नीति में भी पर्याप्त सफलता मिली है। पर-राष्ट्रविभाग प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू के हाथ में रहा है। वे गांधीवादी विचारधारा से बहुत ही प्रभावित हैं। उनका हृदय उदार एवं दृष्टिकोण व्यापक है। वे बड़े ही ईमानदार एवं सच्चे व्यक्ति हैं और समस्त मानव समाज का कल्याण चाहते हैं। अतः वे सब के साथ मिल-जुलकर रहना चाहते हैं। जो भारत से मित्रता करना चाहता है वे उसका स्वागत करते हैं। जो भारत का मित्र नहीं भी उससे भी वे मित्रता करने के लिये उत्सुक रहते हैं। शत्रुता किसी से नहीं और मित्रता सबसे—यही उनकी नीति का प्रमुख ध्येय है।

अन्य देशों से कूटनीतिक सम्बन्ध—स्वतन्त्रता मिलने के पश्चात् भारत संसार के विभिन्न देशों के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने लगा। इस समय तक इसने लगभग ६५ देशों से सम्बन्ध स्थापित किया है। २६ देशों में तो इसके राजदूत रहते हैं और उन देशों के भी राजदूत नयी दिल्ली में रहते हैं।

विश्व शान्ति का प्रोत्साहक—भारत शान्ति-प्रिय देश है और संसार में सर्वत्र शान्ति के लिये उत्सुक है। इसकी राष्ट्रीय नीति में युद्ध के लिये कोई स्थान नहीं है। इसके पास पर्याप्त सेना है लेकिन वह आत्मरक्षा एवं व्यवस्था के लिये है, किसी पर हमला करने के लिये नहीं। लेकिन कोई भूल से यह न समझ ले कि वह युद्ध के डर से या कमजोरी से भागता है। कदापि नहीं। उसमें बहुत शक्ति है किन्तु वह शक्ति संयम से संतुलित है। वह स्वयं किसी पर ईंट फेंकना नहीं चाहता है किन्तु यदि दूसरा उसे ईंट के द्वारा चोट पहुँचाने का प्रयत्न करेगा तो वह उसका जवाब पत्थर से देगा। यदि उसे दूसरा कोई नहीं छेड़ेगा तो वह दूसरे को छेड़ने नहीं जायगा। वह पंचायत और समझौते के द्वारा मतभेद को दूर करना चाहता है।

विश्व-शान्ति को स्थायित्व प्रदान करने के लिये नेहरूने विश्व को पंचशील नामक सन्देश दिया है। यह संसार को एक महत्वपूर्ण देन है। यह अशान्ति, भय एवं शंका के रोगों को दूर करने के लिये रामबाण औषधि है। इसमें ५ सिद्धान्त हैं—एक दूसरे के आन्तरिक मामलों में अहस्तक्षेप, प्रादेशिक अखण्डता, समानता, अनाक्रमण और सह-अस्तित्व। संसार के कई देशों ने इसको महत्ता स्वीकार कर ली है।

कोरिया और मिश्र में युद्ध को रोकने में भारत ने सराहनीय प्रयत्न किया है। फारमोसा के सम्बन्ध में चीन तथा अमेरिका के बीच तनाव को कम करने में भी भारत ने भाग लिया है।

विचार-विनिमय एवं मित्रता को प्रोत्साहित करने के लिये शिष्टमंडल तथा प्रमुख पदाधिकारियों एवं नेताओं का एक दूसरे के देशों में आना जाना लगा रहता है। १९५५ ई० में रूस के प्रधान मंत्री श्री बुल्गानिन और कम्युनिस्ट पार्टी के मंत्री श्री ख्रुश्चेव का भारत में आगमन हुआ था और सोवियत रूस ने भी प्रधान मंत्री नेहरू का स्वागत किया था। विशिष्ट अतिथियों की भारत-यात्रा की दृष्टि से १९५६ का साल बड़ा ही महत्वपूर्ण है। इस साल चीन, बर्मा, नेपाल, लंका, हिन्देशिया और सिंगापुर के प्रधान मंत्री, पश्चिमी जर्मनी और रूस के उपप्रधान मंत्री, ब्रिटेन के भूतपूर्व प्रधान मंत्री एटली, राष्ट्र संघ के अध्यक्ष और महामंत्री, ईरान एवं अबीसीनिया के शाह और कम्बोडिया के राजकुमार, तिब्बत के लामा भारत में पधारे थे। श्री नेहरू भी लंदन, सऊदी अरब, अमेरिका तथा अन्य देशों में गये थे। हाल ही में ७ मार्च १९५७ ई० को डेनमार्क के प्रधान मंत्री श्री हंसेन भारत में पहुँचे थे।

१९५६ ई० में भारत ने बुद्ध की २५०० वीं परिनिर्वाण तिथि के उपलक्ष में बड़े धूमधाम से उत्सव का आयोजन किया। इस अवसर पर बहुत बड़ी संख्या में विभिन्न देशों से बौद्ध यात्री और बौद्ध-जगत के दो महान नेता दलाईलामा एवं पंचेन लामा भारत में आये थे। इस तरह अशान्त संसार को बौद्ध सन्देश पहुँचाने का प्रयत्न किया गया।

संयुक्त राष्ट्र संघ के साथ सहयोग—भारत अन्तर्राष्ट्रीय संघ संयुक्त राष्ट्र का एक सदस्य है और इसकी विभिन्न शाखा प्रशाखाओं में इसके प्रतिनिधि भरे हैं। भारत संयुक्त राष्ट्र को सहयोग देने के लिये सतत प्रयत्नशील है। अभी हाल में जब संयुक्त राष्ट्र की संकटकालीन सेना मिस्र में भेजी गई तो भारत ने भी उसमें अपनी सेना का एक भाग भेजा। १९५६ ई० में इसकी एक शाखा यूनेस्को का अधिवेशन दिल्ली में ही किया गया है।

भारत की तटस्थता—भारत की वैदेशिक नीति तटस्थता पर आधारित है। किन्तु *यह तटस्थता निष्क्रिय नहीं है, बल्कि गतिशील है।* इसका तात्पर्य यह है कि भारत दुनिया की किसी भी शक्तिमूलक गुट के साथ नहीं है। परन्तु यह विश्व के रंगमंच पर मूकदर्शक भी नहीं है। यह प्रत्येक विषय पर उसके महत्व की दृष्टि से विचार करता है। यह न्याय तथा शान्ति का समर्थक है। समानता, स्वतंत्रता और भ्रातृत्व ये ही इसकी वैदेशिक नीति के मूलाधार हैं। यह अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में स्वतंत्र रूप से अपना मत देता है। जो पक्ष उचित एवं न्याय के पथ पर रहता है, भारत उसका समर्थन करता है। लेकिन शस्त्र से रक्तपात के द्वारा नहीं बल्कि शान्तीय ढंग से विरोध एवं निन्दा के द्वारा। उसने कोरिया में पाश्चात्य राष्ट्रों की नीति की आलोचना की थी। अभी

१९५६ के अन्त में मिश्र और हंग्री में जो घटनाएँ हुई उनके सम्बन्ध में भारत ने अपना मत प्रकट किया। उसने मिश्री नीति का समर्थन किया और आंग्ल-फ्रांसीसी हमले की निन्दा की। हंग्री में रूसी नीति की आलोचना की। ब्रिटेन तथा रूस को यह आलोचना अच्छी नहीं लगी थी। लेकिन भारत को किसी से द्वेष नहीं। भारत के प्रधान मंत्री खुशी से कभी रूस गये तो कभी अमेरिका भी गये। इंगलैंड तो वे प्रायः जाते ही रहते हैं।

राष्ट्र मंडल—भारत प्रारम्भ से ही राष्ट्रमंडल का भी एक सदस्य है। १९५० ई० में ही कुछ लोग राष्ट्र मंडल की सदस्यता को नापसन्द करते थे। किन्तु प्रधान मंत्री नेहरू को इसमें लाभ ही दीख पड़ा, कोई हानि नहीं। अतः राष्ट्रमंडलीय सम्मेलन में नेहरू बराबर भाग लेते रहे हैं। १९५६ ई० में इंगलैंड ने फ्रांस के साथ मिलकर मिश्र पर हमला किया और १९५७ ई० के प्रारम्भ में सुरक्षा परिषद् में काश्मीर के प्रश्न पर भारत के हित के विरुद्ध काम किया। अतः फिर राष्ट्रमंडल की सदस्यता का भारत में विरोध किया जाने लगा। किन्तु नेहरू ने बदला लेने की भावना से प्रेरित होकर राष्ट्रमंडल से सम्बन्ध विच्छेद करना उचित नहीं समझा और सदस्यता कायम रखने पर ही जोर दिया।

एशिया—भारत की सीमा पर उसके आठ पड़ोसी हैं—नेपाल, तिब्बत, भूटान, सिक्किम, चीन, बर्मा, लंका और पाकिस्तान। नेपाल के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध है और १९५० ई० के मध्य में दोनों देशों में एक सन्धि हुई। नेपाल के महाराजा श्री त्रिभुवन ने काठमाँडू से भागकर दिल्ली में ही शरण पायी थी और वे भारत के सम्मानित अतिथि रहे थे। नेपाल के नये राजा श्री महेन्द्र ने सपत्नीक भारत का भ्रमण किया और अक्टूबर १९५६ ई० में राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद का भी नेपाल में शानदार स्वागत हुआ। नवम्बर मास में नेपाल के प्रधान मंत्री श्री टंक प्रसाद आचार्य का भी भारत में आगमन हुआ। सिक्किम भारत के अधीन एक सुरक्षित राज्य के रूप में है और उसकी सुरक्षा तथा वैदेशिक नीति भारत के हाथ में है। भूटान ने भी एक सन्धि की है और अपना पर-राष्ट्र सम्बन्ध भारत के हाथ में सौंप दिया है। तिब्बत से भी राजनीतिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध है। नवम्बर १९५६ ई० में दलाई लामा और पणछेन लामा का भारत में खूब स्वागत हुआ था। बर्मा और लंका से भी मैत्री सम्बन्ध है और गत वर्ष (१९५६) दोनों देशों के प्रधान मन्त्रियों का भारत में आगमन हुआ था। इस समय भारत ने बर्मा को आर्थिक सहायता दी और बर्मा ने भारत को चावल से मदद की है। चीन और भारत का तो सम्बन्ध बहुत प्राचीन है। स्वतन्त्र भारत ने इस परम्परा को पुनर्जीवित करने का भरपूर प्रयत्न किया है। यह राष्ट्रवादी चीन का मित्र तो था ही, साम्यवादी चीन के साथ भी इसकी मित्रता बनी हुई है।

वहाँ के प्रधान मंत्री श्री चाउ-एन-लाई इस समय तक दो बार भारत का भ्रमण कर चुके हैं। उन्होंने ही पहले श्री नेहरू के साथ पंचशील का समर्थन किया है। श्री नेहरू संयुक्त राष्ट्र संघ में चीन के प्रवेश के लिये सतत प्रयत्नशील हैं। चीन और भारत में तिब्बत को लेकर जो कभी मतभेद था वह समझौता के द्वारा दूर हो गया। पाकिस्तान के साथ अनेक उलझनों के होते हुए भी भारत उसके साथ मेल-मिलाप की नीति बरतता रहा है। १९४७ ई० में ही मतभेद, तनाव एवं दंगे के बीच भारत ने पाकिस्तान को ५५ करोड़ रुपये देकर अपनी सद्प्रवृत्ति का अपूर्व परिचय दिया। पाकिस्तान ने काश्मीर के कुछ हिस्से पर शुरू से ही अधिकार कर लिया है। भारत उसे बलपूर्वक कब न निकाल सकता था। किन्तु शान्ति के हेतु उसने समझौते की नीति का ही आश्रय लिया है।

एशिया के अन्य देशों के साथ भारत का घनिष्ठ सम्बन्ध है। १९५४ ई० में भारत सरकार के शिक्षा मंत्री अबुल कलाम अजाद ने कुछ मुस्लिम देशों में भ्रमण किया था। हिन्देशिया को स्वतन्त्रता-प्राप्ति में भारत से बहुत सहायता मिली है। इसके सम्बन्ध में दिल्ली में एक एशियायी सम्मेलन का भी आयोजन किया गया था।

अफ्रीका—*एशिया और अफ्रीका दोनों ही पाश्चात्य साम्राज्यवाद के शिकार रहे हैं। अतः अफ्रीकी देशों के साथ भी भारत की सहानुभूति रही है। मिश्र पर जब ब्रिटेन तथा फ्रांस ने हमला किया तो नेहरू ने इसकी घोर निन्दा की और राष्ट्रपति नासिर की नीति का समर्थन किया। एशिया तथा अफ्रीका के देशों में सहयोग बढ़े और सामान्य विषयों पर विचार-विमर्श हो, इसके लिये नेहरू जी बराबर प्रयत्न करते रहे हैं। १९५५ ई० में बाँडुंग सम्मेलन इसी प्रयत्न का सक्रिय रूप था।*

प्रवासी भारतीय—संसार के कई देशों में भारतीय रहते हैं। न्यूजीलैंड आदि देशों में वे सुख-शान्तिपूर्वक रहते हैं। किन्तु दक्षिणी अफ्रीका में रंग-भेद की नीति के कारण भारतीयों की दुर्दशा है। भारत सरकार इस जातीय भेदभाव का विरोध करती रही है। लंका में भी भारतीय नागरिकता के अधिकार से वंचित हैं। आशा है कि श्री भंडारनायक के प्रधान मंत्रित्वकाल में समस्या का कुछ निराकरण हो।

भारत में विदेशी बस्तियाँ—स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी भारत में कहीं कहीं विदेशी बस्तियाँ कायम रह गयी थीं। चन्द्रनगर एवं पाँडीचेरी में फ्रांस के और गोवा एवं डैमन में पुर्तगाल के राज्य स्थापित थे। भारत सरकार विदेशी उपनिवेशवाद के इन अवशेषों का विरोध करती रही है। फ्रांस तो अपनी बस्तियों को स्वतंत्र कर शान्तिपूर्वक भारत से चला गया। लेकिन पुर्तगाल भारत से हटने में बड़ा ही आना-कानी कर रहा है। उसे पता नहीं है कि उसके दिन भी लद चुके हैं। १९५४ ई० से

ही गोवा में उसके विरुद्ध आन्दोलन चल रहा है। भारत सरकार की भी गोवा-वासियों के साथ पूरी सहानुभूति है।

उपसंहार—हम देख चुके कि स्वतंत्र भारत तो अभी १० वर्ष के एक बच्चे की भाँति है किन्तु इतने ही समय में इसे जो अद्‌भुत सफलता मिली है, वह विस्मय-कारिणी है। इससे 'होनहार बिरवान के होत चिकने पात' वाली कहावत चरितार्थ होती है। भारत का भविष्य उज्ज्वल एवं आशामय है। इसका अधिकांश श्रेय श्री जवाहर लाल जी के नेतृत्व को प्राप्त है।

अध्याय १६

पश्चिमी एशिया में राष्ट्रीयता—इस्लामी राज्य

भूमिका

पश्चिमी एशिया में तुर्की, सीरिया, फिलिस्तीन, ट्रांसजोर्डन, ईराक तथा सऊदी अरब सम्मिलित हैं। तुर्की को छोड़कर अन्य सभी देशों में अरबों का बहुमत है। ये सभी देश प्रथम महायुद्ध तक तुर्की साम्राज्य के अंग थे; किन्तु युद्ध के बाद साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। तुर्कों ने मुस्तफा कमालपाशा के नेतृत्व में तुर्की राष्ट्रीय राज्य स्थापित किया। अरबों के देश तुर्की साम्राज्य से तो मुक्त हो गए, लेकिन वे पाश्चात्य साम्राज्य-वाद के शिकार हुए। युद्ध के पहले इन राज्यों को स्वाधीनता देने के लिए वादा किया गया। अरबों ने दिल खोलकर मित्र राष्ट्रों की सहायता की। किन्तु युद्ध के अन्त में अरबों को निराशा हुई। राष्ट्र संघ के अधीन सीरिया फ्रांस के और फिलिस्तीन तथा ईराक इंगलैण्ड के संरक्षण में सौंप दिये गए। शासनादेश या मैंडेट का सिद्धांत साम्राज्यवाद का सुन्दर पर्दा था। इन छोटे राज्यों को राजनीतिक विकास के लिए बड़े राज्यों के अधीन सौंपा गया, लेकिन वे अपने स्वार्थ के लिए इन राज्यों का शोषण ही करते रहे। एक राजनीतिज्ञ[१] के शब्दों में 'शायद इसकी मिसाल यह हो सकेगी कि कुछ गायों या हिरनों के हितों की हिफाजत के लिए किसी शेर को मुकर्रर किया जाय।' परिणाम यह हुआ कि इन छोटे राज्यों में भी जागृति हुई, शासनादेश और अरब राष्ट्रीयता के सिद्धांतों में संघर्ष होने लगा और अन्त में ये अरब राज्य भी स्वाधीनता प्राप्त करने में सफल हुए।

(क) तुर्की

एशिया के अन्य देशों की भाँति तुर्की भी पाश्चात्य साम्राज्यवाद की चक्की में पीसा जा रहा था। शासन भी दुर्बल था। द्वितीय सुलतान अब्दुल हमीद भोग-विलास में व्यस्त रहता था और निरंकुश शासन का समर्थक था। अतः देश की आंतरिक दशा बड़ी ही बुरी थी। अधीनस्थ राज्य स्वतंत्र होने के लिए प्रयत्नशील थे। केवल अंतर्राष्ट्रीय प्रतिद्वंद्विता के ही कारण साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने से बचा था। अतः वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ में पश्चिमी शिक्षा प्राप्त तरुण तुर्कों का एक दल स्थापित

---

१ श्री जवाहरलाल नेहरू—विश्व इतिहास की झलक, भाग २ (१६३८), पृ० १०६८।

हुआ। यह दल तुर्की मे सुधार और वैधानिक कार्य की स्थापना चाहता था। इसके लिए जो आदोलन हुआ वह 'तरुण तुर्क आदोलन' कहलाता है। यह आदोलन सफल हुआ, रक्तहीन क्राति हुई और देश मे वैधानिक शासन स्थापित हुआ। एक पार्लियामेंट का निर्माण हुआ और वास्तविक सत्ता तरुण तुर्क दल के हाथों में आ गई। लेकिन युवक तुर्क अन्य जातियों को स्वतंत्र करना नहीं चाहते थे और उन पर पूर्ववत् अत्याचार होता रहा।

१९१४ ई० में प्रथम महायुद्ध का सूत्रपात हुआ। तुर्की का रूस से मनमुटाव था। अतः उसने युद्ध में जर्मनी का पक्ष लिया। युद्ध समाप्त होने पर जर्मनी के साथ तुर्की की भी पराजय हुई। वह पहले ही से दुर्बल था। महायुद्ध के पूर्व उसे बालकन राज्यों तथा इटली से लड़ना पड़ा था। अतः जर्मनी से भी पहले उसने मित्रराष्ट्रों से सन्धि कर ली। उसके सारे यूरोपीय प्रान्त उसके हाथ से निकल गये और उसके राज्य में अव्यवस्था छा गई। मुहम्मद छठाँ तुर्की का सुलतान था जो १९१८ ई० में सिंहासना-रूढ़ हुआ था। वह नाम मात्र का शासक था। उसमें न दृढ़ता थी, न देश-प्रेम। वह विदेशियों के हाथ का खिलौना बन रहा था। ऐसा प्रतीत होता था कि यूरोप के मरीज का अन्तिम संस्कार करना पड़ेगा। लेकिन ऐसा होने को नहीं था। इसी समय तुर्की के राष्ट्रवाद का उत्थान हुआ, उसमें एक नयी जान आ गई और इसका श्रेय मुस्तफा कमाल पाशा को है।

मुस्तफा कमाल पाशा (१८८०-१९३८) आधुनिक तुर्की का जन्मदाता है। वर्तमान युग के राष्ट्र-निर्माताओं में उसका भी एक महत्वपूर्ण स्थान है। रूस के लिए लेनिन का जो स्थान है वही तुर्की के लिए मुस्तफा कमाल पाशा का है। मुस्तफा बड़ा ही तीव्र बुद्धि का व्यक्ति था। उसका विद्यार्थी जीवन बड़ा ही होनहार था और उसी समय उसे कमाल की उपाधि मिली थी, क्योंकि वह किसी-किसी विषय में कमाल कर दिखाता था। उसी के प्रयास से १९०८ ई० में तुर्की में सफल क्रांति हुई और वैधानिक शासन स्थापित हुआ। लेकिन इतने ही से तुर्की की प्रगति होने को नहीं थी। महायुद्ध के पश्चात् विजेता राष्ट्रों ने इसे विभाजित करने की चेष्टा की। युद्धकाल में ही इसका कुछ भाग इटली को दे दिये गये थे और युद्ध के अन्त में वहाँ यूनानियों को भेजा गया। यूनानियों ने तुर्कों के साथ क्रूरतापूर्वक व्यवहार किया। मुस्तफा ने राष्ट्रवादियों को सगठित किया और १९१९ ई० में सेवास नगर में उनका सम्मेलन हुआ। इसमें एक राष्ट्रीय पत्र प्रकाशित हुआ जिसमें ५ बातों पर जोर दिया गया था—आत्म निर्णय, कुस्तुन्तुनिया की रक्षा, मुहानों की मुक्ति, अल्पसंख्यकों के अधिकार और विदेशी अधिकारों का अन्त। मित्रराष्ट्रों को यह बात पसन्द न आयी। क्योंकि यह उनके स्वार्थ पर कुठाराघात था। उन्होंने हिंसात्मक तरीके से राष्ट्रवादियों का सामना करना चाहा किन्तु इससे तो तुर्कों

की राष्ट्रीय भावना और भी जाग्रत हो उठी। कुस्तुन्तुनिया में संसद् की बैठक हो रही थी और इसने राष्ट्रीय पत्र की शर्तों को स्वीकार कर लिया था। इसी समय एक अँग्रेजी सेना कुस्तुन्तुनिया पहुँची और उसने वहाँ सैनिक-शासन घोषित कर दिया। संसद् के कई सदस्यों को पकड़कर माल्टा द्वीप में निर्वासित कर दिया गया

इसके कुछ ही महीने बाद सेवरे की सन्धि की शर्तें प्रकाशित हुईं। यह मित्रराष्ट्रों का काला कारनामा था। इसमें तुर्की के अस्तित्व को ही मिटा देने का कुचक्र रचा गया था। इससे राष्ट्रीय आन्दोलन को बहुत प्रोत्साहन मिला। कुस्तुन्तुनिया के शासक ने सेवरे की सन्धि को स्वीकार कर लिया। इससे राष्ट्रवादी बड़े ही क्रुद्ध हुए और उन्होंने अंकारा में, जहाँ तुर्की की राजधानी स्थापित हुई, अपनी पृथक सरकार कायम कर ली और सुलतान के पद को उठा दिया। उन्होंने तुर्की में भेजे गये यूनानियों को पराजित किया। अब सेवरे की सन्धि रद्द कर दी गयी और लौजेन की एक नयी सन्धि हुई। इस सन्धि के द्वारा तुर्की की स्वतन्त्रता स्वीकार कर ली गई। २३ अक्टूबर १९२३ ई० को तुर्की में जनतंत्र की घोषणा हुई। मुस्तफा कमाल पाशा इसके प्रथम राष्ट्रपति और इसमत पाशा प्रथम प्रधान मंत्री हुए। दूसरे साल परम्परागत खलीफा के पद को भी उठा दिया गया। इस पर मुस्लिम देशों में बड़ी हलचल पैदा हुई किन्तु मुस्तफा तनिक भी विचलित नहीं हुआ।

इस तरह तुर्की ने पाश्चात्य राष्ट्रों के चंगुल से अपने को मुक्त किया। इसकी सफलता के कई कारण थे। राष्ट्रवादियों का अदम्य उत्साह और अनुपम त्याग, मुस्तफा कमाल का कुशल नेतृत्व, उसकी संगठन शक्ति, उसकी प्रतिभा तथा सोवियत रूस की सहायता विशेष उल्लेखनीय है। महायुद्ध के अन्त में इंगलैंड और फ्रांस में भी मत-भेद हो गया था। फ्रांस जर्मनी को दुर्बल रखना चाहता था किन्तु इंगलैण्ड इसका समर्थक नहीं था। अतः यूनानी-तुर्की संघर्ष में जब इङ्गलैण्ड ने यूनानियों का पक्ष लिया तो फ्रांस ने तुर्कों का समर्थन किया।

सुधार

अब तुर्की का जनतन्त्र राज्य सुधार के मार्ग पर अग्रसर हुआ। इसका सब ढाँचा जनतन्त्र का अवश्य ही था किन्तु वास्तविकता कुछ और थी। मुस्तफा कमाल पाशा तुर्की का अधिनायक था और अपने विरोधियों के साथ कोई सहानुभूति नहीं रखता था। आवश्यकता पड़ने पर वह सैन्य-बल का भी प्रयोग करने में नहीं हिचकता था। रूस के पीटर महान के समान उसने तुर्की को पाश्चात्य सभ्यता के रंग में रँगना चाहा। लेकिन पीटर की अपेक्षा मुस्तफा अपने काम में अधिक सफल हुआ। राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक आदि क्षेत्रों में सुधार का ताँता बँध गया और मध्य-

कालीन तुर्की आधुनिक राज्य के रूप में परिवर्तित हो गया। तुर्कों ने उसकी सेवाओं को स्वीकार किया और उसे अतातुर्क (तुर्कों का पिता) की पदवी से विभूषित कर अपनी कृतज्ञता प्रकट की।

तुर्की समाज में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। पश्चिमी वेष भूषा तथा रस्म-रिवाजों को प्रोत्साहित किया गया। हैटकानून के द्वारा तुर्की टोपी फेज के बदले हैट पहनने का नियम बना। इस नियम की उपेक्षा करने वालों पर अभियोग लगाया जाता था और उन्हें कठोर सजा दी जाती थी। अब तुर्की में हैट की भरमार होने लगी और फेज लुप्त होने लगा। सलाम करने की पुरानी प्रथा को हटाकर हाथ मिलाने की प्रथा चलायी गई। दाढ़ी रखने पर भी प्रतिबन्ध लगाया गया।

तुर्की में धर्म निरपेक्षता को प्रोत्साहित किया गया। खलीफा के पद को तो उठा ही दिया गया था। प्रारम्भ में इस्लाम को राज्य-धर्म के रूप में स्वीकार किया गया था किन्तु १९२८ ई० में ही इसका भी अन्त हो गया। एक संशोधन के द्वारा संविधान से धर्म सम्बन्धी धारा को हटा ही दिया गया। अब पदग्रहण के अवसर पर शपथ लेने में अल्लाह का कोई उल्लेख नहीं होने लगा। अब धर्म का राज्य के अन्दर कोई स्थान न रहा और वह एक व्यक्तिगत चीज बन गया। मठों (खानकाहों) और धर्माश्रमों की धन-जायदाद पर राज्य का अधिकार हो गया और फकीरों (दर्वेशों) को काम कर अपना भरण-पोषण करने के लिये बाध्य किया गया। मस्जिद से सम्बन्धित विद्यालय तोड़ दिये गये और शिक्षण संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा अवैध घोषित कर दी गई। पुरानी धार्मिक प्रथाएँ नष्ट होने लगीं और उनके स्थान पर नयी प्रथाएँ कायम होने लगीं। अब शुक्रवार के बदले रविवार को साप्ताहिक छुट्टी मिलने लगी। पाश्चात्य जन्त्री तथा अंकों का व्यवहार होने लगा। इस्लाम के प्रतिकूल मूर्ति, चित्र तथा संगीत कलाओं को प्रोत्साहित किया गया। अद्भुतालय एवं कला केन्द्र खुलने लगे और कलाकारों को पुरस्कृत किया जाने लगा। शरियत तथा हदीस की कानूनी महत्ता जाती रही और स्वीट्जरलैंड, इटली तथा जर्मनी के आधार पर क्रमशः दीवानी, फौजदारी तथा व्यापारिक कानून प्रचलित किये गये।

भाषा एवं शिक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण सुधार हुए। अब तक मुस्लिम मदर्सों में धार्मिक शिक्षा की प्रधानता थी। अब वैसी संस्थाएँ उठा दी गईं। मस्जिद विद्यालय में परिवर्तित किये जाने लगे। प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य कर दी गई। प्रारम्भिक अवस्था में इतिहास, भूगोल, अंकगणित तथा भाषा एवं साहित्य की पढ़ाई होती थी। माध्यमिक तथा उच्च विद्यालयों की भी स्थापना होने लगी। शिक्षकों के लिये प्रशिक्षणालयों की स्थापना हुई। अब विद्यार्थियों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगी। शिक्षा के व्यावहारिक पक्ष पर विशेष ध्यान दिया जाता था। विदेशी

पादरियों की देख-रेख में भी कुछ स्कूल-कालेज चलते थे। इन पर भी तुर्की सरकार का नियन्त्रण स्थापित हुआ। इन शिक्षालयों में भी धर्म-शिक्षा बन्द कर तुर्की विषयों को प्रमुखता दी गई।

शिक्षा-प्रचार के लिये साक्षरता आन्दोलन चला और जहाँ-तहाँ वयस्क-शिक्षा-केन्द्र खुलने लगे। कमाल पाशा ने स्वयं इसमें विशेष अभिरुचि दिखलायी और वयस्कों को पढ़ाकर एक आदर्श उपस्थित किया था।

लिपि का पश्चिमीकरण एवं भाषा का राष्ट्रीयकरण हुआ। अरबी लिपि के बदले रोमन लिपि का प्रचार हुआ। तुर्की भाषा से अरबी फारसी के शब्दों का यथासम्भव बहिष्कार किया गया। अब व्यक्तियों तथा स्थानों के नाम में भी परिवर्तन होने लगा जैसे कुस्तुन्तुनिया का इस्ताम्बूल, अगोरा का अकारा नामकरण हुआ। अब नयी लिपि एवं शुद्ध भाषा में पुस्तकों तथा अखबारों का प्रकाशन होने लगा। किसी भी व्यक्ति के लिये, जो १६ से ४० वर्ष के बीच की उम्र का था, नयी लिपि सीखना अनिवार्य था।

यदि कोई पदाधिकारी या कर्मचारी लैटिन लिपि सीखने के लिये प्रयत्न नहीं करता था तो उसे अपनी नौकरी से हाथ धोने की नौबत आ सकती थी। कैदियों को भी नयी लिपि सीखने की सुविधा दी गई। नमाज तथा अजाँ अरबी में ही पढ़ने की प्रथा थी। किन्तु एक नियम के द्वारा इसे भी रोक दिया गया। इस पर बड़ी खलबली मच गयी, विरोध संगठित किया जाने लगा, दंगा-फसाद शुरू हो गया। किन्तु कमाल ने इन विरोधों का भी दमन किया।

नारी-जगत में महान परिवर्तन हुआ। स्त्रियों की स्थिति बहुत सुधर गई। उन्होंने भी स्वाधीनता-संग्राम के साथ सहानुभूति दिखलायी थी। उनका स्थान पुरुषों के समान कर दिया गया। पर्दे तथा बुर्के उठाये जाने लगे। बालविवाह, बहुविवाह का अन्त होने लगा। अब विवाह की रजिस्ट्री की जाने लगी और पति-पत्नी दोनों की इच्छा से ही सम्बन्ध-विच्छेद हो सकता है। स्त्रियों में शिक्षा का प्रचार हुआ और सह-शिक्षा की ही अधिकतर व्यवस्था की जाने लगी। अब वे सार्वजनिक कामों में हाथ बँटाने लगीं। उन्हें मताधिकार मिला और वे विधान सभा में प्रवेश करने लगीं। वे राज्य के किसी पद के लिये उम्मीदवार होने लगीं। वे पुरुषों की तरह वकील, न्यायाधीश, शिक्षक, चिकित्सक आदि सभी पदों को सुशोभित करने लगीं। अपने अधिकारों की रक्षा के लिये उन्होंने एक संस्था भी स्थापित कर ली थी जो नारी-अधिकार-रक्षण-संघ के नाम से प्रसिद्ध थी। अब वे कार्यालयों, कारखानों तथा दूकानों में सर्वत्र दिखाई पड़ने लगीं। लघुलिपि (शार्टहैंड) तथा टाइप के कामों में ये बहुत उपयुक्त सिद्ध हुईं और बहुत बड़ी संख्या में इन कामों के लिये उनकी नियुक्ति भी हुई। स्त्रियों को नाच-गान की भी शिक्षा दी जाती थी।

आर्थिक क्षेत्र में प्रगति के मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ थीं। सरकारी कोष खाली था। सार्वजनिक कर्ज का भी बोझ था। यूनानियों के बहिष्कार से भी देश को बड़ी क्षति हुई थी। वे कुशल श्रमिक एवं व्यापारी थे। अतः देश में पूँजी एवं कुशल श्रम दोनों ही का अभाव था। कृषकों की दशा भी शोचनीय थी। वे पुराने ढंग से पुराने औजारों के द्वारा ही खेती करते थे। इस तरह कमाल पाशा की सरकार ने देश की आर्थिक प्रगति का प्रारम्भ साफ स्लेट पर ही नहीं बल्कि प्रतिकूल परिस्थिति के साथ किया। सरकार को अपने प्रयत्न में बहुत नहीं, तो भी पर्याप्त सफलता मिली।

कृषि की उन्नति के लिये कृषि विद्यालय एवं कालेज खोले गये। अध्ययनार्थ आदर्श-कृषि-क्षेत्र निर्मित हुए। वैज्ञानिक ढंग से खेती की जाने लगी। कृषकों को ऋण, औजार तथा बीज देने की व्यवस्था की गई। कृषि बैंक तथा कृषि सहयोग समितियों की स्थापना हुई। सरकार ने कृषकों को कुछ टैक्सों से भी मुक्त कर दिया। इस तरह रुई, तम्बाकू, चावल, गेहूँ, जौ आदि कृषि उत्पादन में बहुत वृद्धि होने लगी। पशुपालन पर भी विशेष ध्यान दिया जाने लगा। आर्थिक विकास के लिए एक पंचवर्षीय योजना का निर्माण हुआ। उद्योग-धन्धों के विकास के लिये विदेशों से खासकर रूस से सहायता ली गई। देशी पूँजीपतियों को भी प्रोत्साहित किया गया। कल-कारखाना खोलने वाले को सुविधा प्रदान की जाती थी। सरकार आर्थिक सहायता देती थी। तम्बाकू, दियासलाई, सिगरेट आदि कुछ व्यवसायों का राष्ट्रीयकरण भी हुआ। चीनी, दरी, कपड़े आदि के उत्पादन में वृद्धि हुई। एक राष्ट्रीय बैंक खोला गया। विशेष शिक्षा के लिये तुर्कों को विदेशों में भेजा जाने लगा। बिजली के विकास के लिये प्रयत्न किया गया। यातायात के साधन उन्नत हुए। सड़क, नहर, रेल का निर्माण हुआ। जल तथा हवाई मार्ग के विकास पर ध्यान दिया गया। बन्दरगाहों का निर्माण हुआ। व्यापार को प्रोत्साहित किया गया। विदेशी मालों पर कड़ी चुंगी लगायी जाती थी।

आर्थिक क्षेत्र में कमाल पाशा को खूब सफलता नहीं मिली। स्वदेशी पूँजी का अभाव था। भूमि समस्या भी हल नहीं हो सकी। अभी बहुत से कृषकों के पास अपनी भूमि नहीं थी। कमाल पाशा अर्थशास्त्र का विशेषज्ञ नहीं था। इस क्षेत्र में वह विदेशियों को भी सुविधा देना नहीं चाहता था।

वैदेशिक नीति—आन्तरिक क्षेत्र में पाश्चात्य ढंग पर अनेक सुधार हुए क्योंकि तुर्की को आधुनिकता के रंग में रँगना आवश्यक समझा गया। लेकिन वैदेशिक क्षेत्र में कमाल पाशा ने स्वतन्त्र नीति का अनुसरण किया। तुर्की और रूस दोनों ही पश्चिमी साम्राज्यवाद के विरोधी थे। रूस ने तुर्की की सहायता भी की थी। अतः १६२५ ई० में दोनों में शीघ्र ही मित्रता हो गयी। लेकिन कमाल पाशा बोल्शेविक व्यवस्था का

पक्षपाती नहीं था। उसने तुर्की में जब समाजवाद का कुछ प्रचार देखा तो उसे रूस की ओर से शंका पैदा हुई और वह पश्चिमी राष्ट्रों की ओर झुकने लगा। अतः १९२९ में उसने इटली तथा फ्रांस के साथ भी सन्धि कर ली। जर्मनी से भी तुर्की का निकट सम्पर्क स्थापित हुआ था। १९३२ ई० में तुर्की राष्ट्रसंघ का सदस्य बना लिया गया।

१९३३ ई० से जर्मनी में हिटलर का उदय होने लगा। अतः सुरक्षा की दृष्टि से १९३४ ई० में तुर्की, यूनान, रूमानिया और यूगोस्लाविया के बीच एक सन्धि हुई। यह अनाक्रमण सन्धि थी। इस तरह तुर्की के नेतृत्व में एक बालकन गुट का निर्माण हुआ। विषम अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के कारण तुर्की अपनी स्थिति सुरक्षित करना चाहता था और इसके लिये दर्रेदानियाल का सैनिकीकरण करने के लिये उत्सुक था। यह लौजेन की सन्धि के विरुद्ध था। फिर भी १९३६ में यूरोपीय राष्ट्रों ने उस पर तुर्की का आधिपत्य स्वीकार कर लिया। अब तुर्की वहाँ सेना रखने लगा। इससे तुर्की के प्रभाव में बहुत वृद्धि हुई।

१९३७ ई० में तुर्की ने ईराक, ईरान और अफगानिस्तान से भी एक समझौता किया। आवश्यकता पड़ने पर परस्पर सहायता करना इस समझौते का उद्देश्य था। इस तरह कमाल पाशा ने पूर्व तथा पश्चिम दोनों ओर से अपने देश की सीमा सुरक्षित कर ली।

मुस्तफा कमाल पाशा की अपूर्व सफलता के कई कारण थे। सर्वप्रथम, परतन्त्रता स्थायी नहीं होती। दूसरे बल प्रयोग एवं दमन के द्वारा अन्य देश पर शासन नहीं किया जा सकता। तीसरे, प्रथम महायुद्ध के बाद राष्ट्रीय एवं प्रजातान्त्रिक भावना को बहुत प्रोत्साहन मिला था। चौथे, मित्र राष्ट्रों में एकता का अभाव था और युद्ध के कारण उनके देशों में अनेक समस्याएँ उठ खड़ी हुई थीं। पाँचवें, मिश्र, भारत, आयरलैंड आदि कई देशों में परिस्थिति भयावह थी। अतः इंगलैंड की शक्ति कई दिशाओं में विभाजित हो गई। छठें, तुर्की को सोवियत रूस से भी बहुमूल्य सहायता मिली। सातवें, तुर्की सैनिक वीरता एवं देश-भक्ति की भावना से ओत-प्रोत थे। उनके लिये जीवन-मरण का प्रश्न उपस्थित था। वे स्वतन्त्रता के लिये मर-मिट जाने को तैयार थे। आठवें मुस्तफा कमाल में एक सफल नेता के गुण भरे हुए थे। वह परिश्रमी, आत्म-विश्वासी, देशभक्त, दृढ़प्रतिज्ञ एवं दूरदर्शी था।

इस प्रकार तुर्की को एक प्रगतिशील सम्पन्न राष्ट्र बनाकर १९३८ ई० में कमाल पाशा परलोक सिधार गये। अब इस्मत इनोनु (१९३८-४३) राष्ट्रपति हुए। तुर्की की उन्नति जारी रही जिससे जर्मनी को ही कुछ लाभ हुआ। १९३९ ई० में इंगलैंड

तथा फ्रांस के साथ भूमध्य सागरीय क्षेत्र में मिलकर काम करने के लिए एक सन्धि हुई। द्वितीय महायुद्ध के समय तुर्की ने तटस्थता की नीति अपनाई थी। किन्तु १६४४ ई० में वह संयुक्त राष्ट्रों की ओर से युद्ध में सम्मिलित हो गया। इस युद्ध के पश्चात् तुर्की पर अमेरिका का प्रभाव कायम हो गया है। अब तक तुर्की की आर्थिक उन्नति पूरी नहीं हुई थी और इसे पूँजी का बराबर अभाव रहा है। अतः इसके औद्योगिक विकास के लिए अमेरिका इसे आर्थिक सहायता प्रदान कर रहा है। १६४६ ई० में अमेरिका के प्रभाव से तुर्की ने उत्तर अटलांटिक सन्धि व्यवस्था की सदस्यता भी स्वीकार की है।

(ख) सीरिया

फ्रांसीसी शासनादेश, दमन और विद्रोह

प्रथम महायुद्ध के बाद सीरिया में एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित हुआ था और अमीर फैजल को वहाँ का राजा नियुक्त किया गया। लेकिन शासनादेश मिलने पर फ्रांस ने इस राष्ट्रीय शासन का अन्त कर अपना आधिपत्य बलपूर्वक स्थापित किया। परन्तु अरबवासियों को यह परिवर्तन नहीं सुहाया और उन्होंने विदेशी शासन के विरुद्ध भयंकर आन्दोलन छेड़ दिया। यह राष्ट्रीय आन्दोलन १६ वर्षों (१६२०-३६) तक चलता रहा। इस काल में फ्रांसीसी सैनिकों ने अत्याचार का पहाड़ ढाने में कोई कोर कसर उठा न रखा। राष्ट्रीय भावनाओं को दबाने के लिए सीरिया को ५ राज्यों में बाँट दिया गया। फूट उत्पन्न कर शासन करने की नीति अपनाई गई। धार्मिक सम्प्रदायों के भेद-भाव को प्रोत्साहित किया गया। व्यक्तिगत तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता छीन ली गई, प्रेस पर प्रतिबन्ध लगा और सारे देश में जासूसों का जाल बिछ गया। नेताओं को जेल भेजा जाने लगा। नगरों पर गोलेबारी होने लगे, मकानों में आग लगाई जाने लगी। अरब संस्कृति को कुचलने का प्रयत्न होने लगा। फ्रांसीसी भाषा को प्रोत्साहित किया गया। किन्तु इन सभी कार्यों का परिणाम प्रतिकूल ही हुआ। व्यक्ति तो मरे, धन-सम्पत्ति का नाश तो हुआ किन्तु इनसे राष्ट्रीयता की अग्नि प्रज्वलित होती गई और आन्दोलन सबल होता गया। १६२५ ई० में सर्वत्र विद्रोह हो गया। इस विद्रोह में इसाई, मुसलमान सभी ने भाग लिया। इससे विदेशी भी थर्रा उठे।

संविधान सभा की बैठक

फ्रांसीसियों को झुकना पड़ा। उनकी अनुमति से जून १६२८ ई० में एक विधान सभा बुलाई गई। इसने एक प्रजातंत्रीय विधान तैयार किया जिसमें शासनादेश को स्वीकार नहीं किया गया। इस पर फ्रांस ने नाराज हो सभा को भंग कर दिया। फ्रांसीसी

गवर्नर ने फिर दूसरा विधान प्रस्तुत किया जिसे राष्ट्रवादियों ने ठुकरा दिया। इस तरह संग्राम पुनः जारी हो गया।

सार्वजनिक हड़ताल और सन्धि

१९३५ ई० में सीरियावासियों ने एक सार्वजनिक हड़ताल की जो दीर्घकाल तक चलती रही। फ्रांसीसियों के होश उड़ गये। उन्हें राष्ट्रवादियों से समझौता करने के लिए बाध्य होना पड़ा। १९३६ ई० में फ्रांस और सीरिया में सन्धि हो गई। फ्रांस ने सीरिया की स्वतन्त्रता स्वीकार कर ली। किन्तु ३ वर्षों के बाद शासनादेश का अन्त करने के लिए प्रतिज्ञा की। सीरिया तथा लेबेनन दो राज्य कायम हुए और दमिश्क तथा बीरुट में क्रमशः उनकी राजधानियाँ स्थापित हुई। लेकिन दोनों राज्यों में सैनिक तथा आर्थिक दृष्टियों से फ्रांस का प्रभाव कायम रहा। इस तरह अभी भी कुछ वर्षों तक यह स्वाधीनता सीमित या नाममात्र की ही रही। १९४० ई० में द्वितीय महायुद्ध में फ्रांस की पराजय के साथ सीरिया स्वतन्त्र हो गया किन्तु अभी भी कुछ फ्रांसीसी सैनिक वहाँ अड्डा जमाये रहे। यह प्रश्न सुरक्षा-परिषद में पेश हुआ और १९४६ ई० में सेनाएँ भी हटा ली गई। अब सीरिया पूर्णतः स्वतन्त्र हो गया। लेकिन इस पर आंग्ल-फ्रांसीसी गुट का प्रभाव कायम है।

(ग) फिलिस्तीन तथा ट्रान्सजोर्डन

फिलिस्तीन—एक विकट समस्या

फिलिस्तीन प्राचीन सभ्यता तथा संस्कृति का केन्द्र रह चुका था। पुरातन काल में वह यहूदियों का निवास-स्थान था, किन्तु रोमनों ने उन्हें जीतकर उन्हें वहाँ से निकाल बाहर कर दिया और वे विश्व के विभिन्न देशों में रहने लगे। लेकिन वे अपनी प्राचीन भूमि और जाति को नहीं भूले। बाद में बहुसख्यक अरबों ने फिलिस्तीन को जीतकर उसे आबाद किया। इस प्रकार फिलिस्तीन में यहूदियों तथा अरबों का स्वार्थ स्थापित था। वहाँ ईसाइयों का भी पवित्र स्थान था, क्योंकि यह ईसा की जन्मभूमि थी।

प्रथम महायुद्ध में यहूदियों ने मित्र राष्ट्रों का साथ दिया और इसके बदले इंगलैंड ने बालफर घोषणा के द्वारा फिलिस्तीन में उन्हें राष्ट्रीय घर देने का वादा किया। अरबों की सहायता के बदले उन्हें स्वतन्त्रता देने की प्रतिज्ञा की गई। महायुद्ध के अन्त होने पर फिलिस्तीन अंग्रेजों के शासनादेश में सौंपा गया। अब यहूदियों को वहाँ आने के लिए सुअवसर प्राप्त हुआ और वे विभिन्न देशों में आकर बसने लगे। अरबों ने अंग्रेजों की नीति का घोर विरोध किया। यहूदी प्रत्येक क्षेत्र में उनके प्रतियोगी निकले और उनकी बढ़ती हुई संख्या से अरबों की स्थिति संकटपूर्ण हो गई। अतः उन्होंने विद्रोह

करना शुरू कर दिया। १६३६ ई० तक कई विद्रोह हुए और बहुत से यहूदी मौत के घाट उतरे। अरबों ने हर तरह से उनका बहिष्कार किया। परन्तु साम्राज्यवादी इंगलैण्ड से कहाँ तक पार पा सकते थे। विद्रोह क्रूरतापूर्वक दबा डाले गये।

पील कमीशन का सुझाव

लेकिन १६३३ ई० के बाद स्थिति पुनः सगीन होने लगी। जर्मनी में नाज़ी शासन स्थापित हुआ और यहूदियों का खोज-खोज कर शिकार किया जाने लगा। अब वे फिर अधिक सख्या में फिलिस्तीन आने लगे। उनकी सख्या ३० प्रतिशत से बढ़ने लगी।

अरबों ने भी उत्पात मचाना शुरू किया। १६३६ ई० में भयानक सर्वव्यापी आन्दोलन हुआ। यहूदी और अंग्रेज दोनों ही अरबों के आक्रमण के शिकार हुए। किन्तु अन्त में आन्दोलन क्रूरतापूर्वक दबा दिया गया। १६३७ ई० में ब्रिटिश सरकार ने इस समस्या पर विचार करने के लिए पील कमीशन नियुक्त किया। कमीशन ने फिलिस्तीन को तीन भागों में विभक्त करने का प्रस्ताव पेश किया—यहूदी, अरब तथा ब्रिटिश। इस तरह यहूदीवादी, राष्ट्रीयतावादी और साम्राज्यवादी स्वार्थों की पूर्ति की कोशिश की गई। किन्तु यह कोशिश व्यर्थ सिद्ध हुई। अरबों तथा यहूदियों ने इस योजना को धोखे की टट्टी समझ इसका घोर विरोध किया। अरबों का कहना था कि उपजाऊ भाग यहूदियों को और पवित्र भाग अंग्रेजों को मिला है। उन्हें तो अनुपजाऊ भाग ही दिया गया है। फिर अरबों की ओर से दंगा-फसाद शुरू हो गया और ब्रिटिश सरकार का भी दमनचक्र चलने लगा। ब्रिटिश सरकार तो पील योजना को लागू करना चाहती थी। किन्तु अरबों के विरोध को देख कर उसकी हिम्मत नहीं हुई और योजना स्थगित करनी पड़ी।

१६३८ ई० सर जौन वुडहेड के नेतृत्व में पुनः एक कमीशन नियुक्त हुआ। वुडहेड कमीशन को एक विस्तृत योजना प्रस्तुत करने का भार सौंपा गया। इस कमीशन ने बँटवारे की योजना का समर्थन नहीं किया। अतः इस योजना को छोड़ दिया गया और अरबों तथा यहूदियों के बीच समझौता कराने का प्रयत्न हुआ। इसी उद्देश्य से १६३६ ई० के प्रारंभ में लदन में एक सम्मेलन बुलाया गया। लेकिन अरबों तथा यहूदियों ने परस्पर विरोधी माँगों को उपस्थित किया और दोनों में समझौता नहीं हो सका। सम्मेलन भग हो गया।

ब्रिटिश सरकार ने श्वेत पत्र में पुनः एक नयी योजना निकाली किन्तु दोनों ने फिर इसका भी विरोध किया। इस तरह ब्रिटिश सरकार तग हो गई और अन्त में इसने फिलिस्तीन में यहूदियों के प्रवेश पर ६ महीने के लिए प्रतिबन्ध लगा दिया।

यह आदेश पहली अक्टूबर १६३६ ई० से लागू होता। तब तक सितम्बर में ही दूसरा महायुद्ध शुरू हो गया और फिलिस्तीन समस्या ज्यों की त्यों पड़ी रह गयी।

युद्ध काल

युद्धकाल में यहूदी फिलिस्तीन में आते रहे। हिटलर तो इससे खुश ही था किन्तु इंगलैंड यहूदियों के प्रवेश पर प्रतिबन्ध चाहता था। अतः यहूदी असन्तुष्ट हो अंगरेजों के साथ हिंसात्मक व्यवहार करने लगे। इसी समय अमेरिकी राष्ट्रपति ट्रूमन ने अपना सुझाव प्रस्तुत किया कि जर्मनी के विस्थापित यहूदियों को फिलीस्तीन में ही बसाया जाय। इंगलैंड ने भी इस सुझाव को स्वीकृत किया। किन्तु अरब जीते जी अपने गले में चक्की क्यों बाँधते! उन्होंने ट्रूमन नीति का विरोध किया।

युद्धोत्तर काल

युद्ध का अन्त होने पर १६४५ ई० में एक आंग्ल-अमेरिकी जाँच समिति नियुक्त हुई। किन्तु इस समिति के सुझाव स्पष्ट एवं प्रगतिशील नहीं थे। अतः यहूदी या अरब किसी ने उन सुझावों का स्वागत नहीं किया। अब १६४६ ई० में लंदन में एक सम्मेलन करने का आयोजन किया गया। परन्तु यहूदी तथा अरब दोनों ने इसका बहिष्कार किया। परिस्थिति भी खराब होती जा रही थी। अब ब्रिटिश सरकार ने यह प्रस्ताव पेश किया कि फिलिस्तीन में अरब तथा यहूदी राज्यों के आधार पर संघ शासन स्थापित किया जाय। किन्तु किसी ने भी इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया।

१६४७ ई० के प्रारम्भ में इंगलैण्ड ने फिलिस्तीन-समस्या को संयुक्त राष्ट्र संघ के सामने रखा। साधारण सभा ने इस प्रश्न को एक समिति के हाथ में सौंपा। समिति का बहुमत दो स्वतन्त्र राज्यों के आधार पर फिलिस्तीन के विभाजन के पक्ष में था। साधारण सभा ने समिति के सुझाव को मान लिया। यहूदी तो इससे खुश हुए किन्तु अरबों को देश का विभाजन सह्य नहीं था।

इसरायल का जन्म

१६४८ ई० में इंगलैण्ड ने फिलिस्तीन से अपनी सत्ता हटा ली। यहूदियों ने शीघ्र ही इसरायल में स्वतन्त्र यहूदी राज्य की स्थापना घोषित कर दी। डा० वेजमेन इसके राष्ट्रपति और डेविड बेन।गुरियन प्रधान मन्त्री हुए। तेलएविव में राजधानी स्थापित हुई। अरबों और यहूदियों में लड़ाई छिड़ गई और दोनों ओर से रक्तपात किया जाने लगा। संयुक्त राष्ट्रसंघ की ओर से काउन्ट बर्नेडोट को शान्ति स्थापित करने के लिए भेजा गया। किन्तु उसकी हत्या कर दी गई। तत्पश्चात् बंची नामक

व्यक्ति को समझौता करने का भार सौंपा गया और वह इस उद्देश्य में सफल हुआ। अब विश्व के कई देशों ने इसरायल को मान्यता प्रदान कर दी है।

इसरायल पर आंग्ल-अमेरिकी गुट का ही विशेष प्रभाव है। यहूदी बड़े शक्तिशाली हैं। उन्होंने अरबों के छक्के छुड़ा दिये हैं। १९५६ ई० में मिस्रियों से भी उनका अनबन हो गया। अतः इंगलैण्ड, फ्रांस तथा इसरायल ने मिश्र पर धावा बोल दिया। इसरायल संयुक्त राष्ट्रसंघ का भी एक सदस्य है। संघ में मिश्र पर हमले का विरोध किया गया। मिश्र से आक्रमणकारी सेना के हट जाने के लिये प्रस्ताव पास हुआ और वहाँ संघ की ओर से एक संकटकालीन सेना भी भेज दी गई। ब्रिटिश तथा फ्रांसीसी सेना तो हटने लगी किन्तु इसरायल अपनी सेना गाजा एवं अकाबा से हटाने में आनाकानी करने लगा। बहुत कहा-सुनी के बाद मार्च १९५७ ई० में वह अपनी सेना हटाने के लिये सहमत हुआ।

ट्रान्सजोर्डन—फिलिस्तीन से सटे हुए सीरिया तथा अरब मरुभूमि के बीच ट्रान्सजोर्डन का राज्य है। इसकी जनसंख्या लगभग ३ लाख है। फिलिस्तीन या सीरिया में इसका विलयन किया जा सकता था किन्तु साम्राज्यवादी स्वार्थ की पूर्ति के लिये प्रथम महायुद्ध के बाद अंग्रेजों ने इसे एक पृथक राज्य के रूप में स्थापित किया। लेकिन यहाँ के लोगों में भी राष्ट्रीय भावना काम कर रही थी। ब्रिटिश सरकार ने उसे दबाने का व्यर्थ ही प्रयत्न किया। अन्त में लोगों को सन्तुष्ट करने के ख्याल से अमीर अब्दुल्ला* को ट्रान्सजोर्डन का राजा बना दिया गया। लेकिन वह ब्रिटिश सरकार के हाथ में कठपुतली की तरह था। वह अंग्रेजों का ही मित्र था और उनकी ही राय से शासन करता था। अरबों को यह पसन्द नहीं था और अन्त में अमीर अब्दुल्ला का वध हो गया। १९४८ ई० में फिलिस्तीन के साथ ट्रान्सजोर्डन को भी स्वतन्त्रता मिल गयी। लेकिन वहाँ अभी ब्रिटिश प्रभाव कायम है।

(घ) ईराक

विद्रोह और सन्धि

ईराक का प्राचीन नाम मेसोपोटामिया है। यह भी प्राचीनकाल में उच्चकोटि की सभ्यता तथा संस्कृति का केन्द्र था। ईराक वालों ने भी १९२० ई० में अंग्रेजी शासनादेश का विरोध किया। अंग्रेजों ने उन्हें सन्तुष्ट करने के लिए एक नया शासन कायम किया। उनके ही बीच से एक मंत्रिमंडल स्थापित हुआ किन्तु वे अंग्रेजी संरक्षता के अधीन में काम करने के लिये तैयार नहीं थे। अतः शीघ्र ही मंत्रिमंडल तोड़ डाला

* अमीर अब्दुल्ला हेजाज के शाह हुसेन का पुत्र और ईराक के राजा फैजल का भाई था।

गया और अंग्रेजों ने हेजाज के शासक हुसेन के लड़के फैजल को वहाँ का राजा नियुक्त कर दिया। उसने १२ वर्षों (१६२१-३३ ई०) तक राज्य किया और उसके राज्यकाल में ईराक की उन्नति हुई। परन्तु ईराक के लोग उसके राज्य में सतुष्ट नहीं थे। क्योंकि वह अंग्रेजों का पक्षपाती था और उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं मिली थी। अतः विद्रोह होने रहे। ब्रिटिश सरकार की ओर से दमन चक्र भी चलता रहा और आकाश से बम बरसाये जाते रहे। १६३० ई० में इंगलैण्ड तथा ईराक में सन्धि हुई और १६३२ ई० मे ईराक स्वतन्त्र हो राष्ट्रसघ का सदस्य बन गया। दूसरे ही साल फैजल का भी स्वर्गवास हो गया और उसका लड़का गाजी गद्दी पर बैठा। ६ वर्ष बाद गाजी की भी मृत्यु हो गई और फैजल द्वितीय ईराक का राजा बना।

ब्रिटिश स्वार्थ

इस प्रकार १६३२ ई० मे ईराक स्वतन्त्र हो गया किन्तु ब्रिटेन का कुछ स्वार्थ कायम रहा। ईराक में मिट्टी-तेल की खान है, जिस पर ब्रिटिश कम्पनी का अधिकार है, दूसरे ईराक हवाई रास्ते का एक मुख्य स्टेशन है। अतः सैनिक दृष्टि से यह बड़ा ही महत्वपूर्ण है। इस तरह ईराक के अर्थ तन्त्र और सैन्य संगठन पर ब्रिटेन का अधिकार बना रहा। अतः ईराकवासी असन्तुष्ट ही रहे।

द्वितीय महायुद्ध के समय १६४१ ई० में ईराकियों को विद्रोह करने के लिये प्रोत्साहन मिला। रशीद अली को प्रधान मंत्री बनाया गया जो पूर्ण स्वतन्त्रता का समर्थक था। इसी समय ब्रिटिश सरकार ने १६३० ई० की सन्धि का उपयोग किया। ईराक में ब्रिटिश सेना भेजी गई और ईराकी सैनिकों को मुँह की खानी पड़ी। रशीद अली पदच्युत हो गये। युद्ध के अन्त मे ब्रिटिश सुविधाओं का अन्त कर देने के लिये पुन. प्रयत्न होने लगे। १६४८ ई० में फिर एक सन्धि करने की चेष्टा हुई जिसमें अंग्रेज अपनी सुविधाओं को बनाये रखना चाहते थे। किन्तु ईराकवासी ऐसी सन्धि के विरोधी ही थे। अतः ईराक को पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं प्राप्त है। अभी वहाँ इंगलैण्ड का प्रभाव है और उसके साथ अमेरिका भी अपना प्रभाव बढ़ा रहा है।

(च) सऊदी अरब तथा येमेन

सऊदी अरब की स्थापना

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् अरब देश की स्थिति में भी महान् परिवर्त्तन हुआ। युद्धकाल में ही हुसेन ने अरब राज्य की स्थापना घोषित की जिसका वह स्वयं राजा भी हुआ। इंगलैण्ड, फ्रांस तथा रूस ने उसे अरबों का राजा मान लिया। इस बीच नेज्द में वहाबी नाम के मुस्लिम सम्प्रदाय की उन्नति हो रही थी। इब्न सऊद उनका नेता था। १६१३ ई० तक उसने पूर्वी अरब का अधिकांश भाग जीत लिया था और

२ वर्ष बाद ग्रेट ब्रिटेन के साथ एक सन्धि भी कर ली थी। वह हुसेन का प्रतियोगी बन गया। धीरे-धीरे पश्चिमी अरब भी उसके हाथ में आ गया और १९२५ ई० तक मक्का तथा मदीना उसके अधिकार में आ गये। १९२६ ई० में उसे हेजाज का राजा घोषित किया गया। दूसरे साल से वह हेजाज तथा नेज्द का राजा कहलाने लगा। इसी साल ग्रेट ब्रिटेन ने इन राज्यों की स्वतन्त्रता स्वीकार कर ली। १९३२ ई० में हेजाज तथा नेज्द का राज्य मिलाकर सऊदी अरब के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस तरह इब्न सऊद के नेतृत्व में अरब का एकीकरण हुआ और यह उन्नति के पथ पर अग्रसर हुआ।

इब्न सऊद के सुधार—इब्न सऊद एक सफल विजेता ही नहीं था बल्कि कुशल शासक भी था। उसने अरब में बड़े महत्वपूर्ण सुधारों को किया। उसने शासन को सुव्यवस्थित किया। करों में नियमितता एवं एकरूपता का प्रचार हुआ। पहले मार्ग असुरक्षित थे किन्तु अब सर्वत्र शान्ति स्थापित हो गई। यातायात के साधन उन्नत हुए। सड़कें बनीं, रेलवे का निर्माण हुआ, मोटर का प्रचार हुआ। सबसे बढ़ कर उसने खानाबदोशों को निश्चित जीवन व्यतीत करने के लिये प्रोत्साहित किया। इस तरह कृषि की उन्नति हुई। गरीबी क्रमशः दूर होने लगी। व्यापार तथा उद्योग के क्षेत्र में भी प्रगति हुई किन्तु कम। इसका कारण था कि इब्न सऊद अपने देश में विदेशियों को विशेष सुविधाएं देना नहीं चाहते थे। शिक्षा का प्रचार करने के लिये स्कूलों की संख्या बढ़ाई जाने लगी।

इस तरह अरब देश ने लम्बी छलाँग मारकर मध्यकाल से आधुनिक काल में प्रवेश किया। अब वह मध्ययुगीन स्थिति से निकल कर आधुनिकता की ओर अग्रसर हुआ। लेकिन इस यात्रा में उसे बाधाओं का भी सामना करना पड़ा। स्थिति पालक अरब पुरातन व्यवस्था में ही चिपटे रहना चाहते थे। अतः उन्होंने इब्न सऊद के विरुद्ध विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया। इब्न सऊद ने कड़ाई एवं चतुराई से विद्रोह शांत किया। दूसरी बाधा १९३० ई० में आर्थिक सकट के कारण पैदा हुई। तीर्थ यात्रियों से अरब सरकार को बहुत वार्षिक आय प्राप्त होती थी। किन्तु विश्व आर्थिक संकट के कारण यात्रियों की संख्या बहुत घटने लगी। इससे आय में भी घाटा होने लगा। अतः कई सुधार योजनाओं को स्थगित कर देने के लिये बाध्य होना पड़ा।

सऊदी अरब ने ईराक, ईरान, तुर्की तथा ट्रान्सजोर्डन से मित्रता की सन्धि की। मिश्र ने भी अरब को स्वतन्त्रता स्वीकार की। मार्च १९४५ ई० में अरब संघ की स्थापना हुई। इसमें ईराक, जोर्डन, सीरिया, लेबेनन, येमेन, सऊदी अरब और मिश्र शामिल हुए। स्वाधीनता की रक्षा और सामान्य विषयों पर विचार-विमर्श करना ही इसका उद्देश्य था। १९५० के मध्य में एक अरब सुरक्षा गुट कायम हुआ। इधर

अरब के शाह सऊद विदेश भ्रमण में अधिक अभिरुचि दिखलाने लगे हैं। वे १९५६ ई० में भारत आये थे और १९५७ ई० के प्रारम्भ में वे अमेरिका भी गये थे। अब शाह को विदेशी सहायता लेने में कोई संकोच नहीं है। अमेरिका में उसने राष्ट्रपति के साथ एक समझौता भी किया। उसने अमेरिका की सैनिक एवं आर्थिक सहायता स्वीकार की और धहरान हवाई अड्डा को और पाँच वर्षों के लिये अमेरिका को उपयोग करने के लिये अधिकार दे दिया।

यमन—अरब ने यमन पर भी धावा बोल दिया था किन्तु इंगलैंड के हस्तक्षेप से यह उसका अंग नहीं बन सका। यह अरब के पश्चिम दक्षिण में एक स्वतन्त्र राज्य है जहाँ एक इमाम शासन करता है।

अध्याय २०

राष्ट्रीयता की धूम—दक्षिणी-पूर्वी एशिया

भूमिका

सारे एशिया में राष्ट्रीयता की लहर व्याप्त थी। दक्षिणी-पूर्वी एशिया में भी इसकी अपूर्व धूम मची। इस भाग के राज्य तो छोटे छोटे थे किन्तु राज्य छोटे या बड़े हों, इनके निवासी तो थे मनुष्य, उन्हें भी दिल था और सुख तथा स्वतन्त्रता की लालसा थी। उनका भी जागरण हुआ। उन्होंने भी स्वेच्छाचारी शासकों और शोषक साम्राज्यवादियों के विरुद्ध लोहा लिया और अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त की। अब इन्हीं वीरों की कहानी कही जायगी।

(क) हिंदेशिया

हिंदेशिया (इंडोनेशिया) में जावा, सुमात्रा, बोर्नियो तथा मदुरा के द्वीप सम्मिलित हैं। ७ करोड़ यहाँ की जनसंख्या है। रबड़ तथा गन्ना यहाँ के मुख्य पैदावार हैं और मिट्टी के तेल की खानें भी मिलती हैं। १४वीं शताब्दी तक यहाँ भारतीय संस्कृति फैली हुई थी और १५वीं शताब्दी में इस्लाम धर्म प्रचलित हुआ। इस भू-भाग पर डचों (हॉलैंड) का अधिकार था। १७वीं सदी से ही डच वहाँ आने लगे थे। उन्होंने यहाँ के निवासियों का शोषण करने में कोई कोर-कसर उठा नहीं रखा। लगभग साढे तीन सौ वर्षों के शासन के बाद भी शिक्षा-प्रचार के लिए कोई प्रयत्न नहीं हुआ। विद्यालय तथा चिकित्सालय जैसी उपयोगी संस्थाओं का नितान्त अभाव था। डच गवर्नर जनरल शासन का सर्वप्रधान था। उसे सहायता देने के लिए एक कौंसिल होती थी जिसमें ६० सदस्य होते थे। इनमें २२ तो सरकारी सदस्य ही थे। स्वायत्त शासन जैसी चीज का कहीं नाम भी नहीं था। मताधिकार तो नहीं के बराबर था। डच सरकार की तूती बोल रही थी और यह भूखंड हॉलैंड का बाजार बना था। इस तरह हिन्देशियावासी अन्याय तथा अत्याचार को धैर्यपूर्वक सहते रहे। लेकिन धीरे-धीरे उनके धैर्य का अन्त होने लगा।

१६०३ ई० में वहाँ एक राष्ट्रीय दल की स्थापना हुई। यह दल विदेशी शासन के विरुद्ध संघर्ष करता रहा। १६१७ ई० में बोलशेविक क्रान्ति से प्रभावित हो हिन्देशिया वालों ने अपनी स्वतंत्रता की माँग पेश की किन्तु १६३६ ई० तक उन्हें अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए सुअवसर प्राप्त नहीं हुआ। १६४० ई० में जब नात्सियों ने

हॉलैंड पर आक्रमण किया तो हिन्देशिया को इस अधिपत्य से मुक्त कर दिया गया। लेकिन शीघ्र ही जापान ने उस पर अधिकार कायम कर लिया। लगभग ४ वर्षों तक यह जापान के कब्जे में रहा। परन्तु १९४५ ई० में जब जापान की पराजय हो गई तो हिन्देशिया ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर ली और डाक्टर सुकर्णो के नेतृत्व में जनतन्त्र स्थापित किया। इंगलैण्ड और हॉलैण्ड इस स्थिति को देख कर व्यग्र हो उठे और पुरानी व्यवस्था की स्थापना के लिए चेष्टा करने लगे। डच शासन बलात् पुनः स्थापित किया गया। राष्ट्रवादियों ने हिंसात्मक ढंग से विरोध भी करना शुरू किया। दोनों में युद्ध शुरू हो गया। डचों ने दमन और दण्ड की नीति अपनायी। परन्तु दमन और दण्ड के दिन तो लद चुके थे। प्रश्न सुरक्षा-परिषद् के सामने उपस्थित हुआ। भारत और आस्ट्रेलिया ने हिन्देशिया का पक्ष लिया। वस्तुतः हिन्देशिया को भारत से बहुत प्रेरणा मिलती रही है। १९४९ ई० के प्रारम्भ में दिल्ली में एशियायी प्रदेशों की एक सभा भी बुलायी गई। सुरक्षा परिषद् ने हिन्देशिया की स्वतन्त्रता स्वीकार कर ली। १९५० ई० में हिन्देशिया का जनतन्त्र स्थापित हो गया। डाक्टर सुकर्णो इसके प्रथम अध्यक्ष और डाक्टर मुहम्मद हट्टा उपाध्यक्ष हुए। डा० सुलतान शहरिर प्रथम प्रधान मन्त्री हुए। जोगजकार्ता में राजधानी स्थापित हुई।

हिंदेशिया में संसदीय प्रजातन्त्र के सिद्धान्त को स्वीकृत किया गया। किन्तु इसकी सफलता में कई बाधाएँ उपस्थित हो रही हैं। पहिले तो द्वीपों की संख्या बहुत है। बहुत से द्वीप बहुत ही छोटे और पिछड़े हुए हैं। दूसरे वहाँ दलों की भरमार है और उन दलों में धार्मिक दल प्रधान हैं। १९५६ ई० के चुनाव में इन्हीं दलों की प्रधानता थी। तीसरे, सैनिक शासन से असन्तुष्ट रहे हैं और वे राजनीति में हस्तक्षेप करते हैं। इधर हाल में कुछ महीनों के अन्दर चार रक्तहीन सैनिक क्रान्तियाँ हो चुकी हैं। अतः प्रजातन्त्र का भविष्य उज्ज्वल नहीं मालूम पड़ता है।

(ख) हिन्द चीन

हिंदेशिया के निकट ही हिन्दचीन है। यहाँ भी १२वीं शताब्दी तक भारतीय सभ्यता का प्रचार था। कम्बोज का राज्य इस सभ्यता का प्रधान केन्द्र था। १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में फ्रांस ने इस भूभाग में अपना आधिपत्य स्थापित किया। उस समय से यहाँ के निवासियों का शोषण होता रहा। प्रथम महायुद्ध के समय राष्ट्रपति विल्सन के आत्मनिर्णय के सिद्धान्त से हिन्दचीन के लोगों में भी आशाकिरण का उदय हुआ। परन्तु महायुद्ध समाप्त होने पर उनकी आशा-किरण मन्द पड़ गई। उन्होंने फ्रांस के विरुद्ध आन्दोलन छेड़ दिया लेकिन इसे कुचल डाला गया।

हिन्दचीन में समाजवादी विचार-धारा की प्रधानता रही है। अतः इसके साथ

रूस की सहानुभूति रही है। द्वितीय महायुद्ध (१६३६-४५ ई०) के समय फ्रांस को जर्मनी के सम्मुख झुकना पड़ा। इधर जापान ने हिन्दचीन पर अधिकार कर लिया किन्तु उसके पतन के साथ ही यहाँ के निवासियों ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर ली। इस देश को पुनः फ्रांस के अधीन करने का सारा प्रयत्न विफल हुआ। १६४५ ई० में हिन्दचीन वालों ने वियतनाम नामक गण-राज्य की स्थापना की। डाक्टर होचीमिन्ह इसके प्रथम अध्यक्ष हुए। चार वर्ष पश्चात् फ्रांस को भी इसे स्वीकार करने के लिए बाध्य होना पड़ा। इसी बीच फ्रांस और वियतनाम में युद्ध तक होने लगा था। फ्रांस ने हिन्द चीन में बाओदाई की एक विरोधी सरकार का भी संगठन किया। बाओदाई अनाम का पदच्युत राजा था जो साम्यवाद का विरोधी और फ्रांस का पिट्ठू था। अब होचीमिन्ह और बाओदाई की सरकार में संघर्ष होने लगा। साम्यवादी शक्तियों ने होचीमिन्ह के प्रति और पूँजीवादी शक्तियों ने बाओदाई के प्रति सहानुभूति दिखायी थी।

(ग) बर्मा

३१ मार्च १६३७ ई० तक बर्मा भारत का ही एक अंग था। अतः यह १६वीं सदी से ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत था। १ अप्रैल १६३७ ई० को गवर्नमेण्ट ऑफ बर्मा ऐक्ट के द्वारा यह भारत से पृथक कर दिया गया। लेकिन अंगरेजों का प्रभाव बना रहा। १६४७ ई० में बर्मा स्वतन्त्र हुआ और दूसरे साल के प्रारंभ में वहाँ गण-राज्य की स्थापना हुई। बर्मा में ब्रिटिश सत्ता का अन्त हुआ और वह राष्ट्रमंडल से भी अलग रहा। बर्मा में उत्तरदायी शासन स्थापित हुआ। आंगसान सर्वप्रथम प्रधान मन्त्री हुआ किन्तु शीघ्र ही उसकी हत्या हो गई और थाकिन नू प्रधान मन्त्री बना। इस तरह स्वतन्त्र बर्मा में भीषण गृह युद्ध और रक्तपात शुरू हुआ। स्वतन्त्रता के ८ वर्ष के बाद भी बर्मा आन्तरिक उपद्रवों से मुक्त नहीं हो सका है।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में बर्मा शान्ति का समर्थक है। अतः वह किसी गुट में शामिल होना नहीं चाहता। भारत तथा रूस के साथ बर्मा ने अनुकूल समझौता किया है।

(घ) लंका

बर्मा की भाँति लंका भी भारतवर्ष का ही एक अङ्ग रहा है। यह भारत के दक्षिण में हिन्द महासागर में स्थित एक छोटा द्वीप है। प्राचीन काल से ही भारत तथा लंका में घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। यह भी अनुमान किया जाता है कि अतीत में आजकल की भाँति दोनों जल के द्वारा विभाजित नहीं थे बल्कि एक-दूसरे से मिले हुए थे। लंका के अधिकांश लोग बौद्धधर्मावलम्बी हैं। १८वीं शताब्दी में अँग्रेजों ने इसे

अधिकृत कर लिया और १८०२ ई० में उन्होंने इसे भारत से भी पृथक् कर डाला। प्रथम महायुद्ध के समय तक इस पर उनका प्रभुत्व अक्षुण्ण बना रहा।

उक्त महायुद्ध के बाद लंका वालों ने भी भारत से प्रभावित होकर शासन-सुधार के लिए आन्दोलन किया। १९२२ ई० में व्यवस्थापक सभा में निर्वाचित सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई। किन्तु अभी गवर्नर के अधिकारों में कोई कमी नहीं हुई। आंदोलन जारी रहा। १९३१ ई० में शासन में पुनः परिवर्तन हुआ। गवर्नर की सहायता के लिए एक स्टेट कौंसिल या राजपरिषद का निर्माण हुआ। इसमें ५० निर्वाचित सदस्य, ८ मनोनीत और ३ राज्याधिकारी बैठते थे। शासन प्रबन्ध ८ मंत्रियों, जो राज परिषद के सदस्य थे और ३ राज्याधिकारियों में विभाजित था। गवर्नर की प्रधानता अभी भी बनी रही। इससे लंका के निवासी सन्तुष्ट नहीं हुए। राज परिषद् ने स्वराज्य का माँग की। १९४३ ई० मे उन्हें अपना विधान बनाने के लिए अधिकार दे दिया गया लेकिन साथ ही ब्रिटिश सरकार ने उन्हें सलाह देने के लिए एक सोलबरी कमीशन भी नियुक्त कर दिया। लंका वाले इससे असंतुष्ट हुए। दूसरे साल राजपरिषद् ने एक स्वाधीन लंका बिल पास किया किन्तु सम्राट की स्वीकृति के लिए उपनिवेश मंत्री ने इसे पेश ही नहीं किया। इससे लंकावासी बहुत रुष्ट हुए। १९४५ ई० में ब्रिटिश सरकार ने उसकी स्वाधीनता स्वीकार कर ली और इसी आधार पर लंका को एक विधान प्रस्तुत किया गया। राज परिषद् ने उस विधान को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार लंका जैसे छोटे द्वीप में भी राष्ट्रीयता की धारा प्रवाहित हुई और वह स्वाधीन हो गया। किन्तु स्वतन्त्र लंका ने राष्ट्रमंडल की सदस्यता स्वीकार की है।

१९४८ से १९५६ ई० के प्रारम्भ तक लंका में संयुक्त राष्ट्रीय दल की प्रधानता थी। जौन कोटेलावाला इसके प्रधान थे। परन्तु इस काल में लंका पश्चिमी राष्ट्रों के प्रभाव में था और उसकी नीति एशिया के जाग्रत राष्ट्रों की आकांक्षाओं के अनुकूल नहीं थी। १९५६ ई० (अप्रैल) के निर्वाचन में संयुक्त राष्ट्रीय दल की पराजय हो गई। पेरामुना दल की विजय हुई। यह विभिन्न विरोधी दलों को मिला कर संगठित हुआ था। श्री भंडारनायक इस दल के नेता हैं। अतः अब वे ही शासन-सूत्र के संचालक हैं। भंडारनायक के हाथ में सत्ता आने से नीति में महान् परिवर्तन हो गया है। उनकी नीति श्री जवाहरलाल जी की नीति से बहुत मिलती-जुलती है। वे अहिंसात्मक ढंग से समाजवादी राज्य की स्थापना करना चाहते हैं। अतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में वे मित्रता एवं तटस्थता की नीति के समर्थक हैं। लंका में स्थित ब्रिटिश वैमानिक एवं नौ सैनिक अड्डे हटा दिये गये हैं। रूस तथा चीन में राजदूतों

को नियुक्त कर कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित हुआ है। मडारनायक के नेतृत्व में अभी कई महत्वपूर्ण परिवर्तन होने की सभावना है। उनके पदस्थ होने से पश्चिमी राष्ट्रों में उल्लास का अभाव है।

(छ) फिलीपाइन द्वीप-समूह

फिलीपाइन द्वीप-समूह प्रशान्त महासागर में स्थित है। इसके अन्तर्गत सैकड़ों छोटे-बड़े द्वीप हैं। यह पहले स्पेन के अधिकार में था। १८९८ ई० में सयुक्त राज्य अमेरिका ने स्पेन को युद्ध में पराजित कर दिया और इन द्वीपों पर अधिकार कर लिया। इन द्वीपों के निवासी भी स्वतत्रता के प्रेमी थे। इन्हें अमेरिका के अधीन रहना पसन्द नहीं था। लेकिन प्रशात महासागर में जापान के उत्कर्ष के कारण अमेरिका इस भूभाग पर अपना आधिपत्य जमाये रखना भी आवश्यक समझता था। इस तरह दोनों भूभागों के निवासियों के बीच सघर्ष चलता रहा। प्रथम विश्व-युद्ध के समय ही फिलीपाइन वासियों को स्वराज्य का कुछ अश प्रदान किया गया और भविष्य में स्वतत्रता भी स्वीकार कर लेने की प्रतिज्ञा की गई। महायुद्ध के समाप्त होते ही १९१९ ई० में प्रतिज्ञा की पूर्ति के लिए अमेरिकी सरकार से अनुरोध हुआ। अमेरिकी सरकार किसी न किसी बहाने टालमटोल करती रही। १९२४ ई० में क्वेजन के नेतृत्व में एक प्रतिनिधिमण्डल वाशिंगटन पहुँचा और उसी समय फिलीपाइन की व्यवस्थापिका सभा ने पूर्ण स्वतत्रता के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव पास किया। १९३४ ई० में अमेरिका फिलीपाइन द्वीप-समूह को स्वाधीनता स्वीकार करने के लिए बाध्य हुआ। राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने द्वीपवासियों के प्रति सहानुभूति दिखलाई। विधान-निर्माण के लिए एक परिषद् बुलाई गई। एक नया विधान बनाया गया जिसके अनुसार १९३५ ई० में फिलीपाइन द्वीप-समूह में एक जनतत्र राज्य स्थापित हुआ। क्वेजन इसके प्रथम राष्ट्रपति हुए जो ६ वर्ष के लिए निर्वाचित हुए थे। एक ही भवन में स्थित धारा-सभा का भी निर्माण हुआ लेकिन अभी पूरी स्वाधीनता नहीं प्राप्त हुई। फिलीपाइन की वैदेशिक नीति तथा न्याय-विभाग पर अमेरिका का ही अधिकार रहा। अतः कुछ लोग स्वराज्य की प्रगति से संतुष्ट नहीं हुए और १९४६ ई० में उन्होंने पूरी स्वतत्रता की माँग पेश की। अमेरिका को यह माँग स्वीकार करनी पड़ी। लेकिन अभी भी फिलीपाइन में अमेरिकी का विशेष प्रभाव है। उन्होंने कुछ प्रमुख बन्दरगाहों को प्रयोग के लिए अपने अधिकार में रखा है।

(ज) मलाया प्रायद्वीप

मलाया प्रायद्वीप के निवासियों में भी जागरण के चिन्ह दृष्टिगोचर हुए। १९वीं

सदी से द्वितीय महायुद्ध के पूर्व तक इस पर अंग्रेजों का अधिकार था। इस युद्ध के शुरू में जापान ने इसे अपने अधिकार में कर लिया किन्तु उसके पतन के पश्चात् यह फिर इगलैंड के अधिकार में आ गया। लेकिन इस समय तक इस प्रायद्वीप के लोगों में भी राष्ट्रीयता की भावना का उदय हो गया था और वे अपनी स्वाधीनता के लिये उत्सुक थे। वहाँ सबल राष्ट्रीय आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के पैर बुरी तरह लड़खड़ाने लगे। १६४५ ई० में अंग्रेजों ने कुछ सुधार प्रचलित किये किन्तु उससे स्वाधीनता प्रेमियों को सन्तोष नहीं हुआ। आन्दोलन उग्र रूप में जारी रहा। साम्राज्यवादी सरकार ने भी रौद्र रूप धारण किया और १६४८ ई० के मध्य में समस्त मलाया में सकट कालीन स्थिति की घोषणा कर दी गई और राष्ट्रीय नेताओं के विरुद्ध जेहाद छेड़ दिया गया। कर्फ्यू और फौजी कानून लागू हुए। सन्देह पर किसी को पकड़कर जेल दे देना या गोली का निशाना बना लेना मामूली बात हो गई। सम्पूर्ण द्वीप में भय तथा आतंक का राज छा गया। लोगों के धन, जीवन तथा प्रतिष्ठा की कोई गारन्टी नहीं रही। राष्ट्रवादियों को कमजोर करने के लिए फूट डालो और राज करो की नीति अपनायी गई और छल-कपटों का जाल बिछ गया। यह सब तो स्वार्थी साम्राज्यवादियों की पुरानी चालें हैं। मलाया देशभक्त इन चालों से विचलित नहीं हुए। अब इन्हें कुचलने के लिये बोर्नियो द्वीप से 'डयाक' नामक जगली जाति के लोगों को भाड़े पर लाया गया। किन्तु दमन और फूट की नीति का मनचाहा परिणाम नहीं हुआ। उल्टे १६५१ ई० के अक्टूबर मास में ब्रिटिश हाई कमिश्नर का भी वध कर डाला गया। बेचारे अंग्रेज घबड़ा उठे और १६५२ ई० के प्रारम्भ में जेनरल टेम्पलर को मलाया भेजा गया। इसकी सल्तनत काले कारनामों से परिपूर्ण है और चगेज तथा नादिर की याद दिलाती है। मलायावासियों का स्वाधीनता आन्दोलन जारी रहा है। अगस्त १६५७ ई० तक उसे स्वतन्त्रता मिल जाने की सभावना है।

(छ) स्याम

हिन्दचीन और बर्मा के बीच स्याम स्थित है। थाईलैंड इसी का दूसरा नाम है। इस पर कभी भी विदेशी आधिपत्य स्थापित नहीं हुआ किन्तु यहाँ का शासन निरंकुश था। इन शासकों पर अँगरेजों का प्रभाव भी कुछ कम नहीं था। जाग्रत एशिया में इस तरह की मध्यकालीन शासन-व्यवस्था असामयिक थी। अतः १६३२ ई० में शासन में प्रजातन्त्रीय ढंग का कुछ सुधार हुआ। १६३८ ई० में स्याम और जापान में एक सन्धि हुई। द्वितीय महायुद्ध के समय स्याम ने जापान के साथ पुनः एक सन्धि की और मित्र राष्ट्रों के विरुद्ध नीति अपनायी थी। किन्तु युद्ध के अन्त में इसने इंगलैंड

के साथ मित्रता स्थापित कर ली। १९४६ ई० में शासन में फिर महत्वपूर्ण सुधार हुआ। राजतन्त्र तो कायम रहा लेकिन राजा के अधिकारों को सीमित कर दिया गया। उसकी सहायता के लिए एक कौंसिल तथा एक धारा सभा (असेम्बली) की व्यवस्था की गई। कौंसिल के सदस्य धारा सभा के भी सदस्य होते थे। १९४७ ई० में स्याम संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य भी बन गया।

(ज) नेपाल

स्याम के अतिरिक्त नेपाल एक दूसरा स्वतन्त्र राज्य है जो भारत के उत्तर में हिमालय पहाड़ की गोद में स्थित है। यहाँ भी अँगरेजों का प्रभाव नगण्य नहीं था। १९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जब भारत में अँगरेजी साम्राज्य का विस्तार हो रहा था तब नेपाल के साथ भी युद्ध हुआ था और १८१६ ई० में दोनों में सुगौली की सन्धि हुई थी। इस सन्धि के अनुसार नेपाल ब्रिटिश सरकार के प्रभाव में आ गया, यद्यपि उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं हुआ। परन्तु स्वतन्त्र होते हुए नेपाल निरंकुशता का शिकार रहा है। यहाँ राजतन्त्र प्रणाली प्रचलित रही है। वंश-क्रमानुगत राजा गद्दी पर आरूढ़ रहा है और वह विष्णु के वंश का माना जाता है, किन्तु शासन में उसका स्थान नगण्य रहा है। उसकी स्थिति विचित्र रही है। उसका पद न तो फ्रांस के प्रेसीडेंट जैसा रहा है, न इंगलैण्ड के राजा जैसा। उसे यदि राजमहल का कैदी कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं। राज्य का शासन-सूत्र एक परिवार के हाथ में सीमित रहा है जो राणा परिवार के नाम से प्रसिद्ध है। १९वीं शताब्दी के मध्य से राज्य के प्रधान मंत्रित्व पर इसी परिवार का एकाधिकार रहा है। राज्य तथा शासन में इसी परिवार की तूती बोलती रही है। राजा मूर्ति स्वरूप गद्दी पर आसीन रहा है और बेचारी प्रजा सदा से दुखी रही है। नेपाल में इसी राणा परिवार का स्वेच्छाचारी और अन्यायी शासन स्थापित रहा है और १९५० ई० तक इसकी स्थिति मध्य-कालीन राज्य की-सी रही है।

लेकिन नेपाल भी एशिया के ही अन्दर स्थित है। जब सम्पूर्ण एशिया में क्रांति की लहर व्याप्त हुई और सारा महादेश राष्ट्रीयता के नाद से गूँज उठा तो नेपाल कैसे सुषुप्तावस्था में पड़ा रहता। यहाँ भी क्रांति और प्रगति के सन्देश पहुँचे और देश की पुरानी परम्परा में परिवर्तन अनिवार्य हो गया। सर्व प्रथम राजा त्रिभुवन की आँखें खुलीं। वे राणा परिवार के हाथ का खिलौना बन कर नहीं रहना चाहते थे और अपनी मुक्ति के लिए लालायित थे। ६ नवम्बर १९५० का दिन था। राजा सपरिवार महल छोड़कर चल पड़े और उन्होंने भारतीय राजदूतावास में शरण प्राप्त की।

तीन वर्ष का सिर्फ एक बच्चा राजमहल में रह गया। कुछ दिनों के बाद राज-

परिवार दिल्ली चला आया। राजा भारतीय सरकार के माननीय अतिथि रहे और इनका शाही स्वागत हुआ। राजा त्रिभुवन ने भारत के प्रधान मंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू से राजनीतिक शिक्षा ग्रहण की और कुछ महीनों के बाद सकुशल सपरिवार अपने देश को लौटे। अब वे अपने देश के वैधानिक शासक स्वीकृत किये गये। इस समय तक वहाँ नेपाली कांग्रेस नाम की एक राजनीतिक संस्था भी स्थापित हो चुकी थी। विधान तैयार करने के लिए एक विधान परिषद् बुलाने का निश्चय हुआ। इस बीच अन्तरिम सरकार की स्थापना हुई। आरम्भ में यह संयुक्त मन्त्रिमंडल था जिसने नेपाली कांग्रेस तथा राणा परिवार के प्रतिनिधि लिये गये थे। किन्तु दोनों दलों की विरोधी नीति होने के कारण यह व्यवस्था सफल न हो सकी। नवम्बर १९५१ ई० में राणा परिवार प्रतिनिधि मन्त्रिमण्डल से हट जाने के लिए बाध्य हुए और श्री विसेश्वर प्रसाद के नेतृत्व में नेपाली कांग्रेस मन्त्रिमंडल का संगठन हुआ। इस तरह नेपाल में वैधानिक राजतन्त्र स्थापित हुआ और प्रजातन्त्र तथा प्रगति के युग का प्रादुर्भाव हुआ लेकिन कोइराला भ्राताओं के आपसी झगड़े और आन्तरिक कलह के कारण देश में पूर्ण शान्ति स्थापित नहीं है। सरकार के संगठन में परिवर्तन होते रहे हैं। १९५६ ई० में श्री टंक प्रसाद आचार्य के नेतृत्व में संयुक्त मन्त्रिमंडल का निर्माण हुआ है। नेपाल में जनतन्त्र के लिये मार्ग प्रशस्त है। इस वर्ष १९५७ के अन्त तक वहाँ सर्वप्रथम चुनाव होने वाला है। इस बीच महाराज त्रिभुवन का स्वर्गवास हो गया और उनके पुत्र श्री महेन्द्र विक्रम गद्दी के अधिकारी हुए। १९५६ ई० के मध्य में बड़े धूमधाम के साथ इनका राज्यारोहण हुआ।

नेपाल भी अन्तर्राष्ट्रीय गुटबन्दी के दलदल से अपने को अलग रखना चाहता है। यह शान्तिवादी राष्ट्रों के अधिक निकट है। १९५१ ई० में ही भारत और नेपाल में एक मैत्रीपूर्ण सन्धि हुई। अक्टूबर १९५६ ई० में भारत के राष्ट्रपति ने देश से बाहर सर्वप्रथम नेपाल का ही भ्रमण किया। श्री महेन्द्र ने भी सम्पन्न भारत की यात्रा की थी। दिसम्बर में प्रधानमन्त्री श्री आचार्य ने भी भारत का भ्रमण किया। चीन से भी नेपाल का मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध है। १९५६ ई० में तिब्बत के सम्बन्ध में दोनों देशों में एक सन्धि हुई। दोनों देशों के प्रधान मन्त्रियों ने एक दूसरे के देशों का भ्रमण भी किया। भारत और चीन दोनों ही से नेपाल को आर्थिक सहायता मिल रही है।

अध्याय २१

अन्ध महादेश का जागरण—अफ्रीका

उन्नत रहा होगा कभी जो हो रहा अवनत अभी,
जो हो रहा अवनत अभी, उन्नत वही होगा कभी।

उत्थान के बाद पतन और पतन के बाद उत्थान संसार का स्वाभाविक नियम है। हम देख चुके हैं कि लगभग समस्त अफ्रीका पाश्चात्य साम्राज्यवाद का शिकार हुआ था। यूरोप के प्रायः सभी प्रमुख राष्ट्रों ने अफ्रीका के विभाजन में भाग लिया था। लेकिन अफ्रीकावासियों को भी स्वतन्त्रता एवं लोकतंत्र के विकास के लिये प्रेरणा मिली और वे भी साम्राज्यवाद के चंगुल से मुक्त होने के लिये सचेष्ट हो गये। कई राष्ट्रों में स्वातन्त्र्य आन्दोलन शुरू हो गया। इनमें कुछ को स्वतन्त्रता मिल गयी है और कुछ अभी प्रयत्न कर रहे हैं।

(क) मिश्र

ब्रिटिश आधिपत्य से पूर्व का मिश्र—हम देख चुके हैं कि सुदूर अतीत में मिश्र सभ्यता एवं संस्कृति का एक मुख्य केन्द्र था। लगभग ३००० वर्षों तक यह उन्नति के पथ पर अग्रसर था और मानव सभ्यता के भंडार को समृद्ध करता रहा। किन्तु कालान्तर में इसकी अवनति शुरू हुई और इसकी स्वतन्त्रता का अपहरण होने लगा। ईरानी, यूनानी, रोमन, अरब, तुर्क, ममलूक *—सभी ने बारी-बारी से मिश्र पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। यह सिलसिला ६ठी सदी ई० पू० से १५वीं सदी ई० तक बना रहा। १६वीं सदी के प्रारम्भ में कुस्तुन्तुनिया के तुर्की उस्मानी सुलतान ने मिश्र पर अधिकार कायम किया और ममलूक सुल्तान के पकड़कर प्राण दण्ड दे दिया। १८वीं सदी के अन्त में फ्रांस के नेपोलियन ने भी मिश्र को रौंदा और अधिकृत करने का प्रयत्न किया। लेकिन अंग्रेजों की तत्परता से नेपोलियन के सारे प्रयत्न विफल हुए।

१९वीं सदी के पूर्वार्द्ध में मुहम्मद अली मिश्र का शासक था। वह अल्बेनियन तुर्क था और तुर्की सुल्तान के प्रतिनिधि (खेदीव) के रूप में वह मिश्र में शासन करता था। १८४९ ई० में उसकी मृत्यु हो गई। उसके समय में मिश्र की खूब उन्नति

* ममलूक काकेशस क्षेत्र के तुर्की दास थे जो आर्य ही थे।

हुई। उसने कृषि का विकास किया। एक नयी सेना का सगठन किया गया। उसने एक ब्रिटिश सेना को पराजित भी किया और मिश्र पर अपना अधिकार सुरक्षित रखा। वह नाममात्र के लिये ही सुल्तान के अधीन था। इस तरह उसने आधुनिक मिश्र के विकास के लिये मार्ग प्रशस्त कर दिया।

मिश्र पर ब्रिटिश आधिपत्य—१६वीं सदी के उत्तरार्द्ध में मिश्र अंग्रेजों के हाथ में चला गया। मुहम्मद अली के उत्तराधिकारी दुर्बल एवं अयोग्य थे। वे अपव्ययी भी थे और विदेशियों से कड़े सूद पर कर्ज भी लेते थे। इस तरह विदेशियों को मिश्र में हस्तक्षेप करने के लिये अवसर प्राप्त हुआ। इन विदेशियों में अंग्रेज और फ्रांसीसी ही मिश्र के शासकों के प्रमुख महाजन थे। १८५६ ई० में एक फ्रांसीसी इंजीनियर डिलेसेप्स की प्रेरणा से स्वेज नहर के निर्माण के लिये एक कम्पनी स्थापित हुई। मिश्र के शासक इसमें भी हिस्सेदार हुए। यह निर्णय हुआ कि कम्पनी मिश्री सरकार को नहर खुलने के समय से ६६ वर्ष तक एक निश्चित दर से शुल्क दिया करेगी और उसके बाद नहर पर मिश्र का अधिकार हो जायगा। १८६६ ई० में नहर खुल गई।

अंग्रेजों के लिये मिश्र का विशेष महत्व था। मिश्र भारत जाने के मार्ग पर पड़ता था। इसके नेपोलियन ने उस पर अधिकार करना चाहा था किन्तु अंग्रेजों से उसे मुँह की खानी पड़ी थी। स्वेज नहर खुल जाने से एशिया, यूरोप तथा आस्ट्रेलिया का समस्त व्यापार इसी रास्ते से होने लगा। अब समय और खर्च दोनों में बचत होने लगी। अतः अंग्रेजों के लिये मिश्र तथा स्वेज पर अधिकार करना आवश्यक हो गया। उपयुक्त समय भी आ पहुँचा। १८७५ ई० में साम्राज्यवादी डिसरैली इंगलैंड का प्रधान मंत्री था और मिश्र का खेदीव दिवालिया था। खेदीव को धन की आवश्यकता थी। अतः उसने स्वेज नहर के मिश्री हिस्सों को डिसरैली के हाथ सस्ते मूल्य पर ही बेंच डाला। मिश्र के कुछ हिस्सों को फ्रांसीसी व्यापारियों ने भी खरीद लिया।

इस तरह मिश्र पर इंगलैंड तथा फ्रांस का द्वैध नियंत्रण स्थापित हुआ। वे अपने आर्थिक स्वार्थों की रक्षा के लिये मिश्र के आन्तरिक मामलों में भी धीरे-धीरे हस्तक्षेप करने लगे। किन्तु यह मिश्रियों को अच्छा नहीं लगा। उन्होंने १८८२ ई० में अरबी पाशा नामक एक सैनिक अफसर के नेतृत्व में विद्रोह कर दिया। विद्रोह दबाने में फ्रांस ने साथ नहीं दिया। इंगलैंड ने अकेले ही विद्रोह को दबाया। अतः मिश्र पर इंगलैंड का अधिकार कायम हुआ। फ्रांस को हट जाना पड़ा।

मिश्र पर ब्रिटिश आधिपत्य से फ्रांस तथा अन्य राज्य सन्तुष्ट नहीं थे। मिश्रियों को तो यह फूटी आँख भी नहीं सुहाता था। अन्य यूरोपीय राष्ट्र स्वेज जल मार्ग के

सम्बन्ध में भी अधिक चिन्तित हुए। ब्रिटिश प्रभुता से उनके हितों की उपेक्षा हो सकती थी। अतः १८८८ ई० में इसके सम्बन्ध में एक समझौता हुआ। ब्रिटेन के अतिरिक्त रूस, इटली, जर्मनी, आस्ट्रेलिया, स्पेन, फ्रांस, नीदरलैंड तथा टर्की ने इसमें भाग लिया। यह निश्चय हुआ कि स्वेज जलमार्ग युद्ध एवं शान्ति काल में सभी राष्ट्रों के जगी एवं व्यापारी जहाजों के लिये बिना किसी भेद-भाव का खुला रहेगा। १९०४ ई० में इंगलैंड ने फ्रांस से भी एक पृथक समझौता कर उसे अपने पक्ष में कर लिया। इंगलैंड ने फ्रांसीसी स्वार्थ को मोरक्को में और फ्रांस ने ब्रिटिश स्वार्थ को मिश्र में मान लिया। इस तरह १८८२ से १९१४ ई० तक मिश्र की स्थिति बड़ी विचित्र रही। मिश्र का वैध स्वामी तुर्की था किन्तु वास्तविक सत्ता अंग्रेजों के हाथ में आ गई। मिश्र में एक ब्रिटिश एजेंट रहने लगा जो बड़ा ही शक्तिशाली था। खदीव भी उसके सामने असहाय था। मेजर बेरिंग सर्वप्रथम एजेंट था जो लार्ड क्रोमर के नाम से प्रसिद्ध है। वह बड़ा ही निरंकुश था। उसके पथ प्रदर्शन में मिश्र का आर्थिक विकास हुआ किन्तु ब्रिटिश स्वार्थ की पूर्ति के लिये ही। उसने २५ वर्षों तक शासन किया और इस काल में अंग्रेज व्यापारियों तथा साहूकारों को बहुत लाभ हुए। किन्तु मिश्र निवासी लाभान्वित नहीं हुए। मिश्री सरकार के कर्ज ज्यों के त्यों कायम रहे। उसने एकता एवं राष्ट्रीयता को कुचलने का भरपूर प्रयत्न किया। देश के हित के लिये कुछ सोचना, कहना या करना अपराध था। शिक्षा के क्षेत्र में विशेष प्रगति नहीं हुई। विदेशियों को अनेक विशेषाधिकार प्राप्त थे। वे मिश्री कानून के अन्तर्गत नहीं थे।

मिश्र १९१४-२२ ई०—१९१४ ई० में जब प्रथम महायुद्ध प्रारम्भ हुआ तो टर्की जर्मनी की ओर से इसमें शामिल हुआ। अब तक कानूनी दृष्टि से मिश्र पर टर्की का आधिपत्य माना जाता था किन्तु अब ऐसी बात नहीं रह गई। ग्रेट ब्रिटेन ने मिश्र को सुरक्षित राज्य घोषित कर दिया और तत्कालीन खेदीव को गद्दी से उतार कर उसके चाचा को सुल्तान की पदवी देकर पदारूढ़ कर दिया गया। ग्रेट ब्रिटेन ने युद्ध संबन्धी समस्त भार को भी अपने ही ऊपर ले लेने की घोषणा कर दी। इससे आशा की गई कि मिश्री खुश होंगे।

परन्तु इंगलैंड ने अपनी प्रतिज्ञा का समुचित पालन नहीं किया। मिश्र में सैनिक कानून लागू कर दिया गया। सेना में लोगों को भर्ती किया जाने लगा। शुरू में तो यह स्वेच्छा पर निर्भर था और उचित वेतन भी मिलता था किन्तु बाद में कम ही वेतन पर लोग भरती होने के लिये बाध्य किये जाने लगे। ब्रिटिश मिश्री मालों को भी मनमाने ढंग से खरीदा करते थे, अतः मिश्री असन्तुष्ट होने लगे थे। उनके असन्तोष के अन्य कारण भी थे। अंग्रेजों के विदेशी शासन से उन्हें घृणा थी। धार्मिक दृष्टि से

अंग्रेज इसाई थे तो मिश्री मुसलमान थे। अतः वे अंगरेज शासन से मुक्ति पाना चाहते थे। मित्र राष्ट्रों के युद्ध-उद्देश्य को भी सुनकर मिश्रियों को आशा हो गई कि युद्ध के बाद वे स्वशासन के अधिकारी हो जायँगे। अतः युद्धकाल में वे शान्त रहे।

लेकिन युद्ध का अन्त होने पर मिश्रियों की आशा पर पानी फिर गया। उन्हें शान्ति-सम्मेलन में प्रतिनिधि भी भेजने का अधिकार नहीं मिला। इससे वे नाराज हुये और जगलूल पाशा के नेतृत्व में शान्ति-सम्मेलन में भाग लेने के लिये एक विशिष्ट मंडल चला। यह मंडल लंदन भी जाना किन्तु नेता सहित सभी सदस्य रास्ते ही में पकड़कर माल्टा भेज दिये गये। जगलूल मध्यम वर्ग का था और उसे लोकप्रियता प्राप्त थी। अतः उसकी गिरफ्तारी से सारे राष्ट्र को गहरी चोट पहुँची। इसके बाद मिश्र में भयंकर विद्रोह हो गया। विद्रोहियों ने तोड़-फोड़ की नीति अपनायी। जेनरल एलन्बी ने विद्रोह को दबा डाला। किन्तु अंग्रेज यह भी अनुभव करने लगे कि मिश्रियों को सन्तुष्ट करना भी आवश्यक है। १६१६ ई० में विशिष्ट मंडल के सभी सदस्य मुक्त कर दिये गये और लार्ड मिलनर के नेतृत्व में एक जाँच कमीशन की नियुक्ति हुई।

मिश्र ने मिलनर कमीशन का बहिष्कार किया गया किन्तु वह स्थिति की जाँच कर ही लौटा। ब्रिटेन में लौटने पर मिलनर और जगलूल के बीच भी वार्तालाप हुआ। कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में मिश्र की स्वतन्त्रता का समर्थन किया किन्तु इसके साथ ही कई प्रतिबन्ध भी लगा दिया। इसी आधार प १६२१ ई० में एक सन्धि-पत्र तैयार कर मिश्र के सामने उपस्थित किया गया किन्तु राष्ट्रवादियों ने इसे ठुकरा दिया। इस पर भी दंगा शुरू हो गया और एलेन्बी सैनिक कार्यवाई पुनः करने लगा। जगलूल भी गिरफ्तार कर जिब्राल्टर भेज दिये गये। लेकिन दमन से ही समस्या हल होने को नहीं थी। ब्रिटिश सरकार मिश्रियों को अधिकार भी देने के लिये राजी हुई। फरवरी १६२२ ई० में एक घोषणा-पत्र प्रकाशित किया गया जिसमें मिश्र को एक स्वतन्त्र सर्वाधिकार प्राप्त राष्ट्र स्वीकार कर लिया गया किन्तु चार विषय ग्रेट ब्रिटेन के अधीन सुरक्षित रहे—स्वेज की रक्षा, विदेशी हमले से मिश्र की रक्षा, मिश्र में विदेशियों और उनके हितों की रक्षा और सूडान का नियंत्रण। अब ब्रिटिश संरक्षण का अन्त हो गया और सुलतान अहमद फुवाद राजा की उपाधि से विभूषित हुआ।

इस तरह मिश्र को स्वाधीनता मिली किन्तु वह स्वाधीनता सीमित थी। चार क्षेत्रों में संरक्षण की व्यवस्था की गई। वे बड़े ही महत्वपूर्ण थे। अभी भी अंगरेजों की प्रधानता बनी रही। राजा फुवाद भी अंगरेजों के कहने में था और वह उत्तरदायी शासन को भी नापसंद करता था। उसमें निरंकुशता एवं अहमत्व की भावना भरी हुई थी। उसके प्रभाव से उन सभी अंगरेजों को क्षमा प्रदान कर दिया गया जिन्होंने

फौजी शासन काल में अन्याय एवं अत्याचारपूर्ण कार्य किया था। इसके अतिरिक्त अंगरेज अधिकारियों को क्षतिपूर्ति करने के लिये मिश्री सरकार को एक बहुत बड़ी रकम भी स्वीकृत करनी पड़ी।

मिश्र १६२३-२६ ई०—मिश्र में एक नया संविधान लागू हुआ। १६२३ ई० में चुनाव हुआ और वफ्दी बहुमत में आये। इस समय तक जगलूल भी मुक्त हो गया था और उसी के नेतृत्व में जनवरी १६२४ ई० में मन्त्रिमंडल का निर्माण हुआ। इस तरह मिश्र में उत्तरदायी शासन का प्रारंभ हुआ। इसी समय ग्रेट ब्रिटेन में रैमजे मैक्डोनल्ड की सरकार थी। पूर्ण स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में जगलूल उससे लंदन में मिलने गये किन्तु उसका उद्देश्य पूरा नहीं हुआ। ब्रिटिश प्रधानमंत्री मिश्र से अंग्रेजी सेना हटाने के लिये तैयार नहीं हुआ और जगलूल निराश हो लौट आया।

१६२४ ई० के अन्त में एक दुर्घटना हो गई। सरली स्टैक मिश्री सेना का सेनापति और सूडान का गवर्नर जेनरल था। कैरो में किसी ने उसकी हत्या कर डाली। राजा और प्रधान मंत्री ने इस पर दुःख प्रकट किया और इसके सम्बन्ध में उचित कार्रवाई के लिये भी वादा किया। किन्तु ग्रेट ब्रिटेन को इतने से सन्तोष नहीं हुआ और इसने शीघ्र ही एक चेतावनी भेज दी। इसमें ब्रिटिश सरकार की कई माँगें थीं—मिश्री सरकार की ओर से माफी, अपराधियों को दण्ड, राजनीतिक प्रदर्शनों का दमन, ५ लाख पौंड स्टर्लिंग की क्षतिपूर्ति और सूडान से सारी मिश्री सेना की तत्काल वापसी। कपास की खेती के लिये सूडान के जेजिरे क्षेत्र के अनिश्चित विस्तार करने की भी घोषणा कर दी गई। इससे मिश्र को पानी की प्राप्ति में कठिनाई हो जाती। अतः जगलूल ने सूडान सम्बन्धी माँग को छोड़कर अन्य सभी माँगों को मंजूर कर लिया। इसके बाद अंग्रेजों ने अलेक्जेन्ड्रिया के चुंगी घर पर भी कब्जा कर लिया और इसके विरोधस्वरूप जगलूल ने पदत्याग कर दिया। नये प्रधान मंत्री ने सभी ब्रिटिश माँगों को कबूल कर लिया और इसके बदले में अंग्रेजों ने केवल नीली नील के ही पानी का उपयोग करने का वचन दिया। लेकिन इससे राष्ट्रवादी सन्तुष्ट नहीं हुये और वे राष्ट्र संघ के सामने मिश्र के प्रश्न को ले जाना चाहते थे किन्तु अंग्रेजों के विरोध से यह सम्भव नहीं हो सका।

एक बड़े आश्चर्य का विषय यह है कि शान्ति एवं व्यवस्था के लिये दो अंग्रेज अफसर ही वास्तव में उत्तरदायी थे। वे थे—काहिरा की पुलिस का अध्यक्ष और सार्वजनिक रक्षा के यूरोपीय विभाग का प्रधान। किन्तु जो हत्या हुई थी उसके लिये उन पर कोई दोषारोपण नहीं किया गया।

इसके [illegible] ई० तक मिश्री [illegible] अनिश्चित स्थिति में पड़ी रही।

पार्लियामेंट में राष्ट्रवादियों की प्रधानता थी और अंग्रेजों से सहानुभूति रखने वाला कोई भी मंत्रिमंडल टिक नहीं सकता था। १६२६ ई० के निर्वाचन में राष्ट्रवादियों का ही बहुमत था किन्तु जगलूल को प्रधान मंत्री नहीं होने दिया गया। एक संयुक्त मंत्रिमंडल का निर्माण हुआ। दूसरे ही साल १६२७ ई० में जगलूल का देहान्त भी हो गया। जगलूल के स्थान पर नहस पाशा का उदय हुआ। वह बड़ा ही ईमानदार एवं लोकप्रिय था। किन्तु अंग्रेजों ने उसे अप्रिय बनाने का प्रयत्न किया और एक समय उस पर घूसखोरी का दोषारोपण किया गया, किन्तु उसका अपराध साबित नहीं हो सका।

१६२६ ई० में इंगलैंड में मजदूर सरकार की स्थापना हुई। मिश्रियों के हृदय में नई आशा का संचार हुआ। हेन्डरसन और महमूद के बीच समझौता का प्रयत्न हुआ किन्तु सफलता नहीं मिली। सूडान के सम्बन्ध में गहरा मतभेद था। वफ्द नेता नहस पाशा ने, जो जगलूल का उत्तराधिकारी था, पदत्याग कर दिया। इसके बाद १६३० ई० में सिदकी पाशा प्रधान मंत्री बना और उसने एक नया विधान लागू किया।

यह विधान प्रतिक्रियावादी था। इसका उद्देश्य था राष्ट्रवादी दल (वफ्द) को कमजोर करना। इसने अप्रत्यक्ष निर्वाचन की व्यवस्था की। सिदकी को पदच्युत कराने के उद्देश्य से नहस पाशा और महमूद ने गठबंधन किया किन्तु वे सिदकी का कुछ बिगाड़ नहीं सके और कम्युनिस्टों को दबाने का खूब प्रयत्न किया। इसी समय रुई की कीमत घटने के कारण आर्थिक संकट भी पैदा हो गया था। इसाइयों के विरुद्ध भयंकर विद्रोह भी शुरू हो गया था। इस विद्रोह का मुख्य कारण था कि एक अंग्रेज महिला एक मुस्लिम लड़की को बलात् इसाई बनाना चाहती थी। राजा भी सिदकी से असन्तुष्ट था और शासन में हस्तक्षेप करता था। जनता भी उसके निरंकुश शासन से असन्तुष्ट हो गई थी। धीरे-धीरे उसका स्वास्थ्य भी खराब होने लगा था। इन सब कारणों से सिदकी ने सितम्बर १६३३ ई० में पदत्याग कर दिया। नसीम पाशा उसका उत्तराधिकारी बना।

इसके बाद १६३० ई० का विधान रद्द हो गया लेकिन मिश्री इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हुये। १६३५ ई० में मुसोलिनी ने अबीसीनिया पर हमला कर दिया। अब भूमध्य सागर की सुरक्षा की दृष्टि से मिश्रियों को सन्तुष्ट करना आवश्यक हो गया। वफ्दिस्ट नेता नहस पाशा समानता के ही आधार पर इंगलैंड के साथ सहयोग करने को तैयार था। १६३६ ई० के ग्रीष्म में नये निर्वाचन की व्यवस्था की गई। वफ्द को बहुमत प्राप्त हुआ और नहस प्रधान मंत्री बने। इसी साल राजा फवाद की मृत्यु हो

गई और उसका पुत्र फारूक प्रथम नया राजा हुआ। इसी साल मिश्र तथा इगलैंड के बीच एक नयी संधि हुई।

१६३६ ई० की सन्धि—इस संधि के अनुसार ग्रेट ब्रिटेन ने मिश्र को प्रभुता सम्पन्न राज्य स्वीकार कर लिया। यह तय हुआ कि दोनों देशों के राजदूत दोनों देशों में रहेंगे। दोनों ने एक दूसरे की सहायता करने के लिये भी वादा किया। यह भी तय हुआ कि अन्य राष्ट्रों के विशेषाधिकारों का अन्त करने के लिये ग्रेट ब्रिटेन उन्हें प्रभावित करे और राष्ट्र सघ में मिश्र की सदस्यता के लिये प्रयत्न करे। विदेशियों की रक्षा का भार मिश्र सरकार पर ही सौंपा गया किन्तु अभी भी मिश्र पर कुछ प्रतिबन्ध रह ही गये-जो एक प्रभुता सम्पन्न राज्य के लिये अपमानजनक था। स्वेज नहर के क्षेत्र में अभी भी अंग्रेजी सेना कायम रही। ग्रेट ब्रिटेन को १०,००० सैनिक और ४०० हवाई सैनिक रखने का अधिकार प्राप्त था। युद्ध काल में वह मिश्र की सारी सुविधाओं का भी उपयोग कर सकता था। सूडान पर सयुक्त अधिकार कायम रहा। १० या २० वर्ष के बाद इस सधि पर पुनर्विचार करने के लिये तय हुआ।

मिश्र १६३६-३६ ई०—सभी विदेशियों के विशेषाधिकारों का अन्त करने के सम्बन्ध में विचार करने के लिये ग्रेट ब्रिटेन ने १६३७ ई० में मोन्ट्रे में एक सम्मेलन बुलाया। सभी राष्ट्रों के बीच एक समझौता हुआ। १६४६ ई० तक सभी विशेषाधिकारों का अन्त कर देने का निश्चय हुआ। इसी साल मिश्र राष्ट्र सघ का सदस्य भी बन गया। फारूक प्रथम का स्वतन्त्र मिश्र के प्रथम राजा के रूप में अभिषेक हुआ।

शीघ्र ही राजा तथा प्रधान मंत्री में तीन बातों को लेकर मतभेद हो गया। ये बातें थीं—राजा का अभिषेक, विधान में राजा का स्थान और ब्लूशर्ट नामक संगठन का विघटन। राजा ने मंत्रिमंडल को भंग कर दिया। उदारवादी मुहम्मद महमूद ने नया मंत्रिमंडल बनाया और शीघ्र ही उसने ब्लूशर्ट का विघटन कर दिया। किन्तु जहाँ-तहाँ दंगा होने लगा जिसे इगलैंड ने दबा दिया। इसी समय फारुक का विवाहोत्सव भी मनाया गया। १६३८ ई० में नया निर्वाचन हुआ। इस समय राष्ट्रवादियों में विभाजन हो गया था और राजा की लोकप्रियता बढ़ रही थी। अतः चुनाव में सरकार ही विजयी हुई और महमूद का प्रधान मन्त्रित्व कायम रहा। अगस्त १६३६ ई० में महमूद ने पदत्याग कर दिया और अली मेहर प्रधान मंत्री बना। वह एक स्वतन्त्र विचारक था और इसे वफिदस्ट दल के एक भाग वफादि का समर्थन प्राप्त था।

मिश्र १६३६-४६ ई०—१६३६ ई० में द्वितीय महायुद्ध छिड़ने पर मिश्र की रक्षा के लिये वहाँ अंग्रेजी सेना भेजी गई। १६४० ई० में मिश्र पर हमला भी हुआ, किन्तु दो वर्ष के अन्दर दुश्मन भगा दिये गये। युद्ध समाप्त होने पर मिश्रियों ने यह

माँग की कि अंग्रेजी सेना उसकी भूमि से हटा दी जाय। मिश्र छोड़ो—के नारे लगाये जाने लगे और जहाँ-तहाँ प्रदर्शन होने लगे। १९४७ ई० में मिश्र से सेना हटा दी गई किन्तु नहर के क्षेत्र में अभी भी सेना कायम रही। इसे हटाने के सम्बन्ध में मिश्रियों और अंग्रेजों में जुलाई, १९५४ ई० में एक समझौता हुआ। इस बीच १९५२ ई० में ही मिश्र में राजतंत्र की नींव उखाड़ दी गयी जब कि वहाँ के राजा को गद्दी से उतार दिया गया। जेनरल नजीब ने सैनिक शासन स्थापित किया। किन्तु १९५६ ई० के मध्य तक वहाँ नया संविधान लागू हो गया और मिश्र का एक जनतंत्र के रूप में उदय हुआ। कर्नल नासिर इसके प्रथम राष्ट्रपति चुने गये।

मिश्रियों ने सूडान को भी अंग्रेजों से लेने का प्रयत्न किया, लेकिन अंग्रेजों ने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया और यह प्रश्न संयुक्त राष्ट्र संघ में भी पेश किया गया किन्तु कोई विशेष सफलता नहीं मिली। १९५३ ई० में इंगलैंड और मिश्र के बीच एक समझौता हुआ। इसके अनुसार यह निश्चय हुआ कि सूडानवासी मिश्र के साथ मिलकर रहें या स्वतन्त्र होकर रहें। सूडान की लोकसभा ने इसे एक प्रभुता सम्पन्न जनतंत्र राज्य घोषित कर दिया। १ जनवरी १९५६ ई० को सूडान पूर्ण स्वतन्त्र हो गया और इस पर न इंगलैंड का कोई अधिकार रहा और न मिश्र का ही।

स्वेज संकट—आंग्ल-मिश्री सम्बन्ध के इतिहास में १९५६ ई० का वर्ष बड़ा ही महत्वपूर्ण है। स्वेज नहर का पहले ही उल्लेख हो चुका है। यह अन्तर्राष्ट्रीय महत्व की नहर है और ग्रेट ब्रिटेन इससे अपना सम्बन्ध विच्छेद करना नहीं चाहता था। नहर की खुदाई में इंगलैंड तथा फ्रांस ने सहायता की थी किन्तु मिश्रियों ने भी तन-मन-धन से पूर्ण सहयोग दिया था। उन्होंने कठोर कष्ट झेले—सहस्रों के प्राण गये। इस तरह नहर तो तैयार हुई किन्तु आगे चलकर अंग्रेजों ने छल-बल से मिश्रियों का भी हिस्सा ले लिया। अब इंगलैंड तथा फ्रांस नहर को पाकर माल बनाने लगे। पश्चिमी यूरोप का प्रायः समस्त व्यापार पश्चिमी एशिया तथा अन्य दक्षिणी-पूर्वी देशों के साथ स्वेज जलमार्ग से ही होता था। पश्चिमी एशिया का तेल पश्चिमी यूरोप को कम खर्च में शीघ्रतापूर्वक मिलने लगा। जितने बैरल तेल भेजे जाते हैं उनका ⅔ बैरल स्वेज नहर से ही जाते हैं। इस तरह स्वेज नहर से पश्चिमी यूरोपीय देशों की धन-दौलत में वृद्धि होने लगी किन्तु मिश्र की आर्थिक दशा बिगड़ती ही रही। उसे विकास के लिये अर्थ की बड़ी आवश्यकता थी। स्वेज नहर से उत्पन्न आय में से उसे बहुत कम भाग मिलता था। १९५५ ई० में ३⅕ करोड़ पौंड आय में मिश्र को केवल १० लाख पौंड ही मिले थे। मिश्रियों की दृष्टि में यह घोर अन्याय था—राष्ट्रीय धन का लूट था। यह अन्याय और भी बुरी तरह खलने लगा जबकि आवश्यकता पड़ने पर मिश्र को दूसरे के सामने हाथ पसारना पड़ा। मिश्री सरकार ने देश के आर्थिक विकास के लिये असवान बाँध

के निर्माण की एक योजना बनायी। इसके बनाने में १ अरब ३० करोड़ डालर खर्च करने का अनुमान किया गया। बन जाने पर यह संसार का सबसे विशाल बाँध होता और मिश्र की बहुत ही आर्थिक उन्नति होती। अमेरिका तथा इंगलैंड भी मिश्र को कर्ज देने के लिये एक समय सहमत हुए थे। विश्व बैंक से २० करोड़ डालर मिलने की संभावना थी। ये सारी बातें दिसम्बर १६५५ ई० में तय हो चुकी थीं। किन्तु इंगलैंड तथा अमेरिका को मिश्र की स्वतन्त्रता एवं तटस्थ नीति पसन्द नहीं थी। मिश्र ने अमेरिका द्वारा प्रस्तावित सुरक्षा समझौता को स्वीकार नहीं किया और कुछ अरब देशों ने भी मिश्र का अनुसरण किया। इसके अतिरिक्त मिश्र का साम्यवादी देशों से सम्पर्क बढ़ रहा था। मिश्र ने रूस के साथ एक समझौता भी कर लिया था। इससे अमेरिका को रंज हुआ और १६ जुलाई १६५६ ई० को मिश्र को आर्थिक सहायता देने के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। इंगलैंड ने भी अमेरिका का अनुसरण किया। इसके बाद विश्व बैंक भी ऋण देने के लिये तैयार नहीं हुआ।

धन के अभाव में मिश्र सरकार की बाँध-योजना खटाई में पड़ गई। इससे जाग्रत मिश्रियों की आत्म-प्रतिष्ठा—राष्ट्रीय भावना को गहरी चोट पहुँची। जून १६५६ ई० में नहर-क्षेत्र से अन्तिम ब्रिटिश सेना हटा ली गई। लेकिन अभी भी नहर के प्रशासन के लिये एक कम्पनी रह गई थी जिसमें अंगरेज तथा फ्रांसीसी ही प्रधान थे। नहर से ३५ करोड़ पौंड की वार्षिक आय थी। जुलाई में राष्ट्रपति कर्नल नासिर ने स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण कर दिया और घोषित किया कि अब बिना विदेशी सहायता के ही नहर से प्राप्त आय से असवान बाँध का निर्माण हो जायगा।

नहर के राष्ट्रीयकरण की घोषणा से पूर्व तथा पश्चिम में विभिन्न प्रतिक्रियाएँ हुई। एशिया तथा अफ्रीका के देशों ने इसका स्वागत किया और लोगों ने बड़ी खुशियाली मनायी। लेकिन इससे इंगलैंड तथा फ्रांस में खलबली मच गई। नहर के उपयोग करने वाले कुछ अन्य पाश्चात्य राष्ट्र भी घबड़ाये। इंगलैंड तथा फ्रांस ने राष्ट्रीयकरण को स्वीकार नहीं किया और अपनी सेनाओं को सावधान रहने तथा आदेश की प्रतीक्षा करने की सूचना दी। मिश्र ने भी अपनी तैयारी शुरू कर दी। युद्ध तो शीघ्र ही प्रारम्भ हो जाता किन्तु इंगलैंड तथा फ्रांस का पक्ष दुर्बल था। सर्वप्रथम इन्हीं देशों ने १८८८ ई० की अन्तर्राष्ट्रीय समझौते की उपेक्षा की थी। प्रथम और द्वितीय महा-युद्ध के समय इन देशों ने शत्रु पक्ष के लिये स्वेज नहर को बन्द कर दिया था। दूसरे, १६५४ ई० के समझौते में इंगलैंड यह स्वीकार कर चुका था कि स्वेज मिश्र का ही अविच्छिन्न अंग है। तीसरे, युद्ध होने पर अमेरिका की सहानुभूति इंगलैंड के साथ नहीं होती। अमेरिका मिश्र के साथ युद्ध के पक्ष में नहीं था क्योंकि इसके कारण फिर युद्ध हो जाने की आशंका थी।

इङ्गलैंड, फ्रांस तथा अमेरिका के प्रतिनिधियों का लंदन में एक सम्मेलन हुआ और उनके निर्णय के अनुसार नहर के उपभोक्ता राष्ट्रों का एक सम्मेलन बुलाने का निश्चय हुआ। लंदन में ही यह सम्मेलन भी हुआ। अमेरिका के राज्य सचिव डलेस ने स्वेज नहर के अन्तर्राष्ट्रीय प्रबन्ध का समर्थन किया किन्तु भारत, रूस आदि कई राष्ट्रों ने इसका विरोध किया। इसके बाद आस्ट्रेलिया के प्रधान मन्त्री राबर्ट मेंजीज के नेतृत्व में एक प्रतिनिधि मंडल कर्नल नासिर से बात करने के लिये काहिरा गया। किन्तु इसका कुछ परिणाम नहीं हुआ। तत्पश्चात् लंदन में उपभोक्ताओं का एक दूसरा सम्मेलन हुआ और उसमें नहर उपभोक्ता सघ का निर्माण हुआ। परन्तु मिश्र तथा इसके समर्थक राष्ट्रों को यह मान्य नहीं था। इङ्गलैंड, फ्रांस तथा मिश्र के परराष्ट्र मंत्रियों के बीच भी विचार-विमर्श हुआ और यह निश्चय हुआ कि स्वेज का प्रबन्ध मिश्र के हाथ में रहे किन्तु उपभोक्ता राष्ट्रों के मत का भी ख्याल किया जाय। मिश्र ने भी घोषणा कर दी थी कि उपभोक्ता राष्ट्रों के हित का ध्यान रखा जायगा। स्वेज का प्रश्न सुरक्षा परिषद् के सामने भी उपस्थित था।

इस तरह लोग सोच रहे थे कि स्वेज समस्या का निराकरण हो जायगा। परन्तु इसी बीच अक्टूबर १९५६ ई० में इसरायल ने मिश्र पर अचानक हमला कर दिया। इङ्गलैंड तथा फ्रांस ने भी इसरायल का साथ देना शुरू किया। काहिरा पर बम गिरा, पोर्टसईद की क्षति हुई। सभी दिशाओं से हमले का घोर विरोध होने लगा। एशियायी-अफ्रिकी देशों की जनता ने स्वेज के राष्ट्रीयकरण का समर्थन किया और आक्रमण का एक स्वर से विरोध हुआ। केवल पाकिस्तान अपवादस्वरूप था। सयुक्त राष्ट्र सघ के रंगमच से भी आक्रमण नीति की आलोचना की गई और मिश्र से सेना हटा लेने के लिये प्रस्ताव पास हुआ। अमेरिका ने भी इङ्गलैंड को सहयोग देने से अस्वीकार कर दिया। ब्रिटिश लोकमत भी अपनी सरकार की इस नीति से पूर्णरूपेण सहमत नहीं था। इन सब का यही परिणाम हुआ कि ब्रिटिश प्रधान मन्त्री इडेन को अपनी अवधि के बहुत पूर्व ही जनवरी १९५७ ई० में अपने पद से हट जाने को बाध्य होना पड़ा। वे मन्त्रिमंडल से ही नहीं हटे बल्कि उन्होंने लोक सभा की सदस्यता भी त्याग दी। यह उनकी बहुत बड़ी पराजय थी और कर्नल नासिर की महान् विजय। नये ब्रिटिश प्रधान मन्त्री हैरोल्ड मैकमिलन ने शान्ति की नीति अपनायी। उधर रूस ने भी आक्रमणकारियों को कड़ी चेतावनी दे दी। अतः युद्ध बन्दी की घोषणा हुई। संयुक्त राष्ट्र सघ की ओर से एक अन्तर्राष्ट्रीय सेना भेजी गई और मिश्र की भूमि से आक्रमणकारी सेना हटने लगी।

लेकिन इसरायली सेना गाजा और अकाबा के क्षेत्र में जम गई और इसरायली वहाँ से हटने में आनाकानी करने लगी। संयुक्त राष्ट्र संघ में सेना को हटाने के

लिये प्रस्ताव पास होते रहे। अमेरिका ने भी इसरायली नीति का विरोध किया। इसरायल अकावा से हटने के पूर्व मिश्र पर अपनी कुछ शर्त्तें लागू करना चाहता था। किन्तु मिश्र उन शर्तों को मानने के लिये तैयार नहीं था और अमेरिका ने भी इसरायल का समर्थन नहीं किया। अन्त में मार्च १९५७ ई० में इसरायल भी अकावा से हटने के लिये सहमत हुआ।

इस बीच मिश्री सरकार ने शान्तिवादी राष्ट्रों के लिये स्वेज नहर को खुला रखने की घोषणा कर दी थी। मार्च १९५७ ई० में यह भी घोषणा कर दी गई कि १० अप्रैल से सभी राष्ट्रों के जहाजों के लिये स्वेज का जलमार्ग खोल दिया जायगा। घोषणा में यह भी कहा गया है कि इङ्गलैंड तथा फ्रांस का कोई विशेषाधिकार नहीं रहेगा और अन्य राष्ट्रों की भाँति उन्हें भी सभी नियमों का समुचित पालन करना पड़ेगा। मिश्री सरकार ही चुंगी वसूल करेगी और जलमार्ग के विकास के लिये भी प्रबन्ध करेगी। मिश्री राष्ट्र की यह विजय बड़ा ही गौरवपूर्ण है और इससे एशियाई अफ्रीकी देशों की जनता में नयी स्फूर्ति एवं उत्साह का संचार हुआ है।

स्वेज समस्या का अभी स्थायी रूप से निराकरण नहीं हुआ है। अभी मार्च (१९५७) के अन्तिम सप्ताह में राष्ट्र संघ के महामंत्री ने मिश्र के अधिकारियों से कई बार वार्ता की और एक संशोधित योजना तैयार की है। इसमें निम्नलिखित बातें हैं—(क) मिश्री अधिकारी ही सम्पूर्ण शुल्क एकत्र करेंगे। (ख) शुल्क का २५ प्रतिशत नहर के विकास के लिये और ५ प्रतिशत नहर कम्पनी के हिस्सेदारों की क्षतिपूर्ति के लिये सुरक्षित रहेगा। (ग) शेष शुल्क को मिश्र नहर के संचालन तथा अन्य कामों में खर्च करेगा। पश्चिमी यूरोप, अमेरिका तथा भारत अपनी-अपनी मुद्रा में शुल्क चुकायेंगे और अन्य देश स्विस मुद्रा में। (घ) स्वेज जलमार्ग में मुक्त संचार के लिये मिश्र १८८८ ई० के समझौते का पालन करेगा। इस योजना के प्रति पश्चिमी राष्ट्रों का क्या रुख होगा सो तो भविष्य ही बतलायेगा।

(ख) घाना

मिश्र के अतिरिक्त लीबिया, ट्युनीशिया, मोरक्को और सूडान ने भी विदेशियों के विरुद्ध आवाज उठायी और द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् स्वाधीनता प्राप्त की। अभी ६ मार्च १९५७ ई० को गोल्डकोस्ट नामक राज्य स्वतन्त्र हुआ है। स्वतन्त्र गोल्डकोस्ट ही घाना के नाम से विख्यात है।

गोल्डकोस्ट अटलांटिक महासागर के तट पर अफ्रीका के पश्चिमी भाग में स्थित है। यह प्राकृतिक साधनों से परिपूर्ण है। १४वीं सदी में सर्वप्रथम पुर्तगीजों ने इसका पता लगाया। इसके बाद डचों ने इसे अधिकृत किया और १७वीं सदी से १८७१ ई०

तक इस पर उन्हीं का आधिपत्य रहा। १८७१ में यह अंग्रेजों के अधिकार में आ गया। इसके ४ प्रमुख भाग हैं जिनमें ४ जातियों के लोग बसे हुए हैं।

बीसवीं सदी के प्रारम्भ से ही वहाँ के निवासियों में राष्ट्रीय भावना जाग्रत होने लगी थी। अतः अंग्रेज उन्हें शासन में कुछ अधिकार देने लगे। १९२५ ई० से वैधानिक सुधार के लिये प्रयत्न होने लगा किन्तु लोगों में स्वाधीनता की आकांक्षा बलवती होती गई। द्वितीय महायुद्ध में उन्होंने अंग्रेजों की भरपूर सहायता की। परन्तु युद्ध के अन्त में स्वाधीनता की माँग होने लगी। १९५० ई० में सर्वप्रमुख नेता डा० क्वामे नकरुमा अपने साथियों के साथ जेल में भेज दिये गये। फिर भी स्वतन्त्रता की माँग जारी रही—आन्दोलन चलता रहा। गोल्डकोस्ट के निवासी अपने प्रयत्न में सफल भी हुए। अंग्रेजों ने उन्हें ६ मार्च १९५७ ई० को औपनिवेशिक स्वाधीनता प्रदान कर दी।

अब गोल्डकोस्ट घाना कहलाने लगा है। इसका क्षेत्रफल ९१८४३ वर्गमील है। यहाँ की जनसंख्या ६५१६०० है जिनमें १३००० गैर अफ्रीकी हैं। इसकी राजधानी अक्रा है। डा० क्वामे नकरुमा घाना के सर्वप्रथम प्रधान मंत्री हैं। वे कन्वेंशन पिपुल्स दल के नेता हैं जिसे राष्ट्रीय विधानसभा में बहुमत प्राप्त है। अंग्रेज घाना का भी विभाजन करना चाहते थे और वे इसके लिये नेशनल लिबरेशन दल को बढ़ावा दे रहे थे किन्तु वे अपने प्रयत्न में सफल नहीं हुए। फिर भी उन्होंने राष्ट्रीय सरकार के मार्ग में कुछ कठिनाइयाँ पैदा कर दी हैं। इनके कारण डा० नकरुमा को विशेष सावधानी से कार्य करना होगा। घाना ने राष्ट्रमंडल की सदस्यता भी स्वीकार की है और यह संयुक्त राष्ट्र संघ का भी सदस्य बन गया है। आशा है कि निकट भविष्य में एक जनतन्त्र के रूप में घाना का उदय होगा।

अध्याय २२

सर्वप्रथम आधुनिक गणराज्य—संयुक्त राज्य अमेरिका

गृहनीति

संयुक्त राज्य अमेरिका आधुनिक युग का सर्वप्रथम गणराज्य है। यह संसार का सर्वशक्तिशाली पूँजीवादी राज्य भी है। स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् इसके ८२ वर्षों के इतिहास पर (१७८३-१७६५ ई०) विहगम दृष्टिपात किया जा चुका है। १८६५ ई० में पचवर्षीय गृह युद्ध का अन्त हुआ। किन्तु शीघ्र ही शान्ति स्थापित नहीं हुई। उत्तरी राज्यों ने पुनर्निर्माण की नीति अपनायी। विधान में संशोधन हुआ। नीग्रो गुलामों को नागरिकता के अधिकार प्रदान किये गये। दक्षिणी राज्यों ने उसे कार्यान्वित करना नहीं चाहा किन्तु उत्तर के दबाव से अन्त में वे संशोधन के अनुसार कार्य करने के लिए बाध्य हुए। नीग्रो लोगों को नागरिक अधिकार मिले और उनका प्रभाव बढ़ा। अब अमेरिका की भौतिक उन्नति दिन-दूनी रात-चौगुनी होने लगी। यूनियन के क्षेत्र का विकास हुआ। १९वीं सदी के अन्तिम दशाब्दी में यूनियन में ६ राज्यों की और वृद्धि हुई। जो भी ५ वर्ष तक किसी भू-भाग पर रहने और काम करने के लिए तैयार होता था उसे मुफ्त भूमि दी जाती थी। यातायात के साधनों में उन्नति हुई और सारे देश में रेल का जाल-सा बिछ गया। प्रशान्त रेलवे के निर्माण से देश के विकास में बड़ा सहयोग मिला।

अमेरिका का औद्योगिक विकास भी बड़ी ही प्रगति से हुआ और आधी शताब्दी के अन्दर वह विश्व का अग्रगण्य देश बन गया। व्यवसाय में वैज्ञानिक आविष्कारों का प्रयोग होने लगा। अच्छे से अच्छे मालों का पर्याप्त मात्रा में उत्पादन होने लगा और विश्व के बाजार पर उसका आधिपत्य स्थापित होने लगा। बड़े-बड़े नगर बस गये। आयात-निर्यात में वृद्धि हुई। इससे वाणिज्य-व्यवसाय, उद्योग-धन्धों का अधिक से अधिक विकास हुआ और देश धन-धान्य से पूर्ण हो गया। उसकी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ हो गयी और वहाँ के लोगों का जीवन-स्तर ऊँचा उठ गया। कुछ दिनों में वह विश्व में सबसे बड़ा महाजन देश बन गया। प्रथम महायुद्ध के समय बड़े कहलाने वाले साम्राज्य भी उसके कर्जदार बने। जर्मनी से क्षति-पूर्ति की रकम वास्तव में अमेरिका को ही मिलती थी। इङ्गलैंड और फ्रांस जर्मनी से उस रकम को लेकर अपना ऋण चुकाने के लिए उसे अमेरिका को दे देते थे। जर्मनी भी क्षति-पूर्ति की रकम देने के लिए अमेरिका से कर्ज लेता था।

औद्योगिक विकास के साथ-साथ इसकी अनेक बुराइयाँ भी उपस्थित हुईं। पूँजी-पतियों की तूती बोलने लगी और उनका संगठन होने लगा। पूँजीपति-मजदूर समस्या उठ खड़ी हुई। व्यवसाय संघ स्थापित हुए और मजदूरों का भी संगठन हुआ। कुछ अन्य समस्याएँ भी उपस्थित हुई थीं। पश्चिमी दिशा की ओर विस्तार के कारण रेड इंडियनों से संघर्ष करना पड़ा। उन्होंने श्वेतांगों का विरोध किया किन्तु अन्त में झुक जाना पड़ा और वे कहीं के न रहे। लाल समस्या के अतिरिक्त पीली समस्या का भी सामना करना पड़ा। अमेरिका के आदि निवासी तो बेघर-बार के हो रहे थे, किन्तु चीनी और जापानी यहाँ आकर घर-बार बसाना चाहते थे। अधिक संख्या में उनके आने से मजदूरी सस्ती हो जाती थी। अतः अमेरिकी मजदूर उनके प्रवेश का विरोध करने लगे। अतः कानून के द्वारा उनके प्रवेश पर रोक लगा दी गई और जो पीत वर्ण वाले अभी तक वे घर-बार के भटक रहे थे उन्हें अमेरिका छोड़ देने की आज्ञा हुई। सरकार के सामने श्वेत समस्या भी थी। पीत वर्ण वाले पश्चिमी किनारे की ओर आते थे तो यूरोप से श्वेत वर्ण वाले पूर्वी किनारे पर भीड़ लगाते थे। १६वीं सदी के अन्त में दक्षिणी-पूर्वी यूरोप के निवासी आने लगे थे। वे सभ्यता और संस्कृति में साधारण कोटि के थे। उनके भी आने से अमेरिका वासियों पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ रहा था। अतः प्रवेश पर भी प्रतिबन्ध लगा और प्रत्येक देश से आने वाले लोगों की एक संख्या निश्चित कर दी गई। महायुद्ध के उपरान्त कई मुख्य सुधार हुए। शराब को बन्द कर देने के लिए नियम बना किन्तु यह नियम सफल नहीं हुआ। इससे लोगों में बहुत असंतोष बढ़ गया। अतः एक दशाब्दी के बाद इस पर से प्रतिबंध हटा दिया गया। १६१६ ई० में विधान में संशोधन कर स्त्रियों को मताधिकार प्रदान किया गया।

१६२१ ई० में विल्सन और डेमोक्रेट पार्टी के शासन का अन्त हुआ। रिपब्लिकन पार्टी का उत्थान हुआ और इसी पार्टी के राष्ट्रपति निर्वाचित हुए। १६२१ से १६३३ ई० तक उनकी प्रधानता बनी रही। इस काल में हार्डिंज, कुलीज और हूवर तीन राष्ट्रपति हुए। वैदेशिक क्षेत्र में अलगाव की नीति बरती गई। आर्थिक क्षेत्र में कोई परिवर्तन नहीं हुआ और राष्ट्रीयता की नीति कायम रही जिसका अर्थ था आयात की चीजों पर अधिक कर। इसका फल अच्छा नहीं हुआ।

अन्य राष्ट्रों ने अपने देश में भी अमेरिकी वस्तुओं पर कर लगाया और मालों के रूप में अमेरिका को ऋण चुकाना स्थगित कर दिया। इससे अमेरिका के वैदेशिक व्यापार में क्षति पहुँची। १६२६ और १६३२ ई० के बीच सारे विश्व में ही आर्थिक संकट पैदा हुआ। १६३३ ई० में जर्मनी में नाजी सरकार की स्थापना हुई जिसने क्षति-पूर्ति और विदेशी कर्ज को रद्द कर डाला। अब प्रथम महायुद्ध के ऋणी राष्ट्रों ने

अमेरिका को भी कर्ज देना बंद कर दिया। इस तरह १६३२ ई० में अमेरिका की आर्थिक स्थिति अव्यवस्थित हो गई। वस्तुओं तथा गल्ला का ढेर लगा हुआ था; कल-कारखाने शिथिल या बन्द हो रहे थे; बेकारी की संख्या बढ़ती जाती थी, बैंक का दिवाला हो रहा था। सर्वत्र हाहाकार-सा मचा हुआ था। ऐसी ही संकटपूर्ण स्थिति में डेमोक्रेटिक पार्टी के उम्मीदवार फ्रैंकलिन रूजवेल्ट राष्ट्रपति निर्वाचित हुए। ४ मार्च १६३३ ई० से १२ अप्रैल १६४५ ई० तक वे अमेरिका के भाग्य-विधाता बने रहे। वे चार बार राष्ट्रपति चुने गये। उनके पहले ३१ राष्ट्रपति हो चुके थे किन्तु किसी को भी तीसरी बार निर्वाचित होने का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ। अमेरिका के इतिहास में रूजवेल्ट का चार बार राष्ट्रपति निर्वाचित होना सर्वप्रथम उदाहरण था और उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा और लोकप्रियता का द्योतक है। उन्होंने देश के घरेलू वैदेशिक दोनों क्षेत्रों में महान् परिवर्तन किया। उन्होंने अपनी नीति को 'न्यूडील' के नाम से सम्बोधित किया। यह नीति न तो बिल्कुल नयी और न बिल्कुल पुरानी थी बल्कि दोनों का सामंजस्य था। परन्तु अमेरिका के लिए यह नीति बड़ी ही उपयोगी सिद्ध हुई। इसके तीन अंग थे—पुनर्निर्माण, सहायता और सुधार; किन्तु तीनों के बीच कोई निश्चित रेखा नहीं खींची जा सकती। सभी एक दूसरे से सम्बन्धित थे। सरकार की ओर से कई प्रकार के सार्वजनिक कार्य शुरू हुए और दूसरे लोगों को भी ऋण दिया जाने लगा। दीन-दुखियों को कई प्रकार से सहायता दी जाने लगी और कृषि, श्रम तथा शासन सुधार आदि विभिन्न क्षेत्रों में सुधार कार्यान्वित हुए। इस प्रकार बुराइयों को दूर कर सर्वसाधारण के दुख का अन्त किया गया और अमेरिका प्रगति के मार्ग पर अग्रसर हुआ।

अप्रैल १६४५ ई० में रूजवेल्ट के मरने के बाद उपराष्ट्रपति ट्रूमन राष्ट्रपति के पद पर आसीन हुए। ये भी डेमोक्रेटिक पार्टी के ही थे। अतः अभी भी रूजवेल्ट की नीति में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ था। नवम्बर १६५२ ई० में रिपब्लिकन पार्टी के उम्मीदवार जेनरल आइसनहावर राष्ट्रपति निर्वाचित हुए हैं। ४ वर्ष के बाद वे पुनः इस पद पर आसीन हुए हैं।

वैदेशिक नीति

१७८३—१८७५ ई०

१६वीं शताब्दी के तृतीय चरण तक अमेरिका ने वैदेशिक क्षेत्र में अलगाव की नीति अपनाई थी। इसके कई कारण थे। पहले तो भौगोलिक दृष्टि से पुरानी और नयी दुनिया में बहुत बड़ी दूरी थी और अभी विज्ञान के साधन आज की भाँति उन्नत नहीं थे। दूसरे, संयुक्त राष्ट्र में ही हर प्रकार के विकास के लिए पर्याप्त क्षेत्र था।

तीसरे, अमेरिकी लोकतन्त्र अभी शैशवावस्था में था और उसके हृष्ट-पुष्ट होने के लिए शान्ति तथा सुरक्षा की आवश्यकता थी। उसके राजनीतिज्ञ नवसिख थे, पेशेवर और अनुभवी नहीं। उसकी स्थल और जल-सेना दोनों ही अपर्याप्त थीं। अभी अनेक गृह-समस्याएँ थीं जिनका पहले समाधान होना अनिवार्य था। चौथे, संयुक्त राष्ट्र स्वतंत्रता और लोकतन्त्र का समर्थक था। इसके संस्थापकों के पूर्वज ब्रिटिश शासन की स्वेच्छाचारिता के विरोधी रह चुके थे। यूरोप के निरंकुश राज्यों से भी भागकर बहुत से लोग अमेरिका में शरण लेते थे। अतः अभी लोगों के हृदय में स्वतंत्रता और जनतन्त्र की भावना विशेष रूप से काम कर रही थी। पाँचवें, वैदेशिक मामले में प्रेसिडेंट का हाथ बँधा हुआ था। किसी प्रकार की सन्धि या युद्ध करने के लिए अमेरिकी सीनेट की स्वीकृति आवश्यक थी। छठें, १८२३ ई० में मुनरो सिद्धान्त की घोषणा ने पुरानी दुनिया के राज्यों में हस्तक्षेप करने पर निश्चित प्रतिबन्ध लगा दिया। संयुक्त राज्य का सर्वप्रथम प्रेसिडेन्ट जार्ज वाशिंगटन था जिसने दो बार (१७८९-९७ ई०) प्रेसिडेंट के पद को सुशोभित किया। यह शान्ति का अग्रदूत था और उसने अलगाव की नीति की परम्परा स्थापित की। उस समय संयुक्त राज्य में दो राजनीतिक पार्टियाँ काम कर रही थीं—फेडरलिस्ट और रिपब्लिकन। १७९३ ई० में इङ्गलैंड और फ्रांस के बीच युद्ध का श्रीगणेश हो चुका था। रिपब्लिकन पार्टी चाहती थी कि अमेरिका फ्रांस की ओर से युद्ध में शामिल हो। फ्रांस का दूत जेनेट भी इस दिशा में प्रयत्नशील था। अमेरिकनों के स्वतन्त्रता संग्राम में फ्रांसीसियों ने उन्हें महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया था जिसे शीघ्र ही भुलाया नहीं जा सकता था। १७७८ ई० में दोनों में सन्धि भी हुई थी। इङ्गलैंड चाहता था कि अमेरिका उसकी ही सहायता करे; परन्तु वाशिंगटन ने किसी का पक्ष नहीं लिया और तटस्थता की नीति घोषित की। इससे अमेरिकी व्यापार को बहुत प्रोत्साहन मिला। इङ्गलैंड को इससे ईर्ष्या होती थी और उसने अमेरिकी जहाजों पर छापा भी मारना शुरू कर दिया। वाशिंगटन ने सुप्रीम कोर्ट के चीफ जस्टिस जे को सन्धि करने के लिए इङ्गलैंड भेजा और दोनों में सन्धि हो गई।

इस सन्धि की फ्रांस पर प्रतिक्रिया हुई और वह बड़ा ही रुष्ट हुआ। अतः उसने अपने कर्ज को चुकाने और १७७८ ई० की सन्धि की शर्तों को कार्यान्वित करने के लिए अमेरिका पर दबाव देना शुरू किया। अमेरिका वाले भी बिगड़ उठे और फ्रांस से युद्ध करना चाहते थे किन्तु लगभग १८०० ई० में दोनों में सन्धि हो गई; पहले की सन्धि की शर्तों को रद्द कर दिया गया और पृथकता की परम्परा सम्मानित हुई।

ने महाद्वेशीय नियम कार्यान्वित किया था। इङ्गलैंड और फ्रांस दोनों ही शत्रु के मालों के लिए अमेरिकी जहाजों की तलाशी लेने लगे। इस मामले में इङ्गलैंड फ्रांस की अपेक्षा अधिक ज्यादती करता था। उसने एक जहाज को तो जला ही डाला था। कुछ अमेरिकावासी कैनेडा को भी अंग्रेजों से छीन लेना चाहते थे। अतः १८१२ ई० में दोनों में युद्ध शुरू हो गया। १८१४ ई० में ही दोनों में सन्धि हो गई। दूसरे ही साल फ्रांस के साथ भी इङ्गलैंड के युद्ध का अन्त हो गया।

१८१५ से १८७५ के बीच एक महत्वपूर्ण घटना हुई। वह घटना है १८२३ ई० में प्रेसिडेंट मुनरो की घोषणा। इस घोषणा में यह कहा गया कि अमेरिका के महाद्वीपों पर यूरोपीय राज्यों के द्वारा उपनिवेश नहीं बसाये जा सकते; यूरोपीय राज्य प्रणाली का प्रसार नहीं हो सकता, अमेरिका भी यूरोपीय राज्यों के मामले में नहीं हस्तक्षेप करेगा, न किसी प्रकार का राजनीतिक प्रचार। यह घोषणा बड़ी ही महत्वपूर्ण सिद्ध हुई। इसने राष्ट्रीयता और साम्राज्यवाद दोनों ही को प्रोत्साहित किया। 'अमेरिका अमेरिकावासियों के लिए' सिद्धान्त स्थापित हुआ। इसके द्वारा विदेशियों के लिए द्वार बन्द हो गये परन्तु संयुक्त राज्य के लिए बिल्कुल खुल गये।

अब राष्ट्रीय शक्ति का विकास होने लगा और साम्राज्यवादी प्रवृत्ति का भी उदय हुआ। लुईसीनिआ और पूर्वी फ्लोरिडा पर अधिकार हुआ। मैक्सिको पर आक्रमण हुआ और टेक्सास तथा प्रशान्त महासागर के बीच के भू भाग पर कब्जा कर लिया गया। इस तरह केलीफोर्निया पर संयुक्त राज्य का अधिकार हो गया जहाँ शीघ्र ही सुवर्ण की खानें प्राप्त हुईं। फ्लोरिडा और टेक्सास पर पहले स्पेन का प्रभुत्व था। आरेगन प्रदेश को भी हड़प लेने की कोशिश हुई। यहाँ ब्रिटेन भी प्रतियोगी था। अतः दोनों में समझौता हुआ और आरेगन प्रदेश के अधिकांश भाग पर संयुक्त राज्य का ही अधिकार रहा। १८६७ ई० में रूस से अलास्का खरीद लिया गया और १८७१ ई० में ब्रिटेन से क्षति-पूर्ति की माँग पेश की गई। संयुक्त राष्ट्र का कहना था कि ब्रिटिश सरकार की उदासीनता से ही अल्बामा नामक जहाज ने अमेरिका को बहुत क्षति पहुँचाई थी। ग्लैडस्टन की सरकार क्षति-पूर्ति कर देने के लिए बाध्य हुई।

१८७५-१९०० ई०

१९वीं शताब्दी के चतुर्थ चरण में संयुक्त राज्य की अलगाव की नीति जाती रही। साम्राज्यवादी नीति स्पष्ट हो गई और इसका अधिक विकास हुआ। वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ होते-होते वह विश्व की राजनीति को प्रभावित करने लगा और एक विश्व-शक्ति के रूप में उसका क्रमशः उदय होने लगा। इस परिवर्तन के कई कारण हैं।

पहले तो यूरोपीय राज्यों के जैसा संयुक्त राज्य में भी विज्ञान की उन्नति हुई, औद्योगिक विकास हुआ और यातायात के साधन उन्नत हुए। उसे भी कच्चे माल के आयात और बने मालों के निर्यात करने की आवश्यकता पड़ी। अतः विदेशी बाज़ारों पर अधिकार करना अनिवार्य-सा हो गया। दूसरे, यूरोप में शक्तिनीति (पावर पोलिटिक्स) का विकास होने लगा और संयुक्त राज्य में इस नीति ने प्रोत्साहन तथा भय दोनों ही उत्पन्न किया। उसके विस्तार के लिए प्रोत्साहन मिला और सुरक्षा के लिए भय पैदा हुआ। तीसरे, डिसरैली, रुडयार्ड किपलिंग आदि जैसे साम्राज्यवादियों के लेखों और
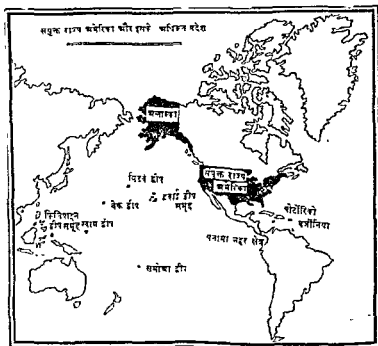
चित्र ३६

भाषणों का भी अमेरिका पर प्रभाव पड़ा। अमेरिका में समाचार-पत्रों का बहुत प्रचार होने लगा और यहाँ के निवासियों की उनमें विशेष अभिरुचि रही है। कई समाचार-पत्र राष्ट्रीय गौरव और महत्ता का प्रचार करने लगे। चौथे, युनियन सरकार ने भी अपनी प्रौढ़ावस्था में पदार्पण किया। अब और उसकी शक्ति में पर्याप्त वृद्धि होने लगी।

पाँचवें, अमेरिकावासियों में अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण का विकास होने लगा। अमेरिका में विभिन्न जाति और धर्म के लोग बसे थे और धीरे-धीरे उनका जातीय मिश्रण हो गया। अतः अमेरिकावासी सदा ही सुधार और परिवर्तन के समर्थक रहे हैं। यह उनकी प्रगतिशीलता का द्योतक है। छठे, अमेरिका की भौगोलिक स्थिति ऐसी अनुकूल है कि वह पूरब और पश्चिम दोनों दिशाओं में विस्तार और सम्पर्क स्थापित कर सकता है। सातवें, मुनरो सिद्धान्त ने अमेरिका के महाद्वीपों को विदेशियों से मुक्त कर दिया। अतः संयुक्त राज्य ने इससे भी समुचित लाभ उठाया और अपने महाद्वीपों में प्रसार किया। आठवें, १९वीं सदी के अन्त से जापानी साम्राज्यवाद का विकास होने लगा था और इससे फिलिपाइन द्वीपों को खतरा उपस्थित हुआ जो संयुक्त राज्य के अधिकार में आ गया था। इन्हीं कारणों से संयुक्त राज्य साम्राज्यवाद के मार्ग पर अग्रसर हुआ।

सर्वप्रथम सामुद्रिक शक्ति का विकास किया गया। १९०० ई० तक इंगलैंड को छोड़ कर अन्य कोई राष्ट्र उसकी जल-शक्ति की समानता नहीं कर सकता था। लैटिन अमेरिका में भी व्यापार-वृद्धि के लिए प्रयत्न हुआ। प्रेसिडेंट क्लिवलैण्ड के शासन-काल (१८९३-९७ ई०) में मुनरो सिद्धान्त का व्यापक अर्थ लगाया गया और संयुक्त राज्य-अमेरिका ने लैटिन अमेरिका का संरक्षक होने का दावा उपस्थित किया। उसने पश्चिमी गोलार्द्ध में अपना नेतृत्व तथा आधिपत्य घोषित किया। वेनजुएला और ब्रिटिश गायना के बीच सीमा सम्बन्धी मतभेद उत्पन्न हो गया था। जब दोनों में समझौता नहीं हुआ तो क्लिवलैण्ड की सरकार ने हस्तक्षेप किया। राज्य-मंत्री ओलनी ने अमेरिका महाद्वीपों में संयुक्त राज्य को सर्वोच्च शक्ति घोषित किया और इंगलैंड की इच्छा के विरुद्ध एक जाँच समिति नियुक्त की गई जिसका निर्णय मानने के लिए वह बाध्य हुआ। अब कैरेबियन समुद्र में संयुक्त राष्ट्र की प्रधानता निश्चित-सी हो गई। यही अन्तिम समय था जबकि दोनों में संघर्ष की नौबत उपस्थित हुई थी। तब से दोनों देशों में मित्रता रही है और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में दोनों ही एक दूसरे के सहयोगी रहे हैं।

उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका में ही प्रसार से संयुक्त राष्ट्र सन्तुष्ट नहीं रहा। उसकी दृष्टि समुद्र पार की ओर गई। प्रशान्त महासागर में फिलिपाइन आदि द्वीपों पर स्पेन का प्रभुत्व था। पश्चिमी द्वीप समूह में क्यूबा आदि द्वीप भी स्पेन के ही अधिकार में थे। क्यूबा में निरंतर अव्यवस्था फैली रहती थी, जिससे वहाँ के निवासी असंतुष्ट रहते थे। स्पेन वाले उनके साथ बड़ा ही क्रूर व्यवहार करते थे। अमेरिका के पूँजीपतियों ने वहाँ अपनी पूँजी लगायी थी किन्तु कुशासन के कारण उनके व्यापार में बाधा पड़ती थी। अतः संयुक्त राष्ट्र क्यूबा की स्वतन्त्रता चाहता था। १८९८ ई०

में सयुक्त राज्य का एक जहाज हवाना बन्दरगाह में नष्ट हो गया। अमेरिकी सरकार ने इसके लिए स्पेन को उत्तरदायी ठहराया और दोनों में युद्ध शुरू हो गया। स्पेन पराजित हुआ। अमेरिकी सरक्षण में क्यूबा स्वतन्त्र घोषित हुआ। स्पेन पश्चिमी द्वीप-समूह में पोर्टोरिको को और प्रशान्त महासागर में फिलिपाइन द्वीप-समूह को अमेरिका के हाथ सौंप देने के लिए बाध्य हुआ। फिलिपाइन द्वीप के लिए उसे अमेरिका से कुछ रकम भी मिली।

अमेरिकी साम्राज्यवाद के विकास में स्पेनिश युद्ध एक महत्वपूर्ण अध्याय है। सर्वप्रथम सयुक्त राज्य ने अपनी सीमा के बाहर उपनिवेश प्राप्त किया। पोर्टोरिको मिलने से कैरेबियन समुद्र में और फिलिपाइन मिलने से प्रशान्त महासागर में उसका प्रभाव बढ़ा। अब पश्चिमी द्वीप-समूह और सुदूर पूर्व में एक शक्ति के रूप मे उसका प्रवेश हुआ। प्रशान्त महासागर में उसके स्वार्थों में वृद्धि होने लगी और उसकी रक्षा के लिए वह सचेष्ट रहने लगा। १८९८ ई० मे ही हवाई द्वीप पर अधिकार कर लिया गया। दूसरे साल जर्मनी और ब्रिटेन से सधि कर सामोआ द्वीप पर आधिपत्य स्थापित हुआ। इसी वर्ष खालहेग मे एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ और सयुक्त राज्य ने भी उसमें भाग लिया। फिर अपने स्वार्थ की रक्षा के लिए उसने चीन में हस्तक्षेप कर 'मुक्त द्वार' (ओपेन डोर) की नीति का समर्थन किया। इसका यह अर्थ था कि चीन के व्यापार तथा व्यवसाय में सभी राष्ट्रों को समान अवसर मिले और चीनी साम्राज्य का विभाजन न हो। १९०० ई० में चीनियों ने विदेशियों के विरुद्ध जब विद्रोह किया तो उसे दबाने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय सेना भेजी गई। इसमें सयुक्त राज्य की सेना भी सम्मिलित थी। वह जापान के उत्थान को भी शका की दृष्टि से देखता रहा और उसके प्रति सजग रहा।

१९०१-२१ ई०

१९वीं और २०वीं सदियों के सन्धि-काल मे सयुक्त राज्य का भी विश्व-शक्ति के रूप में परिवर्त्तन हो रहा था। वर्तमान शताब्दी में उसकी इस शक्ति में उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही। १९०१ और १९१४ ई० के बीच ३ प्रेसिडेंट हुए—थ्योडोर रूजवेल्ट (१९०१-८ ई०), विलियम हॉवार्ड टाफ्ट (१९०९-१३ ई०), और वुडरो विल्सन (१९१३-२१ ई०)। ये तीनों गृह-नीति में तो उदारवादी थे किन्तु वैदेशिक नीति में साम्राज्यवाद के प्रवर्त्तक थे यद्यपि उनके उद्देश्यों में विभिन्नता थी। रूजवेल्ट सैनिक कूटनीति प्रतिष्ठा के, टाफ्ट डालर कूटनीति या आर्थिक साम्राज्यवाद के और विल्सन नैतिक कूटनीति या नैतिक साम्राज्यवाद के समर्थक थे।

ब्रिटिश कनाडा और अमेरिकी अलास्का के बीच सीमा सम्बन्धी झगड़ा चल

रहा था। रूजवेल्ट ने इसका अपने हित के अनुसार निर्णय कर दिया। तत्पश्चात् उसने १८५० ई० की सन्धि को रद्द कर ब्रिटेन के साथ एक नया समझौता किया और पनामा नहर पर संयुक्त राज्य का एकाधिकार स्थापित कर लिया। पनामा कोलम्बिया का एक प्रान्त था। अतः कोलम्बिया की सरकार ने संयुक्त राज्य के एकाधिकार का विरोध किया। किन्तु संयुक्त राज्य ने घोषणा की कि वह पश्चिमी गोलार्द्ध में पुलिस अफसर के जैसा है और आवश्यकता पड़ने पर सशस्त्र हस्तक्षेप कर सकता है। लैटिन गण-राज्यों ने इस घोषणा का भी घोर विरोध किया। परन्तु सयुक्त राज्य ने सभी विरोधों को दबा दिया। उससे प्रेरणा पाकर पनामा वालों ने कोलम्बिया के विरुद्ध विद्रोह कर अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर ली। अब नहर क्षेत्र को पनामा से खरीद कर निर्माण-कार्य तीव्र गति से शुरू हुआ और १९१४ ई० तक यह पूरा भी हो गया। इस नहर के बनने से अटलांटिक और प्रशान्त महासागर में आने का मार्ग सरल हो गया और मध्य अमेरिका में संयुक्त राज्य की तूती बोलने लगी।

सुदूर पूर्व में भी संयुक्त राज्य ने हस्तक्षेप किया। चीन में मुक्त-द्वार की नीति का समर्थन होता रहा किन्तु जापानी साम्राज्यवाद के कारण यह नीति बहुत प्रभावकारी सिद्ध नहीं हो रही थी। १९०४-५ ई० में रूसी जापानी युद्ध हुआ। संयुक्त राज्य ने हस्तक्षेप कर दोनों में संधि करा दी। किन्तु जापान सधि की शर्तों से संतुष्ट नहीं हुआ। विजेता होते हुए भी जापान की कूटनीतिक पराजय हो गई। १९०७ ई० में जापानी मजदूरों के अमेरिका में आने पर रोक लगाया गया। दूसरे साल जापान और संयुक्त राज्य में समझौता हुआ और प्रशान्त महासागर में तत्कालीन स्थिति को स्वीकार किया गया।

लैटिन अमेरिका और सुदूर पूर्व के अतिरिक्त यूरोपीय राज्यों के मामले में सयुक्त राज्य ने हस्तक्षेप किया। १९०५ ई० में मोरक्को पर आर्थिक अधिकार के लिए फ्रांस तथा जर्मनी में तनातनी थी। संयुक्त राज्य के प्रयास से अलजीर्स में एक कान्फ्रेंस हुई जिसमें उसके भी प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। फ्रांस तथा जर्मनी में समझौता हो गया। जर्मनी की कूटनीति पराजय हुई और फ्रांस को विशेष लाभ हुआ।

प्रथम महायुद्ध में अमेरिका का प्रवेश

१९१४ ई० में प्रथम महायुद्ध प्रारम्भ हुआ। संयुक्त राज्य तटस्थ रहा और दोनों पक्षों से अपना व्यापारिक सम्बन्ध बनाए रखा। परन्तु अप्रैल १९१४ ई० में उसे भी युद्ध में सम्मिलित होना पड़ा। ग्रेट ब्रिटेन से उसकी निकटता थी क्योंकि दोनों में सांस्कृतिक और राजनीतिक समता थी। दूसरे, रूस में जार का पतन हो गया जो मित्र राष्ट्रों की ओर से युद्ध में शामिल था। तीसरे, जर्मनी ने तटस्थ बेल्जियम के

अधिकारों की उपेक्षा की। चौथे, वह सामुद्रिक युद्ध में भी सीमा का उल्लंघन कर ब्रिटिश तथा अमेरिकी जहाजों पर अपना हाथ साफ करने लगा जिससे अमेरिकी धन-जन दोनों की ही बर्बादी होने लगी। अतः अपने स्वार्थ और सुरक्षा के हेतु संयुक्त-राज्य भी युद्ध में कूद पड़ा।

अमेरिका के प्रवेश से युद्ध की गति-विधि में महान् परिवर्तन हुआ। विलसन के व्यक्तित्व तथा आदर्शवादी विचारों के कारण अमेरिकावासियों तथा अन्य देशों की जनता का भरपूर नैतिक समर्थन प्राप्त हुआ। उसने जनतन्त्र तथा आत्मनिर्णय के सिद्धान्तों की घोषणा की जिससे लोगों में जर्मनी के विरुद्ध नये उत्साह की लहर बड़े वेग से उमड़ पड़ी। अमेरिकी सरकार ने भी बड़ी तत्परता दिखलायी। उसने मित्र राष्ट्रों की धन-जन और युद्ध की सामग्रियों से दिल खोलकर सहायता की। उसने कई उद्योग-धन्धों को अपने अधिकार में कर लिया, नागरिकों पर अनेक प्रतिबन्ध लगाया और टैक्स में वृद्धि की। उसकी सहायता सफल भी सिद्ध हुई, मित्रराष्ट्र विजयी होकर निकले।

यह सत्य है कि अमेरिका के सहयोग से मित्र-राष्ट्र विजयी हुए किन्तु अमेरिका की भूमि पर कोई युद्ध नहीं हुआ और उसे कोई बड़ी हानि नहीं उठानी पड़ी। अतः वह जर्मनी के साथ सन्धि की शर्तों को निर्धारित करे ऐसा मित्र राष्ट्र नहीं चाहते थे। विल्सन आदर्शवादी था और विश्व में शान्ति स्थापित करने के लिए उत्सुक था। किन्तु फ्रांस का प्रधान मंत्री क्लेमेन्शु व्यावहारिक था। अतः दोनों के आदर्शवाद और यथार्थवाद में संघर्ष हुआ और विल्सन को बहुत सी बातों में झुक जाना पड़ा। फिर भी विल्सन ने पेरिस के शान्ति-सम्मेलन में सक्रिय भाग लिया और अपने व्यक्तित्व से इसे प्रभावित किया। उसने सम्मेलन के पथ-प्रदर्शन के लिए १४ शर्तें निर्धारित कर दी थीं जिसमें निरस्त्रीकरण, मुक्त, व्यापार, स्पष्ट कूटनीति, सामुद्रिक निर्बाधिता आदि प्रमुख थीं। उसी के प्रयास और प्रेरणा से राष्ट्र संघ का निर्माण हुआ और उसे वर्साइ की सन्धि में सम्मिलित किया गया। इसके अतिरिक्त अन्य ४ बातों में विल्सन की विजय रही। मैंडेट प्रणाली प्रचलित की गई जिसके अनुसार जर्मन उपनिवेश राष्ट्र संघ की संरक्षणता में महान् राज्यों के अधीन सौंपे गये। दूसरे, फ्रांस चाहता था कि राइनलैंड पर उसका अधिकार रहे। किन्तु जब संयुक्त राज्य और ब्रिटेन ने जर्मनी से उसकी रक्षा करने का बीड़ा उठाया तो उसने अपनी माँग छोड़ दी। तीसरे, गुप्त सन्धि के अनुसार इटली को फ्यूम तथा अफ्रीकी उपनिवेश अपने साम्राज्य में मिलाने की आज्ञा नहीं मिली। चौथे, जापान को शैंटंग प्रायद्वीप अपने साम्राज्य में नहीं मिलाने दिया गया।

१६२१-३३ ई०

वर्साई की सन्धि हो चुकी किन्तु इसे अमेरिकी जनता ने स्वीकार नहीं किया। वह पृथकता की नीति के पक्ष में थी। अतः राष्ट्र संघ मे सम्मिलित होने से विल्सन का ही देश वंचित रह गया। अब अगले १३ वर्षों तक अलगाव नीति के समर्थकों की प्रधानता रही। इस काल में रिपब्लिकन पार्टी के हाथ में शासन-सूत्र था और इस दल के ३ प्रेसिडेंटों ने गद्दी को सुशोभित किया था—हार्डिंज, कुलीज और हूवर। अतः १६३३ ई० तक संयुक्त राज्य विश्व की राजनीति में सक्रिय भाग नहीं ले सका। फिर भी एक निष्क्रिय पर्यवेक्षक की स्थिति उसकी नहीं रही। वह अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में भाग लेता रहा और विकट समस्याओं के सुलझाने में हाथ बँटाता रहा क्योंकि विश्व-शान्ति-स्थापना मे उसका भी स्वार्थ निहित था। १६२१ ई० में वाशिंगटन में एक सम्मेलन का आयोजन किया गया जिसमें जहाजी शक्ति को सीमित करने के सम्बन्ध में विचार हुआ और कुछ सफलता भी मिली। ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस और जापान—इन चार राज्यों के बीच जहाज सम्बन्धी समझौता हुआ। संयुक्त राज्य और ब्रिटेन ने बड़े जहाजों के सम्बन्ध मे समानता का सिद्धान्त स्वीकार किया। ६ राष्ट्रों के बीच सुदूर पूर्व के सम्बन्ध में समझौता हुआ। चीन में मुक्त द्वार और प्रादेशिक सुरक्षा की नीति दुहराई गई। मंचूरिया और शौटंग मे जापान का आर्थिक स्वार्थ स्वीकार किया गया किन्तु शौटंग से सेना हटा लेने की आज्ञा दी गई। १६३० ई० में पुनः लंदन में ब्रिटेन, संयुक्त राज्य तथा जापान के बीच समझौता हुआ। १६३२ ई० में जेनेवा में विश्व निरस्त्रीकरण सम्मेलन हुआ और उसमे भी संयुक्त राज्य ने भाग लिया। १६२८ ई० में केलाग-ब्रायंड पैक्ट हुआ। केलाग संयुक्त राज्य के ही राज्य मंत्री थे। इसे पेरिस का पैक्ट भी कहते हैं। राष्ट्रनीति के रूप में युद्ध का परित्याग करना इसका उद्देश्य था। धीरे-धीरे ६२ राज्यों ने इसे स्वीकार किया। क्षति-पूर्ति की समस्या हल करने के लिए १६२३ ई० मे डाव्ज और १६२६ ई० में यंग योजनाएँ बनी और इनके प्रवर्तक अमेरिका के ही निवासी थे। युद्ध-ऋण के सम्बन्ध में संयुक्त राज्य ने एक कमीशन नियुक्त किया जिसने रूस को छोड़कर १८ ऋणी राष्ट्रों से समझौता किया। १६२६-३१ ई० में जब सारे विश्व मे आर्थिक संकट उत्पन्न हुआ तो प्रेसिडेंट हूवर ने मोरेटोरियम की घोषणा की और एक वर्ष के लिए कर्ज की चुकती को स्थगित कर दिया। १६३२ ई० में ब्रिटेन तथा फ्रांस ने प्रस्ताव किया कि यदि युद्ध-ऋण के सम्बन्ध में सन्तोषजनक समझौता हो जाय तो वे क्षति-पूर्ति की रकम का ६० प्रतिशत त्याग देंगे। संयुक्त राज्य ने उनके प्रस्ताव को ठुकरा दिया। १६३३ ई० मे जर्मनी में नाजी सरकार की स्थापना के साथ ऋण और क्षति-पूर्ति की समस्या का स्वतः अंत

हो गया। हिटलर ने क्षति-पूर्ति देना बन्द कर दिया और ऋणी राष्ट्रों ने अमेरिका को ऋण चुकाना स्थगित कर दिया।

१९२२ और १९३२ ई० के बीच संयुक्त राज्य से जर्मनी कर्ज लेकर ब्रिटेन तथा फ्रांस को क्षति-पूर्ति की रकम देता था और ये दोनों राष्ट्र फिर संयुक्त राज्य को ऋण चुकाते थे, यानी अमेरिका का रुपया अमेरिका में ही जाता था। किन्तु हिटलर ने जब कर्ज को रद्द कर डाला तो जर्मनी बहुत ही लाभ में रहा और संयुक्त राज्य घाटे में।

विश्व कोर्ट में भी अमेरिका के प्रेसिडेंट अपने देश का प्रतिनिधित्व चाहते थे किन्तु इसमें उन्हें सफलता नहीं मिली। इस तरह शान्ति-स्थापना की दिशा में अमेरिका सहयोग देता रहा किन्तु उसका सहयोग विशेष प्रभावकारी नहीं सिद्ध हुआ। १९३१ ई० में जापान ने मन्चूरिया पर आक्रमण किया और राष्ट्र संघ को अँगूठा दिखा दिया। इसके दो कारण हैं—एक तो अमेरिका राष्ट्र संघ का सदस्य नहीं था और दूसरे रिपब्लिकन सरकार ने आर्थिक राष्ट्रीयता की नीति अपनाई थी। फिर भी अमेरिका ने मंचुको सरकार को मान्यता प्रदान नहीं की।

१९३३-४५ ई०

हम देख चुके हैं कि १९२९ और १९३२ ई० के बीच संयुक्त राज्य की आर्थिक स्थिति डाँवाडोल थी तथा १९३३ ई० में डेमोक्रेट पार्टी के हाथ में शासन-सूत्र आया और फ्रैंकलिन रूजवेल्ट प्रेसिडेंट हुए। वे १२ वर्षों तक अमेरिका के भाग्य-विधायक बने रहे। वे आर्थिक तथा राजनीतिक दोनों क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीयता और सक्रिय वैदेशिक नीति के समर्थक थे। उनके सेक्रेटरी कौर्डेल हल का भी दृष्टिकोण अन्तर्राष्ट्रीय था। किन्तु १९४० ई० तक कांग्रेस में पृथकता के समर्थकों का ही बोलबाला बना रहा और प्रेसिडेंट तथा सेक्रेटरी वैदेशिक नीति में सक्रियता नहीं ला सके।

प्रारम्भ में आर्थिक राष्ट्रीयता की नीति ही कायम रही। १९३३ ई० में लन्दन में अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्मेलन हुआ। कौर्डेल हल ने इसमें भाग लिया। रूजवेल्ट ने एक सन्देश भेजा जिसमें उसने मुद्रा-सुधार की योजना की कटु आलोचना की। यह सम्मेलन की विफलता का एक कारण हुआ। किन्तु तीन वर्ष बाद ब्रिटेन तथा फ्रांस के साथ संयुक्त राज्य ने भी अपनी मुद्रा को दृढ़ करने का उपाय किया।

रूजवेल्ट शासन ने लैटिन अमेरिका के साथ मित्रता की नीति कार्यान्वित की। वे इसे उत्तम पड़ोसी नीति (गुड-नेबर पालिसी) कहा करते थे। उन्होंने मुनरो सिद्धान्त का नया अर्थ किया। इसकी रक्षा का भार केवल संयुक्त राज्य पर ही नहीं बल्कि अमेरिका के प्रत्येक राष्ट्र के ऊपर था। सभी राष्ट्र एक समान घोषित किये गये और अमेरिका में यूरोप के हस्तक्षेप को रोकना सब का कर्त्तव्य था।

१९३५ और १९३८ ई० के बीच अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति डाँवाडोल थी और अव्यवस्था का साम्राज्य फैल रहा था। हिटलर वर्साई की सन्धि की शर्तों को एक-एक कर तोड़ रहा था। मुसोलिनी ने अबीसीनिया पर आक्रमण कर इसे हड़प लिया। १९३७ ई० में जापान ने बिना युद्ध घोषित किए चीन पर आक्रमण कर दिया जिसका आगे चलकर द्वितीय महायुद्ध में विलयन हुआ। १९३७-३८ ई० में स्पेन में गृह-युद्ध चल रहा था जिसमें जनतन्त्र का गला घोंटा जा रहा था और गला घोंटने वालों को फासिस्ट इटली तथा नाजी जर्मनी की ओर से सहायता मिलती थी। १९३८ ई० में हिटलर ने आस्ट्रिया पर अपना हाथ साफ किया और चेकोस्लोवेकिया के सुडेटनलैंड की माँग पेश की। ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री चेम्बर लेन जर्मनी आये और लज्जाजनक म्युनिक पैक्ट हुआ। हिटलर के पैर पर सुडेटनलैंड और चेकोस्लोवाकिया की बलि चढ़ाई गई।

ऐसी विषम परिस्थिति में भी अमेरिकावासियों पर कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। वे किसी भी मूल्य पर शान्ति-स्थापना के ही इच्छुक बने रहे। १९३५ और १९३७ ई० के बीच कांग्रेस ने तटस्थता सम्बन्धी कई कानून पास किये। उनके द्वारा यह घोषणा की गई कि अमेरिका युद्ध में व्यस्त देशों से व्यापारिक सम्बन्ध नहीं रखेगा और उन्हें न तो युद्ध सामग्री मिलेगी और न उन देशों के जहाजों में भी कोई अमेरिकावासी कहीं सफर कर सकता था। युद्ध-सामग्री को छोड़कर यदि किसी अन्य चीज की आवश्यकता होती तो कोई देश उसका मूल्य चुका कर अपने ही जहाज में ले जा सकता था। इस तरह कांग्रेस ने पृथकता की नीति का समर्थन किया। इसके कई कारण थे। प्रथम महायुद्ध के परिणामों से अमेरिका में निराशा छाई हुई थी। दूसरे, हस्तक्षेप की नीति से अमेरिकावासियों को बहुत क्षति की सम्भावना दीख पड़ती थी। तीसरे, उन्हें विश्वास था कि उनकी पृथकता की नीति से विश्व में युद्ध ही नहीं होगा और शान्ति बनी रहेगी। चौथे, एकतन्त्र के खतरों से अभी पूरे परिचित नहीं हो पाये थे।

परन्तु रूजवेल्ट तो पृथकता की नीति से अधीर हो रहे थे। उन्होंने इसका विरोध किया। उन्होंने जापान की नीति की कटु आलोचना की और वे चीन को सहायता देते रहे। १९३८ ई० में उन्होंने शस्त्रीकरण का समर्थन किया और एक जहाजी बिल पास हुआ। दूसरे साल हिटलर ने रूस से संधि की, चेकोस्लोवेकिया को हड़प लिया और पोलैण्ड पर आक्रमण किया। अब द्वितीय विश्व-युद्ध का प्रारम्भ हो गया। हिटलर विजय पर विजय करता गया। पोलैण्ड, हालैण्ड, बेल्जियम, डेनमार्क, नार्वे सभी पराजित हो गये। १९४० ई० में फ्रांस ने भी हथियार डाल दिया, ब्रिटेन पर भी आक्रमण होने लगा। अब अमेरिका में भी अपनी सुरक्षा का भय हुआ और जातीय समता होने से ब्रिटेन के प्रति अमेरिकावासियों की सहानुभूति जागृत हुई। इसी

समय राष्ट्रपति का चुनाव आया और दोनों पक्षों ने ब्रिटेन की सहायता पर ज़ोर दिया। रूज़वेल्ट ही तीसरे बार राष्ट्रपति निर्वाचित हुए। अतः अब तटस्थता के नियम में शिथिलता लायी गई और मित्रराष्ट्रों को सहायता दी जाने लगी। सितम्बर १९४० ई० में अनिवार्य भर्ती बिल पास हुआ और सेना में वृद्धि होने लगी। उसी समय अमेरिका ने ग्रेट ब्रिटेन को ५० पुराने विध्वंसक जहाज दिये और इसके बदले में न्यूफाउन्डलैण्ड से लेकर ब्रिटिश गायना तक ९९ वर्ष के लिए कई जहाजी अड्डों का ठीका ले लिया। लैटिन राज्यों के साथ समझौता हुआ और संयुक्त राज्य ने उनकी रक्षा का बीड़ा उठाया। कैनेडा में भी मुनरो सिद्धान्त का प्रसार हुआ और एक सम्मिलित रक्षा समिति बनी। १९४१ ई० में उधार-पट्टा (लेन्डलीज़) बिल पास हुआ जिसने तटस्थता की नीति पर आखिरी चोट की। इसके द्वारा युद्ध में निरत लोकतन्त्रात्मक देशों की सहायता करने के लिए संयुक्त राज्य ने अपनी नीति घोषित की और अब मित्रराष्ट्रों को दिल खोल कर सहायता दी जाने लगी। अगस्त १९४१ ई० में ब्रिटेन के प्रधान मंत्री चर्चिल और रूज़वेल्ट का अटलांटिक महासागर में एक युद्ध-पोत पर मिलन हुआ। दोनों ने एक सम्मिलित घोषणा की जो अटलांटिक चार्टर के नाम से विख्यात है। यह मित्रराष्ट्रों के युद्ध के उद्देश्यों का घोषणा-पत्र था। यह विल्सन के १४ सूत्रों का नवीन तथा सरल रूप था। नये प्रदेशों पर अधिकार नहीं करना, बिना लोकमत के किसी प्रदेश की सीमा में परिवर्त्तन नहीं करना, पराजित राष्ट्रों की सत्ता और स्वतंत्रता को पुनर्स्थापित करना, सब लोगों को अपनी शासन-प्रणाली चुनने का अधिकार देना, सभी मनुष्यों को समुद्र पर समान सुविधा प्रदान करना, सभी राष्ट्रों के साथ आर्थिक सहयोग रखना, युद्ध तथा अभाव से लोगों को मुक्त करना और अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों के निर्णय में बल-प्रयोग का परित्याग करना—ये ही चार्टर के सिद्धान्त थे।

द्वितीय महायुद्ध में अमेरिका का प्रवेश

परन्तु अभी तक संयुक्त राज्य प्रत्यक्ष रूप से युद्ध में सम्मिलित नहीं हुआ। लेकिन अब बहुत दिनों तक वह युद्ध से अलग भी नहीं रह सकता था। सुदूरपूर्व और प्रशान्त महासागर में जापान का अधिकार बढ़ रहा था। इससे हवाई और फिलिपाइन द्वीप के लिए सभी संकट उपस्थित हो रहे थे। ६ दिसम्बर १९४१ ई० को रूज़वेल्ट ने जापान सम्राट के पास शांति के लिए अपील भेजी किन्तु इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। दूसरे ही दिन हवाई द्वीप के पर्ल हार्बर पर जापानियों ने आकाश से बम गिराये। संयुक्त राज्य के अधीन अन्य राज्यों पर भी आक्रमण हुआ। अब तो संयुक्त राज्य की ही सुरक्षा खतरे से खाली नहीं रही और पृथकता की नीति के समर्थकों के भी होश ठिकाने आ गये। संयुक्त राज्य ने जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। जर्मनी और इटली ने भी संयुक्त राज्य के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया।

अब संयुक्त राज्य भी मित्रराष्ट्रों के साथ कन्धे-से-कन्धे मिलाकर आक्रमणकारियों से लड़ने लगा। युद्ध-सामग्रियों की तैयारी विस्तृत पैमाने पर और तीव्र गति से होने लगी। समुद्री तथा हवाई जहाजों में वृद्धि हुई। सेना का भी विस्तार हुआ। कारखानों में मजदूर भी बढ़ चले। इस तरह युद्ध-संचालन पर संयुक्त राज्य पानी की तरह अपना सिक्का बहाने लगा। सितम्बर १९४३ ई० में मास्को में परराष्ट्र मंत्रियों का सम्मेलन हुआ जिसमें अमेरिका, रूस तथा ब्रिटेन ने भाग लिया। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में मिलकर काम करने के लिए तय हुआ और एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना पर जोर दिया गया। १९४३ और १९४५ ई० के बीच मित्रराष्ट्रों के प्रतिनिधियों के कई महत्वपूर्ण सम्मेलन हुए। तेहरान (ईरान) ब्रेटेन वुड्स, (संयुक्त राज्य) डुम्बार्टन ओक्स, (संयुक्त राज्य) और याल्टा (क्रीमिया) के सम्मेलन बहुत ही मुख्य हैं। याल्टा का सम्मेलन फरवरी १९४५ ई० में हुआ। इस बीच १९४४ ई० में रूजवेल्ट चौथी बार राष्ट्रपति चुने गये किन्तु याल्टा सम्मेलन के बाद उनका स्वर्गवास हो गया और ट्रूमन राष्ट्रपति हुए। डुम्बार्टन ओक्स सम्मेलन में संयुक्त राज्य, ब्रिटेन, रूस और चीन के प्रतिनिधियों ने भाग लिया और राष्ट्र-संघ के बदले संयुक्त राष्ट्र-संघ स्थापित करने का विचार किया। याल्टा सम्मेलन में इसके संगठन पर विचार करने के लिए २५ अप्रैल को सैनफ्रांसिस्को में एक सम्मेलन बुलाने का निश्चय हुआ। उसमें यह भी तय हुआ कि जर्मनी की पराजय के बाद उस पर संयुक्त राज्य, ब्रिटेन तथा रूस तीनों का अधिकार होगा और जर्मनी की सेना शस्त्रहीन कर भंग कर दी जायगी। याल्टा सम्मेलन के निश्चय के अनुसार सैनफ्रांसिस्को में २५ अप्रैल को अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन शुरू हुआ जो २६ जून तक चलता रहा। इस बीच मई में जर्मनी ने आत्मसमर्पण कर दिया। जुलाई में पोट्सडम (जर्मनी) में एक सम्मेलन हुआ जिसमें ट्रूमन, चर्चिल और स्टालिन उपस्थित थे। इसमें जर्मनी की व्यवस्था पर विचार हुआ। अभी तक जापान के साथ युद्ध चल ही रहा था। अमेरिका ने अणु बम का प्रयोग किया और उसके हिरोशीमा और नागासाकी नामक नगरों को भस्मीभूत कर डाला। अब जापान ने भी अगस्त मास में अपना सिर झुका दिया। द्वितीय महायुद्ध की इतिश्री हो गई।

१९४५-५२ ई०

सैनफ्रांसिस्को में संयुक्त राष्ट्र संगठन का जन्म हुआ। उसकी स्थापना में संयुक्त राज्य से बड़ी प्रेरणा मिली। ५ सदस्यों की एक सुरक्षा परिषद कायम हुई जिसमें एक स्थान संयुक्त राज्य को दिया गया है। जिस तरह १८१५ ई० में ब्रिटेन की प्रधानता स्थापित हुई थी उसी प्रकार १९४५ ई० में संयुक्त राज्य अमेरिका की तूती बोल रही थी।

दुर्भाग्यवश युद्धोत्तर काल में अमेरिका और रूस में तनातनी बढ़ने लगी और विश्व की राजनीति इन्हीं दो शक्तियों में केन्द्रीभूत-सी होने लगी। कई देशों में कम्युनिस्ट पार्टियाँ कायम होने लगी हैं और रूस उन्हें मदद देने लगा है। पूर्वी यूरोप के प्रायः सभी देशों में साम्यवादी व्यवस्था स्थापित हो गई और यूगोस्लेविया के अतिरिक्त सर्वत्र रूस की धाक जमी हुई है।

इन देशों में ब्रिटेन और अमेरिका की पूँजी का भी अन्त कर दिया गया। युद्ध के अन्त होते ही १६४६ ई० से चीन में भी राष्ट्रवादियों और कम्युनिस्टों के बीच संघर्ष प्रारम्भ हो गया और कम्युनिस्टों की शक्ति में वृद्धि होती रही। अतः युद्ध के पश्चात् अमेरिका की वैदेशिक नीति का प्रधान उद्देश्य है साम्यवादी प्रवृत्ति को रोकना और अपने पक्ष में राष्ट्रों का संगठन करना। साम्यवाद का वहीं प्रचार सफल होता है जहाँ गरीबी, भुखमरी और बेकारी की बीमारियाँ फैल रही हैं। संयुक्त राज्य तो पूँजी-वाद का विशाल गढ़ है। अतः उसने बहुत से देशों को आर्थिक सहायता देना शुरू कर दिया।

मार्च १६४७ ई० में ट्रुमन ने इसी आशय की अपनी सरकार की नीति घोषित की जो ट्रुमन सिद्धान्त के नाम से विख्यात है। इसके अनुसार यूनान तथा तुर्की को सैन्य तथा आर्थिक सहायता दी जाने लगी। चीन में चागकाई शेक के अधीन राष्ट्र-वादी सरकार को भी भरपूर आर्थिक सहायता दी गई। किन्तु सारी सहायता बेकार सिद्ध हुई क्योंकि कम्युनिस्ट ही सफल हुए और उन्होंने अपनी सरकार भी कायम कर ली।

पश्चिमी यूरोप की आर्थिक दशा सुधारने का प्रयत्न हुआ। इसके लिए अमेरिका के राज्य मंत्री जनरल मार्शल ने जून १६४७ ई० में एक आर्थिक योजना उपस्थित की जो मार्शल-योजना कहलाती है। इसे यूरोपीय पुनर्निर्माण योजना भी कहते हैं। इसके अन्तर्गत यूरोप के १५ राष्ट्रों को आर्थिक सहायता प्रदान की गई है और उन्होंने संयुक्त राज्य के नेतृत्व को स्वीकार किया है। जनवरी १६४६ ई० में फिर एक नयी आर्थिक योजना निकली जो चार सूत्री योजना कहलाती है। इसके अन्तर्गत पिछड़े हुए देशों को पूँजी तथा टेकनीशियन, इंजीनियर आदि की सहायता प्रदान की जाती है और इसी के अनुसार दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों को सहायता दी जा रही है।

संयुक्त राज्य ने यूरोप में राजनीतिक-योजना भी कार्यान्वित की। उसे रूस के साथ युद्ध की भी शंका है, अतः वह सुरक्षा तथा सैनिक कार्रवाई के लिए भी मार्ग प्रशस्त कर रहा है। १६४७ ई० में एक सर्व अमेरिकी-सुरक्षा सन्धि हुई जिसके द्वारा अमेरिका के एक राज्य पर आक्रमण सभी राज्यों पर आक्रमण समझा गया। इसी आधार पर उत्तरी अटलांटिक पैक्ट का जन्म हुआ है। ४ अप्रैल १६४६ ई० को

वाशिंगटन में यह समझौता हुआ। संयुक्त राज्य और कैनेडा के अतिरिक्त यूरोप के १० राष्ट्रों ने इस पर हस्ताक्षर किया। इनमें से किसी भी एक राज्य पर हमला होने से बाकी सब उसकी सहायता करेंगे। यह अमेरिका की वैदेशिक नीति में महान् परिवर्तन सूचित करता है। उसी साल सितम्बर में एक परस्पर-सुरक्षा सहायता नियम पास हुआ। इसके द्वारा भी अन्य देशों को सहायता देने की व्यवस्था की गई। इसी प्रकार मध्य पूर्व में एक मोर्चा कायम करने का प्रयत्न हो रहा है। प्रशान्त महासागर के भी देशों तथा द्वीपों में संगठन का बिगुल बजाया जाता है। सितम्बर १९५१ में संयुक्त राज्य ने आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैंड के साथ प्रशान्त संधि की। संयुक्त राज्य अपने गुट के सदस्यों को अर्थ के अतिरिक्त अस्त्र-शस्त्र भी देता है। १९५० ई० में कम्युनिस्ट उत्तरी कोरिया ने गैर-कम्युनिस्ट दक्षिणी-कोरिया पर चढ़ाई कर दी। संयुक्त राष्ट्र संगठन ने सैनिक कार्यवाई आरम्भ कर दी और इसका भार संयुक्त राज्य के हाथ में सौंप दिया गया। लगभग ५ वर्ष के बाद कोरिया में शांति स्थापित हुई।

१९५१ ई० में अमेरिका ने जापान के साथ एक सन्धि कर ली और वहाँ अपना प्रभाव स्थापित कर लिया। १९५३ ई० में स्पेन तथा यूनान से भी समझौता हुआ और उत्तरी अटलांटिक संगठन को अधिक सबल बनाने का प्रयत्न किया गया। उत्तरी अटलांटिक सन्धि (नाटो) की भाँति दक्षिणी पूर्वी एशियायी देशों के साथ भी एक सन्धि (सीटो) हुई। थाईलैंड, फिलिपाइन्स, पाकिस्तान, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, ब्रिटेन, फ्रांस तथा अमेरिका इसमें सम्मिलित हैं। इन दोनों संगठनों का प्रमुख उद्देश्य है साम्यवाद की प्रगति को रोकना। अमेरिका ने शेख अब्दुल्ला के शासन काल में काश्मीर में भी अपना प्रभाव स्थापित करना चाहा किन्तु सफलता नहीं मिली। १९५४ ई० में अमेरिका ने पाकिस्तान को सैनिक सहायता देने के लिये स्वीकार किया यद्यपि भारत ने उसकी इस नीति का घोर विरोध किया था। काश्मीर प्रश्न पर भी सुरक्षा परिषद् में भारत के प्रति अमेरिका एवं ब्रिटेन का रुख सन्तोषजनक नहीं है। एक बगदाद गुट का भी निर्माण हुआ है और मार्च १९५७ ई० में उसमें भी शामिल होने के लिये अमेरिकी राष्ट्रपति ने घोषणा की है।

इस प्रकार अमेरिका वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का प्रमुख केन्द्र है और यह पूँजी तथा अणु दोनों का ही स्वामी है। संयुक्त राष्ट्र संगठन में भी उसी की प्रधानता है। उसी के प्रभाव से अभी तक साम्यवादी चीन को संयुक्त राष्ट्र संगठन में स्थान नहीं प्राप्त हो सका है। उसकी आर्थिक योजनाएँ साम्राज्यवाद के ही प्रतीक स्वरूप हैं। जो देश अमेरिका से आर्थिक सहायता लेता है वह अमेरिका से पुर्जे आदि सामानों को खरीदता है। अमेरिका के विशेषज्ञ बहुत अधिक वेतनों पर भेजे जाते हैं

और वे अपनी बचत को अमेरिकी बैंक में ही जमा करते हैं। इस तरह अमेरिकी पूँजी का अधिकांश भाग फिर अमेरिका में ही चला आता है और इसके उद्योग धन्धों का विकास जारी है। राजनीतिक क्षेत्र में भी सहायता लेने वाला देश उसकी नीति का समर्थन करने के लिए भी बहुत कुछ बाध्य-सा हो जाता है।

अध्याय २३

अन्तर्राष्ट्रीयता का विकास—राष्ट्र सङ्घ

भूमिका

मनुष्य स्वभावतः स्वार्थी होता है और सृष्टि के प्रारम्भ से ही उसमें पारस्परिक मतभेद तथा संघर्ष होता रहा है और मानव-जीवन में इनकी सदा प्रधानता रही है। धीरे-धीरे वे निम्नस्तर से ऊपर उठने लगे और शान्ति, संगठन तथा सहयोग के महत्व को समझने लगे और शान्ति, प्रेम और एकता के नाद गुंजित हुए और एक धर्म के अनुयायियों में ये भावनाएँ विकसित होने लगीं, यद्यपि स्थायी रूप से वे कायम न रह सकीं। इस तरह भारत से धर्म-विजय की नीति अपनायी और एशिया के अधिकांश भागों में बौद्ध-धर्म का प्रचार हुआ। इसाई तथा इस्लाम धर्मों का जन्मभूमि की सीमाओं के पार पृथ्वी के अधिकांश भूखण्डों पर प्रसार हुआ और इनके प्रधान पोप तथा खलीफा का इसाई और इस्लामी दुनिया में बोल-बाला रहा। राजनीतिक क्षेत्र में भी दुनिया के अधिक-से-अधिक भागों को जीत कर एक विशाल साम्राज्य के संगठित करने का प्रयत्न हुआ। यूनानियों, रोमनों और मंगोलों के साम्राज्य इस बात के प्रमाण हैं। परन्तु इस तरह की साम्राज्य-स्थापना शक्तिशाली और महत्वाकांक्षी सैनिकों तथा शासकों के प्रयत्न का परिणाम थी और साम्राज्य के निवासियों का दमन तथा शोषण किया जाता रहा। अनेक राजनीतिक दार्शनिकों ने विश्व-एकता के सिद्धान्त का समर्थन किया। १४वीं सदी में पिरड्बोई ने फ्रांस के राजा के अधीन इसाई दुनिया को संगठित करने का स्वप्न देखा। सुली ने अपनी महान् योजना से यूरोप का नव-निर्माण किया। इस तरह प्राचीन काल से ही स्वार्थ-शोषण तथा संघर्ष की क्रिया-प्रतिक्रिया चलती रही है। आधुनिक युग में ये प्रवृत्तियाँ अधिक बलवती हो गई हैं जिन पर नीचे विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला जा रहा है।

संसार के हित और अहित दोनों ही हुए हैं। इससे भोग-विलास के अनेक साधनों को उत्पन्न किया है, साथ ही अनेक घातक पदार्थों का भी प्रादुर्भाव हुआ है। किन्तु विज्ञान से अहित होने में उसका या वैज्ञानिकों का कोई दोष नहीं है, दोष तो है विज्ञान का दुरुपयोग करने वाले मनुष्यों का। यदि चाकू से कोई अपनी अंगुली काट ले तो इसमें चाकू का क्या दोष? पारस्परिक स्वार्थ और वैमनस्य के कारण आधुनिक युग में भी युद्ध होते रहे हैं और मनुष्य ने विज्ञान के घातक पदार्थों का भी व्यवहार किया है। सामान्यतः युद्ध से अशान्ति उत्पन्न होती है और ऐसे वातावरण में सुख तो चाह और स्वप्न की ही वस्तु बन जाता है। आधुनिक युद्ध तो दिन-पर-दिन अधिक भयंकर और सभ्यता तथा संस्कृति के लिए घातक सिद्ध हो जाते हैं। आधुनिक काल में तीन युद्ध बड़े प्रसिद्ध हैं जिनका विवरण पढ़कर मानवता काँप उठती है। ये हैं— नेपोलियनिक युद्ध (१७९९-१८१५ ई०), प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८ ई०) और द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५)। लेकिन सुख शान्ति तो सभी चाहते हैं। अतः प्रत्येक युद्ध के बाद विश्व की एकता और शान्ति के लिए सक्रिय प्रयत्न हुए हैं ताकि युद्ध के दावानल का पुनः विस्फोट न हो।

पवित्र संघ और चतुष्पाद संघ

१७९३ ई० में ही फ्रांस और यूरोप में युद्ध शुरू हो गया था और तभी से नेपोलियन इसका संचालन करने लगा। युद्ध शुरू होने के २ वर्ष बाद कान्ट नाम के जर्मन दार्शनिक ने युद्ध को रोकने और स्थायी शान्ति स्थापित करने के उपाय पर प्रकाश डाला था। परन्तु यूरोप के राजनीतिज्ञों ने उसकी योजना पर कोई ध्यान नहीं दिया।

१८१५ ई० नेपोलियनिक युद्ध का अन्त हुआ। इस युद्ध में इंगलैंड, आस्ट्रिया, प्रशिया और रूस विजेता राष्ट्र थे। वियना में इनके प्रतिनिधि मिले और यूरोप के पुनः निर्माण की व्यवस्था की गई। तत्पश्चात् रूस के जार अलेक्जेंडर प्रथम की इच्छानुसार पवित्र संघ का निर्माण हुआ। रूस, आस्ट्रिया और प्रशिया इसके सदस्य थे। उन्होंने ईसाई धर्म के सिद्धान्त पर चलने की प्रतिज्ञा की। परन्तु पारस्परिक स्वार्थ के कारण यह संघ विफल रहा। इंगलैंड भी इसे मूर्खतापूर्ण घोषणा कहकर इससे अलग ही रह गया। परन्तु कुछ समय बाद पेरिस में एक सन्धि हुई जिसे उपर्युक्त चारों राष्ट्रों ने स्वीकार किया और इस तरह चतुष्पाद संघ का जन्म हुआ। इसका उद्देश्य था वियना की सन्धि की रक्षा करना और राष्ट्रों की पारस्परिक सुख-शान्ति के लिए समय-समय पर विचार विनिमय करना। संघ के प्रतिनिधियों का समय-समय पर सम्मेलन भी हुआ। कुल ४ सम्मेलन हुए। किन्तु यह संघ भी आधी शताब्दी के

भीतर ही सदस्य राष्ट्रों के मतभेद, स्वार्थ तथा संघर्ष की चट्टानों से टकरा कर चूर-चूर हो गया। आस्ट्रिया का प्रतिनिधि मेटरनिक निरंकुशता का पोषक था तो ग्रेट ब्रिटेन का प्रतिनिधि कैसलरे इसका विरोधी और लोकतंत्र का समर्थक था। कैनिंग नामक अंगरेज के शब्दों में यह 'यूरोप को जंजीरों में बाँधने के लिए' एक संघ था। दूसरे, यह यूरोप के शक्तिशाली राज्यों का एक संकीर्ण गुट था जिसमें न तो जनता का प्रतिनिधित्व था और न लोक-कल्याण ही उसका आदर्श था। तीसरे, इसका कोई निश्चित विधान नहीं था। अतः चतुष्पाद संघ भी विफल रहा। परन्तु अर्वाचीन की तुलना में पवित्र और चतुष्पाद संघ अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग पर अग्रिम कदम थे।

१८५६ ई० में पेरिस में एक सम्मेलन हुआ और अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष को दूर करने के लिए कुछ नियम बने। १८६४ ई० में लंदन में मजदूरों का सर्वप्रथम अन्तर्राष्ट्रीय संगठन कायम हुआ। १८६७ ई० में एक शान्ति-संघ स्थापित हुआ जिसका उद्देश्य था यूरोप में संयुक्त राज्य का निर्माण और शान्ति, न्याय तथा स्वाधीनता की व्यवस्था करना। १८८६ ई० में मजदूरों का दूसरा अन्तर्राष्ट्रीय संगठन कायम हुआ जिसका केन्द्र पेरिस में स्थित था। रूसी सरकार के प्रस्ताव पर १८९९ ई० में हेग में एक सम्मेलन हुआ। इसमें २६ राज्यों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। इस सम्मेलन ने एक स्थायी पंचायत कोर्ट की स्थापना की जिसका काम था पंचायत द्वारा झगड़े का निपटारा करना। १९०७ ई० में फिर दूसरा सम्मेलन हुआ जिसमें ४४ राज्यों के प्रतिनिधि आये। यह तय हुआ कि दोनों विरोधी दल अपने झगड़े को एक तीसरे निष्पक्ष व्यक्ति के हाथ में निर्णय के लिए सौंप देंगे। इस तरह युद्ध रोकने के लिए प्रयत्न होता रहा, फिर भी १९१४ ई० में युद्ध का विस्फोट हो ही गया।

राष्ट्र संघ

जन्म एवं उद्देश्य

चार वर्षों के उपरान्त १९१८ ई० में प्रथम विश्वव्यापी महायुद्ध का अन्त हुआ। महायुद्ध की व्यापकता और भयंकरता से मानव-हृदय संतप्त था और शान्ति के लिए मानवता व्यग्र थी। पेरिस में शान्ति-सम्मेलन शुरू हुआ। ३२ राष्ट्रों के प्रतिनिधि इसमें सम्मिलित हुए थे। सभी लोगों की दृष्टि एक व्यक्ति पर लगी हुई थी। वह व्यक्ति था संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का राष्ट्रपति विल्सन। वे आदर्शवादी थे और शान्ति तथा मानवता के प्रेमी। युद्ध की विभीषिका को देखकर उनका हृदय पसीज गया था और वे इसे रोकने का उपाय ढूँढ़ निकालने के लिए कार्यशील थे। उन्होंने एक चतुर्दश सूत्री योजना भी तैयार कर रखी थी। राष्ट्र संघ की स्थापना भी इसी योजना के अन्तर्गत थी। उन्हीं के प्रयास और प्रेरणा से २८ अप्रैल १९१९ ई० को राष्ट्र संघ

का जन्म हुआ और इसे भी वर्साई की संधि का एक अंग बना दिया गया। इसका प्रधान उद्देश्य था पारस्परिक विचार-विनिमय के द्वारा झगड़े को रोकना और विश्व में शान्ति स्थापित रखना। सदस्य राष्ट्रों के अधिकारों और कर्त्तव्यों की स्पष्ट रूप से व्याख्या कर दी गई थी। इसके अन्तर्गत कई नियम बने जिन्हें कवेनेन्ट कहते हैं। इनमें से अधिकांश नियमों का सम्बन्ध युद्ध को रोकने से था। १६वें नियम के अनुसार संघ के आदेश की उपेक्षा कर युद्ध करने वाले को संघ के सभी सदस्यों को शत्रु घोषित किया जायगा और उसके विरुद्ध आर्थिक या सैनिक कार्यवाही की जायगी। आक्रमणकारी देश के बहिष्कार और नाकेबन्दी करने का नियम बना।

संगठन

राष्ट्रसंघ न तो एक स्टेट ही था और न सुपर स्टेट। इसकी कोई भौगोलिक सीमा नहीं थी, अपनी सेना नहीं थी और न अपने नागरिक थे। यह सभी राज्यों के ऊपर की भी प्रभुता-सम्पन्न संस्था नहीं थी। इसकी स्थिति एक क्लब या वादविवाद समिति की जैसी थी जहाँ अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर विचार-विमर्श किया जा सकता था। इसके निर्णय को स्वीकार करने के लिए कोई राष्ट्र बाध्य नहीं था। स्वीकार या अस्वीकार करना बिलकुल उसकी इच्छा पर निर्भर था। १९२० ई० में ४२ राज्य राष्ट्र संघ के सदस्य थे। बाद में यह संख्या बढ़कर ६० तक पहुँच गई। कोई भी स्वतन्त्र राज्य राष्ट्रसंघ का सदस्य हो सकता था। किन्तु ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत के कई राज्य भी संघ के सदस्य हो गए। भारतवर्ष भी संघ का सदस्य बन गया था। संघ छोड़ने के लिए दो वर्ष की सूचना आवश्यक थी।

जिस प्रकार प्रत्येक देश में कार्यकारिणी, व्यवस्थापिका सभा, न्यायालय और सचिवालय होते हैं वैसे ही राष्ट्रसंघ में भी इन संस्थाओं की व्यवस्था की गई।

(१) एसेम्बली—यह राष्ट्र संघ की प्रतिनिधि सभा थी। इसमें प्रत्येक सदस्य राष्ट्र को ३ प्रतिनिधि भेजने का अधिकार था किन्तु वे एक ही मत देने के अधिकारी थे। इस तरह छोटे या बड़े राष्ट्र में कोई भेद नहीं रखा गया। राजनीतिक निर्णय के लिए सर्वसम्मति आवश्यक थी। जिस राज्य का झगड़ा एसेम्बली के सामने आता था उस राज्य के प्रतिनिधि को मत देने का अधिकार नहीं था। कार्य-संचालन के लिए एक सभापति और एक उपसभापति होते थे। एसेम्बली नए देश को सदस्य होने की स्वीकृति देती थी और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के जजों तथा कौंसिल के अस्थायी सदस्यों को चुनती थी। इसका अधिवेशन जेनेवा में होता था। यह कई कमेटियों में विभक्त थी। नाम के लिए इसके अधिकार तो बहुत थे किन्तु इसकी स्थिति परामर्श-दात्री संस्था की थी।

(२) कौंसिल—यह राष्ट्र संघ की कार्यकारिणी थी और इसकी शक्ति असीमित थी। प्रति वर्ष कम से कम चार बैठकें होती थीं और हर बैठक में सभापति का चुनाव होता था। निर्णय के लिए स्थायी सदस्यों में एकमत आवश्यक था। यह एसेम्बली के लिए बजट तथा कार्यक्रम तैयार करती थी। इसमें तीन प्रकार के सदस्य थे—(क) फ्रांस, इंगलैंड, इटली और जापान जैसे शक्तिशाली राष्ट्रों के सदस्य स्थायी थे। (ख) कुछ राज्यों के सदस्य अस्थायी थे। इनकी संख्या ६ थी और इनकी अवधि ३ वर्ष की थी किन्तु इनमें से एक तिहाई सदस्य प्रति वर्ष अवकाश ग्रहण करने के लिए बाध्य थे। (ग) किसी राज्य के किसी विषय पर जब विचार होता था तो उस समय उस राज्य के किसी प्रतिनिधि को बुला लिया जाता था और कार्य समाप्त होने ही उसे भी फुर्सत मिल जाती थी। धीरे-धीरे स्थायी सदस्यों की संख्या में कमी और अस्थायी सदस्यों की संख्या में वृद्धि होती गई। १९२६ ई० में जर्मनी और १९३४ ई० में रूस राष्ट्र संघ के सदस्य हुए और साथ ही वे कौंसिल के भी स्थायी सदस्य बने। किन्तु १९३४ ई० तक जर्मनी तथा जापान ने राष्ट्रसंघ की सदस्यता का परित्याग भी कर दिया था। १९३६ ई० में केवल ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस ही स्थायी सदस्य रह गए थे और कौंसिल में इन्हीं का बोलबाला भी था।

(३) सचिवालय—जेनेवा में राष्ट्र संघ का एक सचिवालय भी स्थापित हुआ। इसका प्रधान एक सचिव होता था जिसे एसेम्बली की स्वीकृति से कौंसिल नियुक्त करती थी। इसके अतिरिक्त इसमें अन्य सैकड़ों कर्मचारी थे।

(४) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय—एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की भी व्यवस्था की गई। इसमें १५ जज होते थे जो ६ वर्ष तक अपने पद पर आसीन रहते थे। वे अपना एक सभापति और उपसभापति स्वयं निर्वाचित करते थे। इस न्यायालय का काम था—सामने आये हुए झगड़ों का निर्णय करना और कौंसिल तथा असेम्बली को कानूनी मामले में सम्मति देना। इसके निर्णय अन्तर्राष्ट्रीय विधान के विकास में बड़े ही सहायक सिद्ध हुए हैं।

राष्ट्र संघ का कार्य राजनीतिक चहारदीवारी तक ही सीमित नहीं था। इसका कार्य-क्षेत्र व्यापक था। अतः इससे सम्बन्धित कुछ अन्य संस्थाएँ भी थीं जैसे अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन, अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य आदि।

राष्ट्र संघ के कार्य

राष्ट्र संघ की स्थापना का उद्देश्य बड़ा ही पवित्र तथा महान था। इसने अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना को और भी आगे बढ़ाया है। इसने कई अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों को उत्पन्न तथा प्रोत्साहित किया है जैसे अन्तर्राष्ट्रीय स्त्री-संघ, अन्तर्राष्ट्रीय गिरजा-संघ

आदि। सदस्य राष्ट्रों के बीच इसने कई मौके पर शान्तिपूर्ण ढंग से झगड़े का निर्णय किया है और प्रथम दशाब्दी के अन्दर छोटे-छोटे राष्ट्रों के बीच युद्धों के होने से रोका है। (क) १९२० ई० मे हालैण्ड द्वीप के लिए स्वेडन तथा फिनलैंण्ड में झगड़ा शुरू हुआ। सघ ने इसे फिनलैण्ड को देकर झगड़े का निर्णय कर दिया। (ख) १९१९ ई० में साईलेशिया को लेकर जर्मन तथा पोलैण्ड और इगलैंड तथा फ्रास के बीच मतभेद था। सघ की देख-रेख में जनमत लिया गया। बहुमत जर्मनी को कमजोर रखना चाहता था। अतः वह चाहता था कि साइलेशिया पोलैण्ड को ही मिले। १९२२ ई० में संघ ने साइलेशिया को दो भागों में बाँट दिया। एक-तिहाई पोलैण्ड को और दो-तिहाई जर्मनी को मिला। जर्मनी तथा पोलैंड ने निर्णय को स्वीकार कर लिया। (ग) १९१९ ई० मे विलना लिथुआनिया के अधिकार में था किन्तु पोलैंड ने इस पर अपना आधिपत्य जमाना चाहा। लिथुआनिया ने इस प्रश्न को सघ में उपस्थित किया। फ्रास पोलैंड का समर्थक था। १९२२ ई० में पोलैंड के ही पक्ष में सघ का निर्णय हुआ। किन्तु सघ के ही समर्थन से मेमेल पर लिथुआनिया का अधिकार कायम रहा। (घ) १९२५ ई० में यूनान ने बल्गेरिया पर आक्रमण कर दिया। बल्गेरिया के द्वारा अपील की जाने पर सघ ने यूनान की सेना हटा लेने और क्षतिपूर्ति करने के लिए आदेश दिया। यूनान ने आदेश का पालन किया।

राष्ट्र सघ ने मैंडेट प्रणाली के द्वारा पिछड़े देशों की उन्नति की और गुप्त कूटनीति में कुछ शिथिलता लाई है। इसने सामाजिक क्षेत्रों में आशातीत सफलता प्राप्त की है। बच्चों और स्त्रियों की दशा में सुधार हुआ है। स्वास्थ्य सम्बन्धी अनेक नियम बने हैं जिन्हें राष्ट्रों ने स्वीकार भी किया।

सघ की असफलता और इसके कारण

परन्तु राष्ट्र संघ अपने प्रधान उद्देश्य में बुरी तरह असफल रहा है। ससार में न तो युद्ध बन्द हुआ, न सैन्य प्रसार रुका, न गुप्त कूटनीति रुकी और न शान्ति कायम हुई। अपने जीवन की दूसरी दशाब्दी में यह शक्तिहीन होता गया और बड़े राष्ट्र इसकी उपेक्षा करने गए। १९२५ ई० में ही तुर्की ने इसके निर्णय की उपेक्षा की। मोसल को लेकर तुर्की और ईराक के बीच मतभेद था। सघ ने उसे ईराक को दे दिया। तुर्की इसे स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था। इगलैंड ने तुर्की को प्रभावित कर इस बात पर राजी कराया। ऐसे ही यूनान और इटली के बीच झगड़ा हुआ था। इटली के कोर्फू द्वीप पर बम गिरा दिया गया। यूनान ने संघ में अपील की। इटली ने इसका विरोध किया और घोषणा की कि यह प्रश्न संघ के अधिकार-क्षेत्र से बाहर है। १९२८ ई० में अमेरिका के दो राष्ट्रों—मेक्सिको तथा निकारागुआ—में

झगड़ा हुआ। संघ ने हस्तक्षेप नहीं किया किन्तु संयुक्त राज्य ने झगड़े को शान्त कर दिया।

फासिस्ट शक्तियों के सामने तो राष्ट्र संघ अपने को बहुत ही शक्तिहीन सिद्ध किया। १९३१ ई० में जापान ने मंचूरिया पर आक्रमण किया और इसे जीत कर मंचुको के नाम से वहाँ एक कठपुतली शासन कायम किया। चीन ने संघ में अपील की। संघ ने लिटन कमीशन नियुक्त किया। कमीशन ने जापान को अपनी रिपोर्ट में आक्रमणकारी घोषित किया। संघ ने रिपोर्ट स्वीकार किया और इससे अधिक कुछ न हो सका। जापान की इस सहज सफलता से जर्मनी और इटली को विशेष प्रोत्साहन मिला। १९३२ ई० में निरस्त्रीकरण सम्मेलन से जर्मनी ने अपने प्रतिनिधियों को हटा लिया। एक वर्ष बाद जर्मनी तथा जापान दोनों ने राष्ट्र संघ को ही छोड़ दिया।

१९३५-३६ ई० में इटली के अधिनायक मुसोलिनी ने अबीसीनिया पर आक्रमण कर उसे अपने साम्राज्य में मिला लिया। अबीसीनिया राष्ट्र संघ का सदस्य था। उसने संघ में अपील की। इटली को आक्रमणकारी घोषित कर उसके विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लागू किया गया। किन्तु यह सफल नहीं हुआ। दो महीने के बाद संघ ने प्रतिबन्ध वापस ले लिया। संघ की असमर्थता विश्व के सामने प्रत्यक्ष हो गई। १९३८ ई० में ग्रेट ब्रिटेन ने अबीसीनिया पर इटली के आधिपत्य को मान भी लिया। मुसोलिनी की सफलता से जर्मनी के तानाशाह हिटलर का और भी मन बढ़ गया। वह वर्साई सन्धि की शर्तों को एक-एक कर तोड़ने लगा। उसने अनिवार्य सैनिक सेना प्रचलित की और राइनलैण्ड में अपनी सेना भेज दी। संघ नपुंसक की भाँति देखता रहा। जुलाई १९३६-३८ ई० में स्पेन में गृहयुद्ध हुआ। जनतन्त्र के विरुद्ध फ्रैंको के नेतृत्व में राजतन्त्र के समर्थकों ने विद्रोह किया। मुसोलिनी तथा हिटलर की ओर से विद्रोह को पर्याप्त सहायता मिली। किन्तु ब्रिटेन तथा फ्रांस ने अहस्तक्षेप की नीति बरती और जनतन्त्र का गला घोंटा गया।

इस बीच १९३७ ई० में जापान ने चीन पर बिना किसी घोषणा के ही आक्रमण कर दिया। १९३८ ई० में ही हिटलर ने आस्ट्रिया और चेकोस्लोवाकिया पर अधिकार कर लिया। जब उसने ३ सितम्बर १९३९ ई० को पोलैंड पर हाथ साफ करना चाहा तब द्वितीय महायुद्ध का विस्फोट हो गया। प्रथम महायुद्ध ने संघ को जन्म दिया और द्वितीय महायुद्ध ने उसका अन्त कर डाला।

राष्ट्र संघ की असफलता के कई कारण थे। पहले तो यह राष्ट्र या जनता की प्रतिनिधि संस्था नहीं थी; सत्तारूढ़ सरकारों का गुट था। दूसरे, इसके सदस्य-राष्ट्र सभी स्वतन्त्र नहीं थे बल्कि यह स्वतन्त्र तथा परतन्त्र राष्ट्रों का मिश्रण था। इसमें कई

उपनिवेश भी सम्मिलित थे। तीसरे, इसका अस्तित्व वर्साई सन्धि से अलग नहीं था। अतः पराजित राष्ट्रों की इसके साथ सहानुभूति नहीं थी। राष्ट्रसंघ मे विजेता राष्ट्रों का बोलबाला था जो वर्साई की सन्धि को स्थायित्व प्रदान करना चाहते थे जिस भाँति नेपोलियनिक युद्ध के विजेता वियना सन्धि को स्थायी रूप देने के लिए कार्यशील थे। चौथे, कौंसिल में बड़े राष्ट्रों में निर्णय के लिए सर्वमत होना अनिवार्य था। पाँचवें, संघ को आर्थिक राष्ट्रीयता या सैन्यीकरण पर प्रतिबन्ध लगाने का कोई अधिकार नहीं था। छठें, इसके पास कोई अपनी सैन्य शक्ति नहीं थी जिसके द्वारा वह अपने निर्णय को कार्यान्वित कर सके। सातवें, १९३४ ई० तक रूस इससे अलग रहा और अमेरिका तो कभी इसका सदस्य ही नहीं हुआ। इन दो शक्तिशाली राष्ट्रों के सहयोग के अभाव मे संघ का प्रारम्भ से ही दुर्बल होना स्वाभाविक था। आठवें, लोकतन्त्र के समर्थक ग्रेट ब्रिटेन तथा फ्रांस ने भी पूरा सहयोग नहीं दिया और इन राज्यों की ढुलमुल नीति से संघ निष्क्रिय होता गया। नवें, एकतन्त्रवाद के उत्थान मे संघ को गहरा धक्का लगा। जर्मनी का नात्सीवाद, इटली का फासिस्टवाद और जापान का सैनिकवाद संघ की स्थिति के लिए सहारक सिद्ध हुए। दसवें, अन्तर्राष्ट्रीय भावना अभी शैशवावस्था में रही है और महान् राष्ट्रों मे अभी सत्यता और ईमानदारी का अभाव रहा है।

राष्ट्र संघ की महत्ता

फिर भी राष्ट्र संघ बिल्कुल ही व्यर्थ नहीं सिद्ध हुआ। हम इसकी सफलताओं का भी अवलोकन कर चुके हैं। (१) इसने अन्तर्राष्ट्रीयता को और आगे बढ़ाया है। (२) अतीत में अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन ही होते थे, स्थायी संस्था का सर्वथा अभाव था। राष्ट्र संघ का एक स्थायी संस्था के रूप में निर्माण हुआ और एक सचिवालय की स्थापना हुई। (३) अतीत की संस्थाएँ संकीर्ण होती थीं क्योंकि उनका क्षेत्र यूरोप महादेश या ईसाई सम्प्रदाय तक ही सीमित था। किन्तु राष्ट्र संघ व्यापक संघ था जिसमें कोई भी देश इसका सदस्य हो सकता था। (४) संघ को कई अंशो में महान् राजनीतिज्ञों का सहयोग प्राप्त था और वे इसकी सफलता चाहते थे। (५) दुर्बल राष्ट्रों को भी अपने विचारों को प्रकट करने का अवसर प्राप्त हुआ था। (६) संघ ने गैर राजनीतिक क्षेत्रों में महत्वपूर्ण कार्य किया है। (७) यह सर्वप्रथम संगठन था जहाँ पूर्व तथा पश्चिम के लोग एक साथ बैठ कर विचार विनिमय कर सकते थे।

इन संस्थाओं के अतिरिक्त कई विशिष्ट समितियाँ हैं जैसे खाद्य तथा कृषि समिति संयुक्त राष्ट्र शिक्षा, विज्ञान तथा संस्कृति समिति, संयुक्त राष्ट्र सहायता और पुनर्वास समिति, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन, अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक कोष, विश्व स्वास्थ्य परिषद्, आदि।

संयुक्त राष्ट्र संगठन के घोषणा-पत्र में साधारण सभा द्वारा कोई संशोधन किया जा सकता है। संशोधन के लिये इसकी बैठक इसके ⅔ सदस्यों और सुरक्षा परिषद् के ७ सदस्यों की स्वीकृति से ही बुलायी जा सकती है। पास होने के लिए इसके दो-तिहाई सदस्यों और सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्यों द्वारा स्वीकृति आवश्यक है। इस प्रकार कौंसिल के एक भी स्थायी सदस्य के विरोध करने पर कोई संशोधन नहीं हो सकता। संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता त्यागने की कोई व्यवस्था नहीं है। हाँ, अपराधी सदस्य राष्ट्र को सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर साधारण सभा के द्वारा संघ से निकाला जा सकता है।

(ग) संगठन के गुण-दोष

गुण

यह विश्व शान्ति-स्थापना का एक मात्र विश्वव्यापी संगठन है और संतप्त तथा अशान्त संसार की आशा इसी पर केन्द्रित है। कुछ बातों में यह राष्ट्र संघ की अपेक्षा उन्नत संस्था है। पहले तो यह राष्ट्र संघ की अपेक्षा अधिक सुसंगठित और व्यापक है। इसके घोषणा-पत्र की बातें अधिक स्पष्ट एवं विस्तृत हैं। इसके कर्त्तव्यों तथा अधिकारों का उल्लेख भी अधिक स्पष्टता के साथ किया गया है। विश्व-राज्य की स्थापना का यह आधार सिद्ध हो सकता है। दूसरे, इसे संयुक्त राज्य अमेरिका और रूस जैसे विशाल राष्ट्रों की सदस्यता प्राप्त है। तीसरे, आवश्यकता पड़ने पर सदस्य राष्ट्रों से सेना मेलने का इसे आश्वासन प्राप्त है और सुरक्षा परिषद् की सहायता के लिए एक सैन्य समिति की व्यवस्था कर दी गई है। चौथे, राष्ट्र संघ की सभा में सर्वमत आवश्यक था किन्तु संयुक्त राष्ट्र संगठन की सभा में उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई मत ही आवश्यक है। पाँचवें, राष्ट्र संघ वर्साय की सन्धि का ही एक अंग बना दिया गया था किन्तु इसके विपरीत संयुक्त राष्ट्र संगठन का निर्माण युद्ध के अन्त के पहले ही हो गया था। अतः इसका अस्तित्व पराजित राष्ट्रों की संधि से पृथक तथा स्वतन्त्र है। छठे, संयुक्त राष्ट्र संगठन के चार्टर के अन्तर्गत क्षेत्रीय सम्मेलन करने की व्यवस्था है किन्तु राष्ट्र संघ में ऐसी व्यवस्था का अभाव था।

अरबों तथा यहूदियों के परस्पर सम्बन्ध में कोई महत्वपूर्ण सुधार नहीं हो सका। १६५५ ई० के अन्त में सीमा पर सशस्त्र संघर्ष होने लगा था और युद्ध निकट दीख पड़ने लगा। जनवरी १६५६ ई० मे सुरक्षा परिषद् ने इस सम्बन्ध में इसरायल की निंदा की और उसे चेतावनी भी दी। अप्रैल में हैमरशोल्ड ने स्वयं स्थिति की जाँच की और अपनी नई रिपोर्ट पेश की है। इस तरह फिलस्तीन समस्या मूल रूप में कायम ही है।

कोरिया—१६वीं सदी के उत्तरार्द्ध में चीन की कमजोरी के कारण रूस तथा जापान ने कोरिया में कुछ सुविधाएँ प्राप्त कर लीं। १६०५ ई० में जापान ने रूस को पराजित कर दिया और ५ वर्ष के बाद कोरिया को अपने साम्राज्य में मिला लिया। किन्तु १६४५ ई० मे जापान स्वयं द्वितीय महायुद्ध मे पराजित हो गया। अब उत्तरी कोरिया में रूस ने और दक्षिणी कोरिया में अमेरिका ने प्रभाव क्षेत्र कायम किया। ३८° अक्षांश पर विभाजन रेखा निश्चित हुई। उत्तरी कोरिया में किम इल सुंग के नेतृत्व में साम्यवादी व्यवस्था और दक्षिणी कोरिया मे सिंगमन री के नेतृत्व में प्रजातान्त्रिक व्यवस्था स्थापित हुई। संयुक्त राष्ट्र के सामने समस्या प्रस्तुत हुई। उसने स्थिति की जाँच करने के लिये कमीशन नियुक्त किया किन्तु रूस ने कमीशन का बहिष्कार कर दिया। जून १६५० ई० में दोनों कोरिया में संघर्ष शुरू हो गया। इस में महान् शक्तियों ने भी अभिरुचि प्रदर्शित की। अमेरिका के प्रभाव से संयुक्त राष्ट्र ने उत्तरी कोरिया को आक्रमणकारी घोषित किया और अपने सदस्यों को संघ की तरफ से लड़ने के लिये सेना भेजने की आज्ञा दी। यह निर्णय सुरक्षा परिषद् में उस समय किया गया जब कि रूस का प्रतिनिधि अनुपस्थित था। अतः यह निर्णय अवैध था। अतः आंग्ल अमेरिकी गुट के ही सदस्यों ने आज्ञा का पालन किया। अमेरिका सहित १६ सदस्यों ने सेना भेजी किन्तु इनमें भी अमेरिका की ही प्रधानता थी। संयुक्त राष्ट्र की सेना में $\frac{9}{10}$ उसी का हिस्सा था और सर्वोच्च सेनापति मैकार्थर अमेरिकी ही था। इतिहास में यह प्रथम उदाहरण था जब कि एक अन्तर्राष्ट्रीय संघ ने युद्ध में एक दल के रूप में प्रत्यक्ष भाग लिया। सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त का भी यह व्यावहारिक रूप था। तीन वर्ष तक कोरिया की भूमि पर लड़ाई होती रही और धन जन का नाश होता रहा। जुलाई १६५३ ई० में दोनों दलों के बीच अस्थायी समझौता हुआ और युद्ध-विराम की व्यवस्था की गई। यह समझौता कराने में भारत को विशेष श्रेय प्राप्त है। लेकिन उसके बाद भी कई कठिनाइयाँ उपस्थित होती रहीं। राजनीतिक सम्मेलन के सम्बन्ध मे दोनों दल एकमत नहीं हो सके। अतः १६५३ ई० के अन्त तक दोनों दलों मे एकता कराने के सभी प्रयत्न विफल रहे।

विचार करने के लिये ६ फरवरी को साधारण सभा का अधिवेशन करने का निश्चय किया। किन्तु इसके पक्ष में बहुमत नहीं मिला और अमेरिका तथा ब्रिटेन ने भी सहयोग नहीं दिया। इसके बाद जेनेवा सम्मेलन (अप्रैल-जुलाई १९५४) में इस समस्या पर विचार हुआ किन्तु वहाँ भी कोई परिणाम नहीं निकला।

कोरिया-समस्या अभी बनी हुई है। संयुक्त राष्ट्र के हस्तक्षेप से दक्षिणी कोरिया से साम्यवादी तो हट गये किन्तु अभी तक दोनों कोरिया का एकीकरण नहीं हो सका है। अस्थायी समझौता की ही स्थिति कायम है। उधर संयुक्त राष्ट्र की प्रतिष्ठा को भी गहरा धक्का लगा है क्योंकि यह गुटबन्दी तथा युद्ध के दलदल में फँस गया था।

काश्मीर—काश्मीर भारत और पाकिस्तान की सीमाओं पर स्थित है। पाकिस्तान को आशा थी कि काश्मीर बहुसंख्यक मुस्लिम राज्य होने के कारण उसी में शामिल हो जायगा। किन्तु वैसा नहीं हो सका। अतः निराश हो पाकिस्तान ने काश्मीर पर हमला कर दिया। काश्मीर की जनता ने भारत सरकार से रक्षा के लिये अनुरोध किया। भारत ने इस अनुरोध का पालन किया। इस प्रकार काश्मीर को लेकर भारत तथा पाकिस्तान में संघर्ष छिड़ गया। ६ जनवरी १९४८ ई० को भारत ने सुरक्षा परिषद् में इस प्रश्न को उपस्थित किया। नेहरू जी को विश्वास था कि वहाँ शीघ्र ही प्रश्न का समाधान हो जायगा। परिषद ने एक कमीशन नियुक्त किया। कमीशन की दृष्टि में काश्मीर के आक्रमण में पाकिस्तान का हाथ था। उसके प्रयास से युद्ध-विश्राम की व्यवस्था की गई और युद्ध-स्थगन रेखा खींच दी गई (जनवरी १९४९)।

महान् शक्तियों को भारत की स्वतन्त्र नीति पसन्द नहीं थी। अतः वे पाकिस्तान की ओर झुकी हुई थीं। अतः काश्मीर-समस्या पर शीघ्र कोई निर्णय नहीं किया गया। नेहरू जी ने यह भी घोषणा कर दी थी कि काश्मीर से पाकिस्तानी सेना के हट जाने पर जब पूरी शान्ति कायम हो जायगी तो संयुक्त राष्ट्र के तत्वावधान में जनमत संग्रह भी किया जा सकता है। किन्तु संयुक्त राष्ट्र ने न तो पाकिस्तान को आक्रमणकारी घोषित किया और न पाकिस्तान ने अपनी सेना ही काश्मीर की भूमि से हटायी। आगे चलकर पाकिस्तान आंग्ल-अमेरिकी गुट में शामिल हो गया। उसने फरवरी १९५४ ई० में अमेरिका के साथ एक सैनिक-सन्धि की। भारत गला फाड़ कर इस सन्धि का विरोध करता रहा फिर भी इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। पाकिस्तान सीटो तथा मीडो का भी सदस्य बन गया।

इस बीच काश्मीर में वयस्क मताधिकार के आधार पर संविधान परिषद् का निर्वाचन हुआ और इसने एक मत से भारत के साथ मिल जाने का समर्थन किया। भारत तथा काश्मीर के प्रधान मन्त्रियों में समझौते के लिये प्रयत्न होता रहा किन्तु सारे प्रयत्न विफल ही हुए। अब पाकिस्तान भारत के विरुद्ध जोरों से प्रचार करने

लगा। पं० नेहरू ने भी घोषणा कर दी कि आंग्ल-अमेरिकी गुट में पाकिस्तान के शामिल जाने से सारी परिस्थिति ही बदल गई। अब काश्मीर में जनमत संग्रह का भी कोई प्रश्न नहीं रह गया क्योंकि पाकिस्तान ने इसकी एक भी शर्त पूरी नहीं की।

१९५६ ई० में भारत ने स्वेज के राष्ट्रीयकरण के प्रश्न पर मिस्र का समर्थन किया और हंगरी में सोवियत नीति की आलोचना की। इससे महान् राष्ट्र भारत से कुछ रुष्ट हो गये। अतः सुरक्षा परिषद् में १९५७ ई० के प्रारम्भ में गड़े हुए मुर्दों को फिर से उखाड़ने का प्रयत्न हुआ। काश्मीर के सम्बन्ध में यथा स्थिति कायम रखने की घोषणा की गई। इस यथास्थिति का तात्पर्य था १९४८ ई० के प्रारम्भ की स्थिति। इन आठ वर्षों में काश्मीर, भारत तथा संसार में ही कितने परिवर्तन हो चुके थे। किन्तु सुरक्षा परिषद् चाहती थी कि इन परिवर्तनों की ओर से आँखें मूँद ली जाएं। इस विचित्र घोषणा को सुन कर भारत के प्रधान मंत्री पं० नेहरू स्तब्ध एवं क्षुब्ध हो गये। २१ फरवरी १९५७ ई० को सुरक्षा परिषद् के सभापति श्री गुन्नर जारिंग को भारत तथा पाकिस्तान में जाकर स्थिति की जाँच करने और सुझाव देने के लिये भार सौंपा गया। जारिंग ने मार्च में दोनों देशों का भ्रमण किया और ३० अप्रैल को परिषद् के सामने अपना दो हजार शब्दों का प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। लेकिन वे कोई निश्चित सुझाव देने में असमर्थ रहे हैं।

हिंदचीन—हिंदचीन पर फ्रांस का अधिकार था। दूसरे महायुद्ध के समय में जापान ने इस पर कब्जा कर लिया। किन्तु उसके पतन के बाद हिंदचीन या वियतनाम ने डा० हो ची मिन्ह के नेतृत्व में अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर ली। हिंदचीन को वीतनाम भी कहते हैं। परन्तु १९४६ ई० के प्रारम्भ में ही फ्रांस ने हस्तक्षेप किया और वीतनाम सरकार के साथ एक समझौता हुआ। किन्तु कई बातों में मतभेद बना रहा और उस साल के अन्त तक दोनों में युद्ध तक शुरू हो गया। प्रारम्भिक काल में अमेरिका ने वीत नाम के साथ सहानुभूति दिखलायी। किन्तु जब १९५० ई० में कोरिया में युद्ध शुरू हो गया तो अमेरिका का रुख बदल गया। अब साम्यवादियों से लड़ने के लिये वीतनाम भी एक क्षेत्र चुना गया। अमेरिका फ्रांस की हर तरह से मदद करने लगा। फ्रांस ने १९४६ ई० के मध्य में सम्राट बाओदाई के नेतृत्व में वीतनाम में स्वायत्त शासन भी स्थापित किया। डा० हो चो मिन्ह को साम्यवादी चीन से सहायता मिलने लगी। इस तरह वीत नाम भी दोनों गुटों में संघर्ष का केन्द्र बन गया। सात वर्ष तक संघर्ष होता रहा और १९५४ के प्रारम्भ में स्थिति बड़ी ही भयंकर हो गयी। अमेरिका ने संयुक्त कार्रवाई करनी चाही किन्तु अन्य पश्चिमी राष्ट्रों से सहयोग नहीं मिला। अतः सुरक्षा परिषद् में भी अमेरिकी नीति का समर्थन नहीं हुआ। एशियायी राष्ट्र खासकर कोलम्बो राष्ट्र भी इसके पक्ष में नहीं थे। अतः अमे-

रिकी नीति सफल नहीं हो सकी। जुलाई १६५४ ई० में जेनेवा में एक समझौता हुआ जिसके अनुसार युद्ध बन्द हुआ। किन्तु शान्ति स्थापित नहीं हुई। इसके बाद दक्षिणी वीतनाम में अमेरिका का प्रभाव अधिक बढ़ने लगा। दक्षिणी-पूर्वी एशिया में साम्यवाद का प्रचार उसके सिर में दर्द पैदा कर रहा था। अतः वह इसे रोकने के लिए कटिबद्ध था। उससे प्रभावित होकर डायम के नेतृत्व में दक्षिणी वीतनाम की सरकार ने जेनेवा समझौते की कुछ प्रमुख शर्तों को मानने से अस्वीकार कर दिया। इससे सारी स्थिति ही बदल गई। अतः अमेरिका के हस्तक्षेप से यहाँ की भी समस्या अधिक उलझ गई है और किसी क्षण युद्ध हो जाने की आशंका बनी हुई है। इस विकट समस्या के हल करने में संयुक्त राष्ट्र ने कोई पथ-प्रदर्शन नहीं किया।

फारमूसा—यह पश्चिमी प्रशान्त महासागर में एक द्वीप है। यह पहले चीन के अधिकार में था किन्तु १८६५ ई० में इस पर जापान का अधिकार हो गया। कैरो सम्मेलन (दिस० १६४३) में निश्चय हुआ था कि इसे चीन को लौटा दिया जायगा। जापान की पराजय होने पर कौमिन्टाग की सेना ने इस पर अधिकार कर लिया। १६४६ ई० में चीन में जब साम्यवादी विजयी हो गये तो अमेरिका का समर्थन पाकर च्यांग काई शेक ने फारमूसा में अपनी राजधानी बनायी। १६५० ई० के प्रारम्भ में राष्ट्रपति ट्रूमन ने घोषणा की कि अमेरिका अब चीन के मामले में हस्तक्षेप नहीं करेगा। परन्तु कोरिया में युद्ध शुरू होने पर अमेरिकी नीति बदल गई। २७ जून १६५० ई० को घोषणा की गई कि फारमूसा पर साम्यवादियों के अधिकार होने से प्रशान्त-क्षेत्र के लिये संकट पैदा हो जायगा। अतः उसकी रक्षा के लिये अमेरिका ने जलसेना (सातवाँ) भेज दी। फरवरी १६५३ ई० में श्री आइसेनहावर की नीति से च्यांग को चीन पर हमला करने के लिये प्रोत्साहन मिला। १६५४ ई० के अन्त में सुरक्षा सन्धि के द्वारा अमेरिका ने फारमूसा की रक्षा का भार भी स्वीकार कर लिया। चीन की जनवादी सरकार ने अमेरिकी नीति का घोर विरोध किया। तनाव बढ़ने लगा। १८ जनवरी १६५५ ई० को चीन ने टैचेन पर हमला कर दिया। टैचेन फारमूसा के उत्तर में राष्ट्रवादियों के अधिकार में था। स्थिति बड़ी भयंकर थी—युद्ध निकट दीख पड़ने लगा। अमेरिका तथा चीन दोनों ने एक-दूसरे को बड़ी-बड़ी धमकियाँ दीं। इस स्थिति पर विचार करने के लिये सुरक्षा परिषद् की बैठक बुलायी गई किन्तु कोई निर्णय नहीं हो सका।

अप्रैल १६५५ ई० में बैंडुंग सम्मेलन हुआ। वहीं चाऊएनलाई ने विचार-विमर्श के लिये अमेरिका से वार्ता के लिये अपनी राय प्रस्तुत की। श्री कृष्ण मेनन के प्रयास से चीन और अमेरिका दोनों के प्रतिनिधि जेनेवा में मिले। सम्मेलन का कोई स्थायी

परिणाम नहीं निकला किन्तु तनाव में कमी हुई। इसका श्रेय भारत को ही अधिक प्राप्त है, संयुक्त राष्ट्र को नहीं। फारमूसा अभी भी ज्यों का त्यों बना हुआ है।

स्पेन—१९४६ ई० में ही स्पेन का प्रश्न प्रस्तुत हुआ। स्पेन अभी संयुक्त राष्ट्र का सदस्य नहीं था फिर भी शान्ति एवं चार्टर के सिद्धान्त के विरुद्ध कार्य करने का उसे भी अधिकार नहीं था। वहाँ फ्रैंको की फासिस्टवादी सरकार थी। फ्रैंको को पहले हिटलर तथा मुसोलिनी से भी सहायता मिलती रही थी। वह फ्रांस की सीमा पर सेना एकत्र करने लगा था। अतः पोलैंड के प्रतिनिधि ने इधर संयुक्त राष्ट्र का ध्यान आकृष्ट किया। सुरक्षा परिषद् ने स्थिति की जाँच के लिये एक समिति नियुक्त की। समिति के प्रतिवेदन के आधार पर साधारण सभा में विचार हुआ और निश्चय किया गया कि फ्रैंको सरकार का बहिष्कार किया जाय तथा स्पेन से राजदूतों को बुला लिया जाय। संगठन की विशेष संस्थाओं में भी भाग लेने से स्पेन को वञ्चित कर दिया गया। स्पेन से राजनीतिक सम्बन्ध विच्छेद कर लिया गया। इस विषय पर रूस तथा अमेरिका दोनों सहमत थे। किन्तु स्पेन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। १९४७ ई० में एक नियम के द्वारा वह अपने पद पर जीवनपर्यंत सुरक्षित हो गया और उसे अपना उत्तराधिकारी भी मनोनीत करने का अधिकार मिल गया। संयुक्त राष्ट्र उसका कुछ बिगाड़ नहीं सका। १९५० ई० में विशेष संस्थाओं में भाग लेने के सम्बन्ध में जो प्रतिबन्ध था सो भी हटा दिया गया। १९५२ ई० में अमेरिका स्पेन को आर्थिक सहायता देने के लिये सहमत हुआ और दूसरे साल स्पेन में वह कई हवाई अड्डा बनाने लगा। १९५५ ई० में स्पेन संयुक्त राष्ट्र का सदस्य बन गया। १९५६ ई० के मध्य में फ्रैंको ने अमेरिका को स्पेन में चार और सैनिक महत्त्व के हवाई अड्डे बनाने की अनुमति दे दी।

यूनान—द्वितीय महायुद्ध का अन्त होते-होते यूनान में साम्यवादी तथा राजसत्तावादी नामक दो दलों में संघर्ष शुरू हो गया। रूस तथा ब्रिटेन वहाँ अपना-अपना प्रभाव कायम करना चाहते थे। अतः दोनों ने यूनान में हस्तक्षेप किया। ब्रिटिश सेना ने ही जर्मन सेना को यूनान से भगाया था। अतः वहाँ उसी का अधिक प्रभाव था। ब्रिटिश सेना की सहायता से राज सत्तावादी (पीपुलिस्ट) दल विजयी हुआ और भागे हुए राजा (जार्ज द्वितीय) को पुनः गद्दी पर बैठाया। अब साम्यवादी (ई० ए० एम०) दल राजसत्तावादियों का घोर विरोध करने लगा और राजसत्तावादी उस दल को कुचलने का प्रयत्न करने लगे। स्थिति भयानक होने लगी। यूक्रेन के प्रतिनिधि ने इस समस्या को संयुक्त राष्ट्र में प्रस्तुत किया और यूनान से ब्रिटिश सेना के हट जाने की माँग की। रूस ने उसका समर्थन किया। किन्तु ब्रिटेन तथा यूनान ने प्रस्ताव का विरोध किया और बतलाया कि यूनान के विद्रोहियों को पड़ोसी देश

(बल्गेरिया, युगोस्लाविया आदि) से सहायता मिल रही है जो बन्द हो जानी चाहिये। स्थिति की जाँच के लिये १९४६ ई० के अन्त में सुरक्षा परिषद् ने एक कमीशन नियुक्त किया। कमीशन ने ६ महीने में अपनी रिपोर्ट दी और इसके आधार पर एक विशेष बाल्कन समिति का निर्माण हुआ। १९४७ ई० के अन्त से यह समिति कार्य करने लगी। लेकिन यूनान के पड़ोसी देशों ने इसका बहिष्कार किया। १९५० ई० तक कुछ शान्ति तो कायम हुई किन्तु मूल समस्या—यूनान का पड़ोसी देशों के साथ सम्बन्ध—हल नहीं हुई। १९५२ ई० में यूनान नाटो का सदस्य हो गया।

जर्मनी—युद्धोत्तर काल में *जर्मनी की समस्या* महान् शक्तियों के सिर में दर्द का कारण बनी रही है। यहाँ भी दोनों गुटों में दावपेंच चलता रहा है और १२ वर्ष के बाद भी जर्मन समस्या बनी हुई है। अभी तक जर्मनी का एकीकरण नहीं हो सका है। पूर्वी जर्मनी में रूस का और पश्चिमी जर्मनी में अमेरिका का प्रभाव-क्षेत्र है।

साइप्रस—साइप्रस को लेकर ब्रिटेन तथा यूनान में मतभेद पैदा हुआ। यूनान के प्रयास से १९५४ ई० में साधारण सभा के कार्यक्रम में साइप्रस को स्थान देने का निश्चय हुआ; किन्तु ब्रिटेन ने कहा कि *यह उसकी घरेलू समस्या है और वह* बहस में भाग नहीं लेगा। अतः इस समस्या पर कोई विचार ही नहीं हुआ। १९५५ ई० में वह प्रश्न फिर उठाया गया किन्तु साधारण सभा ने इसकी उपेक्षा कर दी। इस तरह साइप्रस की समस्या अभी भी कायम है।

मिश्र और हंग्री—आंग्ल-मिश्री समस्या* का विस्तारपूर्वक पहले ही अध्ययन किया जा चुका है। १९५६ ई० में मिश्र और हंग्री की विकट समस्याएँ उत्पन्न हुई थीं। मिश्र में स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण से अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति गंभीर हो गई थी। युद्ध भी प्रारम्भ हो चुका था। किन्तु संयुक्त राष्ट्र के प्रयास तथा अन्य कारणों से युद्ध विश्व युद्ध में परिणत नहीं हो सका। परन्तु हंग्री के सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्र लाचार ही रहा। एक समय रूस ने संयुक्त राष्ट्र के पर्यवेक्षक या प्रधान सचिव को हंग्री में जाने तक की अनुमति नहीं दी।

मोरक्को—मोरक्को पर फ्रांस का अधिकार था। वहाँ भी राष्ट्रीयता और साम्राज्यवाद में संघर्ष छिड़ा था। द्वितीय महायुद्ध के बाद यह संघर्ष और भी प्रबल हो उठा था। शान्ति संकट में थी। साधारण सभा के छठवें (१९५१) और सातवें (१९५२) अधिवेशन में अरब लीग ने इस प्रश्न को उठाया। साधारण सभा में कोई विशेष उत्साह नहीं दिखाया गया। प्रथम अवसर पर इसे स्थगित रखा गया और दूसरे अवसर पर केवल एक प्रस्ताव पास कर दिया गया। इसका कारण था कि फ्रांस इसे

* देखिये अ० ११

घरेलू प्रश्न कहता था और संयुक्त राष्ट्र के अधिकार क्षेत्र से बाहर समझता था। इस तरह संयुक्त राष्ट्र से बाहर ही मोरक्को तथा फ्रांस में समझौता होता रहा। १९५६ ई० के प्रारम्भ (मार्च) में फ्रांस ने मोरक्को की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया है।

ट्यूनीसिया—ट्यूनीसिया में भी राष्ट्रीयता और उपनिवेशवाद में संघर्ष था। १८८१ ई० से यह भी फ्रांस के ही अधिकार में था। १९४५ ई० के बाद यहाँ भी संघर्ष में तीव्रता आने लगी। फ्रांस राष्ट्रीय भावना को दबाने का प्रयत्न करता रहा। १९५१ ई० में साधारण सभा में यह प्रश्न उठाया गया। फ्रांस ने इसका विरोध किया क्योंकि वह इसे घरेलू प्रश्न समझता था। अतः तीन वर्षों तक ट्यूनीसिया का प्रश्न साधारण सभा के कार्यक्रम में सम्मिलित रहा किन्तु कोई निर्णय नहीं हो सका। संयुक्त राष्ट्र से बाहर ही इस प्रश्न का भी निपटारा हुआ। अप्रैल १९५५ ई० में फ्रांस तथा ट्यूनीसिया में एक समझौता हुआ (पेरिस में) और ट्यूनीसिया को कुछ शर्तों के साथ स्वराज्य मिला।

अल्जेरिया—अल्जेरिया भी फ्रांस के ही अधिकार में था। फ्रांस इसे अपना उपनिवेश मानता था और बहुत से फ्रांसीसी यहाँ बस गये थे। १९वीं सदी के पूर्वार्द्ध में ही फ्रांस ने इस पर अपना अधिकार स्थापित किया था। यहाँ भी द्वितीय महायुद्ध के बाद राष्ट्रीय भावना उत्तेजित हो गयी थी और विद्रोह होने लगे। १९५५ ई० के मध्य तक स्थिति बड़ी ही भयंकर हो गयी। यह प्रश्न भी साधारण सभा में प्रस्तुत हुआ। ३० सितम्बर १९५५ ई० को एक ही मत के बहुमत से इस पर विचार करने के लिये निश्चय हुआ। १ अक्टूबर को फ्रांस ने इसके विरोध में साधारण सभा का ही परित्याग कर दिया। २५ नवम्बर को अल्जेरिया के प्रश्न पर आगे विचार नहीं करने के लिये तय हुआ और तब फ्रांस पुनः सभा की बैठक में भाग लेने लगा। इस बीच फ्रांस अल्जेरिया में मनमाना करता रहा और यह समस्या भी अभी तक कायम है।

दक्षिणी अफ्रीका—दक्षिणी अफ्रीका में बहुत से गैर-यूरोपवासी रहते हैं। उनमें भारतीय भी बहुत हैं। वहाँ की यूनियन सरकार रंग-रूप तथा जाति के आधार पर भेदभाव की नीति बरतती है। इस तरह यूरोपवासियों के समक्ष गैर यूरोपवासियों की स्थिति बहुत ही असन्तोषजनक है। १९४६ ई० में साधारण सभा में भारत ने इस प्रश्न को प्रस्तुत किया। किन्तु दक्षिणी अफ्रीका के लगातार विरोध के कारण संयुक्त राष्ट्र कुछ भी करने में असमर्थ रहा। १९४६ ई० में ही साधारण सभा में एक प्रस्ताव पास हुआ कि दक्षिणी अफ्रीका जातीय भेदभाव की नीति छोड़ दे। १९४९ ई०

मे गोल मेज परिषद् बुलाने का प्रस्ताव हुआ। १६५२ ई० में श्रीमती पंडित ने घोषणा की थी कि जातीय भेद-भाव की नीति अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के मार्ग में बाधक है और इससे मनुष्य के मौलिक अधिकारों की उपेक्षा होती है। इस तरह यह आज्ञा पत्र (चार्टर) के सिद्धान्त के प्रतिकूल है। १६५३ ई० में एक कमीशन नियुक्त हुआ किन्तु वह भी असफल रहा। दक्षिणी अफ्रीका की सरकार ने एक कमीशन को तो अपने क्षेत्र में आने तक की अनुमति नहीं दी। फिर भी कमीशन ने अपना कार्य कर प्रतिवेदन प्रस्तुत कर ही दिया। इस तरह साधारण सभा में जातीय भेद-भाव की नीति के विरुद्ध प्रस्ताव पास होते रहते हैं किन्तु दक्षिणी अफ्रीका पर अब तक इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

ग्वाटेमाला—ग्वाटेमाला दोनों अमेरिका के मध्य एक गण राज्य है। १६५१ ई० में जैकोब अर्बेंज यहाँ के राष्ट्रपति नियुक्त हुआ था। ग्वाटेमाला में साम्यवाद का प्रभाव बढ़ रहा था और अर्बेंज भी इसका समर्थक था। संयुक्त राज्य के लिये यह असह्य था। १६५३ ई० मे १०वे अमेरिकी सम्मेलन में यह प्रस्ताव पास हुआ कि सर्वअमेरिकी संघ ग्वाटेमाला में हस्तक्षेप कर सकता है। संयुक्त राज्य ग्वाटेमाला के विरोधी पड़ोसी राज्यों को सशक्त बनाने लगा। साम्यवादी पोलैंड से ग्वाटेमाला को सैनिक सहायता मिलने लगी। लगभग एक वर्ष के बाद ग्वाटेमाला पर आक्रमण भी हो गया। ग्वाटेमाला ने सुरक्षा परिषद् के सामने इस प्रश्न को प्रस्तुत किया। अमेरिका ने बतलाया कि आज्ञा-पत्र के अनुसार (अनुच्छेद ५२) यह प्रश्न सर्व अमेरिकी संघ के सामने प्रस्तुत होना चाहिये। रूस ने इसका विरोध किया। अन्त में २१ जून १६५४ ई० को परिषद् में यह प्रस्ताव पास हुआ कि ग्वाटेमाला में युद्ध एवं रक्तपात का अन्त होना चाहिये। किन्तु इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। ग्वाटेमाला पर बम गिरता रहा। २६ जून को परिषद् ने कोई भी कार्यवाही करने से मुँह मोड़ लिया। अर्बेंज की सरकार का पतन हो गया और संयुक्त राज्य से प्रभावित नयी सरकार का निर्माण हुआ। इस तरह संयुक्त राज्य ने इस मामले में अपनी दुर्बलता एवं पक्षपात का परिचय दिया।

निरस्त्रीकरण की समस्या

अस्त्र-शस्त्र की वृद्धि से युद्ध को प्रोत्साहन मिलता है। अतः राष्ट्र संघ की भाँति संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना का यह भी एक प्रमुख उद्देश्य था कि यह निरस्त्रीकरण को प्रोत्साहित करेगा। किन्तु इस क्षेत्र में पूर्वगामी राष्ट्र संघ की भाँति संयुक्त राष्ट्र को भी अभी तक कोई सफलता नहीं मिली है। संयुक्त राष्ट्र ने १६४६ ई० में अणुशक्ति कमीशन और १६४७ ई० में लौकिक शस्त्र कमीशन नियुक्त किया। अणुशक्ति कमीशन मे सुरक्षा परिषद् के सभी सदस्य और कनाडा सम्मिलित थे। अमेरिका तथा रूस

के प्रतिनिधियों ने क्रमशः दो योजनाएँ प्रस्तुत कीं—बरुच योजना और ग्रोमिको योजना। अमेरिका का विचार है कि अणुशक्ति पर नियंत्रण के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय कमीशन का निर्माण हो। ग्रेट ब्रिटेन भी अमेरिका का ही समर्थन करता है। ये दोनों राष्ट्र कमीशन में अपनी प्रधानता रखेंगे और अन्य राष्ट्रों की आणविक शक्ति की भी जानकारी कर लेंगे। लेकिन रूस का विचार है कि अणुशक्ति के उत्पादन एवं प्रयोग का ही निषेध कर दिया जाय। अन्य लौकिक शस्त्रों के सम्बन्ध में अमेरिका तथा ब्रिटेन का विचार है कि सभी राष्ट्रों के अस्त्र-शस्त्र का विवरण प्राप्त करने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय कमीशन नियुक्त किया जाय। लेकिन इस सम्बन्ध में रूस का कहना है कि पहले सभी राष्ट्र अपनी सैनिक शक्ति का एक-तिहाई घटाने के लिए सहमत हों। इस तरह दोनों गुटों के नेताओं में गहरा मतभेद था। अतः दोनों कमीशनों को सफलता नहीं मिली और जनवरी १९५२ ई० में वे समाप्त कर दी गईं।

अब एक नयी निरस्त्रीकरण कमीशन की स्थापना हुई। इसके भी वे ही सदस्य थे जो अणुशक्ति कमीशन के सदस्य थे। किन्तु इसे भी कोई सफलता नहीं मिली। साधारण सभा के प्रस्ताव के अनुसार इसकी एक उपसमिति बनायी गयी।। १९५४ ई० में इस उपसमिति की लंदन में दो बार बैठक हुई किन्तु कोई परिणाम नहीं निकला।

१९५५ ई० में भी निरस्त्रीकरण के सम्बन्ध में विचार-विमर्श हुआ। अप्रैल १९५६ ई० में वाशिंगटन में एक सम्मेलन हुआ; परन्तु सभी प्रयत्नों के बावजूद भी इस दिशा में कुछ भी सफलता नहीं मिली। उल्टे महान् राष्ट्रों की सैनिक शक्ति में कुछ वृद्धि ही हुई है। अमेरिका, रूस, ब्रिटेन जैसे महान् राष्ट्र पारमाणविक परीक्षण में विशेष अभिरुचि दिखलाते हैं किन्तु जापान, भारत आदि कई देशों की ओर से इसका घोर विरोध किया जा रहा है। लेकिन अभी तक शान्तिवादी राष्ट्रों के विरोध का कोई प्रभाव नहीं पड़ रहा है।

गैर राजनीतिक क्षेत्रों के कार्य

गैर राजनीतिक क्षेत्रों में संयुक्त राष्ट्र की विशिष्ट संस्थाओं के द्वारा महत्वपूर्ण कार्य हुए हैं और हो रहे हैं। संयुक्त राष्ट्र के तत्वावधान में संसार के अनेक देशों में सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्रों में प्रमुख सुधार हुए हैं। इसका कारण यह है कि युद्ध एवं हिंसा की अनुपस्थिति से ही मानव वास्तव में सुखी एवं शान्त नहीं रह सकता बल्कि इसके लिये सभी क्षेत्रों में उन्नति के पथ पर अग्रसर होना उसके लिये आवश्यक है।

आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् विविध सुधारों के लिए सतत प्रयत्नशील है।

गरीबी, बीमारी तथा अशिक्षा दूर करने के लिये प्रयत्न होते रहे हैं। क्षेत्रीय विकास के लिये क्षेत्रीय कमीशनों की स्थापना होती है। इस तरह अब तक यूरोप, लैटिन अमेरिका तथा एशिया एवं सुदूर पूर्व के लिये कमीशनों की स्थापना हो चुकी है। जिन देशों को आर्थिक विकास के लिये सहायता की आवश्यकता होती है उन्हें यह सहायता प्रदान की जाती है। इस सम्बन्ध में एक टेक्निकल एसिस्टेंस बोर्ड की स्थापना हुई। यूनेस्को की देख-रेख में शिक्षा, विज्ञान एवं संस्कृति के क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग बढ़ रहा है और प्रगति हो रही है। कला, साहित्य एवं दर्शन के क्षेत्रों में भी विचार-विनिमय किया जाता है। संसार की प्रमुख साहित्यिक कृतियों का विभिन्न भाषाओं में अनुवाद कराने की योजना बनी है। विश्व स्वास्थ्य परिषद् के अधीन सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों ही दृष्टियों से महत्वपूर्ण कार्य हो रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के अन्तर्गत श्रम के क्षेत्र में सुधार हुए हैं और मजदूरों का जीवन-स्तर क्रमशः ऊपर उठ रहा है। संचार एवं आवागमन के क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को विशेष प्रोत्साहन मिला है। इन क्षेत्रों में विचार-धाराओं के मतभेद को विशेष महत्व नहीं दिया जाता है।

द्वितीय महायुद्ध के कारण कितने लोग गृह एवं राज्य विहीन हो गये। इन विस्थापितों की समस्या हल करने के लिये एक कमीशन की स्थापना हुई थी। १९५२ ई० से इस कार्य के लिए एक हाई कमिश्नर के पद का निर्माण हुआ। फिलिस्तीन तथा कोरिया के लिये अलग ही कमीशनों की नियुक्ति हुई है। शरणार्थियों के अतिरिक्त माताओं तथा बच्चों के हित के लिये भी योजनाएँ बनायी गई हैं और महत्वपूर्ण सेवा-कार्य हो रहे हैं।

संयुक्त राष्ट्र के तत्वावधान में मनुष्य के मौलिक अधिकारों एवं स्वाधीनता के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण घोषणा-पत्र भी प्रकाशित हुआ है। इसे कार्यान्वित करने के लिये विस्तृत नियम भी बने हैं।

संरक्षण समिति की देख-रेख में पिछड़े देशों का आर्थिक विकास हो रहा है और कई धरोहर देश स्वायत्त शासन की ओर उन्मुख हो रहे हैं।

(ज) संयुक्त राष्ट्र का मूल्यांकन

हम संयुक्त राष्ट्र संगठन के कुछ गुण-दोषों पर पहले भी प्रकाश डाल चुके हैं। अब उसके बारहवर्षीय जीवन का भी अवलोकन किया जा चुका है। इस अवधि में उसकी जो गति-विधि रही है उसे दृष्टि में रखते हुए यहाँ उसके कार्यों का मूल्यांकन किया जायगा।

द्वितीय महायुद्ध का अन्त होते ही रूस तथा अमेरिका में मूँछ की लड़ाई शुरू हो

गई। दोनों की विचारधाराएँ परस्पर विरोधी हैं। रूस साम्यवाद के प्रचार में अभिरुचि रखता है तो अमेरिका को यह फूटी आँखों भी नहीं सुहाता। अतः दोनों में १९४६ ई० से ही शीत युद्ध शुरू हो गया। इसका यह फल हुआ कि दोनों ही संयुक्त राष्ट्र के रंग-मंच का दुरुपयोग करने लगे। सुरक्षा परिषद् के सामने जो प्रश्न आने लगा उसपर ये दोनों निष्पक्ष अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से विचार न कर संकीर्ण राष्ट्रीय दृष्टिकोण से विचार करने लगे। इसके फलस्वरूप परिषद् में शायद ही कोई समस्या सफलतापूर्वक हल हो सकी। उल्टे गुटबन्दी को ही प्रोत्साहन मिलता रहा है।

संयुक्त राष्ट्र सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त पर आधारित है। दूसरे शब्दों में एक राष्ट्र की सुरक्षा अन्य सभी राष्ट्रों का उत्तरदायित्व माना गया है। लेकिन इस सिद्धान्त का कभी निःस्वार्थ भाव से पालन नहीं हुआ। केवल १९५० ई० में इस सिद्धान्त को कार्यान्वित करने का प्रयत्न हुआ किन्तु वह असफल रहा। कोरिया में जब साम्यवादी और गैर साम्यवादी शक्तियों के बीच शक्ति-संतुलन की समस्या उठी तभी अमेरिका ने सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त की दुहाई दी। किन्तु उसे सफलता नहीं मिली। संयुक्त-राष्ट्र के आधे सदस्यों ने भी उसमें भाग नहीं लिया। इसके अतिरिक्त कोरिया में हस्तक्षेप करने के लिये उस समय निर्णय किया गया जब कि रूस ने संयुक्त राष्ट्र में जनवादी चीन को प्रतिनिधित्व नहीं मिलने के कारण बहिष्कार की नीति अपनायी थी। अतः वह निर्णय भी अवैध था। इस तरह कोरिया की घटना से संयुक्त राष्ट्र की प्रतिष्ठा में गहरा धक्का लगा। संयुक्त राष्ट्र एक युद्धरत राष्ट्र के रूप में बदल गया और सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त का खोखलापन स्पष्ट हो गया।

महान् राष्ट्रों ने संयुक्त राष्ट्र के प्रतिज्ञा-पत्र के ५१वें अनुच्छेद का भी दुरुपयोग किया है। ऐसे सैनिक समझौते और संगठन हुए हैं जिनके कारण संयुक्त राष्ट्र की स्थिति में कमजोरी का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। १९४७ ई० में अमेरिका ने सर्व अमेरिकी संघ को पुनर्संगठित किया। इसमें अमेरिकी महादेश के २१ राज्य शामिल हैं। १९४८ ई० में ब्रुसेल्स पैक्ट के द्वारा उत्तरी अटलांटिक संगठन (नाटो) की सृष्टि हुई। इसमें १५ राज्य शामिल हैं। १९५४ ई० में मनीला पैक्ट ने द० पू० एशियायी संगठन (सीटो) का निर्माण किया जिसमें ८ राज्य शामिल हैं। १९५५ ई० में बगदाद पैक्ट ने मध्य पूर्व सुरक्षा संगठन (मीडो) स्थापित किया जिसमें ६ राज्य शामिल हैं। संयुक्त राष्ट्र के रहते इन संगठनों की कोई आवश्यकता नहीं है। इनकी स्थापना से संयुक्त राष्ट्र की प्रभावकारिता में महान् राष्ट्रों का अविश्वास प्रकट होता है। इनसे घोषणा पत्र के नियमों पर भी आघात पहुँचता है। इन उदाहरणों से प्रभावित हो रूस भी अपना गुट सशक्त बनाने में प्रयत्नशील रहा है।

सुरक्षा परिषद् में कुल ११ सदस्य हैं। ६ अस्थायी सदस्य हैं जो बहुमत में हैं। किन्तु यदि ये किसी प्रश्न पर एक मत हों और ५ स्थायी सदस्यों में से एक भी सहमत न हो तो उस प्रश्न पर निर्णय मान्य नहीं होगा। यानी एक अस्थायी सदस्य के बराबर ६ अस्थायी सदस्यों की कीमत नहीं है। यह अनुचित एवं प्रजातान्त्रिक है। सब से मजे की बात तो यह है कि विश्व-शान्ति को सबसे अधिक खतरा तो महान् स्थायी राष्ट्रों से ही है किन्तु यदि उनमें से एक भी आक्रमणकारी हो तो उनके विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की जा सकती।

कई राज्यों के द्वारा संयुक्त राष्ट्र के प्रस्तावों की उपेक्षा होती रही है किन्तु वह उनके विरुद्ध कुछ कर नहीं सका। दक्षिणी अफ्रीका इसका ज्वलंत उदाहरण है। वह अलग ही अलग राग अलाप रहा है। इसने जाति-धर्म-रंग के आधार पर अपनी नीति कायम की है और प्रवासियों के साथ अमानुषिक व्यवहार किया जाता है। यह नीति संयुक्त राष्ट्र के आदर्श के विरुद्ध है और नात्सी सरकार की यहूदी नीति का स्मरण कराती है। मानव-समाज का अधिकांश भाग अफ्रीकी सरकार की साम्प्रदायिक नीति के विरुद्ध है। फिर भी इसने अब तक संयुक्त राष्ट्र के आदेशों की उपेक्षा की है और अभी भी इस सम्बन्ध में इसके अधिकार को चुनौती दे रही है। संयुक्त राष्ट्र हाथ पर हाथ धरे बैठा है, यह कागजी घोड़े की पैंतरेबाजी में संलग्न है। अश्वेत वर्ग में घोर असन्तोष फैल रहा है। जुलाई १९५२ ई० में भारतवासियों ने मलान सरकार के जातीय कानूनों के विरुद्ध सत्याग्रह संग्राम भी छेड़ दिया था।

पराजित राष्ट्रों के साथ भी न्यायपूर्ण व्यवहार नहीं किया गया है। जर्मनी तथा आस्ट्रिया के विभाजन के लिये अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस तथा रूस में इस तरह छीना-झपटी हुई है जैसे भाइयों में बपौती सम्पत्ति के बँटवारे के लिए होती है। इन्होंने इन दोनों देशों का अंग-भंग कर एक-एक टुकड़े पर अपना अधिकार कायम कर ही सतोष प्राप्त किया है। जापान अमेरिकी सेना के कब्जे में रहा है और अमेरिका ने इसके साथ पृथक् सन्धि कर अपना प्रभाव दृढ़ कर लिया। १८७१ ई० में फ्रांस की और १९१९ ई० में जर्मनी की शक्ति छिन्न-भिन्न कर दी गई थी और इन्हें दुर्बल तथा एकांगी रखने का भरपूर प्रयत्न हुआ। क्या, यह प्रयत्न सफल हुआ? यदि नहीं तो ऐसे प्रयत्नों की पुनरावृत्ति क्यों की जाती है। इससे राजनीतिज्ञों के दिमाग का दिवालियापन ही झलकता है।

हम देख चुके हैं कि बड़े ही सुन्दर एवं आकर्षक शब्दों में मानवी अधिकारों की घोषणा की गई है किन्तु सभी महान् राष्ट्रों के द्वारा किसी न किसी रूप में उन अधिकारों की उपेक्षा होती है। महान् साम्राज्यवादी राष्ट्र अपने उपनिवेशों में लोगों के अधिकारों का घोर हनन करते हैं।

संयुक्त राष्ट्र एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था है किन्तु वर्तमान जनवादी चीन को इसमें अब तक उचित स्थान नहीं मिला है। साम्राज्यवाद से अमेरिका को इतनी चिढ़ है कि यह इसके विरुद्ध किसी से मित्रता कर सकता है और कोई भी काम कर सकता है। संयुक्त राष्ट्र में चीन का प्रतिनिधित्व है लेकिन उस चीन का जिसका ८ वर्षों से कोई अस्तित्व ही नहीं। संयुक्त राष्ट्र में च्यांग काई शेक के राष्ट्रवादी चीन का प्रतिनिधित्व है। संसार के सामने अमेरिका ने क्या हास्यास्पद नमूना प्रस्तुत किया है। चीन में जनवादी सरकार है। च्यांग काई शेक की नीति चीन में लागू नहीं हो सकती—वह चीन में रह भी नहीं सकता। उसकी राष्ट्रीय सरकार का चीन में १९४९ ई० में ही अन्त हो गया। संसार के कई प्रमुख देशों ने इस स्थिति को मान्यता भी दे दी है। लेकिन अमेरिका के समर्थन से च्यांग काई शेक की सरकार का ही संयुक्त राष्ट्र में प्रतिनिधित्व है। इससे यह स्पष्ट है कि अमेरिका संयुक्त राष्ट्र को अपने हाथ का कठपुतला बनाकर रखना चाहता है।

हम यह भी देख चुके हैं कि संयुक्त राष्ट्र अब तक निरस्त्रीकरण एवं आणविक नियंत्रण के क्षेत्र में भी असफल रहा है।

(च) संयुक्त राष्ट्र की महत्ता

उपर्युक्त त्रुटियों एवं असफलताओं को देखते हुए संयुक्त राष्ट्र की उपयोगिता एवं इसके उज्ज्वल भविष्य के सम्बन्ध में सन्देह होना स्वाभाविक है। लेकिन इससे यह न समझ लेना चाहिये कि यह संगठन बिल्कुल ही निरर्थक संस्था है। कई कारणों से यह अभी भी उपयोगी एवं महत्वपूर्ण है। पहले तो यह स्मरणीय है कि कोई भी व्यक्ति या संस्था सभी दृष्टियों से पूर्ण नहीं है। दूसरे, हम देख चुके हैं कि कई बातों में संयुक्त राष्ट्र अपने पूर्वगामी राष्ट्र संघ से श्रेष्ठ है। तीसरे, यदि असफलता हुई है तो सफलता भी हुई है। यह ठीक है कि राजनीतिक क्षेत्रों में बहुत कम सफलता मिली है किन्तु गैर राजनीतिक क्षेत्रों में तो बहुत सफलता मिल रही है। राजनीतिक क्षेत्र में भी उच्चादर्श तो सामने रखा गया है। युद्ध रोकने, निरस्त्रीकरण करने और आणविक नियंत्रण के सम्बन्ध में मानव सोचने और प्रयत्न तो करने लगा है। यही कम नहीं है—आज नहीं तो कल लक्ष्य की पूर्ति होगी ही। लम्बी यात्रा भी पहले एक ही छोटे कदम से शुरू होती है। चौथे, संयुक्त राष्ट्र के होने से एक ऐसा सामान्य रंगमंच प्राप्त है जहाँ पूर्व और पश्चिम के छोटे और बड़े सभी राष्ट्र एकत्र होते हैं और सामान्य विषयों पर विचार-विमर्श करते हैं। इससे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को प्रोत्साहन मिलता है और अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण का विकास होता है। इससे गुप्त कूटनीति का अन्त सा हो गया है। यह सम्भव है कि संयुक्त राष्ट्र के अभाव में अब तक तीसरा महायुद्ध प्रारम्भ

कम न हो गया होता। पाँचवें, संयुक्त राष्ट्र के मंच पर किसी प्रश्न के सम्बन्ध में जो विवाद एवं निर्णय होते हैं उनसे उस प्रश्न के सम्बन्ध में सार्वभौम लोकमत का निर्माण है और लोकमत किसी भी सैन्यशक्ति से अधिक शक्तिशाली होता है। छठवें, संयुक्त राष्ट्र की असफलता का प्रधान कारण है महान् राष्ट्रों का परस्पर द्वेष। इसके लिये महान् राष्ट्र दोषी हैं, संयुक्त राष्ट्र संगठन नहीं। सातवें, सभ्यता एवं संस्कृति की रक्षा के लिये मानव की संगठित आशा का यही एक केन्द्र है। वर्तमान परिस्थिति में इसकी नितान्त आवश्यकता है। यदि संसार में साम्यवादी एवं गैर साम्यवादी दो विरोधी गुट कायम हैं तो दोनों गुटों के महान् नेता संयुक्त राष्ट्र की कार्यशालिका में एक टेबुल पर आमने-सामने बैठ कर विचार-विमर्श तो करते हैं और इससे तनाव में अवश्य ही कमी आती है। आठवें, संसार में अमेरिका एवं रूस दो ही सर्व शक्तिशाली देश हैं किन्तु महापुरुष तो केवल इन्हीं दोनों देशों में पैदा नहीं होते। वे अन्य देशों में भी पैदा होते हैं जो शान्ति के प्रसार में महत्वपूर्ण सहयोग देते हैं। संयुक्त राष्ट्र के कारण ऐसे अनेक महापुरुष हैं जिन्हें उसके मंच से मानव-समाज की सेवा करने का सुअवसर प्राप्त होता है और संसार को उनकी जानकारी प्राप्त होती है।

(छ) संयुक्त राष्ट्र का भविष्य

संयुक्त राष्ट्र का भविष्य सुरक्षित है। परन्तु कुछ सुधार आवश्यक हैं। सबसे बड़ी आवश्यकता है अमेरिका की नीति में परिवर्तन। यदि यह परिवर्तन नहीं होगा तो संयुक्त राष्ट्र साम्यवाद विरोधी सगठन के रूप में बदल जायगा और इसका अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप लुप्त हो जायगा। ऐसी दशा में संयुक्त राष्ट्र का वही भाग्य हो सकता है जो इसके पूर्वज राष्ट्रसंघ का हुआ। अतः अमेरिका को इसे अपनी राष्ट्रीय नीति के प्रचार का साधन नहीं बनाना चाहिये। दूसरे, संयुक्त राष्ट्र में जनवादी चीन को यथाशीघ्र स्थान मिल जाना चाहिये। तीसरे, प्रत्येक महान् राष्ट्र को अपनी राष्ट्रीय नीति में भारतीय पंचशील को उचित स्थान देना चाहिये। चौथे, सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्यों में सच्चे दिल से सहयोग एवं सहिष्णुता का भाव बढ़ना चाहिये। पाँचवें, निरस्त्रीकरण की दशा में प्रगति होनी चाहिये और अणु तथा परमाणु बम अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण में रहना चाहिये।

अध्याय २५

अन्तर्राष्ट्रीयता का विकास—राष्ट्रमंडल

भूमिका

विश्व की राजनीति में राष्ट्रमंडल का भी एक महत्वपूर्ण स्थान है। विश्व में एकता और शान्ति-स्थापना के मार्ग में यह भी एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था है जिसका निर्माण बड़ा ही चमत्कारपूर्ण है। राष्ट्र संघ तथा संयुक्त राष्ट्र संगठन की तरह राष्ट्रमंडल का निर्माण किसी निश्चित तिथि को किसी सम्मेलन में बैठकर नहीं किया गया। यह न तो किसी महायुद्ध के बाद पैदा हुआ और न महायुद्ध के वातावरण में ही। यह प्रधानतः परिस्थितियों का उत्पादन है और इसका श्रेय ब्रिटिश जाति को है। अंग्रेज वैधानिक होते हैं और वे सुधार तथा विकास में विश्वास करते हैं। यूरोप के अन्य देशों के लोगों के जैसा वे खूनी क्रान्ति का समर्थन नहीं करते। उनका यह जातीय गुण भी राष्ट्रमंडल के निर्माण में सहायक सिद्ध हुआ।

व्यवस्था

राष्ट्रमंडल का कोई लिखित संविधान नहीं है। यह स्वतन्त्र राष्ट्रों का एक संगठन है। सामूहिक रूप से वे एक इकाई हैं, पृथक् रूप से सत्तापूर्ण राष्ट्र हैं। राष्ट्रमंडल का सदस्य रहना या न रहना किसी की इच्छा पर निर्भर करता है। फिर भी राष्ट्रमंडल एक सुसंगठित संस्था है। यह भावना परम्परा और स्वार्थ के स्तम्भों पर टिकी हुई है। इसका नाममात्र का प्रधान ग्रेट ब्रिटेन का सम्राट है। वह एक मूर्ति-स्वरूप है, वस्तुतः राष्ट्रमंडल में उसका कोई अधिकार नहीं है। सदस्य राष्ट्र जब भी चाहे, उसे अपना प्रधान मानने से अस्वीकार कर सकता है। समय-समय पर राष्ट्रमंडल के सदस्यों का सम्मेलन होता है जिसमें सदस्य राष्ट्र के प्रधान मन्त्री या उनके प्रतिनिधि भाग लेते हैं।

विकास

राष्ट्रमंडल का मूल ब्रिटिश-साम्राज्य में है। हम पहले ही प्रथम ब्रिटिश साम्राज्य के विनाश और द्वितीय ब्रिटिश साम्राज्य के संगठन की कहानी पढ़ चुके हैं।* १९वीं शताब्दी में द्वितीय ब्रिटिश साम्राज्य का संगठन हुआ। कैनेडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड और दक्षिणी अफ्रीका इस साम्राज्य के मुख्य अंग थे। अंगरेजों ने प्रथम साम्राज्य के विनाश से शिक्षा ग्रहण की। प्रथम साम्राज्य जिसका केन्द्र अमेरिका में था, शोषण

---

* अध्याय ६

तथा दमन की नीति पर आधारित था। अतः वह ग्रेट ब्रिटेन के विरुद्ध विद्रोह कर अलग हो गया। अब ब्रिटिश सरकार ने उपर्युक्त उपनिवेशों के साथ उदारवादिता की नीति अपनायी। उन्हें १६१४ ई० तक स्वराज्य प्रदान कर दिया गया। प्रथम महायुद्ध के बाद वे वैदेशिक क्षेत्र में भी स्वतन्त्र नीति का अनुसरण करने लगे और इगलैंड की ओर से इसे प्रोत्साहित ही किया गया। ये डोमीनियन के नाम से प्रसिद्ध हुए। १६२१ ई० में आयरिश फ्री स्टेट नामक एक और डोमीनियन का निर्माण हुआ। १६२६ ई० की साम्राज्य महासभा ने इनके पद की व्याख्या की और इन्हें स्वतन्त्र घोषित किया। ये ब्रिटिश कॉमनवेल्थ के सदस्य कहे गए जो इगलैंड के समान अपने घरेलू या वैदेशिक मामलों में स्वतन्त्र हैं और इंगलैंड के राजा के प्रति भक्ति रखते हैं। १६३१ ई० में ब्रिटिश पार्लियामेंट ने भी एक कानून* बनाकर इस घोषणा को वैध करार दिया।

१६३१ के बाद आयरलैंड में महान् परिवर्तन हुए। दूसरे ही साल आयरिश फ्री स्टेट में डी वेलेरा के जनतन्त्री दल की विजय हुई। उसने एक-एक करके ग्रेट-ब्रिटेन से सम्बन्ध विच्छेद कर डाला। १६३७ ई० में वहाँ एक नया विधान बना और फ्री स्टेट का नाम आयर प्रभुता-सम्पन्न, स्वतन्त्र और प्रजातन्त्र राज्य घोषित हुआ। अब वहाँ प्रेसिडेंट की ही आज्ञा सर्वोपरि थी। द्वितीय महायुद्ध के समय (१६३६-४५ ई०) आयर तटस्थ रहा। इतने पर भी वैदेशिक क्षेत्र में वह आगे भी ब्रिटिश राष्ट्र-मण्डल का सदस्य समझा जाता रहा।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् १६४७ ई० में भारत और लंका स्वतन्त्र हुए। भारत से मुस्लिम बहुसंख्यक वाले भागों को पृथक् कर पाकिस्तान नाम के स्वतन्त्र राज्य का निर्माण हुआ। बर्मा को भी स्वाधीनता मिली और वह राष्ट्रसंघ से भी शीघ्र ही अलग हो गया। महायुद्ध के बाद ग्रेट ब्रिटेन की स्थिति में दुर्बलता आ गई थी और वह एशिया के तीन स्वतन्त्र राज्यों—भारत, पाकिस्तान और लंका के सहयोग के लिए उत्सुक था। ये राज्य भी उसके साथ अपना सम्बन्ध बिलकुल तोड़ देना नहीं चाहते थे। अतः अक्तूबर १६४८ ई० में लंदन में जब ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के प्रधान मन्त्रियों का सम्मेलन हुआ तो उसमें एक महत्त्वपूर्ण निर्णय हुआ। ब्रिटिश राष्ट्रमंडल से ब्रिटिश शब्द निकाल दिया गया और अब यह केवल राष्ट्रमंडल कहलाने लगा। नाम के साथ इसका रूप भी बदल गया। भारत, पाकिस्तान और लंका इस राष्ट्रमंडल के सदस्य बने।

१६४६ ई० में वैदेशिक क्षेत्र में भी आयर ने सम्राट के अधिकार को अस्वीकार

* स्टेच्यूट ऑफ वेस्टमिन्स्टर

कर दिया। अब वह एक सार्वभौम सत्तायुक्त राष्ट्र बन गया और राष्ट्रमण्डल का सदस्य नहीं रहा। इसने एक नई व्यवस्था उत्पन्न कर दी। आयर ने राष्ट्रमण्डल को सहयोग देना अस्वीकार किया और यह निश्चय हुआ कि आयर तथा ब्रिटेन एक दूसरे के नागरिकों को अपना नागरिक समझते रहेंगे।

१९५० ई० में भारत ने अपने को पूर्ण सत्तात्मक जनतन्त्र घोषित किया, फिर भी वह राष्ट्रमण्डल का सदस्य बना रहा। इस प्रकार परिस्थिति के अनुसार ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल बना और वह ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल से राष्ट्रमंडल में परिवर्तित हुआ। यह इसकी उदार और सहज परिवर्तनशीलता का द्योतक है।

१९५० और १९५६ के बीच अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कई महत्त्वपूर्ण घटनाएँ घटीं। इनमें मिश्र के राष्ट्रपति नासिर द्वारा स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण विशेष उल्लेखनीय है। ग्रेट ब्रिटेन ने नासिर की नीति का घोर विरोध किया। किन्तु भारत ने उसका समर्थन किया। भारत की स्वतन्त्र वैदेशिक नीति भी कुछ महान् शक्तियों को अच्छी नहीं जँचती है। अतः पाकिस्तान के प्रयास से जब सुरक्षा परिषद् में १९५७ ई० के प्रारम्भ में काश्मीर का प्रश्न उठा तो ग्रेट ब्रिटेन ने भारतविरोधी नीति का ही समर्थन किया। अतः भारत में इसकी प्रतिक्रिया हुई और कुछ लोग राष्ट्रमंडल की सदस्यता का विरोध करने लगे। लेकिन प्रधान मन्त्री श्री नेहरू इससे प्रभावित नहीं हुए और भारत अभी भी राष्ट्रमंडल का सदस्य है।

मार्च १९५७ ई० में गोल्डकोस्ट घाना* के नाम से स्वतन्त्र राज्य बना और इसने भी राष्ट्रमंडल की सदस्यता स्वीकार की है।

राष्ट्रमंडल की महत्ता

राष्ट्रमण्डल, जैसा ऊपर हम कह चुके हैं, स्वतन्त्र राष्ट्रों का समूह है। इसके सभी सदस्य राष्ट्र एक-दूसरे के बराबर हैं। वे सुधार, विकास, प्रजातन्त्र, स्वतन्त्रता तथा समानता के सिद्धान्तों में विश्वास करते हैं। वे एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। किसी पर किसी का कोई दबाव नहीं है। फिर भी सभी एक दूसरे के साथ सहयोग और सम्पर्क बनाये रखते हैं। इस तरह राष्ट्रमंडल एक विशाल परिवार की तरह है जो सहकारिता की भावना पर आधारित है। इसके सदस्य एकता के दृढ़ सूत्र में आबद्ध हैं। युद्ध जैसे संकटकाल में इसकी परीक्षा भी हो चुकी है। ग्रेट ब्रिटेन इसका सर्वशक्तिशाली सदस्य है फिर भी इसने युद्ध में शामिल होने के लिए किसी सदस्य राष्ट्र पर दबाव नहीं डाला और सभी सदस्य राष्ट्रों ने उसे स्वेच्छा से दोनों महायुद्धों में सक्रिय सहयोग भी प्रदान किया। आयर (आयरलैंड) द्वितीय महायुद्ध के समय तटस्थ ही रहा फिर भी ग्रेट

* अध्याय २१ देखिये।

ब्रिटेन ने उसे सहयोग देने के लिए बाध्य भी नहीं किया। राष्ट्रमंडल के सदस्यों में कभी युद्ध भी नहीं हुआ और न आगे होने की सम्भावना है। इसकी सदस्यता भी व्यापक है। प्रायः सभी महादेशों का इसमें प्रतिनिधित्व है और पूरब तथा पश्चिम दोनों दिशाओं के राष्ट्र इसमें सम्मिलित हैं। इस तरह यह पूर्व और पश्चिम को मिलाने वाली एक कड़ी है। राष्ट्रसंघ तथा संयुक्त राष्ट्र संगठन की अपेक्षा विश्व के अधिकाश भाग में एकता तथा शान्ति बनाये रखने में राष्ट्रमंडल अधिक समर्थ तथा सफल है।

राष्ट्रमंडल की सबसे बड़ी त्रुटि यही है कि यह ब्रिटिश साम्राज्य के पेट से उत्पन्न हुआ है। ग्रेट ब्रिटेन इसका बड़ा सदस्य है और इसने अभी साम्राज्यवाद को तिलांजलि नहीं दी है। उसके अधीन अभी कई आश्रित राज्य हैं। अतः राष्ट्रमंडल का वातावरण उसकी साम्राज्यवादी प्रवृत्ति से दूषित है। यदि वह साम्राज्यवाद का परित्याग कर दे तो राष्ट्रमंडल विश्व में एक बहुत ही उपयोगी संस्था बन जाय और यह विश्व-राज्य के निर्माण में सहायक सिद्ध हो सकेगा।

समय-समय पर राष्ट्रमंडल के सदस्यों का सम्मेलन होता है। इसमें सदस्य राज्यों के प्रधान मन्त्री भाग लेते हैं। यह सम्मेलन प्रायः लंदन में हुआ करता है। राष्ट्रमंडल सम्बन्धी सामान्य विषयों पर विचारविमर्श होता है। अन्तर्राष्ट्रीय महत्व के अन्य विषयों के सम्बन्ध में भी विचारविनिमय होता है।

राजनीतिक सम्मेलन के अतिरिक्त अन्य प्रकार के भी राष्ट्रमंडलीय सम्मेलन होते हैं। १९५७ ई० में २६ अप्रैल से २ मई तक राष्ट्रमंडलीय समुद्री सम्मेलन का लंदन में आयोजन किया गया था। द्वितीय महायुद्ध के बाद यह सबसे बड़ा समुद्री सम्मेलन था।

अध्याय २६

अन्तर्राष्ट्रीयता का विकास—समाजवाद एवं सर्वोदयवाद

भूमिका

विश्व-एकता और शान्ति के लिए आधुनिक युग में दो विचार-धाराएँ बहुत ही प्रचलित हैं। ये विचार-धाराएँ हैं—समाजवाद और सर्वोदयवाद। इनमें एक का प्रयोगस्थल रूस है और दूसरे का भारत। एक के प्रवर्त्तक हैं कार्ल मार्क्स और दूसरे के महात्मा गांधी। इनमें समाजवाद के विकास पर तो हम पहले ही दृष्टिपात कर चुके हैं।* अतः यहाँ सर्वोदय के ही विकास पर प्रकाश डाला जायगा।

सर्वोदयवाद की उत्पत्ति

सर्वोदयवाद गांधीवाद का प्रतीक है। इसके प्रवर्त्तक विश्व-वंद्य महात्मा गांधी (१८६९-१९४८ ई०) हैं। ये वर्त्तमान युग के सबसे महान व्यक्ति रहे हैं। ये मौलिक विचारक, राजनीतिक नेता, नैतिक योद्धा, वैज्ञानिक धर्मसुधारक, आदर्श समाजसेवी, कुशल लेखक, सफल वक्ता और बेजोड़ जननायक थे। संसार के इतिहास में ऐसा कोई पुरुष नहीं हुआ है जो मानव-समुदाय का इतना प्रियपात्र रहा हो और समाज के विभिन्न अंगों को इतना प्रभावित किया हो। गांधी जी विश्व के नागरिक थे। वे सत्य और अहिंसा के पुजारी थे। इसी के लिये वे जिये, इसी के लिए वे मरे। उनका सम्पूर्ण जीवन ही इन्हीं सिद्धान्तों का प्रयोगस्थल था। इनके सिद्धान्त और व्यवहार में कोई अन्तर नहीं था। उनके मुख की वाणी उनके हृदय की वाणी थी। उनमें ईर्ष्या-द्वेष की भावना का सर्वथा अभाव था, वे सच्चे अर्थ में अजातशत्रु थे।

गांधी के प्रारम्भिक जीवन पर दो विदेशियों का बड़ा प्रभाव पड़ा। वे रूस के महात्मा टॉलस्टाय और इंगलैंड के दार्शनिक जॉन रस्किन हैं। ये दोनों ही उच्चकोटि के साहित्यकार भी थे। महात्मा गांधी ने इनके लेखों का अध्ययन और मनन किया। 'अनटू दी लास्ट' रस्किन की एक सर्वोत्तम पुस्तक है। गांधी जी इससे बड़े ही प्रभावित हुए। उन्होंने सुकरात तथा रस्किन के विचारों में बहुत कुछ साम्य पाया। दूसरे लोगों को भी लाभ पहुँचाने के हेतु उन्होंने रस्किन की पुस्तक का अन्य भाषाओं में अनुवाद करा दिया। अनुवाद कराने का प्रधान उद्देश्य यही था कि पुस्तक पढ़कर सभी लाभ

* देखिये अध्याय ४

उठावें—सबका उदय हो, सबकी भलाई हो। अतः अनुवादित पुस्तक का नाम गाधीजी ने 'सर्वोदय' रखा। गांधीजी के जीवन का भी प्रधान लक्ष्य था—सब की सेवा करना—मानव मात्र की भलाई करना। उनकी दृष्टि में मानव-समाज ही उनका परिवार था। *इतना ही नहीं, सभी चेतन पदार्थों की रक्षा करना उनका ध्येय था। वे सभी* पशु-पक्षियों, जीव-जन्तुओं तक के साथ सहानुभूति रखते थे। अतः अपनी विशेषता के कारण अन्य वादों की तरह उनकी भी विचारधारा गाधीवाद के नाम से प्रचलित हो चली। किन्तु गाधीजी को यह नाम प्रिय नहीं था और वे अपने सर्वव्यापक सिद्धान्त के *लिए 'सर्वोदय' नाम अधिक पसन्द करते थे। ३० जनवरी,* १९४८ ई० को वे शहीद हो गए। उसके बाद उनके अनुयायीगण उनके सिद्धान्तों के लिए सर्वोदय शब्द का ही अधिक प्रयोग करने लगे। उनकी विचारधारा को ठीक-ठीक व्यक्त करने के लिए यही शब्द सर्वाधिक उचित और मान्य समझा गया। उसी साल इन्दौर में एक सर्वोदय सम्मेलन हुआ और वहीं उसी सम्मेलन में सर्वोदय समाज की स्थापना घोषित की गई। लेकिन सर्वोदय समाज कोई सगठित सस्था जैसा नहीं है बल्कि यह एक बिरादरी है जिसमें सभी लोग प्रेममात्र से मिलने और विचार-विनिमय करते हैं। सर्व-सेवा संघ सस्थात्मक रूप है।

सर्वोदयवाद के सिद्धान्त

एक राजनीतिक विचारधारा की दृष्टि से इसकी विस्तृत छानबीन करना हमारा उद्देश्य नहीं, बल्कि हम इसके प्रमुख तत्वों पर ही प्रकाश डाल कर सन्तोष करेंगे। *अब तक राजनीति शास्त्रों में हम कई वाद सुन चुके हैं जैसे* प्रजातन्त्रवाद, उपयोगितावाद, आदर्शवाद, व्यक्तिवाद, पूँजीवाद, साम्राज्यवाद, समाजवाद, अराजकतावाद, अधिनायकवाद आदि। इन वादों में कुछ तो अच्छे हैं किन्तु कुछ तो बहुत ही बुरे हैं। जिनमें कुछ अच्छाई भी है वे भी मानव मात्र के कल्याण की व्यवस्था नहीं करते और उन वादों में भी कुछ लोग दुखी अवश्य रह जाते हैं। प्रजातन्त्रवाद में, जो एक बहुत ही प्रचलित वाद है, बहुमत का ही बोलबाला है और अल्पमत वालों को इनके सामने सिर झुकाये ही रखना पड़ता है। उपयोगितावाद में, जो पश्चिम की एक प्रगतिशील विचारधारा है, अधिक से अधिक लोगों की भलाई की बात कही जाती है, सभी लोगों की नहीं। सर्वोदयवाद इन सभी वादों से परे और अपने समय से बहुत आगे है। इसका अर्थ ही है सभी का उदय—सर्वलोक-कल्याण—प्राणिमात्र का हित। इसका सम्बन्ध सारी सृष्टि है जिसमें सभी मनुष्य, पशु-पक्षी आदि सब का पूर्ण विकास हो। जहाँ तक मानव का सम्बन्ध है, इसमें प्रत्येक व्यक्ति का अधिक से अधिक कल्याण निहित है। यही इसका लक्ष्य है और प्राप्ति के साधन हैं सत्य और अहिंसा। इस

तरह इसके साध्य तथा साधन दोनों ही उत्तम हैं। यह प्रेम तथा विवेक से परिपूर्ण है। सत्य तथा अहिंसा—इन दोनों शब्दों का अर्थ बड़ा ही व्यापक है। सत्य या सत्याग्रह का अर्थ है आत्मा की पुकार को निर्भय होकर सुनना और अभिव्यक्ति करना। यह दुभाषिया नहीं है। हृदय और मुख दोनों की वाणी एक है, सिद्धान्त और व्यवहार में कोई अन्तर नहीं है। यों तो अहिंसा का अर्थ है, हिंसा नहीं करना, किन्तु यह केवल नकारात्मक ही नहीं है; यह सकारात्मक भी है। यह बाह्य आचरण का केवल स्थूल नियम ही नहीं है, बल्कि एक स्थायी मनोवृत्ति एव भावना है। यह केवल बुराई के बदले बुराई करना ही नहीं सिखलाती, बल्कि बुराई के बदले भलाई करना भी सिखलाती है। अतः यह वीरों का अस्त्र है, दुर्बलों का नहीं। सत्याग्रही स्वय तकलीफ झेलता है, किन्तु दूसरे को तकलीफ नहीं देता। वह स्वयं मर सकता है, दूसरे को मार नहीं सकता। वह सफल सेवक बनने के लिए सतत् सचेष्ट रहता है, स्वामी बनने के लिए नहीं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इसमें स्वार्थ, शोषण तथा संघर्ष का अभाव है। इसका अनुयायी अपने हित के साथ अपने पड़ोसी के हित का भी ख्याल रखता है। अहिंसा का प्रयोग जीवन के सभी क्षेत्रों में हो सकता है। आर्थिक क्षेत्र में अहिंसा का अर्थ है *औद्योगिक विकेन्द्रीकरण*, *राजनीतिक क्षेत्र में पंचायती विकेन्द्रित राज्य*, सामाजिक क्षेत्र में समानता एव भेदभाव का उन्मूलन और शिक्षा के क्षेत्र में शारीरिक और बौद्धिक एवं आत्मिक सन्तुलन।

मार्क्सवाद वर्ग-संघर्ष को स्वीकार करता है तो सर्वोदयवाद वर्ग-सामञ्जस्य को। यह समाज में हित विरोध की कल्पना नहीं करता। अतः यह इसके किसी अंग को नष्ट करना नहीं चाहता बल्कि इसके विभिन्न अंगों में सहयोग और समन्वय बनाये रखना चाहता है। दूसरे, मार्क्सवाद हिंसा पर आधारित है किन्तु सर्वोदयवाद में हिंसा के लिये कोई स्थान ही नहीं है, दोनों में वैसा ही सम्बन्ध है जैसा प्रकाश और अन्धकार में। यह विचार-विरोध को दबाने के बदले प्रोत्साहित करता है। यह बाह्य की अपेक्षा आन्तरिक शुद्धि पर विशेष जोर देता है। यह आत्मिक विकास, हृदय-परिवर्तन चाहता है। यह कीचड़ के लिए कीचड़ नहीं फेंकता बल्कि कीचड़ को स्वच्छ जल से धोकर विरोधियों को लज्जित कर देता है। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति के तीनों सिद्धान्त—स्वतन्त्रता, समानता एवं भ्रातृत्व—सर्वोदयवाद में निहित हैं। *भ्रातृत्व तो सर्वोदयवाद का सर्वप्रमुख अंग है। इसे विश्व-बन्धुत्व*, सार्वभौम प्रेम, वसुधैव कुटुम्बकम् का पर्यायवाची शब्द कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं। सर्वोदय समाज का द्वार किसी के लिए किसी समय खुला है, यदि उसे इसके *सिद्धान्तों में अटूट विश्वास हो।*

फ्रांसीसी क्रान्ति ने स्वतन्त्रता के सिद्धान्त और रूसी क्रान्ति ने समानता के सिद्धान्त को हिंसात्मक साधनों के द्वारा आगे बढ़ाया है परन्तु भारतीय क्रान्ति ने अहिंसात्मक साधनों के द्वारा तीनों ही सिद्धान्तों को आगे बढ़ाया है। यही महात्मा गांधी और भारत की विश्व को अमूल्य देन है।

सर्वोदयवाद की महत्ता

उपर्युक्त सिद्धान्तों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सर्वोदयवाद केवल एक राजनीतिक विचारधारा ही नहीं है बल्कि यह एक जीवन-मार्ग है। भारत के सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ गीता की तरह यह सिखलाता है कि मनुष्य को किस प्रकार संसार में रहना चाहिए ताकि वह सुख और शान्तिपूर्वक अपना जीवन व्यतीत कर सके। यह प्रचार की चीज उतनी नहीं है जितनी अभ्यास की। यह हृदय में धारण करने की चीज है, मस्तिष्क में नहीं। यह सतोगुणी वृत्ति है, रजोगुणी या तमोगुणी नहीं।

आज की स्थिति कितनी भीषण और भयंकर है! संसार अस्त-व्यस्त है, समाज में उथल-पुथल है। विज्ञान के सारे साधनों के बावजूद भी मनुष्य को सुख-शान्ति की प्राप्ति नहीं है। लूट-पाट, छीना-झपटी, खून-खतरा, भय-शंका, शक्ति और सत्ता, पाप और पाखण्ड, प्रमाद और पीड़ा—इन्हीं का साम्राज्य है। हिंसा का नग्न नृत्य हो रहा है, मनुष्य मनुष्य का खून बहाता है और दानवता ने मानव-समाज पर कब्जा कर लिया है। बड़ी-बड़ी शान्ति-योजनाएँ बनती हैं, लम्बी-लम्बी घोषणाएँ की जाती हैं, महती सभाएँ होती हैं और बहुत ही सुन्दर चित्ताकर्षक भाषण होते हैं। फिर भी शान्ति का कहीं पता नहीं है। उद्भ्रान्त मानव शान्ति के लिए भूखा है, प्यासा है और भटक रहा है। दुनिया लड़खड़ा रही है। एक कवि ने ठीक ही लिखा है—

> अर्चा सकल बुद्धि ने पायी,
> हृदय मनुज का भूखा है,
> बढ़ी सभ्यता बहुत, किन्तु
> अन्तःसर अब तक सूखा है।

परन्तु यह विश्व—यह मानव अपने अंतिम लक्ष्य की ओर धीरे-धीरे बढ़ रहा है यद्यपि मंजिल अभी काफी दूर है। सर्वोदयवाद ही मानव-समाज का अन्तिम लक्ष्य है। सारी बुराइयों की यही एकमात्र रामबाण औषधि है। यही मानव-हृदय की भूख को मिटा सकता है और अन्तःसर में शीतलता ला सकता है।

सर्वोदयवाद की सम्भावना

कुछ लोग सर्वोदयवाद को आदर्श मात्र ही समझते हैं और उनके विचार से यह

व्यावहारिक राजनीति के उपयुक्त नहीं। ऐसा सोचना निराधार और भ्रम है। पहले तो यह तर्क ही लगता है कि जो बात अभी तक सफल नहीं हुई वह कभी भी सफल नहीं होगी। मध्ययुग में जिसने पृथ्वी को गोल और सूर्य की परिक्रमा करने वाली बतलाया उसे इसके लिए प्राणदण्ड दे दिया गया। किन्तु आधुनिक युग में यह सर्व-मान्य सिद्धान्त है। काल्विन जैसे प्रगतिशील सुधारक ने अपने समय के महान् वैज्ञानिक सर्विटस को जीते जी अग्नि में झोंकवा दिया था, किन्तु वर्तमान युग विज्ञान का ही युग है और सत्य की खोज के लिए कोई भी सजा का भागी नहीं बनता। उसी प्रकार जिसने सर्वप्रथम आकाश में वायुयान उड़ाने का प्रयत्न किया वह लोगों की हँसी का पात्र बना, परन्तु अब तो वायुयानों की आवाज से सारा दिन आकाश गूँजता रहता है। इस तरह के कई उदाहरण गिनाये जा सकते हैं। अतः सर्वोदयवाद की सफलता में भी सन्देह नहीं किया जा सकता। दूसरे, सभी विचारों का पहले मस्तिष्क में ही प्रादुर्भाव होता है और वे आदर्शतुल्य ही रहते हैं, धीरे-धीरे समय की गति के साथ वे कार्य-क्षेत्र में उतरते हैं। तीसरे, अतीत और वर्तमान दोनों ही युगों में सफल सत्याग्रह के भी कई उदाहरण मौजूद हैं। डैनियल, सुकरात, प्रह्लाद और मीराबाई सच्चे सत्याग्रही थे। पहले तथा दूसरे ने अपने शासकों के विरुद्ध और तीसरे तथा चौथे ने क्रमशः अपने पिता और पति के विरुद्ध सत्याग्रह किया था। अशोक ने सत्य और अहिंसा का अपने शासनकाल में प्रयोग किया। आधुनिक युग में महात्मा गांधी सत्याग्रह के महान् प्रवर्तक रहे हैं और उनके प्रयास से सत्य तथा अहिंसा समाजशास्त्र के अंग बन गए हैं। उन्होंने इन सिद्धान्तों का बड़े पैमाने पर सभी क्षेत्रों में प्रयोग किया और पर्याप्त सफलता प्राप्त की। उन्होंने सर्वप्रथम दक्षिणी अफ्रीका में इसका व्यवहार किया, उसके बाद भारत में। उन्होंने इंगलैण्ड जैसे साम्राज्यवादी देश से शान्तिपूर्ण ढंग से स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली और भारत के साथ उसकी मित्रता भी बनी रही है। दुनिया के इतिहास में यह अद्वितीय क्रान्ति है। चौथे, लोग हिंसा और प्रचार के युग में रहते-रहते इनके इतने आदी हो गए हैं कि सत्य एवं अहिंसा की बात वे सोच ही नहीं सकते। परन्तु उन्हें जानना चाहिए कि हिंसा अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी है और अब इसकी अधोगति निश्चित है। एटलांटिक चार्टर की घोषणा में एक बात यह भी कही गई है कि "विश्व के सभी राष्ट्रों को भौतिक तथा आध्यात्मिक कारणों से पशुबल का प्रयोग त्यागना होगा।" हम ऊपर कह चुके हैं कि मानव-समाज उसी ओर भटकते हुए पहुँचने के लिए बाध्य है। एक समय था जब कि धर्म के नाम पर युद्ध तथा नर-मेध यज्ञ होते थे और सहिष्णुता का नाम लेना गुनाह और हास्यास्पद समझा जाता था। यूरोप के इतिहास में १६वीं और १७वीं सदी में ये सभी बातें होती थीं, किन्तु ३० वर्षीय युद्ध में धार्मिक असहिष्णुता अपनी चरम सीमा

पर पहुँच गई। नरमुंडों का ढेर लग गया। तत्पश्चात् सहिष्णुता की नीति स्वीकार की गई। उसके बाद राष्ट्रीयता के नाम पर युद्ध और खून-खराबियाँ होने लगी। ये भी अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुकी हैं और २०वीं शताब्दी में राष्ट्रीयता और हिंसा का महत्त्व घटता जाता है और *अन्तर्राष्ट्रीयता तथा अहिंसा की महत्ता बढ़ती जाती है।* जब अन्तर्राष्ट्रीयता का पूर्ण विकास हो जायगा तब सर्वोदयवाद और विश्वराज्य के लिए वातावरण तैयार होगा। इस प्रकार इतिहास की गति सर्वोदयवाद की ओर है। पाँचवें, यदि कोई मनुष्य दिन में अपनी आँख मूँद ले और कहे कि यह रात है तो यह उसकी कमजोरी है, इसमें सूर्य का कोई दोष नहीं। इसी प्रकार जब तक मनुष्य में त्रुटियाँ हैं, रोग हैं तब तक उनका दोष है, सर्वोदयवाद का कोई दोष नहीं। यदि उन्हें अपनी त्रुटियों और रोगों से मुक्त होना है तो उन्हें सर्वोदयवाद की औषधि का सेवन करना *पड़ेगा। बिना इसके सेवन किये मानव-समुदाय के पूर्ण स्वास्थ्य की आशा करना* मरीचिका है। इसका समुचित सेवन कर मानव-समाज जब पूर्ण स्वस्थता को प्राप्त हो जायगा तभी विश्व में चिरशान्ति स्थापित हो सकेगी। स्वस्थ नया मानव ही नयी दुनिया का सृजन कर सकता है।

अध्याय २७

उपसंहार—अनुभव का लेखा-जोखा

हम दुनिया का भ्रमण कर चुके, पृथ्वी पर पैदल चले और रेलों के द्वारा सफर किया, नदियों तथा समुद्रों में नावों और जहाजों का उपयोग किया; फिर आकाश में वायुयानों के द्वारा उड़े। कुटुम्ब, गिरोह, जाति, ग्राम, नगर, राष्ट्र तथा विश्व संघ का निर्माण देखा इस तरह मानव-समुदाय के सहस्रों एवं करोड़ों वर्ष के इतिहास पर दृष्टिपात किया, कई प्रकार के लोगों तथा सभ्यताओं और संस्कृतियों से सम्पर्क हुआ। इस विस्तृत तथा दीर्घकालीन यात्रा में अनेकानेक अनुभव हुए जिनका यहाँ लेखा-जोखा कर देना असंगत नहीं होगा।

प्रकृति में कुछ ऐसे नियम हैं जिनका पालन स्वतः हुआ करता है। सृष्टि स्थिर नहीं है, परिवर्त्तनशील है। जो देश या राष्ट्र कभी उत्थान के शिखर पर था, वह कभी पतन के गढे में धाया गया है और जो कभी अवनति की स्थिति में था वही कभी उन्नति की चोटी पर पहुँच गया। जो नगर कभी सभ्यता और संस्कृति का केन्द्र बन कर मानव-मन को लुभा रहा था वही कालान्तर में पृथ्वी के गर्भ में चला गया। कभी का विजेता कभी विजित बना तो विजित विजेता बना। जो कभी स्वामी था वह कभी सेवक बना और दास कभी मालिक बना। जो कभी धन-वैभव के बीच लोट-पोट कर रहा था वही दाने-दाने का मोहताज बना और जो कभी निर्धनता की चोट से कराह रहा था लक्ष्मी कभी उसी की दासी बनी। अतः इतिहास बतलाता है कि मनुष्य किसी दूसरी शक्ति के हाथ का खिलौना है, उसकी कोई कीर्त्ति स्थायी नहीं है। उसे सुख के शिखर पर पहुँच कर ऐसा मतवाला न बनना चाहिए कि वहाँ से गिरने पर उसका सर्वनाश हो जाय।

इस प्रकार प्रत्येक देश या राष्ट्र का किसी न किसी समय उत्थान-पतन हुआ है, किन्तु मानव-समाज प्रगति के पथ पर सतत धीरे-धीरे किन्तु निश्चित रूप से आगे की ओर बढ़ता रहा है। अतः सभ्यता एवं संस्कृति किसी एक देश, राष्ट्र या जाति की देन नहीं है बल्कि यह मानव-समाज के सामूहिक प्रयत्नों का उत्पादन है। सभ्यता एवं संस्कृति वह विशाल समुद्र है जिसमें विभिन्न दिशाओं से आकर अनेक नदियाँ सम्मिलित हुई हैं। वर्त्तमान सभ्यता एवं संस्कृति युगों से संचित मानव-अनुभवों का अनन्त भण्डार है। प्रत्येक युग की अपनी-अपनी विशेषता रही है। प्राचीन युग में संस्कृति (कला, साहित्यादि) की प्रधानता थी, मध्ययुग में धर्म का बोलबाला था और आधुनिक

युग में विज्ञान की तूती बोल रही है। वर्त्तमान अतीत का सृजन और भविष्य का सृजक है। पूर्व ने कृषि का कर्म सिखलाया, त्याग का महत्व बतलाया और अध्यात्मवाद का संदेश सुनाया तो पश्चिम ने व्यवसाय, भोग और भौतिकवाद का पाठ पढ़ाया। इस तरह पृथ्वी एक है, विश्व एक है, मानव-समाज एक है। पर एकता में अनेकता है और अनेकता में एकता है। *प्रगति का क्रम अटूट है—शृंखलाबद्ध है।*

आज की दुनिया पाँच बड़े भागों में विभक्त है—एशिया, यूरोप, अफ्रीका, अमेरिका तथा आस्ट्रेलिया। भौगोलिक दृष्टि से एशिया तथा यूरोप ने ही सभ्यता और संस्कृति के विकास में अधिक योग दिया है। इन दोनों महाद्वीपों में भी एशिया की देन *अधिक महत्वपूर्ण रही है। प्राचीन युग में एशिया ही मानव-सभ्यता एवं संस्कृति* का केन्द्र-बिन्दु था—प्रकाश-स्तम्भ था। एशिया की ही भूमि पर सभ्यता संस्कृति के प्रकाश-किरण का उदय हुआ और यहीं से अन्य भागों में इसका प्रसार हुआ। यह संसार का धर्म-गुरु था। एशिया में ही विश्व के प्रमुख धर्मों का प्रादुर्भाव हुआ है। हिन्दू, जैन तथा बौद्ध धर्म भारत में, यहूदी तथा इसाई धर्म फिलिस्तीन में, पारसी धर्म *फारस में, कनफ्यूशस तथा लाओत्से के धर्म चीन में और इस्लाम धर्म अरब में* उत्पन्न हुए हैं। इन सभी धर्मों में मानवोचित गुणों के विकास पर विशेष जोर दिया गया है। सत्य और सेवा, त्याग और तपस्या, सन्तोष और समता, प्रेम और भक्ति ये धर्मों के मूल तत्त्व हैं और इनका उद्देश्य है मानव-जीवन में सुख-शान्ति की धारा प्रवाहित करना। ये धर्म *मानव-जीवन के लक्ष्य की ओर संकेत थे। सभ्यता एवं* संस्कृति के अन्य क्षेत्रों में भी प्रगति हुई थी। प्राचीन युग में इसके चार प्रधान केन्द्र थे—मेसोपोटामिया, भारत, चीन और ईरान। यह बात स्मरणीय है कि यद्यपि एशिया में हिमालय जैसे उत्तुंग पहाड़ स्थित हैं फिर भी एशियाई देशों की सभ्यताओं में मौलिक एकता है—बहुत-सी बातें मिलती-जुलती हैं। उस समय जब कि सभ्यता एवं *संस्कृति सर्वोच्च शिखर पर थी, भूमध्यसागरीय भू-भाग* को छोड़कर यूरोप अभी अन्धकार में भटक कर ठोकरें खा रहा था। मध्यकाल में भी जब यूरोप का जागरण होने लगा था एशिया उसमे पीछे नहीं था। पुराने केन्द्रों के सिवा इस काल में अरब, मंगोलिया और तुर्किस्तान सभ्यता के प्रधान केन्द्र थे। भारत प्रारम्भ से ही दार्शनिक *चिन्तन का अद्भुत स्रोत था।* चीन ने मुद्रण तथा दिशासूचक यन्त्रों का आविष्कार कर मानव-प्रगति में क्रान्ति ला दी। अरबों ने एशियाई संस्कृति का यूरोप में भरपूर प्रचार किया। यूनान तथा रोम की सभ्यताएँ मूलतः एशियाई सभ्यता से प्रभावित हुई थीं। १६वीं सदी तक कई बार एशिया ने यूरोप पर आक्रमण किया और अनेक यूरो-*पीय जातियों के पूर्वज एशिया के ही रहने वाले थे। प्राचीन काल में* अफ्रीका के उत्तरी भाग (मिश्र) में सभ्यता का उदय हुआ था किन्तु उस पर भी एशिया की मुहर

लगी हुई थी। मिश्री सभ्यता पर बेबीलोनिया का गहरा प्रभाव था। मेक्सिको तथा मध्य अमेरिका में भी माया नामक उच्चकोटि की सभ्यता का प्रादुर्भाव हुआ था परन्तु इस सभ्यता के निर्माता के भी पूर्वज एशियावासी ही थे। इस तरह विश्व के तीन महान् महाद्वीप—यूरोप, अफ्रीका तथा अमेरिका—एशिया से प्रभावित हुए हैं और इसने इनका सफल नेतृत्व किया है।

इस प्रकार प्राचीन काल में सभ्यता के बोझ से एशिया का पलड़ा बहुत भारी था, मध्य युग में यह कुछ ऊपर उठने लगा था और आधुनिक युग के प्रादुर्भाव के साथ यूरोप का पलड़ा भारी होने लगा और एशिया का पलड़ा हल्का होता गया। विज्ञान तथा वाणिज्य-व्यवसाय की दौड़ में यूरोप एशिया से आगे निकल गया। यह दौड़ मध्य युग के उत्तरार्द्ध में हो चुकी थी। यूरोप ने इसमें पूरी तत्परता से भाग लिया। एशिया ने उसके सामने अपना सिर झुका लिया और वह उसका गला धीरे-धीरे घोंटने लगा। यूरोप ने विश्व का नेतृत्व अपने हाथ में ले लिया और भौतिकता का साम्राज्य स्थापित किया। इसी दृष्टि से यूरोप ने अन्य महाद्वीपों को प्रभावित किया है। आधुनिक काल में १६वीं शताब्दी तक लगभग सारा एशिया यूरोप के चगुल में फँसा रहा। जो यूरोप एशिया का शिष्य था वह अब उसका स्वामी बन गया। अफ्रीका पर भी यूरोपवासियों ने अपना भँवरजाल फैलाया। आस्ट्रेलिया और अमेरिका को तो अंग ही कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं। इन महाद्वीपों के निवासियों के पूर्वज यूरोपवासी ही रहे हैं। अतः दोनों की सभ्यता में कोई अन्तर नहीं है। आस्ट्रेलिया में तो अँग्रेजों की ही भरमार है और अमेरिका में भी अधिकारा निवासी उन्हीं के वशज हैं। इस तरह इन दोनों महाद्वीपों पर यूरोप का विशेष प्रभाव रहा है और वहाँ के मूलनिवासियों की स्थिति दिनोदिन गिरती जा रही है। १६वीं सदी के अन्त तक इन द्वीपों ने, खास कर आस्ट्रेलिया ने मानव सभ्यता के विकास में बहुत कम योग दिया है।

परन्तु २०वीं सदी में विशेषतः प्रथम महायुद्ध के बाद के समय से पलटा खा रहा है और स्थिति में परिवर्त्तन होने लगा है। यूरोप की शक्ति घटने और एशिया की बढ़ने लगी है। वर्त्तमान शताब्दी एशिया की ही शताब्दी कही जा सकती है। इसके आगमन के साथ एशिया में प्रभात हुआ और यहाँ के लोग जागने लगे। २०वीं सदी के पूर्वार्द्ध में एशियाई राष्ट्रों ने यूरोप के फौलादी चंगुल से अपना गला मुक्त कर मस्तक ऊँचा किया और विश्व पर एक दृष्टि डाली। वे अद्भुत स्फूर्ति के साथ प्रगति के पथ पर अग्रसर हुए। एशिया के दो बड़े देश—भारत और चीन का कायापलट हुआ है और विश्व का ध्यान इनकी ओर आकृष्ट होने लगा है। इन दोनों देशों की शक्तियाँ असीमित हैं और यदि इनका व्यावसायिक विकास हो जाय तो ये पश्चिमी गोलार्द्ध के

दो बड़े देशों—रूस तथा अमेरिका से भी आगे बढ़ जायँ। अब एशिया का पलड़ा पुनः भारी होने लगा है और इसी के द्वारा विश्व के नेतृत्व की पूरी सम्भावना है। यह भी आशा की जाती है कि इसके सफल नेतृत्व में मानव-समाज में सुख शान्ति की सतत् समृद्धि होगी।

सृष्टि के प्रारम्भ से अब तक अनेक सभ्यताएँ विश्व के रंगमच पर आईं और चली गईं। इतिहास बतलाता है कि उन्हीं सभ्यताओं का नाश हुआ है जो प्रधानतः भौतिकवादी रही हैं। अध्यात्म तथा आदर्शवादिता एशियाई सभ्यता की विशेषताएँ रही हैं। अतः भारत और चीन की सभ्यता आज तक जीवित है और आगे भी जीवित रहेगी। उसी के बल पर यहूदी जाति सदियों तथा युगों से बेघर-बार की और उपेक्षित रहने पर भी आज तक कायम है। ये ही सभ्यताएँ अतीत तथा वर्तमान को मिलाने वाली कड़ियों का काम करती हैं। इसके विपरीत मेसोपोटामिया, मिश्र तथा रोम की भौतिकवादी सभ्यता पृथ्वी के गर्भ में विलीन हो गई। यूरोप की वर्त्तमान *सभ्यता भी असफल सिद्ध हो चुकी है और इसकी भौतिकवादी नींव इस तरह हिल-*डुल गई है कि यह किसी समय आँधी के झोंके से उखड़ सकती है। इस भौतिकवादी सभ्यता के फलस्वरूप दो भीषण विश्व-युद्ध हुए हैं जिनकी लपटों से मानवता का पौधा झुलस गया है, मनुष्य का हृदय संतप्त है और पृथ्वी नरककुंड बन गई है। लम्बी-लम्बी शान्ति योजनाएँ बनती हैं किन्तु वे निरर्थक ही सिद्ध होती हैं।

आधुनिक सभ्यता के चमत्कार पर गर्व किया जाता है परन्तु यह जानना चाहिये *कि प्राचीनता में केवल बुराई ही नहीं और आधुनिकता में केवल अच्छाई ही नहीं है* बल्कि दोनों में अच्छाई-बुराई का सामंजस्य है। किसी में अच्छाई अधिक है तो किसी में बुराई। आधुनिक सभ्यता में सुविधाएँ अवश्य बढ़ी हैं, व्यक्ति को स्वतन्त्रता मिली है; किन्तु आनन्द नहीं बढ़ा है, शान्ति नहीं बढ़ी है। सभ्यता का विकास हुआ है, संस्कृति की क्षति हुई। बाहर तड़क-भड़क, सजावट है, भीतर मालिन्य है और खोखला-पन है। मस्तिष्क बढ़ा है, हृदय संकुचित हुआ है। भौतिकता में वृद्धि हुई है, आध्या-त्मिकता का लोप हुआ है। व्यक्ति का स्वार्थ बढ़ा है, समष्टि की हानि हुई है। अधिकार बढ़े हैं, कर्त्तव्य की उपेक्षा हुई है। अतः यदि मानवता को जीवित रहना है, पृथ्वी को स्वर्ग बनाना है तो सभ्यता तथा संस्कृति, मस्तिष्क तथा हृदय, भौतिकता तथा आध्या-त्मिकता, व्यक्ति तथा समष्टि, अधिकार तथा कर्त्तव्य में सुन्दर समन्वय स्थापित करना होगा और यह समन्वय सर्वोदयवाद के द्वारा ही सम्भव है।

इतिहास के पृष्ठों में भले-बुरे, सज्जन-दुर्जन, पापी-पुण्यात्मा सभी प्रकार के व्यक्तियों की चर्चा है किन्तु सत्य एवं सेवा, प्रेम एवं भक्ति, त्याग एवं तपस्या के ही

पुजारी मानव-समाज के सम्मानित प्रियपात्र रहे हैं। उनके ही नाम इतिहास के पृष्ठों में स्वर्णाक्षरों में लिखे जाते हैं। वे मर कर भी मानव समाज मे अमर हैं और मानव के हृदय-पट पर भी उनके नाम अंकित हैं। इतिहास के पृष्ठ कभी नष्ट हो सकते हैं किन्तु हृदय का स्मृति-पत्र अमिट है।

यद्यपि किसी विचार-धारा का उद्गम स्थान मानव-मस्तिष्क ही है फिर भी वह मनुष्य की अपेक्षा अधिक बलवती होती है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि कोई भी विचारधारा कुचली नहीं जा सकती। किसी विचार-धारा के प्रवर्त्तक तथा पोषक को प्राणदण्ड दिया जा सकता है परन्तु इससे उस विचार-धारा का अस्तित्व नहीं मिटता, उल्टे उसके रक्त से सिंचित होकर सिद्धान्त का पौधा तीव्र गति से फूलने-फलने लगता है। इस तरह किसी बड़े से बड़े साम्राज्य की सगठित शक्ति भी किसी सिद्धान्त को उखाड़ फेंकने में निष्फल सिद्ध होती है। हिंसा एव बल के द्वारा किसी विचार को निर्मूल करने का प्रयत्न ही मूर्खता है – स्वार्थ, भय एवं कमजोरी का परिचायक है। प्राचीन युग में सहस्रों इसाई कत्ल किये गये किन्तु इसाई मत का प्रचार होकर ही रहा, मध्य युग मे लाखों की सख्या मे विरोधी धर्मावलम्बियों की हत्या हुई पर अन्त में सहिष्णुता की नीति विजयी हुई। कितने वैज्ञानिक फाँसी के तख्ते पर झुला दिये गये परन्तु विज्ञान ने संसार पर अपना आधिपत्य जमा कर ही दम लिया। आधुनिक युग में स्वतन्त्रता, राष्ट्रीयता तथा लोकतन्त्र के पुजारियों का लाखों की सख्या में बलिदान हुआ किन्तु आज मानव-जीवन में ये ही सिद्धान्त प्रमुख स्थान ग्रहण करते हैं। सबसे ज्वलन्त उदाहरण तो यहूदी जाति का है। यह जाति सभी युगों में और सर्वत्र उपेक्षा तथा दमन का शिकार रही है। फिर भी यह आज तक जीवित है और इसने सभ्यता तथा संस्कृति के भडार को बढ़ाने में सहयोग दिया है।

परिशिष्ट १

प्रसिद्ध घटनाएँ, राजवंश और तिथियाँ

	सन् ईस्वी
ट्यूडर वंश का शासन (इंगलैण्ड)	१४८५—१६०३
कप्तान डायज द्वारा उत्तमाशा अन्तरीप का चक्कर काटना	१४८६
बार्थोलोम्यु डायज का उत्तमाशा अन्तरीप में पहुँचना	१४८८
कोलम्बस के द्वारा अमेरिका की खोज	१४९२
न्यू फाउन्डलैण्ड की खोज	१४९७
वास्कोडिगामा का भारतवर्ष पहुँचना	१४९८
कोलम्बस की मृत्यु	१५०६
बेलबोआ के द्वारा पनामा डमरूमध्य का पार किया जाना	१५१३
मैगलन की विश्व-यात्रा	१५१९
चार्ल्स पंचम, पवित्र रोमन सम्राट निर्वाचित	१५२०
शानदार सुलेमान का राज्यारोहण	१५२०
बाबर के द्वारा भारत में मुगल वंश की स्थापना	१५२५
नीदरलैण्ड्स में स्वातन्त्र्य संग्राम का आरम्भ	१५६८
बार्थोलोम्यु का वध	१५७२
फ्रांसीसी ड्रेक की विश्व-यात्रा	१५७७
स्पेनिश आर्मेडा का इंगलैण्ड पर हमला	१५८८
ईस्ट इंडिया कम्पनी की स्थापना	१६००
स्टुअर्ट वंश का शासन (इंगलैण्ड)	१६०३—१७१४
डचों की स्वाधीनता	१६०९
तीस वर्षीय युद्ध	१६१८—४८
मिंग वंश का पतन (चीन)	१६४४
मंचू वंश का शासन (चीन)	१६४४—१९११
वेस्टफालिया की सन्धि	१६४८
नैन्टीज के धार्मिक आदेश रद्द	१६८५
ब्रिटिश गौरवमय क्रान्ति	१६८८

स्पेन के उत्तराधिकार का युद्ध	१७०२—१४
भारत में मुगल साम्राज्य का अन्त	१७०७
सप्तवर्षीय युद्ध	१७५६—६३
अमेरिका का स्वातन्त्र्य संग्राम	१७७५—८३
अमेरिकी स्वाधीनता की घोषणा	१७७६ (४जुलाई)
फ्रांस की राज्यक्रान्ति	१६८६—१८१५
लूई १६वें को फाँसी	१७६३
नील नदी का युद्ध	१७६८
नेपोलियन का सम्राट बनना	१८०४
ट्रैफेलगर के युद्ध में इंगलैण्ड द्वारा फ्रांस की पराजय	१८०५
पवित्र रोम साम्राज्य का अंत	१८०६
रूस पर नेपोलियन का आक्रमण	१८१२
जार्ज स्टीफेन्सन के इञ्जन का व्यवहार	१८१४
वाटरलू के युद्ध में नेपोलियन की घोर पराजय	१८१५
पेरिस की सन्धि	१८१५
थूनान का स्वातन्त्र्य संग्राम	१८२३
मुनरो सिद्धान्त की घोषणा	१८२३
फ्रांस मे दूसरी क्रान्ति	१८३०
डुरहम रिपोर्ट का प्रकाशन	१८३६
आंग्ल—चीनी अफीम युद्ध (१)	१८४०—४२
फ्रांस में तीसरी क्रान्ति	१८४८
मध्य यूरोप में क्रान्तियाँ	१८४८
जापान में अमेरिका का प्रवेश	१८५३
पेरिस की सन्धि	१८५६
भारत का प्रथम स्वातन्त्र्य संग्राम	१८५७
आँग्ल—चीनी अफीम युद्ध (२)	१८५८—६०
अमेरिका का गृहयुद्ध	१८६१—६५
स्वेज नहर का निर्माण	१८६६
फ्रांसीसी—जर्मन युद्ध	१८७०—७१
फ्रांस में तीसरे गणराज्य की स्थापना	१८७०
टेलीफोन का आविष्कार	१८७६
बर्लिन कांग्रेस	१८७८

✓भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म	१८८५
बिस्मार्क का पतन	१८९०
बाक्सर्स आन्दोलन (चीन)	१९००
आंग्ल—फ्रांसीसी समझौता	१९०४
जापान के द्वारा रूस की घोर पराजय	१९०५
ईरान की क्रान्ति	१९०६
आंग्ल-रूसी समझौता	१९०७
त्रिराष्ट्र सन्धि, हेग का दूसरा सम्मेलन	१९०७
चीन की क्रान्ति	१९११
बाल्कन प्रायद्वीप के युद्ध	१९१२—१३
प्रथम महायुद्ध	१९१४—१८
✓रूस की राज्यक्रान्ति और बोल्शेविक सरकार की स्थापना	१९१७
वर्साई या पेरिस की सन्धि	१९१९
✓राष्ट्रसंघ की स्थापना और जेनेवा में इसका प्रथम अधिवेशन	१९२०
✓भारत में असहयोग आन्दोलन	१९२०—२२
आयरिश फ्री स्टेट का निर्माण	१९२१
फासिस्ट सरकार की स्थापना (इटली)	१९२२
लौजेन की सन्धि, तुर्की गणतंत्र की स्थापना	१९२३
लोकार्नो की सन्धि	१९२५
जर्मनी का राष्ट्रसंघ का सदस्य बनना	१९२६
विश्व का आर्थिक संकट	१९२९—३१
✓सत्याग्रह आन्दोलन (भारत)	१९३०
मंचूरिया पर जापान की विजय	१९३१
ईराक की स्वाधीनता	१९३२
निरस्त्रीकरण सम्मेलन की विफलता	१९३२
जर्मनी तथा जापान का राष्ट्रसंघ से अलग होना	१९३३
तीसरे जर्मन राजतन्त्र की स्थापना	१९३४
रूस का राष्ट्रसंघ का सदस्य बनना	१९३४
इटली अबीसीनिया युद्ध	१९३५—३६
मिश्र की स्वाधीनता	१९३६
चीन जापान युद्ध	१९३७—४५
भारतीय प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रिमंडलों का प्रथम निर्माण	१९३७

म्युनिक में हिटलर-चेम्बरलेन वार्ता	१६३८
द्वितीय महायुद्ध	१६३६—४५
इटली का युद्ध में सम्मिलित होना	१६४०
जर्मनी के द्वारा रूस पर आक्रमण	१६४१
एटलांटिक चार्टर	१६४१
पर्ल बन्दर पर बमबारी	१६४१
अमेरिका का युद्ध में सम्मिलित होना	१६४१
भारत में तोड़-फोड़ का आन्दोलन	१६४२
आजाद हिन्द फौज का निर्माण	१६४२
इटली का मित्रराष्ट्रों से सन्धि	१६४३
ब्रिटेनवुड्स तथा डुम्बार्टन ओक्स सम्मेलन	१६४४
सीरिया की स्वाधीनता	१६४४
सैनफ्रांसिस्को सम्मेलन और संयुक्त राष्ट्र संगठन की स्थापना	१६४५
हिरोशिमा द्वीप पर सर्वप्रथम अणुबम का प्रहार	१६४५
द्वितीय महायुद्ध का अन्त	१६४५
हिन्देशिया की स्वाधीनता	१६४५
वेतनाम के गणराज्य की स्थापना	१६४५
पेरिस का सम्मेलन	१६४६
भारत की स्वतन्त्रता और पाकिस्तान का निर्माण	१६४७
महात्मा गाधी का बलिदान	१६४८
इजरायल का स्वतन्त्र राज्य	१६४८
उत्तरी अटलांटिक सन्धि	१६४६
भारतीय गणराज्य की स्थापना	१६५०
भारत का प्रथम साधारण चुनाव	१६५२
दक्षिणी पूर्वी एशियायी सुरक्षा सन्धि	१६५४
मध्य पूर्व सुरक्षा सन्धि	१६५५
स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण	१६५६
भारतीय राज्यों का पुनर्संगठन	१६५६
भारत का द्वितीय साधारण चुनाव	१६५७

परिशिष्ट २

कुछ प्रमुख शासक और व्यक्ति-विशेष

मेकियावेली, आधुनिक कूटनीति का जन्मदाता	१४६६—१५२७
मार्टिन लूथर, सुधार-आन्दोलन का जन्मदाता	१४८३—१५४६
सत इग्नेटियस लोयला, जेसुइट संस्था का जन्मदाता	१४९१—१५५६
राबेले, फ्रांसीसी उपन्यासकार	१४९५—१५५३
काल्विन, फ्रांसीसी धर्मसुधारक	१५०९—१५६४
सर्वेंटीज, स्पेन का गद्यलेखक	१५४७—१६१६
अकबर, भारत का प्रसिद्ध मुगल सम्राट	१५५६—१६०५
महारानी एलिजाबेथ, इंगलैंड की सम्राज्ञी	१५५८—१६०३
फ्रांसिस बेकन, अंग्रेज वैज्ञानिक	१५६१—१६२६
विलियम शेक्सपीयर, अंग्रेज नाटककार	१५६४—१६१६
विलियम हार्वे, अंग्रेज वैज्ञानिक	१६४२—१७२७
पीटर महान्, रूस का शासक	१६८२—१७२५
पन्द्रहवाँ लुई, फ्रांस का भव्य सम्राट्	१६४३—१७१५
रूसो, फ्रांसीसी दार्शनिक	१७१२—१७७८
फ्रेडरिक महान्, प्रशिया का प्रबुद्ध शासक	१७४०—१७८६
जेम्स मुनरो, अमेरिका का ५वाँ राष्ट्रपति	१७५८—१८३१
नेपोलियन, फ्रांस का महान् विजेता	१७६९—१८२१
सोलहवाँ लुई, फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति का शिकार	१७७४—९३
राजा राममोहनराय, आधुनिक भारत का जनक	१७७४—१८३३
जार्ज वाशिंगटन, संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रथम राष्ट्रपति	१७७९—९७
जोसेफ द्वितीय, आस्ट्रिया का प्रबुद्ध शासक	१७८०—९०
मैजिनी, इटली का निर्माता	१८०५—७२
गैरिबाल्डी, इटली का निर्माता	१८०७—८२
अब्राहम लिंकन, अमेरिका का १६वाँ राष्ट्रपति और दासों का मुक्तिदाता	१८०९—६५
कावूर, इटली का निर्माता	१८१०—६१
बिस्मार्क, जर्मनी का निर्माता	१८१५—९८
कार्ल मार्क्स, मार्क्सवाद का जन्मदाता	१८१८—८३

वुडरो विल्सन, राष्ट्रसंघ का जन्मदाता	१८५६—१९२४
रवीन्द्रनाथ ठाकुर, भारत के सुविख्यात लेखक एवं कवि	१८६१—१९४१
सनयातसेन, आधुनिक चीन के राष्ट्रपिता	१८६७—१९२५
महात्मा गांधी, भारत के राष्ट्रपिता	१८६९—१९४८
लेनिन, सोवियत गणतन्त्र के जन्मदाता	१८७०—१९२४
चर्चिल, ग्रेट ब्रिटेन के अनुदारवादी प्रधानमन्त्री	१८७४
सरदार वल्लभ भाई पटेल, भारत का लौह पुरुष	१८७५—१९५०
अलबर्ट आइन्सटाईन, सुविख्यात यहूदी वैज्ञानिक	१८७९—१९५५
मार्शल स्तालिन, सोवियत रूस का भाग्यविधाता	१८७९—१९५३
मुस्तफा कमाल, तुर्की गणतन्त्र के जन्मदाता	१८८०—१९३८
फ्रैंकलिन रूजवेल्ट, अमेरिका का ३२वाँ सर्वाधिक लोकप्रिय प्रेसिडेंट	१८८२—१९४५
डी वेलेरा, आयर के प्रधानमन्त्री	१८८२
मुसोलिनी, इटली फासिस्ट नेता	१८८३—१९४५
डा० राजेन्द्र प्रसाद, स्वतन्त्र भारत के सर्वप्रथम राष्ट्रपति	१८८४
च्यांगकाई शेक, चीन के राष्ट्रवादी नेता	१८८७
श्री सर्व पल्ली राधाकृष्ण, भारत का दार्शनिक शासक	१८८८
हिटलर, जर्मनी का नात्सी नेता	१८८९—१९४५
जवाहरलाल नेहरू, स्वतन्त्र भारत के प्रथम प्रधान मन्त्री	१८८९
आइसेनहावर, संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति	१८९०
माओत्से तुंग, चीनी साम्यवादी सरकार के अध्यक्ष	१८९३
वी० के० कृष्ण मेनन, भारत के महान् शान्ति साधक	१८९७
लुई माउन्ट बैटन, पराधीन भारत के अन्तिम वायसराय और डोमीनियन भारत के प्रथम गवर्नर जेनरल	१९००

परिशिष्ट ३

प्रश्नावली

आधुनिक युग

अ० १

१. यूरोप में आधुनिक युग का सूत्रपात कैसे हुआ ?
२. सांस्कृतिक पुनरुत्थान से आप क्या समझते हैं ? इसके प्रमुख कारणों और परिणामों का उल्लेख कीजिए।
३. मानववाद से आपका क्या अभिप्राय है ? सांस्कृति पुनरुत्थान का सर्व प्रथम उदय इटली में क्यों हुआ ?
४. पुनरुत्थान युग की साहित्यिक प्रगति पर प्रकाश डालिए।
५. आधुनिक काल के भौगोलिक अन्वेषणों के कारणों तथा परिणामों का उल्लेख कीजिए।
६. आधुनिक काल के अन्वेषण-कार्य पर प्रकाश डालिए। इस कार्य में यूरोपवासी ही क्यों अग्रदूत रहे ?

अ० २

१. धर्म सुधार-आन्दोलन के कारणों तथा परिणामों का उल्लेख कीजिए।
२. पुनरुत्थान और धर्मसुधार आन्दोलनों के बीच क्या सम्बन्ध है ?
३. मार्टिन लूथर के बारे में आप क्या जानते हैं ? कुछ अन्य धर्म-सुधारकों का भी उल्लेख कीजिए।
४. इंगलैंड तथा जर्मनी के धर्मसुधारों का तुलनात्मक विश्लेषण कीजिए।
५. यूरोपीय सभ्यता पर धर्म-सुधार-आन्दोलन का क्या प्रभाव पड़ा ?

अ० ३

१. इंगलैंड में निरंकुश शासन की स्थापना कैसे हुई ? इससे इंगलैंड को क्या लाभ हुआ ?
२. १६८८ ई० की अँग्रेजी क्रान्ति के कारणों, प्रकृति और परिणामों पर प्रकाश डालिए।
३. कैबिनेट शासन-प्रणाली के विकास का उल्लेख कीजिए।

४. लुई १४वें के शासन का वर्णन कीजिए। १७८६ ई० की क्रान्ति के लिये वह कहाँ तक उत्तरदायी था।
५. फ्रेडरिक महान और पीटर महान् के बारे में आप क्या जानते हैं ?
६. आस्ट्रिया के प्रबुद्ध शासक का उल्लेख कीजिए।
७. नीदरलैंड के स्वातन्त्र्य संग्राम का वर्णन कीजिए।
८. १६वीं और १७वीं सदी के यूरोप के प्रमुख राज्यवंशों का संक्षिप्त उल्लेख कीजिए।
६. भारत के सबसे बड़े मुगल सम्राट के शासन की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
१०. मुगल कालीन भारतीय सभ्यता पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।
११. मंचू वंश के प्रसिद्ध शासक के बारे में आप क्या जानते हैं ?
१२. फारस के सफावी वंश का इतिहास लिखिए।
१३. विश्व-इतिहास में 'सोलहवीं सदी महान् सम्राटों की सदी रही' इस कथन की सोदाहरण पुष्टि कीजिए।

अ० ४

१. औद्योगिक क्रान्ति से आपका क्या अभिप्राय है ? इसका सूत्रपात सर्वप्रथम इंगलैंड में क्यों हुआ ?
२. औद्योगिक क्रान्ति से कृषि के क्षेत्र में क्या प्रगति हुई ?
३. औद्योगिक क्रान्ति ने उद्योग-धन्धों का किस प्रकार विकास किया ?
४. औद्योगिक क्रान्ति से यातायात और संवाद के क्षेत्र में क्या-क्या परिवर्तन हुए ?
५. १८वीं तथा १६वीं शताब्दियों के कुछ प्रमुख आविष्कारों का उल्लेख कीजिए। इनसे मानव-विचार कहाँ तक प्रभावित हुए।
६. औद्योगिक क्रान्ति के लाभों तथा हानियों का उल्लेख कीजिए।
७. औद्योगिक क्रान्ति के विभिन्न परिणामों का उल्लेख कीजिए।
८. समाजवाद से आपका क्या तात्पर्य है ? इसके प्रसार के बारे में आप क्या जानते हैं ?

अ० ५

१. अमेरिका के स्वातन्त्र्य संग्राम के मौलिक तथा तात्कालिक कारणों को बतलाइये।
२. अमेरिकी क्रान्ति के परिणामों का उल्लेख कीजिए। इंगलैंड और इसके साम्राज्य पर इसका क्या प्रभाव पड़ा ?
३. अमेरिकी संग्राम में अंग्रेजों की पराजय के क्या कारण थे ? उन्होंने उस संग्राम से क्या शिक्षा ग्रहण की ?

४. दुनियाँ के इतिहास में अमेरिकी संग्राम का क्या महत्व है ?
५. जार्ज वाशिंगटन तथा अब्राहम लिंकन के बारे में आप क्या जानते हैं ?

अ० ६

१. फ्रांसीसी क्रान्ति का अंग्रेजी और अमेरिकी क्रान्ति से क्या सम्बन्ध है ?
२. फ्रांस की राज्य क्रान्ति के कारणों का वर्णन कीजिए।
३. क्रान्ति का विस्फोट सर्वप्रथम फ्रांस में ही क्यों हुआ ?
४. फ्रांसीसी क्रान्ति में दार्शनिकों तथा लेखकों का क्या भाग रहा है ?
५. राष्ट्रीय महासभा के सुधारों का वर्णन कीजिए।
६. 'स्वतन्त्रता के नाम पर बहुत खूनखराबियाँ हुईं।' फ्रांस की क्रांति से इस कथन की पुष्टि कीजिए।
७. 'फ्रांस की राज्य क्रान्ति दुनिया के इतिहास में एक अपूर्व घटना है।' इसकी व्याख्या कीजिए।
८. फ्रांसीसी क्रान्ति के महत्त्व और परिणामों का उल्लेख कीजिए।
९. फ्रांस की राज्य क्रान्ति और इंगलैंड की राज्य क्रान्ति में क्या अन्तर था ? स्पष्ट समझाइये।

अ० ७

१. नेपोलियन ने क्रान्ति के सिद्धान्तों की कहाँ तक रक्षा या उपेक्षा की ?
२. 'नेपोलियन फ्रांसीसी क्रान्ति को अनुपम देन था।' यह कथन कहाँ तक सत्य है ?
३. 'नेपोलियन एक विजेता ही नहीं था, वह एक सफल शासक भी था।' आप इस कथन से कहाँ तक सहमत हैं ?
४. नेपोलियन के पतन का कारण लिखिए।
५. दुनिया की कहानी में नेपोलियन का क्या स्थान है ?
६. नेपोलियन के उत्थान तथा पतन पर एक निबन्ध लिखिए।
७. १८१५ ई० की पेरिस की सन्धि में कौन-कौन सी प्रमुख बातें थीं ? इसके गुणों तथा त्रुटियों पर प्रकाश डालिए।

अ० ८

१. आप राष्ट्रीयता और लोकतन्त्र से क्या समझते हैं ? इन भावनाओं के जागने के क्या कारण थे।
२. वियना की व्यवस्था पर एक आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिए।
३. इटली के एकीकरण पर एक सुन्दर निबन्ध लिखिए।

४. इटली के एकीकरण में मैजिनी, गैरीबाल्डी तथा कावूर ने क्या भाग लिया? स्पष्टतया समझाकर लिखिए।
५. जर्मनी के एकीकरण पर एक सुन्दर निबन्ध लिखिए।
६. १९वीं शताब्दी में जर्मनी का एकीकरण कैसे हुआ? बिस्मार्क ने इसमें क्या भाग लिया?
७. बिस्मार्क का मूल्यांकन कीजिए।
८. इटली तथा जर्मनी के एकीकरण की तुलनात्मक विवेचना कीजिए।
९. १९वीं शताब्दी में यूरोप में जिन नए राष्ट्रों का उत्थान हुआ, उनका वर्णन कीजिए।
१०. ग्रेट ब्रिटेन में लोकतन्त्रात्मक शासन के विकास पर प्रकाश डालिए।
११. यूरोपीय इतिहास में १८४८ ई० क्यों महत्त्वपूर्ण है?
१२. राष्ट्रीयता के गुण-दोषों का उल्लेख कीजिए।

अ० ६

१. साम्राज्यवाद की व्याख्या कीजिए।
२. नये साम्राज्यवाद का कब उदय हुआ? इसके उदय होने के क्या कारण थे?
३. साम्राज्यवाद के विकास के लिए अफ्रीका तथा एशिया के महादेश ही क्यों उपयुक्त थे?
४. अफ्रीका को अंध महाद्वीप क्यों कहा जाता था? क्या अभी भी यह कथन सत्य है? समझाकर लिखिए।
५. अफ्रीका का एक मानचित्र बनाकर इसमें प्रथम महायुद्ध के पूर्व पाश्चात्य राष्ट्रों के साम्राज्य को दिखाइए।
६. 'अफ्रीका के विभाजन' पर सरल भाषा में एक सुन्दर लेख लिखिए।
७. एशिया में साम्राज्यवाद के प्रसार पर एक सचित्र निबन्ध लिखिए।
८. भारतवर्ष में ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार का उल्लेख कीजिए।
९. चीन में साम्राज्यवाद के प्रचार के विषय में आप क्या जानते हैं?
१०. एशिया का एक मानचित्र बनाकर इसमें विदेशियों के साम्राज्य को दिखाइये।
११. अमेरिकी साम्राज्यवाद के विकास पर प्रकाश डालिए।
१२. ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विकास और इसकी विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
१३. साम्राज्यवाद के गुण-दोषों की विवेचना कीजिए।

अ० १०

१. पूर्वी समस्या से आपका क्या तात्पर्य है? स्पष्ट समझाइये।
२. पूर्वी समस्या हल करने के लिए जो चेष्टाएँ हुई हैं उनका उल्लेख कीजिए।
३. यूनान के स्वातन्त्र्य-संग्राम का वर्णन कीजिए।
४. क्रीमिया के युद्ध के कारणों तथा परिणामों पर समुचित प्रकाश डालिए।
५. बर्लिन काँग्रेस पर आलोचनात्मक नोट लिखिए।
६. प्रथम महायुद्ध के बाद पूर्वी समस्या का अन्त क्यों और कैसे हुआ?
७. 'यूरोप का मरीज—तुर्की साम्राज्य' इस पर एक निबन्ध लिखिए।

अ० ११

१. प्रथम महायुद्ध के मौलिक तथा तात्कालिक कारणों का उल्लेख कीजिए।
२. प्रथम महायुद्ध की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
३. मित्रराष्ट्रों की विजय और केन्द्रीय राष्ट्रों की पराजय के कारणों का वर्णन कीजिए।
४. प्रथम महायुद्ध में अमेरिका कब और क्यों सम्मिलित हुआ?
५. पेरिस की सन्धि की शर्तों का उल्लेख करते हुए इसके गुण-दोषों पर प्रकाश डालिए।
६. प्रथम महायुद्ध के विभिन्न परिणामों का वर्णन कीजिए।

अ० १२

१. १९१७ ई० में रूसी क्रान्ति के कारणों का वर्णन कीजिए। इसके परिणाम क्या हुए?
२. रूसी क्रान्ति के निर्माताओं के विषय में आप क्या जानते हैं?
३. रूसी एवं फ्रांसीसी क्रान्तियों पर तुलनात्मक प्रकाश डालिए।
४. बोल्शेविक रूस के आन्तरिक सगठन का उल्लेख कीजिए।
५. बोल्शेविक रूस की वर्तमान शासन-प्रणाली पर एक नोट लिखिए।
६. बोल्शेविक रूस की वैदेशिक नीति का मूल्यांकन कीजिए।
७. 'समाजवाद का प्रयोग स्थल—रूस'—इस पर एक निबन्ध लिखिए।
८. विश्व-इतिहास में रूसी क्रान्ति का क्या महत्व है?

अ० १३

१. आप एकतन्त्रवाद से क्या समझते हैं? प्रथम महायुद्ध के बाद इसके विकास के क्या कारण थे?

२. इटली में फासिस्टों की प्रगति का सकारण उल्लेख कीजिए।
३. जर्मनी में नाजी (नात्सी) पार्टी की प्रगति का सकारण उल्लेख कीजिए।
४. प्रथम महायुद्ध के पश्चात् एक तन्त्रवाद के विकास पर प्रकाश डालिए।
५. एकतन्त्रवाद के गुण दोषों का आलोचनात्मक परिचय दीजिए।

अ० १४

१. 'इंगलैंड की मुसीबत—आयरलैंड का मौका' इस शीर्षक की स्पष्ट व्याख्या कीजिए।
२. इंगलैंड और आयरलैंड में पार्लियामेंटरी संयोग कराने की परिस्थितियों का उल्लेख कीजिए।
३. पार्लियामेंटरी संयोग और प्रथम महायुद्ध के बीच (१८००-१६१४ ई०) अँग्रेज तथा आयरिशों के सम्बन्ध पर प्रकाश डालिए।
४. बीसवीं शताब्दी में आंग्ल आयरिश सम्बन्धों का वर्णन कीजिए।
५. १६२२ और १६४६ ई० के बीच आयरलैंड के इतिहास पर प्रकाश डालिए।
६. आयरिश स्वातन्त्र्य संग्राम पर एक निबन्ध लिखिए।

अ० १५

१. द्वितीय विश्वयुद्ध के कारणों का वर्णन कीजिए।
२. द्वितीय महायुद्ध के होने में फासिस्ट इटली और नात्सी जर्मनी की नीति कहाँ तक सहायक सिद्ध हुई?
३. दूसरे महायुद्ध के लिए इंगलैंड तथा फ्रांस के उत्तरदायित्व पर प्रकाश डालिए।
४. दूसरे महायुद्ध में अमेरिका कब और क्यों सम्मिलित हुआ? इसका फल क्या हुआ?
५. मित्रराष्ट्रों की विजय के कारणों का उल्लेख कीजिए।
६. दूसरे महायुद्ध के परिणामों का वर्णन कीजिए।
७. द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् ब्रिटेन की स्थिति पर प्रकाश डालिए।
८. १६४५ ई० के बाद रूस और अमेरिका के सम्बन्ध पर प्रकाश डालिए। क्या इन दोनों देशों में संघर्ष अनिवार्य है?

अ० १६

१. आप कैसे समझते हैं कि एशियाई देशों का जागरण हुआ है?
२. एशियाई जागरण के कारणों का उल्लेख कीजिए।

३. १६वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में आंग्ल-चीनी युद्धों के कारणों तथा परिणामों को बतलाइये।

४. १६११ ई० में चीनी क्रान्ति के कारणों तथा परिणामों का वर्णन कीजिए।

५. १६१२ और १६२७ ई० के बीच के चीन के इतिहास पर प्रकाश डालिए।

६. १६२८ से १६४५ ई० के चीनी इतिहास की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

७. द्वितीय महायुद्ध के बाद चीन की क्या स्थिति थी? कम्युनिस्टों की सफलता और राष्ट्रवादियों की पराजय के कारणों को बताइये।

८. कम्युनिस्ट चीनी जनतंत्र की महत्ता पर प्रकाश डालिए। संयुक्त राष्ट्र संघ का इसके प्रति कैसा रुख है और क्यों?

९. जापान के एकान्तवास से आप का क्या तात्पर्य है? इसका प्रारम्भ तथा अन्त कैसे हुआ?

१०. १८६८ ई० की जापानी क्रान्ति के कारणों तथा परिणामों को बताइये।

११. जापान के पश्चिमीकरण की सफलता के कारणों को बतलाइए। चीन इस क्षेत्र में सफल हुआ या नहीं? सकारण समझाइये।

१२. १८६८ और १६१४ ई० के बीच जापान की आन्तरिक प्रगति पर प्रकाश डालिए। जाग्रत जापान का क्या महत्व है?

१३. रूसी-जापानी युद्ध (१६०४-५ ई०) का क्या महत्त्व है?

१४. जापान में साम्राज्यवाद के कारणों तथा परिणामों का उल्लेख कीजिए।

१५. जापान के साम्राज्य-विस्तार का वर्णन कीजिए।

१६. साम्राज्यवादी जापान के उत्थान तथा पतन पर एक संक्षिप्त निबंध लिखिए।

अ० १७

१. ईरान में अंग्रेजों तथा रूसियों के स्वार्थ पर प्रकाश डालिए।

२. १६०६ ई० में ईरान में क्रान्ति का सूत्रपात कैसे हुआ? इसके परिणाम क्या हुए।

३. रजाशाह पहलवी की गृह तथा वैदेशिक नीति का उल्लेख कीजिए।

४. अंग्रेजों तथा अफगानों के बीच युद्ध क्यों हुआ? इसका क्या फल हुआ?

५. २०वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अफगानिस्तान के इतिहास पर प्रकाश डालिए।

अ० १८

१. आधुनिक भारतीय पुनरुत्थान आन्दोलन के क्या कारण थे? इसकी प्रगति का उल्लेख कीजिए।

२. प्रथम भारतीय स्वातंत्र्य संग्राम के बारे में आप क्या जानते हैं?

३. १८५७ के भारतीय विद्रोह के कारणों तथा परिणामों का उल्लेख कीजिए।
४. १८५८ और १६४७ ई० के बीच भारतीय इतिहास का सिद्धान्त के आधार पर विभाजन कीजिए और प्रत्येक भाग की विशेषता बतलाइये।
५. भारतीय स्वाधीनता संग्राम का संक्षिप्त इतिहास लिखिए।
६. भारतीय स्वतन्त्रता की क्या महत्ता है?
७. विश्व इतिहास में महात्मा गांधी का क्या स्थान है?
८. भारत में कांग्रेस सरकार की विकट समस्याओं का वर्णन कीजिए। भारत का विभाजन उसके लिए कहाँ तक उत्तरदायी है?
६. दशवर्षीय स्वतन्त्र भारत (१६४७—५७ ई०) की सफलताओं और विफलताओं का उल्लेख कीजिए।
१०. वर्तमान भारत सरकार की वैदेशिक नीति की आलोचना कीजिए।
११ स्वतन्त्र भारत के विधान की रूप-रेखा बतलाइये।

अ० १६

१. इस्लामी राज्य से आपका क्या तात्पर्य है? इन राज्यों में राष्ट्रीयता का विकास कैसे हुआ?
२. तुर्की में गणतन्त्र की स्थापना कब और कैसे हुई?
३. 'नवीन तुर्की मुस्तफा कमाल पाशा की देन है।' इस कथन की पुष्टि कीजिए।
४. तुर्की जनतन्त्र की वैदेशिक नीति पर प्रकाश डालिए।
५. सीरिया के स्वातन्त्र्य-संग्राम का उल्लेख कीजिए।
६. २०वीं शताब्दी में फिलिस्तीन की समस्या पर एक निबंध लिखिए।
७. ईराक कब और कैसे स्वतन्त्र हुआ?

अ० २०

१. दक्षिणी पूर्वी एशिया में राष्ट्रीयता की धूम पर एक निबंध लिखिए।
२. दक्षिणी-पूर्वी एशिया में साम्राज्यवाद और राष्ट्रीयता के बीच संघर्ष का संक्षिप्त उल्लेख कीजिए।
३. हिन्देशिया या हिन्द चीन में स्वातन्त्र्य संग्राम का वर्णन कीजिए।
४. नेपाल की जनक्रान्ति के बारे में आप क्या जानते हैं?

अ० २१

१. "मिश्र में अंग्रेजी राज्य की स्थापना और इसका अन्त दुनिया की कहानी में एक मनोरंजक अध्याय है।" इस कथन की पुष्टि कीजिये।

२. बीसवीं शताब्दी में आंग्ल-मिश्री सम्बन्ध पर प्रकाश डालिये।
३. स्वेज संकट पर एक निबंध लिखिये।

अ० २२

१. १८६५ से १६१४ ई० तक की अमेरिकी गृहनीति पर संक्षिप्त प्रकाश डालिए।
२. १६२० से १६३६ ई० के बीच की अमेरिकी गृहनीति का संक्षिप्त उल्लेख कीजिए।
३. फ्रैंकलिन रूजवेल्ट के शासन का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
४. १६०१ से १६२१ ई० तक की अमेरिकी वैदेशिक नीति का उल्लेख कीजिए।
५. प्रथम महायुद्ध में संयुक्त राष्ट्र अमेरिका कब और क्यों सम्मिलित हुआ? इसके क्या फल हुए?
६. १६२१ से १६३३ ई० तक की अमेरिकी वैदेशिक नीति का वर्णन कीजिए।
७. १६३३ से १६४५ ई० तक की अमेरिकी परराष्ट्र नीति पर प्रकाश डालिए।
८. द्वितीय महायुद्ध में संयुक्त राष्ट्र अमेरिका कब और क्यों सम्मिलित हुआ? इसके क्या परिणाम हुए?
६. द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात् अमेरिका की वैदेशिक नीति की आलोचना कीजिए।
१०. 'वर्तमान शताब्दी में विश्व-राजनीति के रंगमंच पर संयुक्त राज्य अमेरिका एक प्रमुख अभिनेता रहा है'—इस कथन की सोदाहरण पुष्टि कीजिए।

अ० २३

१. १६वीं शताब्दी में एकता एवं विश्व-शांति के विचारों तथा प्रयत्नों पर प्रकाश डालिए।
२. राष्ट्रसंघ का जन्म कब और क्यों हुआ? इसके विभिन्न संगठनों का उल्लेख कीजिए।
३. राष्ट्रसंघ ने विश्वशान्ति के लिए क्या किया? उसे इस कार्य में कहाँ तक सफलता मिली?
४. राष्ट्रसंघ की असफलताओं के इतिहास पर प्रकाश डालिए। इसकी असफलता के क्या कारण थे?

अ० २४

१. संयुक्त राष्ट्र संगठन का जन्म कब, कैसे और क्यों हुआ?
२. संयुक्त राष्ट्र संगठन की विभिन्न संस्थाओं का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

३. संयुक्त राष्ट्र संगठन के गुण-दोषों की विवेचना कीजिए।
४. संयुक्त राष्ट्र संगठन के १२ वर्षों (१६४५-५७ ई०) के इतिहास के आधार पर इसके भविष्य का अनुमान कीजिए।
५. बीसवीं शताब्दी में शान्ति की आवश्यकता और इसके लिए किए गए प्रयत्नों का संक्षेप में उल्लेख कीजिए।
६. अन्तर्राष्ट्रीयता से आप क्या समझते हैं? आधुनिक युग में इसके विकास पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

अ० २५

१. राष्ट्रमंडल की उत्पत्ति एवं विकास पर प्रकाश डालिये।
२. राष्ट्रमंडल की महत्ता बतलाइये।

अ० २६

१. एकता एवं विश्वशान्ति के सैद्धान्तिक पक्ष पर प्रकाश डालिए।
२. 'मानवता की रक्षा करने के लिए आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता असफल सिद्ध हो चुकी है।' क्या आप इस कथन से सहमत हैं? सकारण समझाइये।
३. विश्व शान्ति एवं मानव-कल्याण के लिए आप किस विचार-धारा का समर्थन करते हैं? उसकी विशद व्याख्या कीजिए।
४. सर्वोदयवाद की उत्पत्ति, इसके सिद्धान्तों और इसकी सम्भावनाओं पर प्रकाश डालिए।
५. सर्वोदयवाद पर अपनी अभ्यास-पुस्तिका के सात पृष्ठों पर एक सुन्दर निबन्ध लिखिए।

अ० २७

१. मानव-सभ्यता एवं संस्कृति की प्रगति में किस महाद्वीप ने अधिकतम योग दिया है? विस्तारपूर्वक समझाइये।
२. संसार पर यूरोप के प्रभाव का मूल्यांकन कीजिए।
३. समस्त विश्व-इतिहास के अध्ययन से आपको कौन-कौन से अनुभव हुए हैं?

परिशिष्ट ४

विस्तृत अध्ययनार्थ ग्रन्थसूची

1. Wells, H. G.	The Outline of History. *New revised edition 1951*
2. Swain, J. E.	History of World Civilisation
3. Thorndike, L.	History of Civilisation
4. Sanderson, E.	Outlines of World History.
5. Weech.	World History.
6. Vanhoon.	Story of Mankind.
7. Langer, W. L.	An Encyclopedia of World History
8. Marshal, L. E.	The Story of Human Progress.
9. Zimmern.	Prospects of Civilisation.
0. Katelby, D. M.	A History of Modern Times.
1. King Hall.	History of Our Own Times.
2 Jackson, J. H.	The Post-War World.
3. Langsam, W. C.	The World since 1914.
4. *Laski, H. J.*	Revolutions of Our Own Times.
5. Hayes, C. G. H.	*Essays on Nationalism*
6. Kohn, H.	*A History of Nationalism in the East.*
7. Slosson, P. W.	Twentieth Century Europe.
8. *Gunther, J.*	Inside Asia.
9. " "	Inside Europe.
0. " "	Inside America.
1. Allan Nevins.	America in World Affairs.
2. Potter	International Organisation

२३. जवाहरलाल नेहरू — विश्व इतिहास की झलक भाग २
२४. राहुल सांकृत्यायन — मानव-समाज
२५. श्री सत्यकेतु विद्यालंकार — यूरोप का आधुनिक इतिहास (दो भाग)
२६. ,, ,, — एशिया का आधुनिक इतिहास
२७. आचार्य विनोबा भावे — सर्वोदय विचार